

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ग्रन्थ का विमोचन
करती हुई ।

ग्रन्थ का विमोचन करते हुए
प्रधान मन्त्री ने कहा :

आज का युग सघर्ष का युग है। इस युग मे भौतिक तथा आध्यात्मिक विचारो का भी टकराव हो रहा है। ग्रन्थकर्त्ता ने ठीक ही कहा है कि धर्म तथा विज्ञान के संघर्ष मे हमें धर्म के लिये वैज्ञानिक आधार खोजना होगा। विज्ञान का सच्चा अर्थ है सत्य की खोज, मनुष्य की आन्तरिक आँखें खुलें, हृदय खुले, और यही उद्देश्य धर्म का है। इस दृष्टि से देखने पर ही वस्तु-स्थिति समझ मे आ सकती है क्योंकि कोई वस्तु अपने-आप मे बुरी नही है। वस्तु का अच्छा अथवा बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसका उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है। एक छुरी किसी सर्जन के हाथ मे कल्याणकारी है तो वही अन्य अवसर पर हत्या का साधन बन सकती है। विज्ञान का युद्ध के लिये प्रयोग सहारकारी है, परन्तु इसी विज्ञान का काम मानव को कितनी ही बीमारियों से बचाना भी है। जो लोग धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वास को भी धर्म के समान मान्यता देते है उन्हे सोचना होगा कि अन्ध-विश्वास धर्म नही है। अभी प्रो० सत्यव्रत जी ने ठीक ही कहा है कि विज्ञान एक लगडे के समान है, धर्म एक अन्धे के समान है। बिना विज्ञान के धर्म अधूरा है, बिना धर्म के विज्ञान अधूरा है। इन दोनो को साथ मिलकर चलना होगा—इस कथन मे गहरी सचाई है। आज के युग मे धर्म की वही मान्यताएँ टिक सकती है जिन्हे वैज्ञानिक-दृष्टि से पुष्ट किया जा सके। धर्म के कुछ आधारभूत सिद्धान्त है। उन सिद्धान्तो को नीव मे रखकर जीवन का निर्माण करना होगा। धर्म की इन मान्यताओ मे जो विज्ञानसम्मत हैं इतना बल है कि वे जीवन को सशक्त बना सकती है। वेदो मे, उपनिषदो तथा गीता मे जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे हमारे वैदिक-साहित्य की अमर-निधि है, हमारे जीवन के लिये प्रेरणा-सूत्र हैं, इस निधि को हम किसी तरह गँवा नही सकते। वेदो की विचारधारा त्रिकाल सत्य है, इनमे दर्शाये गये बुनियादी आदर्श हर परिस्थिति तथा हर काल मे अपनाने योग्य हैं।

इस ग्रन्थ मे अध्यात्म की बुनियादी सिद्धान्तो की तरफ ध्यान खीचते हुए उनका विज्ञान के साथ समन्वय दिखलाने का जो वाञ्छनीय प्रयत्न किया गया है उसकी तरफ युवको तथा युवतियो का ध्यान जाना चाहिये। मेरी इच्छा है कि सब लोग इस ग्रन्थ का अध्ययन करें और इसमे भौतिक तथा अध्यात्म का जो समन्वय दर्शाया गया है उस पर मनन करें ताकि युवको मे जो उच्छृखलता आती जा रही है वह न रहे और वैदिक-आदर्श उनके जीवन मे ओत-प्रोत हो जायें।

मैं ग्रन्थकर्त्ता को ऐसा उत्तम ग्रन्थ लिखने के लिये बधाई देती हूँ, इसी प्रकार का साहित्य सर्जनात्मक-साहित्य कहा जा सकता है।

भूमिका

मैक्स मूलर ने अपनी पुस्तक 'इडिया. वट कैन इट टीच अस' मे एक स्थल पर लिखा है · "अगर मैं विश्व भर मे से उस देश को ढूँढने के लिये चारो दिशाओ मे आँखें उठा कर देखूं जिस पर प्रकृति-देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम तथा सौन्दर्य खुले हाथो लुटा कर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अंगुली भारत की तरफ उठेगी। अगर मुझ से पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे कौन-सा वह स्थल है जहाँ मानव के मानस् ने अपने अन्तराल मे निहित ईश्वर-प्रदत्त अन्यतम सद्भावो को पूर्ण-रूप से विकसित किया है, गहराई मे उतर कर जीवन की कठिनतम समस्याओ पर विचार किया है, उन मे से अनेकों को इस प्रकार सुलझाया है जिस को जान कर प्लेटो तथा काँट का अध्ययन करने वाले मनीषी भी आश्चर्य-चकित रह जाएँ, तो मेरी अगुली भारत की तरफ उठेगी। और, अगर मैं अपने से पूछूँ कि हम—युरोप के वासी—जो अबतक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारो मे पलते रहे हैं, किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोध करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रेसर करे, व्यापक बनाये, विश्वजनीन बनाये, सही अर्थो मे मानवीय बनाये, जिस से हमारे इस पार्थिव-जीवन को ही नही, हमारी सनातन आत्मा को प्रेरणा मिले, जो फिर मेरी अगुली भारत की तरफ उठेगी।"*

---

*"If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that nature can bestow—in some parts a very paradise on earth—I should point to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we, here in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one Semetic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more truly human, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life—again I should point to India"

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहॉर का कथन था कि विश्व के सम्पूर्ण साहित्यक-भडार मे किसी ग्रन्थ का अध्ययन मानव के विकास के लिये इतना हितकर तथा ऊँचा उठाने वाला नही है जितना उपनिषदो का अध्ययन। इनके अध्ययन से मुझे जीवन मे शान्ति मिली है, इनके ही अध्ययन से मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति प्राप्त होगी।* शोपनहॉर के इन शब्दो का उल्लेख करते हुए मैक्स मूलर ने लिखा है कि अगर शोपनहॉर की इस भावना का समर्थन करने की आवश्यकता हो, तो दर्शन तथा धर्म के अध्ययन मे व्यस्त अपने दीर्घ-जीवन के अनुभव के आधार पर मैं इन शब्दो का सहर्ष अनुमोदन करता हूँ।†

मैक क्रिडल ने सिकन्दर के आक्रमणो पर लिखी अपनी पुस्तक मे मैगस्थनीज़ के 'इडिका'-ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि जब सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के लिये निकला तब उसके गुरु अरस्तु ने उसे आदेश दिया कि वहाँ से लौटते हुए दो तोहफे लेते आना—एक था गीता तथा दूसरा, वहाँ का कोई एक दार्शनिक सन्त। सिकन्दर जब लौटने लगा तब उसने ओनियोक्रोटस नाम के अपने प्रतिनिधि को किसी सन्त को ढूँढकर साथ ले चलने के लिये भेजा। एक सन्त तो साथ चल पडा, दूसरे ने जिसका नाम 'डैडीमीज़' लिखा है साथ चलने से इन्कार कर दिया। 'डैडीमीज़'-शब्द दडी-स्वामी का ग्रीक-रूप जान पडता है क्योंकि नाम के साथ 'ईज़' लगाना ग्रीक पद्धति था। दडी-स्वामी को सिकन्दर के दूत ने कहा कि आप चलेंगे तो जुपिटर का पुत्र सिकन्दर आपको मालोमाल कर देगा। दडी-स्वामी ने हँस कर उत्तर दिया—हमारे रहने के लिये यह शस्य-श्यामला भारत की धरती, पहनने के लिये ये वल्कल-वस्त्र, पीने के लिये कल-कल रव करती गगा की शीतल धार, खाने के लिये एक पाव आटा बहुत है—हम आत्म-धन के धनी हैं, आत्म-धन जो धनो का धन है, उस धन की दृष्टि से दरिद्र तुम्हारा सिकन्दर हमे क्या दे सकता है?

औरगज़ेब का भाई दारा उपनिषदो पर इतना लट्टू था कि काशी से कुछ पडितो को बुलाकर लगातार छ महीने तक उनकी व्याख्या सुनता रहा। 1656 मे उसने इनका फारसी मे अनुवाद किया। दारा के इसी भाषान्तर को फ्रेंच विद्वान् एन्क्विटिल ड्यू पैरो ने पढा, और उसे पढ कर उसे प्राच्य शास्त्रो को पढने की

*"In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads It has been the solace of my life, it'll be the solace of my death"—*Schopenhaur*

†"If these words of Schopenhaur required any endorsement I shall willingly give it as the result of my own experience during a long life devoted to the study of many philosophies and many religions"—*Max Muller*

रुचि हुई। उपनिषदों के फारसी अनुवाद के आधार पर ही एन्क्विटिल ड्यू पैरों ने 1801 ईस्वी मे इनका लैटिन मे अनुवाद किया। इस प्रकार दारा द्वारा मुस्लिम एवं एन्क्विटिल द्वारा ईसाई-जगत् मे उपनिषदो की विचारधारा का इतना ज़बर्दस्त सिक्का जमा कि पूर्व तथा पश्चिम मे इन ग्रन्थो को अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ा जाने लगा।

अरस्तु, दारा शिकोह, मैक्स मूलर तथा शोपनहॉर ने जिस भारतीय-विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण की थी उसका स्रोत वेद है, उपनिषद् हैं, दर्शन है। इन्ही की वाणी को हमने वैदिक-विचारधारा कहा है। वैदिक-विचारधारा का सार क्या है? इस का सार यह है कि व्यक्ति भौतिक-दृष्टि से कितना ही उन्नत हो जाय, चाँद पर जा उतरे, कितना ही समृद्ध हो जाय, धन-कुबेर हो जाय, यह विश्व भी भौतिक-दृष्टि से कितनी ही उन्नति कर ले, ससार मे सम्पत्ति का इतना ढेर लग जाय कि बाँटे न बँटे, परन्तु अगर व्यक्ति आध्यात्मिक-दृष्टि से दरिद्र रहा, विश्व आध्यात्मिकता से शून्य रहा, तो इस पृथ्वी का मानव और सम्पूर्ण विश्व कहने को उन्नत तथा समृद्ध होता हुआ भी दरिद्र-का-दरिद्र ही रहेगा। आध्यात्मिक-दृष्टि का यह अर्थ नही है कि ससार को हम मिथ्या कहे, धन-सम्पत्ति को बेकार कहे। इसका इतना ही अर्थ है कि मानव मे शरीर यथार्थ है, परन्तु शरीर के साथ शरीरेतर आत्मा भी यथार्थ है, चराचर-जगत् मे यह भौतिक-जगत् यथार्थ है, परन्तु इस पाँचभौतिक-जगत् के साथ इसमे जीवन का सचार करने वाला जगदितर परमात्मा भी यथार्थ है। शरीर से चलकर शरीर तक ही रुक जाना, इस सृष्टि से प्रारम्भ कर इस सृष्टि मे ही अटक जाना—यह दृष्टि अयथार्थ है। और, जब हम-सब इसमे ही अटक जाते हैं तब यह कहने की ज़रूरत पड़ जाती है कि जो दीख रहा है, जिसमे प्राणी उलझ जाता है, वह यथार्थ होता हुआ भी अयथार्थ है, सत्य होता हुआ भी मिथ्या है, इसलिये अयथार्थ और मिथ्या है क्योकि हम इसमे प्राण डालने वाली सत्ता को भूल कर इसी को यथार्थ मान बैठते है।

वैदिक-दृष्टिकोण एक कदम और भी आगे बढता है। वह दृष्टिकोण यह है कि मानव का यह शरीर उस अशरीरी का साधन है जो किसी लक्ष्य की तरफ बढता हुआ इसमे वास करता है, यह दृश्य-जगत् किसी अदृश्य चेतन-शक्ति के प्रयोजन को निबाह रहा है। अगर अपने मे इस देह को, और विश्व मे इस पचभूतात्मक-जगत् को ही आदि और अन्त मान लिया जाय, जीवन का लक्ष्य खाने-पीने, मौज-बहार के सिवाय दूसरा कुछ न माना जाय, तो इसका अवश्यं-भावी परिणाम चोरी-डाका, लूट-खसोट, मार-काट, कत्ल, अनाचार-दुराचार के सिवाय क्या रह जाता है। क्या आप कहते है—'मानव का कल्याण', 'समाज

का कल्याण'—यह लक्ष्य तो बना रहता है, परन्तु प्रश्न उठता है—किस मानव का, किस समाज का कल्याण ? मैं तो खाता-पीता, मौज-बहार करता अपना खेल खत्म कर शून्य हो जाऊँगा, मिट जाऊँगा, फिर कहाँ का मानव, कहाँ का समाज ? किसकी फिक्र ? किसके प्रति रह जाती है मेरी-आपकी जिम्मेवारी ? फिर तो चार्वाक का कहना ठीक है—**'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिवेत् भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'**—जबतक जीओ सुख से जीओ, ऋण लेकर घी पीओ, मर गये तब ऋण चुकाने कौन आता है। युरोप मे एपिक्यूरस (340-270 ई० पू०) तो नही परन्तु उसके अनुयायी भी कुछ-कुछ इसी भौतिकवादी पन्थ पर चल पडे थे। अगर यह देह और यह भौतिक-जगत् ही सब-कुछ है, तो जो-कुछ कहते थे, ठीक कहते थे। परन्तु इस दुनिया को ही आदि और अन्त मान कर चलने से क्या इस दुनिया का भी कारोबार चल सकता है ?

क्या हम इस शरीर को, और इस जगत् को ही आदि और अन्त मान कर चलें ? वैदिक-विचारधारा का कहना है—नही, ऐसा करने से तो यह दुनिया भी सिद्ध नहीं होगी। यह तो है ही, वह भी है, जो दीखता है उस से कौन इन्कार करता है, समझने की बात यह है कि जो नही दीखता वह भी है, और अगर गहरी दृष्टि से देखा जाय, तो वही है क्योंकि उसी के लिये यह सब-कुछ है। ससार का सारा व्यवहार इसी प्रकार टिक सकता है, अन्यथा सब टूक-टूक हो जाता है।

वैदिक-विचारधारा जिस सत्य को आधार बनाकर खडी है, वह व्यावहारिक-सत्य है। वह जगत् को मिथ्या नही कहती, इसे ही अन्तिम सत्य भी नही कहती, वह इन दोनो के समन्वय को लेकर मध्य-मार्ग पर चलती है ; जगत् को सत्य मानते हुए उसे मानो मुट्ठी मे भर कर आत्मा की झोली मे डाल देती है जिसे वह सत्यों का सत्य—परम-सत्य जानती है। इस दृष्टि-कोण को सम्मुख रख कर इस ग्रन्थ मे उन प्रश्नो पर वैज्ञानिक-भावना से विचार किया गया है जो जीवन मे किसी-न-किसी समय हर-किसी को उलझन मे डाल देते हैं।

प्राय अध्यात्म तथा विज्ञान का विरोध समझा जाता है। अध्यात्मवादी जो कहता है उसे जडवादी स्वीकार नही करता, इतना ही नही कि वह उसे स्वीकार नही करता, अपितु उसे अवैज्ञानिक भी कहता है। आज के दिनोदिन बढते वैज्ञानिक युग मे हमारी नई पीढी के युवक-युवतियाँ इसी दृष्टि-कोण को सत्य मान कर उसके अनुरूप अपना जीवन भी ढाल रहे हैं। परन्तु क्या उन्होंने कभी सोचा कि कही वे गलत रास्ते पर तो नही पड गये, कही जीवन के पथ से भटक तो नही गये ? आइन्स्टीन इस युग को महान् वैज्ञानिक हुए हैं। उनका कहना था कि विना अध्यात्म के विज्ञान लँगडा है, विना विज्ञान के अध्यात्म अन्धा है—

'Science without religion is lame; Religion without science is blind'. इसी को साख्य ने प्रकृति तथा पुरुष का 'पंग्वन्ध-न्याय' कहा है। इस पुस्तक मे वैदिक-अध्यात्म को विज्ञान की कसौटी पर कस कर उसे परखने का प्रयत्न किया गया है ताकि हमारी नई पीढी जिन मान्यताओ को अवैज्ञानिक कह कर छोडती जा रही है उन पर इस दृष्टि से सोचने का यत्न करे कि उनमे अवैज्ञानिकता कहाँ है ? इसीलिये इस पुस्तक का नाम रखा गया है 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक-आधार'। इस दृष्टि-कोण को बुद्धिगम्य आधार पर प्रस्तुत करने मे ग्रन्थ-लेखक को कहाँ तक सफलता मिली है, इसे वह पाठको के निर्णय पर छोड़ता है।

ग्रन्थ मे 'केन्द्रीय-हिन्दी-निदेशालय' द्वारा प्रकाशित शब्दावली का ही प्रयोग किया गया है।

यह ग्रन्थ-कर्ता के लिये गौरव की बात है कि इस ग्रन्थ का विमोचन भारत की प्रधान-मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने अनेक उच्च-कोटि के विद्वानों के समक्ष किया। ग्रन्थ का विमोचन करते हुए उन्होने जो-कुछ कहा उसका संक्षिप्त सार अन्यत्र दिया गया है।

पुस्तक के लेखन तथा प्रकाशन मे लेखक को अनेक मित्रो से उत्साह तथा भिन्न-भिन्न प्रकार का सहयोग मिला है। राज्य-सभा के अपने पुराने मित्र श्री रामकुमार जी भुवालका, एव श्री बी० पी० खेतान, श्री लक्ष्मी निवास जी बिडला, भाई देवदत्त लखनपाल, श्री यशराज पटेल तथा चौधरी प्रतापसिंह जी का भी उत्साह-वर्धन के लिये हृदय से कृतज्ञ हूँ। 'गोविन्दराम हासानन्द' के मालिक श्री विजयकुमार जी ने पुस्तक के प्रकाशन मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। वे धन्यवाद के पात्र है। सरकार के केन्द्रीय-हिन्दी-निदेशालय ने पुस्तक को अपनी योजना के लिये उपयोगी स्वीकार किया है—यह लेखक के लिये गौरव की बात है। अजय प्रिंटर्स ने मेरे बार-बार कलम चलाने पर भी शान्ति तथा सहयोग से काम लिया है, और आशातीत शीघ्रता से छपाई का काम समाप्त कर दिया है—इसके लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाए थोडी है।

पुस्तक के आगामी सस्करण के लिये जो भी सज्जन उपयोगी परामर्श देंगे उन्हे अभी से निमन्त्रण तथा धन्यवाद है।

डब्ल्यु-77 ए,
ग्रेटर कैलाश (1), नई दिल्ली, 110048

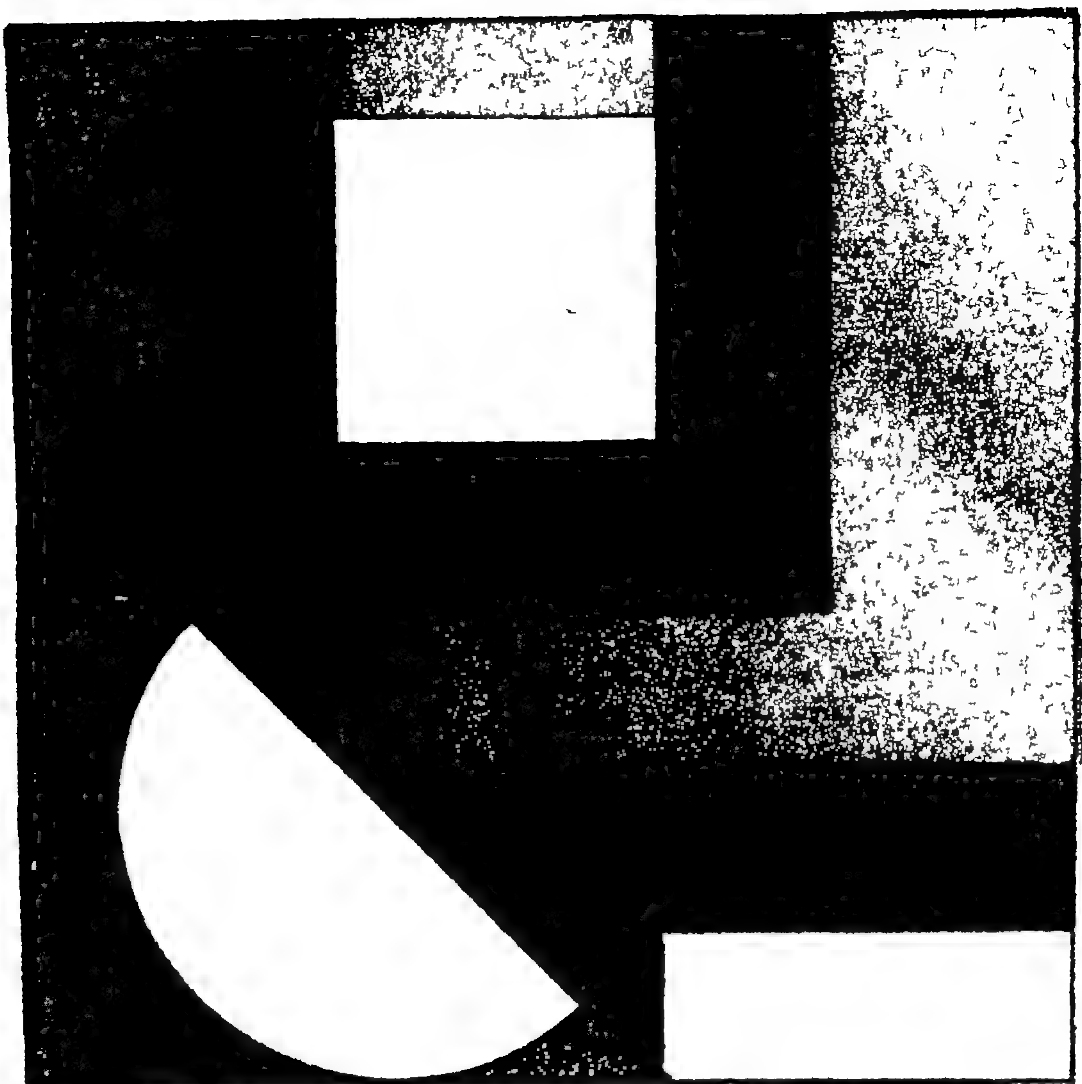
—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

प्रो० सत्यव्रत जी द्वारा लिखित ग्रन्थ

1.	धारावाही हिन्दी मे सचित्र एकादशोपनिषद् (मूल-सहित)	25.00
2	धारावाही हिन्दी मे गीता-भाष्य (मूल-सहित)	12.00
3	वैदिक-सस्कृति के मूल-तत्त्व	6.00
4	ब्रह्मचर्य-सन्देश	7.00
5	सामाजिक मानवशास्त्र	15 50
6.	समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व	15.00
7	सामाजिक विचारो का इतिहास	12 50
8	समाज-कल्याण तथा सुरक्षा	9.00
9	भारत की जन-जातियाँ तथा सस्थाएँ	12.50
10	प्रारम्भिक समाजशास्त्र	3 50
11	भारतीय सामाजिक सगठन	3.50
12	समाजशास्त्र तथा बाल-कल्याण	6.00
13	व्यावहारिक मनोविज्ञान	4 00
14.	शिक्षा-शास्त्र	4 00
15.	Heritage of Vedic Culture	29.00
16	होम्योपैथिक औषधियो का सजीव-चित्रण	40.00
17.	रोग तथा उनकी होम्योपैथिक चिकित्सा	50.00
18	बायोकमिस्ट्री की औषधियो का तुलनात्मक चार्ट	5 00
19.	Confidential Talks to Youngmen	3 00
20	वैदिक-विचारधारा का वैज्ञानिक-आधार	20 00

विषय-सूची

[प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में एक रंगीन डिज़ाइन के साथ उस अध्याय का संक्षिप्त सार दिया गया है]



स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः
देवस्यैषा महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6—1)

'मन' के सम्बन्ध मे इस अध्याय मे हमने भौतिकवादी-दृष्टिकोण को पूर्व-पक्ष के तौर पर उठाया है । भौतिकवाद वर्तमान-युग की ही उपज नही है। यह सदा से चला आ रहा है । भौतिकवाद का कथन है कि शरीर एक स्व-चालित-यन्त्र है, इसे चलाने वाला इसके भीतर कोई नही बैठा । जैसे स्टेशनो पर तोल की मशीन होती है, 10 पैसे का सिक्का डाले तो खुद-ब-खुद भार-सूचक टिकट बाहर निकल आता है, वैसे ही इन्द्रियो के सम्मुख जब विषय उपस्थित होते है, तो उनकी अनुक्रिया अपने-आप—स्वभाव से—हो जाती है । श्वेताश्वतर उपनिषद् ने भी इसी प्रश्न को पूर्व-पक्ष के रूप मे उठा कर—स्वभाव ही सब-कुछ होता है—इसका उत्तर देते हुए कहा है कि यह तो इस शरीर के रचनहारे की महिमा है कि उसने यह अद्भुत्-यन्त्र ऐसा बनाया है कि यह अपने-आप चलता प्रतीत होता है ।

भौतिकवादी का कहना है कि यह समझना कि इस भौतिक-शरीर के भीतर मन जैसा कोई अभौतिक-तत्त्व है, गलत धारण है। मनुष्य के विचार तथा व्यवहार का अन्तिम स्रोत शरीर है, मस्तिष्क है, 'तन्त्रिका-तन्त्र' है—ऐसा तत्त्व है जो भौतिकी तथा रसायन-शास्त्र के नियमो से वधा हुआ है, ऐसा कोई तत्त्व नही है जो इन विज्ञानो के प्रभाव से मुक्त हो। मन की शरीर से पृथक् सत्ता मानने से तो यह स्वीकार करना पडता है कि शरीर मे ऐसा भी कोई तत्त्व है जो भौतिकी तथा रसायन-शास्त्र के नियमो से स्वतन्त्र है—इस वात को भौतिक-वादी मानने को तैयार नही।

भौतिकवादी दृष्टि-कोण से मनुष्य अथवा विश्व की रचना मे कोई मानसिक-तत्त्व दिखलाई नही देता। मनुष्य का विकास विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार अमीवा से हुआ है, यह विकास धीरे-धीरे, होते-होते प्रकृति ने अपने-आप, अपने स्वभाव से कर दिया है। इसी प्रकार विश्व का विकास भी प्राकृतिक-शक्तियो द्वारा, उनके स्वभाव से अपने-आप हो गया है। भू-विज्ञान तथा ज्योतिष्-शास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि सृष्टि को विकसित होते-होते करोडो, अरवो वर्ष हो गये है। इतने दीर्घ-काल मे अगर अमीवा तथा नेव्युला मे धीरे-धीरे परिवर्तन होते-होते अमीवा से मनुष्य तथा नेव्युला मे सूर्य-पृथिवी-चन्द्र, ग्रह-उपग्रह वन गये, तो अचम्भे की कोई वात नही।

यह भौतिकवादी विचारधारा है जिसके अनुसार 'विचार' (Thoughts), 'सवेग' (Emotions), 'मूल-प्रवृत्तियाँ'-(Instincts), 'इच्छा-शक्ति'-(Will)—इन सवको 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के सिद्धान्त से समझाया जा सकता है, इनको समझने के लिये मन, आत्मा, चेतना जैसी किसी अभौतिक-सत्ता को मानने की आवश्यकता नही—यह भौतिकवादी दृष्टि-कोण है।

प्रथम अध्याय

मन

(MIND)

भौतिकवादी दृष्टिकोण

I

क्या मन की शरीर से पृथक् सत्ता है ?

1. समस्या का रूप

मन तथा शरीर आपस मे एक-दूसरे के साथ इस प्रकार बधे हुए है कि यह निर्णय कर सकना कठिन है कि अन्तिम तथा यथार्थ सत्ता शरीर की है या मन की है। शरीर तो दीखता है, मन नही दीखता, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। कही ऐसा तो नही कि शरीर की ही वास्तविक सत्ता है, मन केवल शरीर की ही उपज है, शरीर का ही परिणाम है। भौतिकवादी मन को नही मानते, उनका कहना है कि वह वस्तु जिसे हम मन कहते हैं, शरीर की ही किन्ही परिस्थितियो का परिणाम है। उदाहरणार्थ, अन्धाधुन्ध शराब पी लेने के बाद आदमी को एक की जगह दो दिखलाई देने लगते हैं, एल-एस-डी० लेने के बाद व्यक्ति अनुभव करने लगता है कि वह आसमान मे उड रहा है, जिगर खराब होने के बाद रोगी के जीवन मे निराशा का अन्धकार छा जाता है। इन सबसे सिद्ध होता है कि जिस वस्तु को हम मन या विचार कहते हैं वह भौतिक परिस्थिति का ही परिणाम है।

परन्तु मनोवैज्ञानिक इससे उल्टी बात कहता है। वह कहता है कि मन का शरीर पर प्रभाव होता है। उदाहरणार्थ, अगर किसी को यकायक खबर दी जाय कि उसे लाटरी मे एक लाख मिल गया है, तो उसका हार्ट फेल हो सकता है, अगर किसी पर किसी प्रकार का भय छा जाय, तो उसका मस्तिष्क विकृत हो सकता है, क्रोध मे तो हर-किसी का चेहरा लाल हो जाता है, व्यक्ति के

रुधिर की गति तीव्र हो जाती है। अगर मन की शरीर से पृथक् सत्ता न होती, शरीर ही सब-कुछ होता, तो एक मानसिक-विचार से शरीर पर इतना भारी प्रभाव कैसे पड जाता ?

इसमे सन्देह नही कि हमे अपने भीतर दो सत्ताएँ पृथक् दीखती है—एक शरीर की सत्ता है, दूसरी मन की सत्ता है, दोनो सत्ताएँ एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् ही नही, उल्टी भी है। शरीर मे सभी भौतिक गुण मौजूद है—यह दीखता है, इसका रग-रूप है, परिमाण है, बोझ है, यह जगह घेरता है, मन मे कोई भौतिक गुण मौजूद नही—न यह दीखता है, न इसका रग-रूप है, न परिमाण है, न बोझ है, न यह जगह घेरता है, इनमे से शरीर भौतिक है, मन अभौतिक है।

प्रश्न यह है कि भौतिक का तो भौतिक पर प्रभाव हो सकता है, अभौतिक का भौतिक पर प्रभाव कैसे हो सकता है ? भौतिक-वस्तु पर भौतिक-वस्तु से प्रहार किया जा सकता है, भौतिक पर अभौतिक से कैसे प्रहार किया जा सकता है ? मैं चाहूँ तो किसी के शरीर पर डडे से चोट कर सकता हूँ, अशरीरी से शरीरी पर चोट कैसे कर सकता हूँ ? परन्तु अगर शरीर तथा मन का एक-दूसरे पर प्रभाव दीख पड़ता है, तो क्या यह सगत नही होगा कि मन को शरीर का ही एक सूक्ष्म रूप मान लिया जाय, मन को शरीर से भिन्न न समझा जाय, मन की शरीर से पृथक्-सत्ता से सर्वथा इन्कार कर दिया जाय। इस स्थल पर फिर प्रश्न उठ खडा होता है कि क्या मन की शरीर से पृथक्-सत्ता से इन्कार कर देने से, उसे भौतिक-शरीर की तरह भौतिक ही मान लेने से हमारा काम चल जाता है ?

2 भौतिकवादी मन की शरीर से पृथक्-सत्ता से इन्कार करता है

विचार करने के लिए मनोविज्ञान के दो रूप मान लीजिये—एक है 'शरीर-क्रियात्मक-मनोविज्ञान' (Physiological psychology), दूसरा है 'अध्यात्म-वादी मनोविज्ञान (Spiritual psychology)। जो मनोवैज्ञानिक मन की शरीर से पृथक्-सत्ता नही मानते, वे मोटे तौर पर 'मनोविज्ञान' (Psychology) को 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' (Physiology) का ही एक रूप समझते है। उनका कहना है कि मन की पृथक्-सत्ता मानने की कोई ज़रूरत नही, शरीर ही से उन सब समस्याओ का हल हो जाता है जिन्हे मानसिक कहते है। वह कैसे ?

(क) 'तन्त्रिका-तंत्र' (Nervous system) से **समस्या का हल हो जाता है**—भौतिकवादियो का कहना है कि शरीर एक स्व-चालित-यन्त्र (Automatic machine) के समान है। जैसे हम स्टेशनो पर रखी तोलने की मशीन मे १० पैसे का एक सिक्का डालते हैं, उस पर खडा होते ही मशीन मे से स्वत.

भार-सूचक छपा हुआ टिकट बाहर निकल आता है, 'खाँचा मशीन' (Slot machine) मे वस्तु का यथार्थ-मूल्य डाल देने पर भीतर से दियासलाई की डिबिया या अन्य इच्छित-वस्तु बाहर निकल आती है, इन मशीनो के भीतर 'मन' नाम की कोई वस्तु बैठी हुई नही है, वैसे ही किसी विशेष परिस्थिति के उपस्थित होने पर शरीर स्वय प्रतिक्रिया करता है। यह प्रतिक्रिया स्व-चालित-शरीर की स्वय-क्रिया है, इसे करने के लिए किसी 'मन' जैसी वस्तु के मानने की आवश्यकता नही है। जैसे खाँचा-मशीन की रचना इस प्रकार हुई है कि उसमे पैसा डाल दिया जाय, तो वस्तु बाहर आ जाती है, वैसे ही मनुष्य-शरीर की रचना इस प्रकार हुई है कि 'उद्दीपक' (Stimulus) के उपस्थित होने पर 'अनुक्रिया' (Response) अपने-आप हो जाती है। मनुष्य का सारा व्यवहार 'उद्दीपन-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के रूप मे अपने-आप चल रहा है, इसे चलाने के लिए 'मन' की आवश्यकता नही है। 'उद्दीपन-अनुक्रिया' का सचालन 'तंत्रिका-तंत्र' (Nervous system) से होता है। वह कैसे ?

कल्पना कीजिये कि हमारी अँगुली मे एक काँटा चुभ गया। अँगुली का वह हिस्सा जिसमे काँटा चुभा, वहाँ—और शरीर के सब स्थानो मे—'तन्त्रिकाएँ' (Nerves) मौजूद हैं। तन्त्रिकाओ का सम्बन्ध मस्तिष्क तक पहुँचता है। बाहर के ज्ञान को भीतर मस्तिष्क तक ले जाने वाली तन्त्रिकाएँ 'सवेदन-तन्त्रिकाएँ' (Sensory nerves) कहलाती है। मस्तिष्क के केन्द्र मे सवेदन-तन्त्रिकाओ द्वारा यह सदेश कि अँगुली मे काँटा चुभा है ये तन्त्रिकाएँ पहुँचा देती है। वहाँ से स्वत यह सदेश कि हाथ को हटा लो और काँटे को निकाल दो हाथ तक पहुँच जाता है। इस सन्देश को हाथ तक ले जाने वाली तन्त्रिकाएँ 'प्रेरक-तंत्रिकाएँ' (Motor nerves) कहलाती हैं। इस सन्देश के हाथ तक पहुँचते ही हम अँगुली मे से काँटा निकाल देते है। यह सारी प्रक्रिया मस्तिष्क द्वारा अपने-आप हो जाती है। 'मन' तो दीखता नही, वह कही मिलता नही, मस्तिष्क तो दीखता है, उसमे सवेदन-वाहक तथा प्रेरणा-वाहक तन्त्र दिखलाई पड़ते है, उन्ही से यह सब काम होता है, इसलिए मस्तिष्क ही वह स्थल है जहाँ से शरीर की क्रिया-प्रक्रिया का स्वय संचालन होता है। भौतिकवादी का कहना है कि मन को माने बिना मस्तिष्क से ही शरीर की क्रियाओं की समस्या का समाधान हो जाता है।

(ख) मस्तिष्क से भिन्न मन को माना जाय तो शंका बनी रहती है कि अभौतिक भौतिक पर कैसे प्रभाव डाल सकता है—ऊपर हमने जो-कुछ लिखा वह अध्यात्मवादी की इस शका का कि मन को माने बिना शरीर का सचालन कैसे हो सकता है भौतिकवादी-समाधान है। भौतिकवादी का कथन है कि शरीर स्व-चालित-यन्त्र है, मन को मानने की जरूरत ही क्या है ? भौतिकवादी का यह भी कहना है कि शरीर से भिन्न मन को मानने से एक बडी भारी शका उठ

खड़ी होती है। शरीर भौतिक है, उसका नाप-तोल है, वह जगह घेरता है, दीखता है, छुआ जा सकता है, मन अगर है तो अभौतिक है, उसका नाप-तोल नहीं, वह जगह नहीं घेरता, दीखता नहीं, छुआ नही जा सकता। इस प्रकार का अभौतिक-तत्त्व भौतिक-तत्त्व पर कैसे प्रभाव डाल सकता है? भौतिक भौतिक पर प्रभाव डाले तो समझ आता है, अभौतिक भौतिक पर प्रभाव डाले—यह समझ से बाहर की बात है। ऐसी हालत मे जब हर-एक मानसिक-घटना को भौतिकवाद मे हल किया जा सकता है, तब मन जैसे अभौतिक-तत्त्व को मानने की क्या ज़रूरत है? अगर मन की सत्ता को मानना भी पड़े तो यही मानना पड़ेगा कि मन भी भौतिक है, और भौतिक मन का ही दूसरा नाम 'मस्तिष्क' (Brain) है। यही मस्तिष्क 'तत्रिका-तत्र' (Nervous system) के द्वारा शरीर रूपी यन्त्र का स्वय-सचालन कर रहा है।

3 भौतिकवाद से समस्या ज्यो-की-त्यो बनी रहती है

(क) समस्या का सारा रूप यह है कि शरीर का सचालन कैसे होता है। क्या शरीर के भीतर, शरीर से पृथक् मन जैसा कोई तत्त्व है जो शरीर का सचालन करता है, या ऐसा कोई तत्त्व नही है। भौतिकवादी का कथन है कि शरीर के भीतर, शरीर से भिन्न ऐसा कोई तत्त्व नही है, शरीर स्वय अपना सचालन करता है, सवेदन-वाहक तथा प्रेरणा-वाहक तन्त्रो के माध्यम से मस्तिष्क द्वारा ही—जो एक भौतिक-यंत्र है—यह सब संचालन हो रहा है। परन्तु, क्या इस उत्तर से समस्या का समाधान हो जाता है?

मस्तिष्क एक भौतिक-तत्त्व है। 'सवेदन-तंत्र' बाहर से सवेदन को लेकर उसे मस्तिष्क के किसी केन्द्र तक ले आते हैं। मस्तिष्क के केन्द्र मे सवेदन के पहुँचने पर वहाँ कौन-सा दफ्तर है, जो इन सन्देशो को जान कर, उन्हे समझ कर, यथार्थ-उत्तर बाहर तक पहुँचाता है? मस्तिष्क अगर स्व-चालित यन्त्र है, तो बाहर से सन्देश आने पर, उसे बना-बनाया, पहले से निश्चित किया हुआ उत्तर बाहर भेज देना चाहिए। उदाहरणार्थ, तोल की मशीन मे हम पैसे डालते है, तो भीतर से वे टिकट ही निकलते हैं जो वहाँ पहले से डाले हुए पड़े हैं। ऐसा तो नहीं होता कि तोल की मशीन मे अपनी ठीक जगह पर टिकट पड़े हो, आप मशीन पर खड़े हो जायें, और मशीन कहे—सोच कर उत्तर देंगे। मशीन मे सोच कर उत्तर देने जैसी कोई बात नही है। मशीन के लिए चुनाव की कोई बात नही है। जो-कुछ होगा झट-से हो जायगा। जहाँ भी स्व-चालित-यन्त्र होगा वहाँ क्रिया की प्रतिक्रिया बँधी-बँधाई होगी। ऐसा नही होगा कि तोल की मशीन मे टिकट के लिये आप पैसे डालें और भीतर से मक्खन की टिकिया निकल आये, या मशीन कहे कि सोचेंगे तुम्हारे पैसे का जवाब दिया जाय, न

दिया जाय, या क्या दिया जाय। मनुष्य के भीतर ऐसी बात नही है। अगर हमारी अँगुली मे किसी ने काँटा चुभो दिया है, तो जरूरी नही कि हम मशीन की तरह हाथ को हटा ही लें। काँटा चुभने पर सवेदन-तत्र दर्द की अनुभूति को मस्तिष्क के केन्द्र तक पहुँचा देते है, मस्तिष्क मशीन हो तो तत्काल हाथ काँटे से हट जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होना निश्चित नही है। मनुष्य चाहे तो हाथ हटा ले, चाहे तो न भी हटाये। मैं एक वृक्ष पर बैठा हुआ हूँ। इतने मे कारणवश नीचे गिरने लगता हूँ। गिरने से पहले वृक्ष की टहनी पकड़ लेता हूँ। जिस हाथ से टहनी पकडी है उससे दूसरे हाथ पर एक ततैया जोर-से डक मारने आ बैठता है। मनुष्य अगर मशीन होता तो मै झट-से ततैये को उडाने के लिए टहनी को छोड कर उस हाथ से ततैये को उड़ा देता। परन्तु मैं ऐसा नही करता, क्योकि मैं जानता हूँ कि अगर मैंने टहनी छोडी तो नीचे गिर कर मेरी हड्डी-पसली चूर-चूर हो जायगी। मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर यह कौन बैठा है जो इस चुनाव—Choice—को करता है? मशीन मे चुनाव नही होता, मशीन स्वय नही सोचती। मशीन ने सोचना शुरू किया तो वह भौतिक से अभौतिक हो गई। अभौतिक को तो भौतिकवादी मानता ही नही, जहाँ उसने मशीन मे सोचने की बात मानी वही वह भौतिकवादी से अभौतिकवादी—अध्यात्मवादी—हो गया। ऐसा मानना पडता है कि मस्तिष्क मे जब 'सवेदन-तत्र' (Sensory nerves) किसी केन्द्र पर वाह्य-सवेदन (Sensation) लेकर पहुँचते है, वहाँ कोई अभौतिक दफ्तर है, कोई अभौतिक-तत्त्व है, जो मस्तिष्क जैसा भौतिक नही है, मस्तिष्क से अलग है, ये सवेदन-वाहक-तन्त्र अपने सवेदन को उस अभौतिक-तत्त्व के सुपुर्द कर देते हैं और वह अभौतिक-दफ्तर, वह अभौतिक-तत्त्व निर्णय करता है कि सवेदन-तन्त्रो से लाये गये इस संवेदन की क्या सही-सही अनुक्रिया होनी चाहिए। यह निश्चय करके वह तत्त्व अपना निर्णय 'प्रेरक-तत्रों' (Motor nerves) के सुपुर्द कर देता है, और उस तत्त्व—'अभौतिक-तत्त्व'—के आदेशानुसार क्रिया की अनुक्रिया होती है। मस्तिष्क मे एक स्थल मानना पडता है जहाँ पर मस्तिष्क अपना काम किसी अभौतिक-तत्त्व के हाथ मे छोड देता है, और उस अभौतिक-तत्त्व से निर्णय पाकर फिर उसी निर्णय के अनुसार काम करने लगता है। यह अभौतिक-तत्त्व ही मन है।

मस्तिष्क ('तन्त्रिका-तंत्र')—Nervous system—को मन या चेतना का आश्रय-स्थल तो माना जा सकता है, मस्तिष्क को ही मन नही माना जा सकता। इसमे सन्देह नही कि मस्तिष्क (तंत्रिका-तंत्र) पर ही मन या चेतना का आश्रय है, मस्तिष्क (तन्त्रिका-तत्र) न हो, तो मन या चेतना नही रहती, परन्तु यह बात ऐसी ही है जैसे खूंटी हो तो उस पर कोट टागा जा सकता है, खूंटी गिर जाय तो कोट भी गिर जाता है। परन्तु खूंटी के उखड जाने से कोट के भी गिर

जाने का यह अर्थ नही है कि कोट खूँटी है या खूँटी कोट है। हमे यह समझ लेना होगा कि नदी का पाट और नदी की धारा दोनो अलग-अलग हैं। नदी का पाट टेढा-मेढा रास्ता लिये हो तो नदी की धारा भी टेढे-मेढे रास्ते से चलेगी, परन्तु इससे नदी और नदी का पाट एक नही हो जायेंगे। ठीक इसी तरह मन—चेतना—विचार—ये सब पृथक् वस्तु हैं, मस्तिष्क—तन्त्रिका-तन्त्र—Nervous system—पृथक् वस्तु है। क्योंकि मन—चेतना आदि—मस्तिष्क—तन्त्रिका-तन्त्र—Nervous system—पर आश्रित है इसलिये यह कह देना कि मस्तिष्क की ही यथार्थ सत्ता है, मन या चेतना की कोई सत्ता नही है—गलत है क्योंकि मस्तिष्क तो मन रूपी कोट को टाँगने की खूँटी है, मन रूपी नदी की धारा का पाट है जिस पर चेतना की धारा बहती है।

(ख) मन की शरीर से भिन्न सत्ता मानने पर भौतिकवादी को यह भी आपत्ति थी कि अगर मन को शरीर से भिन्न माना जाय, तो अभौतिक का भौतिक पर प्रभाव मानना पडता है जो युक्ति-सगत नही है। शरीर भौतिक है, उसका नाप-तोल है, वह जगह घेरता है, दीखता है, छुआ जाता है। ऐसी वस्तु पर भौतिक-तत्त्व का तो प्रभाव हो सकता है, अभौतिक का प्रभाव कैसे हो सकता है? जो मन को मानते हैं, वे उसे अभौतिक भी मानते है, भौतिक मानें तो वह शरीर का ही एक रूप हो जाता है, भौतिक-मन तो भौतिकवाद ही हो जाता है। शरीर का नाप-तोल है, मन का नाप-तोल नही, शरीर जगह घेरता है, मन जगह नही घेरता, शरीर दीखता है, मन नही दीखता, शरीर छुआ जा सकता है, मन नही छुआ जा सकता। ऐसी हालत मे मन शरीर पर कैसे प्रभाव डाल सकता है? भौतिकवादी का कहना है कि शरीर से भिन्न मन की पृथक् सत्ता न मान कर अगर यह माना जाय कि मस्तिष्क ही सब-कुछ करता है, तो इस प्रकार की कोई शका खडी नही होती।

अध्यात्मवादी का कहना है कि क्या हम देखते नही कि प्रेम, द्वेष, इच्छा, आकाक्षा, विचार, आशा-निराशा, उत्साह—ये सब जो अदृश्य, अभौतिक-तत्त्व हैं, जिनका नाप-तोल नही, जो दीखते नही, छुए नही जा सकते—इन अभौतिक-तत्त्वों का मनुष्य के शरीर पर, उसकी हर प्रकार की गति-विधि पर अमिट प्रभाव है। कैसा ही स्वस्थ शरीर क्यो न हो, एक ही अदृश्य विचार मनुष्य को एकदम पागल बना सकता है, उम्र-भर का बना-बनाया स्वास्थ्य धरा-का-धरा रह जाता है। देश-भक्ति जैसे अदृश्य भाव से प्रेरित होकर नवयुवक हँसता-खेलता फाँसी की रस्सी पर झूल जाता है, प्रेम के भग हो जाने से निराश होकर एक नवोढा जग-सुन्दरी विष का प्याला पीकर देह-त्याग कर देती है। शरीर पर इन अदृश्य, अभौतिक-तत्त्वो का प्रभाव कैसे होता है—यह रहस्य की बात तो हो सकती है, परन्तु इन घटनाओं की यथार्थता मे सन्देह नही हो सकता।

अध्यात्मवादी का कहना है कि यह अदृश्य, अभौतिक-तत्त्व ही मन है जो शरीर के यंत्र मे बैठा इसकी गति-विधि का नियन्त्रण करता है।

हमने देखा कि शरीर तथा मन एक-दूसरे से इस तरह बँधे हुए है कि एक की दूसरे के बिना सत्ता समझ मे नही आती। यही कारण है कि भौतिकवादी शरीर को ही सब-कुछ सिद्ध करना चाहते है, मन को विचार-कोटि मे से बिल्कुल निकाल देना चाहते हैं, मन को माने बिना शरीर सब-कुछ स्वय कर सकता है—यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, उनके कथनानुसार शरीर मे मस्तिष्क—Brain—ही ऐसा यन्त्र है जिससे यह हमारा अंग-प्रत्यग स्वयं चल रहा है, जो स्व-चालित हो, उसे चलाने के लिए दूसरे किसी—मन—आदि की क्या जरूरत है ?

हम आगे यह देखने का प्रयत्न करेगे कि मन की शरीर से पृथक्-सत्ता न मानते हुए शरीर को स्व-चालित-यंत्र मान कर जो शंकाएँ उठ खडी होती हैं उनका भौतिकवादी क्या समाधान करते है।

II

क्या 'मन' शरीर का ही एक रूप है ?

भौतिकवाद ने कई ऐसे वादो की कल्पना की है जिनके आधार पर मनुष्य की चेतना तथा मनुष्य के व्यवहार को 'मन' की शरीर से पृथक्-सत्ता माने बगैर काम चल सके। 'मन' का अर्थ क्या है ? 'मन' एक ऐसा तत्त्व है जो भौतिक नही है, जो भौतिक न होने के कारण शरीर का हिस्सा नही है क्योकि शरीर तो भौतिक है, जिस पर भौतिकी तथा रसायनशास्त्र के नियम लागू नही होते। भौतिकवादी शरीर के भीतर इस प्रकार की किसी पृथक्-सत्ता को मानने के लिये तैयार नही। उनका कहना यह है कि मनुष्य मे यथार्थ और वास्तविक-सत्ता शरीर की ही है। इस कथन का यही अर्थ है कि मनुष्य के विचार तथा व्यवहार का अन्तिम स्रोत शरीर है, मस्तिष्क है—वह तत्त्व है जो भौतिकी तथा रसायनशास्त्र (Physics and Chemistry) के नियमो से बँधा हुआ है, ऐसा कोई तत्त्व नही जो इन विज्ञानो के प्रभाव से मुक्त हो, जैसा कि मन की पृथक्-सत्ता मानने से स्वीकार करना पडता है। दूसरे शब्दो मे, भौतिकवादियो का कथन है कि (क) या तो 'मन' की कोई सत्ता ही नही, (ख) या अगर मन की सत्ता है तो मन मे जो-कुछ होता है, वह पहले शरीर मे होता है, शरीर मे जो-कुछ होता है उसकी अनुभूति मन मे होती है, उसका प्रतिबिम्ब मन मे पडता है, मन शरीर का संचालन नही करता, शरीर मे जो-कुछ होता है उसका अनुभव मन को होता है, मन सिर्फ शरीर मे होने वाले क्रिया-कलाप को नोट कर लेता

है, उसका सचालन नही करता। यह तव, अगर 'मन' को माना जाय, और भौतिकवादियो का तो कथन है कि उनका काम 'मन' को माने वगैर ही चल जाता है, वे 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) से ही जो प्राप्तव्य है उन सब बातो का हल कर सकते है जिन्हें हल करने के लिए अध्यात्मवादी मन की, जो प्रत्यक्ष नही, कल्पना करते है। इस दृष्टि से अगर मन को माना ही जाय तो वह साक्षी-मात्र है, द्रष्टा-मात्र है, कर्ता नही है, कर्ता शरीर है, कर्ता जो शरीर है उसमे जो-कुछ हो रहा है वह मन मे या आत्मा प्रतिविम्बित होता है। सांख्य-दर्शन मे भी आत्मा को अकर्ता माना गया है। गीता का कथन है, **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः अहकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता, 3-27)— अर्थात्, हमारे भीतर जो कुछ हो रहा है वह यत्रवत् हो रहा है—ठीक यह बात जो भौतिकवादी कहते हैं—परन्तु भौतिकवादी मन को नही मानते, सांख्य तथा गीता मन को मानते हैं—परन्तु मन को मानते हुए उसे 'साक्षी, चेता, केवल', निर्गुण'—ऐसा मानते हैं। सांख्य तथा गीता की दृष्टि भौतिकवाद के साथ-साथ अध्यात्मवाद को साथ लेकर चलती है, पाश्चात्य-भौतिकवाद निरा भौतिकवाद है।

हाँ, हम कह रहे थे कि भौतिकवादी मन को शरीर से पृथक् नही मानते। तो वे क्या मानते है? उनका कहना है कि मन की शरीर से पृथक् कोई सत्ता नहीं है, मन शरीर का ही एक रूप है, दूसरे शब्दो मे हमारा मस्तिष्क ही मन है। प्रश्न यह रह जाता है कि अगर मन शरीर का ही एक रूप है, मस्तिष्क ही मन है, तो उन बातो का क्या हल है, जो मन को मानने से ही समझ मे पडती हैं? उदाहरणार्थ, हमारे भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, द्वेष, आशा-निराशा, उत्साह, आकाक्षाएँ सव अभौतिक, अदृश्य मानसिक-तत्त्व हैं, मन की पृथक् सत्ता माने वगैर देह से, मस्तिष्क से—जो भौतिक पदार्थ हैं—इन अभौतिक-तत्त्वो की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

1 विकासवाद—डार्विन तथा लैमार्क का सिद्धान्त

भौतिकवादी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विकासवाद का सहारा लेते हैं। भौतिकवादियो का कहना है कि सृष्टि तथा मानव-शरीर के विकास मे कोई उद्देश्य (Purpose), कोई प्रयोजन काम नही कर रहा। उद्देश्य या प्रयोजन तो तभी काम कर सकता है अगर हम सृष्टि अथवा शरीर के विकास के आधार मे किसी मानसिक-तत्त्व को मानें। जहाँ उद्देश्य होगा, प्रयोजन होगा, वहाँ मन होगा क्योकि उद्देश्य या प्रयोजन किसी मानसिक-विचार के विना नहीं हो सकते। विकासवादी डार्विन तथा लैमार्क का कथन था कि मानव-शरीर का विकास अमीवा से हुआ, और विकसित होते-होते लाखो-करोडो सालो मे अमीवा से मानव-शरीर वन गया। इस विकास का आधार क्या है? प्रकृति का नियम है

कि प्राणी अपने जीवन को बनाये रखने के लिए परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, अगर परिवर्तित नही हो सकता, तो नष्ट हो जाता है। शरीर सुरक्षित रहना चाहता है, परिस्थिति बदली तो वह भी उसी के अनुसार बदल जाता है। उदाहरणार्थ, अत्यन्त ठण्डे मुल्को मे प्राणी के शरीर पर घने वाल उत्पन्न हो जाते हैं ताकि सर्दी से शरीर की रक्षा कर सकें, अँधेरे मे शिकार करने वाले प्राणियो की आँखो के लैंस इस प्रकार काम करने लगते हैं कि अन्धकार मे अपने शिकार को देख सकें, रेगिस्तान मे चलने वाले ऊँट के पाँव के तले इस प्रकार गद्देदार हो गये हैं कि उसकी टाँगें रेतीले मैदानो मे अन्दर न धँस जाएँ। ये सब उदाहरण सिद्ध करते है कि जब वाहर की परिस्थिति मे परिवर्तन आ जाता है तब प्राणी के शरीर मे परिवर्तन अपने-आप आ जाता है, यह परिवर्तन 'स्व-चालित' (Automatic) हैं, इस परिवर्तन को लाने मे चाहे वह वाहर की सृष्टि मे हो रहा हो, चाहे प्राणी के शरीर मे हो रहा हो, कोई पूर्व-परिलक्षित उद्देश्य या प्रयोजन नही है, वाहर की भौतिक परिस्थिति के प्रभाव से प्राणी बदलता ही रहता है। जितना परिवर्तन हो रहा है उसका स्रोत कोई मन नही है, भौतिक परिस्थिति ही सब प्रकार के परिवर्तन का कारण है।

विकासवादी डार्विन तथा लैमार्क का कथन था कि प्राणी-शरीर का विकास 'अमीबा' (Amoeba) से हुआ है। 'अमीवा' वह जीवधारी प्राणी है जो सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र से ही देखा जा सकता है। इसके आँख, नाक, कान, पेट आदि भिन्न-भिन्न अगो का निर्माण नही हुआ होता। उसी अग से यह हर काम ले लेता है, हर घडी परिवर्तित होता रहता है। सृष्टि मे जीवन की यात्रा इस 'अमीबा' से शुरू हुई है और आज विकसित होते-होते करोडो प्राणी उत्पन्न हो गये हैं, यहाँ तक कि मनुष्य का प्रारम्भ भी 'अमीबा' से ही हुआ है। ज्यो-ज्यो बाहर का भौतिक-जगत् बदलता गया, उसमे परिवर्तन आता गया, त्यो-त्यो यह प्राणी भी अपने को भौतिक-जगत् की परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार इस प्रकार बदलता गया और नष्ट नही हुआ। इसी 'परिवर्तन' (Variation) के परिणामस्वरूप आज सृष्टि मे असख्य-प्राणी दीख पडते है। यह सब परिवर्तन अपने-आप स्व-चालित यन्त्र की तरह होता रहता है। इस बात मे आश्चर्य होता है कि कहाँ 'अमीबा' और कहाँ 'मनुष्य', परन्तु जब हम इस बात को ध्यान मे रखे कि सृष्टि के प्रारम्भ तथा विस्तार के विषय मे 'भू-विज्ञान' (Geology) तथा 'ज्योतिष्-शास्त्र' (Astronomy) ने अद्भुत विचार उत्पन्न कर दिये हैं, तव आश्चर्य की बात भी कुछ नही रहती। 'भू-विज्ञान' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सृष्टि का प्रारम्भ इतने पहले हुआ कि हम उसकी कल्पना भी नही कर सकते, इसी प्रकार 'ज्योतिष्-शास्त्र' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सृष्टि का इतना विस्तार है कि उसकी भी हम कल्पना नही कर सकते। हमारी यह

भूमि क्या है ? ससार भर के समुद्र-तटो पर जितने रेता के कण हैं उनसे भी अधिक नभोमण्डल मे तारागण हैं, वे सब इस विशाल नभोमण्डल मे चक्कर काट रहे हैं, और एक-एक तारा दूसरे से करोडो मीलो की दूरी पर है। इतने विशाल-काल मे तथा इतने विस्तार वाले विश्व मे अगर परिवर्तन होते-होते 'अमीवा' से मनुष्य बन गया, तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है ? आखिर, यह पृथ्वी किसी समय सूर्य का हिस्सा थी, सूर्य की तरह ही अग्नि का पिण्ड थी, आज इस पर हम लोग बडे आनन्द मे रह रहे हैं। यह सब क्रमिक-परिवर्तन का अपने-आप हो रहा विकास है। जैसे पृथ्वी किसी समय अग्नि का पिण्ड थी, इसकी गर्मी धीरे-धीरे नष्ट होती गई, इसी प्रकार किसी समय सूर्य की गर्मी भी नष्ट हो जायगी, सूर्य की गर्मी के नष्ट होने पर पृथ्वी पर जीवन की कोई सभावना नही रहेगी, जीवन नष्ट हो जायगा, कोई प्राणी नही रहेगा, इस सारे कुचक्र मे मन जैसे तत्त्व की गुंजाइश ही कहाँ है ?

भौतिकवादियो का कथन है कि जीवन की पृष्ठ-भूमि मे मन जैसा कोई तत्त्व नही है, न विश्व के निर्माण मे कही मन का स्थान है, न प्राणी के जीवन मे मन का कही स्थान है—मानस-तत्त्व-रहित इस विश्व मे जीवन—या चेतना—एक आकस्मिक घटना है। जैसे जीवन का प्रारम्भ आकस्मिक तौर पर, बिना किसी उद्देश्य के, सृष्टि के आदिकाल मे 'अमीवा' के रूप मे हुआ, वैसे ही जीवन का अवसान भी उद्देश्यहीन इस सृष्टि मे सूर्य के ठण्डा पड जाने पर यकायक हो जायगा, जैसे यह उद्देश्यहीन जन्मी वैसे ही उद्देश्यहीन यह नष्ट हो जायगी, जब तक रहेगी यह भौतिक नियमो मे बँधी रहेगी, परिवर्तन का प्रारम्भ पहले भौतिक-जगत् मे होगा, परिस्थिति मे होगा, वह परिवर्तन प्राणी मे प्रतिबिम्बित होगा, ऐसा नही कि पहले प्राणी के मन मे विचार उत्पन्न हो, फिर उसका प्रतिफल प्राणी के शरीर पर हो।

परन्तु प्रश्न उठ खडा होता है कि मन को एक पृथक् तत्त्व के रूप मे न भी मानें, चेतना तो अनुभव होती है। अगर चेतना की कोई सत्ता नही, तो पत्थर मे और प्राणी मे क्या फर्क है ? पत्थर लाखो, करोडो, अरबो सालो तक पडा रहता है। उस पर परिस्थिति का प्रभाव लगातार अनगिनत काल तक पडा करता है, परन्तु इस परिस्थिति मे उसमे परिवर्तन क्यो नही होता—वह पत्थर-का-पत्थर क्यो बना रहता है ? इसका उत्तर भौतिकवादी यह देते है कि भौतिक-तत्त्व विकास के क्रम मे से गुज़रता-गुज़रता इतने असख्य परिवर्तनो मे से गुज़रा कि किसी एक बिन्दु पर आकर भौतिक-प्रकृति मे 'आत्म-चेतना' (Self-consciousness) फूट पडी, एक ऐसा परिवर्तन जग पडा जिसमे प्रकृति निश्चेतना से चेतना मे बदल गई। प्रकृति का इस प्रकार असख्य परिवर्तनो मे से इस प्रकार के परिवर्तन मे अचानक आ पडना ही मन कहलाता है, परन्तु

असल मे मन प्रकृति का ही एक सूक्ष्म परिवर्तित रूप है। अचेतन से चेतन, निर्जीव से सजीव हो जाना, भौतिक से मानसिक का जन्म हो जाना कितना ही अटपटा लगता हो, परन्तु भौतिकवादी को जो मन को अभौतिक मानने के लिए तैयार नही, जो मन को पाँच महाभूतो का ही परिणाम मानता है, जो मन को मस्तिष्क ही मानता है, उसे यह मानना ही पडता है कि अचेतन से चेतन, निर्जीव से सजीव का विकास हुआ, नही तो इस प्रश्न का कोई समाधान नही मिल सकता कि जब सृष्टि मे प्राणी प्रकट नही हुआ था, जीवन किसी रूप मे था ही नही, तब पहला-पहला प्राणी 'अमीबा' उत्पन्न कैसे हुआ। जीवनात्-जनन (Biogenesis) का उत्पन्न होना तो समझ आ जाता है, परन्तु अजीवनात्-जनन (Abiogenesis) कैसे हुआ—यह समझ सकना मुश्किल है, फिर भी भौतिक-वादी का यही कथन है कि निर्जीव प्रकृति के असख्य हेर-फेर से अचानक एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जिसमे निर्जीव प्रकृति मे 'आत्म-चेतना' (Self-consciousness) उत्पन्न हो गई। भौतिकवादी का कथन है कि इस 'आत्म-चेतना' को ही 'मन' कहा जाता है, जो प्रकृति या शरीर से कोई भिन्न तत्त्व नही है, प्रकृति या शरीर का ही परिवर्तित सूक्ष्म रूप है।

2. 'विचार' (Thought) के सम्बन्ध में भौतिकवादी सिद्धान्त

भौतिकवादी का कथन है कि मन मे जो-कुछ घटित होता है वह मन मे घटित नही होता, मस्तिष्क मे घटित होता है। जो-कुछ मस्तिष्क मे घटित हो रहा होता है उसे हम मन मे घटित होना कह देते है। दूसरे शब्दो मे, अगर मन है तो उसमे कुछ नही होता, जो-कुछ होता है वह पहले मस्तिष्क मे होता है, वही मन मे प्रतिबिम्वित होता है। जैसे दर्पण मे कुछ नही होता, जो-कुछ होता है दर्पण के बाहर होता है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब दर्पण मे दीखता है, दर्पण मे कुछ भी न होते हुए प्रतीत ऐसा होता है कि सब-कुछ दर्पण मे हो रहा है। भौतिकवादी ऐसा इसलिए कहते है क्योकि वे मन जैसे किसी तत्त्व को मानते ही नही, परन्तु क्योकि ऐसा प्रतीत होता है कि मन है, इसलिए वे यह कहने को बाधित हो जाते है कि यद्यपि मन की कोई सत्ता नही, मस्तिष्क की ही सत्ता है, तथापि अगर मन जैसा कोई तत्त्व है, तो वह दर्पण की तरह अन्यथा-सिद्ध है। इस दृष्टि से जिन घटनाओ को हम मानसिक कहते है वे यथार्थ मे भौतिक ही होती हैं, अथवा पहले भौतिक-घटना होती है, उसके बाद उसका मन पर प्रभाव पडता है—भौतिक पहले, मानसिक पीछे, भौतिक कारण, मानसिक कार्य—ऐसा समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि ठण्डी हवा लगने से मेरे सिर मे दर्द हो गया जिससे मेरा मन अत्यन्त ढह-सा गया, आज भूख नहीं लगी इसलिए घबराहट होने लगी, रिमझिम बरसात की बूँदें टपकने लगी

जिससे चित्त हरा हो गया—इस सबसे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि घटना पहले शरीर में घटित होती है, फिर उसका प्रभाव मन ग्रहण करता है। मनुष्य का शरीर बाह्य-परिस्थिति का, भौतिक-कारणों का परिणाम है; जैसी बाह्य-परिस्थिति होगी वैसा शरीर बन जायगा, जैसा शरीर बन जायगा वैसा मन बन जायगा। बाह्य-परिस्थिति में बर्फ पड़ती रहती है, शरीर उस ठण्ड को बर्दाश्त करने जैसा कठोर बन जाता है, बाहर के परिवर्तनों से शरीर में परिवर्तन हो जाते हैं, इसी प्रकार शरीर में होने वाले परिवर्तनों से मन में परिवर्तन हो जाते हैं। अध्यात्मवादी की दृष्टि में परिवर्तन की दिशा मन से शरीर की तरफ़ जाती है, भौतिकवादी की दृष्टि में परिवर्तन की दिशा शरीर से मन की तरफ जाती है, अध्यात्मवादी की दृष्टि में शारीरिक-परिवर्तन का कारण मन है, भौतिकवादी की दृष्टि में परिवर्तन का कारण शरीर है, मस्तिष्क है, अध्यात्मवादी की दृष्टि में विचार का स्रोत भीतर बैठा हुआ मन है, भौतिकवादी की दृष्टि में विचार का स्रोत बाहर दीख रहा शरीर है, शरीर में भी प्रत्यक्ष दीख रहा मस्तिष्क है। भौतिकवादी के सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक-सत्ता मन की नहीं, मस्तिष्क की है।

तो फिर, भौतिकवादी, मनुष्य में हर समय हो रहे 'प्रेम-द्वेष', 'भय-उत्साह', 'इच्छा-विचार', 'आशा-निराशा', 'स्मृति-आकांक्षा' आदि अदृश्य, अभौतिक-तत्त्वों का उद्गम शरीर या मस्तिष्क से उत्पन्न होना कैसे सिद्ध करते हैं? मन का जो-कुछ भी विचारात्मक, अभौतिक काम है उसका सिर्फ मस्तिष्क जैसे निरे भौतिक-पदार्थ में निकल पड़ना कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में भौतिक-वादियों के कथन का हम यहां संक्षेप में वर्णन करेंगे।

3 'संवेगों' (Emotions) के सम्बन्ध में जेम्स तथा लैंग का भौतिकवादी सिद्धान्त

अध्यात्मवादियों का कथन है कि मन की स्वतंत्र-सत्ता है, 'विचारों' (Thoughts) तथा 'मानसिक संवेगों' (Emotions) आदि का उद्गम मन से ही होता है, शरीर से—मस्तिष्क से—नहीं होता। मस्तिष्क इनके प्रकट होने का साधन है, उपकरण है, भौतिकवादी कहते हैं कि विचार, संवेग, भाव आदि मस्तिष्क की ही उपज हैं, मन की कोई पृथक् सत्ता नहीं। उदाहरणार्थ, अध्यात्मवादियों के अनुसार जब हम किसी व्यक्ति को किसी प्राणी का कत्ल करते देखते हैं तब मन में क्रोध उत्पन्न होता है, यह क्रोध एक 'संवेग' (Emotion) है, जो मन में अप्रकट रूप में पहले से विद्यमान है, मन का गुण है, परिस्थिति सिर्फ उसे जगा देती है, उत्पन्न नहीं करती। परन्तु जेम्स-लैंग का सिद्धान्त इस बात को नहीं मानता। इस सिद्धान्त का कथन यह है कि 'संवेग' (Emotion) केवल

शरीर मे हो रहे परिवर्तनो की मस्तिष्क द्वारा अनुभूति का नाम है। उनका कहना है कि जब हमे 'भय' लगता है, तब शरीर मे हो रहे परिवर्तनो की अनुभूति को ही हम 'भय' कह देते है। 'भय' लगने के समय क्या होता है ? हमारे गुर्दों के ऊपर कुछ 'ग्रन्थियाँ' है जिन्हे 'अधिवृक्क ग्रन्थियाँ' (Adrenal glands) कहते है, उनमे से जब रस निकलता है तब शरीर के स्नायुओ मे कुछ आवश्यक परिवर्तन होने लगते है, शरीर की माँस-पेशियो पर उनका प्रभाव पडता है, रक्त पर भी इस रस का असर होता है, इस प्रभाव को ही—इस भौतिक प्रभाव को ही—'भय' कहा जाता है। भय मन से नही आता, इन ग्रन्थियो के रस से शरीर मे जो परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं, तब हमारी जो स्थिति हो जाती है, उसे 'भय' कह देते हैं। इन ग्रथियो के रस से हृदय की गति तेज़ हो जाती है, आँखो की पुतलियाँ फैल जाती है। जेम्स का कथन है कि शरीर की इस परिवर्तित दशा की अनुभूति ही भय का संवेग है। शरीर मे ये परिवर्तन न हो तो भय भी न हो।

मुख्य प्रश्न यह है कि क्या भय का सवेग पहले होता है, और गुर्दे की ग्रन्थियो मे से रस बाद को निकलता है, या गुर्दे की ग्रन्थियो मे से रस पहले निकलता है, और भय बाद को होता है। अगर भय पहले हो और गुर्दे की ग्रन्थियो मे से रस बाद को निकलता हो, तब तो मानना पडेगा कि मन की स्वतन्त्र सत्ता है, अगर गुर्दे की ग्रन्थियो मे से रस पहले निकलता हो, इसके निकलने के बाद भय होता हो, तब मानना पड़ेगा कि भय मन मे नही गुर्दे की ग्रन्थियो मे से निकले रस का परिणाम है।

इस दिशा मे जेम्स तथा लैंग ने अनेक प्रयोग किये, परन्तु उनका कोई यथोचित् समाधान नही निकला। जो-कुछ कहा जा सकता है वह इतना ही है कि ये दोनो घटनाए आगे-पीछे न होकर एक-साथ होती है, जब भय लगता है तब गुर्दे की ग्रन्थियो मे से रस का स्राव भी होता है और जब गुर्दे की ग्रन्थियो मे से रस का स्राव निकलता है तब भय भी लगता है। जो लोग अध्यात्मवादी है वे कहेगे कि भय पहले लगता है, उसके परिणामस्वरूप ग्रन्थियो मे से रस सरने लगता है, जो भौतिकवादी है वे कहेगे कि ग्रन्थियो मे से रस पहले सरता है, इस सरने की अनुभूति से ही भय उत्पन्न हो जाता है। जिसकी जो मान्यता होगी वह वैसी ही बात कहेगा। जेम्स तथा लैंग का कहना है कि ग्रन्थियो मे से रस पहले निकलता है, इसी को भय कहते है। शरीर मे जो प्रतिक्रिया चल रही हो—उसी की अनुभूति से सवेग होता है, सवेग की मन के किसी गुण के रूप मे अलग से सत्ता नही है। हमे डर लगता है, इसलिये हम भागते हैं—यह बात नही है, शेर को सामने देख कर हमारे तत्रो (Nerves) मे एक स्वाभाविक, अपने-आप गति होती है ताकि अपने को बचाया जाय, अपनी रक्षा की जाय। शेर को सामने देख कर जो भौतिक-परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसकी अनुक्रिया के रूप

मे दिल धडकने लगता है, साँस तेज़ चलने लगता है, मनुष्य अपने बचाव के लिये अनुकूल क्रिया करने लगता है, भागने लगता है, यह नैसर्गिक-प्रतिक्रिया (Instinctive reaction) है, इसमे मन के लिये गुंजाइश नही, यह शेर को सामने देख कर शरीर का अपने-आप 'अनुकूलन' (Adapation) है, ठीक ऐसे जैसे घुटने के ऊपर के हिस्से पर हाथ से चोट देने पर घुटना उछल पडता है। भौतिक-वादी-विचारधारा के अनुसार शेर को सामने देख कर हम नैसर्गिक तौर पर अपने को बचाने के लिये भागने लगते हैं, और ज्यो-ज्यो भागते है त्यो-त्यो डर बढता जाता है। दूसरे शब्दों मे, हम डर के कारण नही भागते, अपने को शेर से बचाने के लिये हम भागते हैं—भागने की इस शारीरिक-गति के कारण जो अनुभूति होती है उस मानसिक-अनुभूति का नाम भय है। जेम्स का कहना है कि क्योंकि हमारे आँसू निकलते हैं इसलिये हम दुखी होते हैं, दुखी होते है इसलिये आँसू निकलते है—यह बात नही है। अगर हम न दौडे तो डर न लगे, अगर हम आंसू न बहायें तो दुख न हो। 'विचार' तथा 'सवेग' के विषय मे यह भौतिकवादी दृष्टिकोण है। इस विचार को पुष्ट करने के लिये फ्रास के भौतिकवादी मनोवैज्ञानिक श्री जिआर्ट ने मुर्गियो पर उनकी 'मूल-प्रवृत्तियों' (Instincts) के विषय मे यह जानने के लिये प्रयोग किये कि 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct) का आधार मन है या 'उद्दीपन-अनुक्रिया' (Stimulus-response) का भौतिक-नियम है।

4 'मूल-प्रवृत्ति' (Instincts) के सम्बन्ध मे जिआर्ट के प्रयोग

मन की सत्ता से इन्कार करने की बात को पुष्ट करने के लिये सबसे अच्छा दृष्टान्त मूल-प्रवृत्ति का है। मनुष्य तथा अन्य जीव-जन्तुओ मे मूल-प्रवृत्ति (Instinct) पायी जाती है। 'मूल-प्रवृत्ति' क्या है ? किसी प्रकार की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति सामने आने पर प्राणी तत्काल प्रतिक्रिया करता है, इस प्रति-क्रिया का कारण मूल-प्रवृत्ति है, नैसर्गिक-शक्ति है, इसे सहज-शक्ति भी कह सकते हैं। मूल-प्रवृत्ति (Instinct) पर जो प्रयोग तथा अन्वेषण किये गये हैं उनसे सिद्ध होता है कि मूल-प्रवृत्ति वह शक्ति है जिसमे विशेष प्रकार की परिस्थिति उपस्थित होने पर प्राणी मशीन की तरह सहज-क्रिया करने लगता है, मानो वह स्व-चालित-यत्र (Automaton) हो। जानवर के बच्चे को पैदा होते ही नदी मे डाल दिया जाय, तो वह तैरने लगता है, उसे लाठी दिखलाई जाय तो वह जान बचाने के लिए भागने लगता है, उसके मुँह मे माता का स्तन दे दिया जाय तो वह उसे चुमकने लगता है। ये सब प्रतिक्रियाएँ सीखी तो नही जाती, परिस्थिति के उपस्थित होने पर अपने-आप हो जाती है। फ्रासीसी मनोवैज्ञानिक जिआर्ट ने मुर्गियो पर परीक्षण किए। उन परीक्षणो से सिद्ध हुआ कि उनमे मातृत्व का प्रेम मन के किसी गुण के कारण नही, स्थानिक सूजन (Local inflammation)

के कारण होता है। मुर्गी अण्डो को इसलिए नही सेती क्योकि उसके मन मे अपने चूज़ो के लिए प्रेम होता है, परन्तु वह अण्डो पर इसलिए बैठी रहती है क्योकि इससे उसे अण्डो पर बैठने से जो सेक मिलता है उससे आराम पडता है। सूजन मे सेक से चैन पडा ही करती है। श्री जिआर्ट का कहना है कि अगर ठीक जगह मिर्ची लगा कर मुर्गी को सूजन की तरह बेचैन कर दिया जाय, तो वह मुर्गी दूसरी मुर्गियो के अण्डो को जा कर सेने लगती है। इसका यही अर्थ हुआ कि अण्डो को सेना मन के किसी गुण के कारण नही, अपितु एक विशेष प्रकार की परिस्थिति उपस्थित होने पर तत्काल तदनुकूल प्रतिक्रिया कर देना है जो एक स्व-चालित-यन्त्र की भाँति है। दूसरे शब्दो मे, यदि मुर्गी मे मातृत्व का 'संवेग' (Emotion) दीख पडता है, तो यद्यपि उसे 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct) कहा जाता है, तो भी वास्तव मे पहले उसके शरीर मे कुछ गडबड होती है, उसी शारीरिक बेचैनी के अनुभव को हम मन का अनुभव कह देते हैं, मन पहले नही, शारीरिक-बेचैनी पहले है, उस बेचैनी का शारीरिक-अनुभव मन कहा जाता है।

5. 'इच्छा-शक्ति'—'कर्तृत्व-शक्ति'—(Will) के सम्बन्ध में मस्तिष्क पर किये गये बिजली की करेन्ट के प्रयोग

हमने देखा कि 'विचार' (Thought), 'सवेग' (Emotion) तथा 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct) के विषय मे भौतिकवादी की क्या विचारधारा है। विचार, सवेग, मूल-प्रवृत्ति ही को तो हम मन के लक्षण कहते हैं। भौतिकवादी का कहना है कि ये सब मन के लक्षण न होकर शरीर मे हो रही प्रतिक्रियाएँ हैं, 'उद्दीपन अनुक्रिया' (Stimulus-response) के दृष्टात है।

प्रश्न होता है कि उक्त लक्षणो को भले ही मानसिक-लक्षण मानने के स्थान मे शारीरिक-लक्षण मान लिया जाय, परन्तु 'इच्छा', 'कर्तृत्व'—Will—के मानसिक लक्षण को शारीरिक-लक्षण कैसे माना जा सकता है? मनोविज्ञान को भौतिकवादी आधार देने मे मनुष्य के भीतर वर्तमान 'इच्छा-शक्ति'-'कर्तृत्व-शक्ति' (Will) सबसे बडी बाधा है। यह हमारे भीतर मौजूद एक ऐसी मानसिक या 'आध्यात्मिक-शक्ति' (Spiritual faculty) है जिससे हमे स्पष्ट अनुभव होता है कि मन की शरीर से पृथक् सत्ता है, इसी पृथक्-सत्ता के कारण हम शरीर पर प्रभुत्व अनुभव करते है, यह नही कि जो शरीर मे हो रहा होता है वही सब-कुछ है, परन्तु अनुभव से सिद्ध है कि मन स्वतन्त्र-रूप मे शरीर का सचालन करता है। उदाहरणार्थ, जब हम बैठे-बैठे अपनी मर्ज़ी से हाथ को सिर से ऊपर उठाते हैं, तब हम किसी भौतिक-परिस्थिति की प्रतिक्रिया नही कर रहे होते जैसा 'उद्दीपन-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के भौतिक-सिद्धान्त के आधार

पर मन को निर्वासित करने के लिए कहा जाता है, तब हम यन्त्र की तरह स्व-चालित नहीं हो रहे होते, परन्तु तब हम शरीर मे स्वतन्त्र होकर, अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार क्रिया कर रहे होते है, एक तरह से हमारे भीतर शरीर से स्वतन्त्र कोई शक्ति है, जो शरीर को हाथ ऊँचा उठा लेने का आदेश दे रही होती है। क्योकि यह शक्ति शरीर को आदेश दे रही होती है इसलिए यह स्वय-सिद्ध है कि यह शक्ति जिसे हम मन कहते है, शरीर से स्वतन्त्र है, शरीर से अतिरिक्त है। अध्यात्मवादी का भौतिकवादी से यह स्वभाविक प्रश्न है कि अगर प्रत्येक मानसिक-क्रिया का कारण मन न होकर शरीर है, तो इस भौतिकवादी विचार से हमारे भीतर मौजूद 'स्वतन्त्र-कर्तृत्व-शक्ति', 'स्वतन्त्र-इच्छा-शक्ति', 'स्वतन्त्र-सकल्प-शक्ति' (Freedom of Will) का क्या हल है ? 'कर्तृत्व-शक्ति' का अर्थ ही यह है कि शरीर से अतिरिक्त मन जैसी कोई पृथक्-सत्ता है, जो स्वतन्त्र रूप मे, अपने अधिकार से काम करती है।

इसका उत्तर भौतिकवादी यह देते हैं कि मस्तिष्क मे एक ऐसा स्थल या स्तर है जहाँ बाहर से 'सवेदन' (Sensation) जाता है, जाकर वहाँ से 'प्रेरणा' (Motion) होती है। मस्तिष्क के जिस स्तर मे 'सवेदन-तन्त्र' (Sensory nerve) 'प्रेरणा-तन्त्र' (Motor nerve) के रास्ते पर चल पडते हैं, उसी स्तर के क्रिया-शील होने के कारण हम अनुभव करते है कि हम स्वय क्रिया कर रहे है, वास्तव मे वह क्रिया मानसिक न होकर शारीरिक होती है, इसलिए शारीरिक होती है क्योकि उस क्रिया मे मन काम नही कर रहा होता, सिर्फ ज्ञान-तन्त्रो का अपना काम चल रहा होता है। प्रयोगो से सिद्ध हुआ है कि अगर मस्तिष्क के उस स्तर को बिजली की करेंट से छुआया जाय, तो शरीर मे जो प्रतिक्रिया होती है उसमे व्यक्ति अनुभव करता है कि उस क्रिया को वह स्वय कर रहा है, स्वतन्त्र रूप मे कर रहा है। वह क्रिया 'प्रतिवर्त-क्रिया' (Reflex action) नही होती, जिसे अपने-आप हो रही क्रिया कहा जा सके, उस क्रिया को करने वाले को ऐसा अनुभव होता है कि वह 'ऐच्छिक-क्रिया' (Voluntary action) कर रहा है, यन्त्र की तरह क्रिया नही कर रहा परन्तु अपनी इच्छा से क्रिया कर रहा है यद्यपि वास्तव मे वह क्रिया बिजली की करेंट लगाने के कारण हो रही होती है। भौतिकवादियो का कथन है कि जब बिजली की करेंट को मस्तिष्क के केन्द्र मे छुआ देने से व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि वह उस क्रिया को अपनी 'इच्छा-शक्ति' (Will) के कारण कर रहा है यद्यपि उसमे किसी प्रकार की 'इच्छा-शक्ति' नही होती, तब हम यह क्यो न मानें कि जहाँ-जहाँ हमे 'इच्छा' या 'कर्तृत्व' दीखता है, वहाँ-वहाँ हम स्वतन्त्र रूप मे मन द्वारा कोई क्रिया नही कर रहे होते, परन्तु उस इच्छा या कर्तृत्व के अनुभव का आधार भी मस्तिष्क मे बिजली की करेंट की तरह कोई भौतिक कारण ही होता है।

6 चेतना (Consciousness)

जैसे 'इच्छा-शक्ति'—अर्थात्, 'कर्तृत्व-शक्ति' (Will) का होना भौतिकवादी विचारधारा के सम्मुख एक बडी बाधा प्रतीत होती है जिसका जैसा-तैसा भौतिकवादी समाधान हमने ऊपर दिया, वैसे ही 'चेतना-शक्ति' (Consciousness) का होना भौतिकवादी विचारधारा के मार्ग मे उससे भी बडी बाधा है। हमारे सम्पूर्ण मानसिक-जीवन का स्रोत, उसका केन्द्र चेतना-शक्ति है। अपने जीवन के विषय मे अगर कोई वस्तु ऐसी है जिसके विषय मे हम अत्यन्त निश्चय-पूर्वक कह सकते है कि वह है, तो वह है हमारी अपनी 'चेतना'। मैं शरीर नही हूँ, शरीर जड है, मैं चेतन हूँ; यह शरीर मेरा है, मैं अनुभव करता हूँ जब कि अचेतन-पदार्थ अनुभव नही करता। 'अनुभव' करना क्या है ? एक सत्ता उसकी है जो अनुभव करता है, एक सत्ता उसकी है जिसे अनुभव किया जाता है; एक 'कर्ता' (Subject) है, दूसरा 'कर्म' (Object) है। यह चेतन, यह अनुभव करने वाला, यह कर्ता—इस हर-किसी के अनुभव मे आने वाली सत्ता से कैसे इन्कार किया जा सकता है ? अमीर हो, गरीब हो, सुपढ हो, कुपढ हो, स्त्री हो, पुरुष हो—कौन ऐसा मानव है जिसे अपने शरीर से पृथक् अपने 'मैं' की प्रतीति न होती हो ? वह शरीर को 'मेरा' न कहता हो ? वह कौन है जो इसे 'मेरा' कहता है ? इसका भौतिकवादी क्या समाधान दे सकते है ?

भौतिकवादियो का कथन है कि जैसे ऊपर हम अन्य मानसिक घटनाओं (Mental phenomena) का—विचार, सवेग, मूल-प्रवृत्ति आदि का—भौतिकवादी-विचारधारा से समाधान कर आये है, वैसे चेतना-शक्ति का भी भौतिकवादी समाधान किया जा सकता है। यह समाधान अत्यन्त विलक्षण है। विलियम जेम्स तथा अन्य भौतिकवादी मनोवैज्ञानिको का कहना है कि 'चेतना' नाम की कोई पृथक्-सत्ता है ही नही, फिर उसका समाधान क्या किया जाय ? जो-कुछ है वह 'मानसिक-सत्ता' है—'विचार' (Thought), 'सवेग' (Emotion), 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct)—यही-कुछ है, जिसे हम 'चेतना' का नाम दे देते है, असल मे मन के अतिरिक्त चेतना जैसी किसी पृथक्-सत्ता का कोई अस्तित्व नही है। जिसे हम 'मानसिक' कहते है वह भी मानसिक नही है, शारीरिक ही है—भौतिकवादियो की इस विचारधारा के अनुसार न चेतना है, न मन है, न विचार है, न सवेग है, न मूल-प्रवृत्ति है, न कर्तृत्व है—जो-कुछ है वह भौतिक-तत्त्वो का आपस मे ही चल रहा एक खेल है, सब-कुछ स्व-चालित है, स्व-चालित इस शरीर रूपी यन्त्र मे विचार, उद्वेग, मूल-प्रवृत्ति, इच्छा, कर्तृत्व आदि जो-कुछ दीखता है वह भौतिक-तत्त्वो का ही परिणाम है, मन जैसी शरीर से स्वतन्त्र किसी शक्ति का परिणाम नही है।

7. आत्मा (Self or Soul)

भौतिकवादियो का कहना है कि जिसे हम 'चेतना' (Consciousness) कहते हैं वह किसका गुण है, किसकी शक्ति है ? 'चेतना' (Consciousness) की स्वय तो कोई स्वतन्त्र सत्ता नही, यह तो एक 'गुण' (Quality) है। यह किसका गुण है ? चेतना 'आत्मा' (Self—Soul) का गुण है—ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह आत्मा जिसमे चेतना निवास करती है, जिसका चेतना-शक्ति एक गुण कहा जाता है—यह 'स्व'—यह 'आत्म-तत्त्व'—यह 'स्वय'—क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? भौतिकवादियो का कहना है कि आत्मा की स्वतन्त्र कोई सत्ता नही है, इसका किसी को पता नही है, इसका किसी को ज्ञान नहीं है, यह केवल एक काल्पनिक-तत्त्व है जिसे कुछ विचारको ने मान रखा है, कल्पित कर रखा है। 'आत्मा' की कितनी ही गहरी खोज की जाय, हमारे हाथ कुछ नही पडता, अगर कुछ हाथ पडता है तो सिर्फ यह प्रश्न कि क्या हमारे भीतर कुछ है जो 'विचार' (Thinking) करता है, जिसमे 'सवेग' (Emotion) उठता है, जो 'इच्छा' (Willing) करता है, और साथ ही यह उलझन भी वनी रहती है कि क्या ये विचार, ये सवेग, ये इच्छाएँ, ये क्रियाएँ स्वतन्त्र रूप से, अलग-अलग हो रही हैं, या इन सवको एक सूत्र मे पिरोने वाले की इनसे अलग, कोई पृथक्-सत्ता भी है, वह स्वय भी है या नही है, ऐसा 'स्वय' जो शरीर के भीतर चल रहे विचारो, सवेगो, इच्छाओ एव क्रियाओ का स्रोत हो। जव हमारे भीतर ही इस प्रकार की दुविधा या उलझन चल रही हो, और वह भी तथाकथित आत्मा कहे जाने वाले तत्त्व मे चल रही हो, तो क्या उस तत्व की स्वतन्त्र रूप मे—आत्मा के रूप मे—कोई सत्ता मानी जा सकती है ? इस वात का कोई प्रमाण नही है कि ये तत्व—विचार, सवेग, इच्छाएँ, क्रियाएँ—किसी एक ही उद्गम-स्थान से उठ रही हैं, इनका एक ही स्रोत है, इनके आधार मे कोई एक ही सत्ता है जो इन सवको एक सूत्र मे पिरो रही है। दूसरे शब्दो मे, इस वात का कोई प्रमाण नही है कि वह तत्व हमारे भीतर चल रहे विचारो, सवेगो, इच्छाओ तथा क्रियाओ से कोई भिन्न, इनसे स्वतन्त्र तत्त्व है। भौतिकवादियो के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा जैसी कोई सत्ता है ही नही, सिर्फ जो प्रकट हो रहा है, विचार हैं, सवेग हैं, इच्छाएँ हैं, क्रियाएँ हैं, वस यही-कुछ है, इनके अतिरिक्त 'स्व' की, 'आत्मा' की कोई सत्ता नही है। हमारा सामना विचारो से होता है, सवेगो से होता है, इच्छाओ से होता है, क्रियाओ से होता है, परन्तु वह सत्ता जो विचार करती है, जिसमे सवेग आते-जाते हैं, जो इच्छाएँ करती है, क्रियाएँ करती है, उसका हमसे कभी सामना नही होता क्योंकि वह है ही नही। ठीक यही वात 'चेतना' (Consciousness) के विपय मे ही कही जा सकती है। हम जानते हैं

कि हमारे भीतर विचार आते हैं, भावनाएँ आती हैं, इच्छाएँ आती हैं, हम क्रियाएँ करते है, परन्तु वह सत्ता जिसे 'चेतना' कहा जाता है, जो भावनाएँ करती है, इच्छाएँ करती है, क्रियाएँ करती है, जो इन सबका स्रोत है, उस 'चेतना' का तो हमसे कभी सामना नही होता। अगर 'चेतना' जैसी कोई सत्ता हो, तो जब हम विचार न कर रहे हो, हमारे भीतर कोई भावनाएँ न हो, कोई क्रिया न हो, तब भी उस चेतना की प्रतीति, उसका अनुभव होना चाहिए। 'चेतना' अपने को विचारो, इच्छाओं, भावनाओ तथा क्रियाओ मे ही तो प्रकट करती है, परन्तु जब इनमे से कोई वस्तु भी न हो, तब 'चेतना' की प्रतीति, उसका अनुभव क्यों नही होता ? भौतिकवादियो का कहना है कि तब 'चेतना' का अनुभव इसलिए नही होता क्योकि 'चेतना' या 'आत्मा' का अस्तित्व 'विचारो' आदि के अतिरिक्त कुछ है ही नही, और विचारो के विषय में भौतिकवादी समाधान, जैसे पहले कहा जा चुका है, दिया ही जा सकता है। हम जो-कुछ सोचते या करते है, वह सब-कुछ 'मन', 'आत्मा' या 'चेतना' जैसी वस्तु बीच मे लाए बगैर हो सकता है। जो लोग मनोविज्ञान पर इस उग्र भौतिकवादी-दृष्टिकोण से विचार करते है उन्हे 'व्यवहार-वादी' (Behaviourists) कहा जाता है।

8. व्यवहारवाद (Behaviourism)

व्यवहारवादियो का कहना है कि हमारे मन मे क्या हो रहा है इसे जानने के साधनो पर विचार किया जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि 'मन'—जैसी कोई वस्तु नही है। मन मे जो-कुछ हो रहा कहा जाता है, उसे जानने के दो साधन हैं : एक है—'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection), दूसरा है 'प्रेक्षण' (Observation)। हम दोनो पर व्यवहारवादी दृष्टिकोण से विचार करेंगे—

(क) अपना, अर्थात् मन का 'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection of the mind)—अन्तर्निरीक्षण का अर्थ है अपने भीतर चल रहे व्यापार को देखना, परन्तु अपने भीतर जो-कुछ चल रहा होता है वह यथार्थ से कितना अनिश्चित, दूर तथा गलत होता है यह तब स्पष्ट हो जायगा जब 10-20 व्यक्तियो को एक ही घटना का वर्णन करने के लिए कहा जाय। जब हम किसी घटना को देखते है तब मन के भीतर उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह प्रतिबिम्ब घटना को देखने वाले हर व्यक्ति का एक-दूसरे से अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ, गोटिनजेन शहर मे मनोविज्ञान की एक कांग्रेस हुई थी जिसमे उपस्थित वैज्ञानिको के सम्मुख एक घटना का आयोजन किया गया। एकाएक एक विदूषक सभा-स्थल मे आ धमका, उसके ठीक पीछे एक नीग्रो दौड़ता आया, दोनो मे गुत्थमगुत्थी हुई, इतने में गोली के छूटने की आवाज़ हुई और दोनो घटना-स्थल से रफूचक्कर हो गये। कुल घटना को 20 सैकेंड से कम समय लगा। उपस्थित-व्यक्तियो को

इस घटना का लिखित वर्णन देने के लिए कहा गया। जितने वर्णन आए, उनमे से सिर्फ एक व्यक्ति के वर्णन मे मुख्य-घटना के विषय मे 20 प्रतिशत से कम गलतियाँ थी, 14 के वर्णन मे 20 से 40 प्रतिशत गलतियाँ थी, 13 के वर्णन मे 50 प्रतिशत से ज्यादा गलतियाँ थी। 24 के वर्णन मे 10 प्रतिशत बातें सिर्फ मनगढन्त थी। सक्षेप मे, 10 के वर्णन बिलकुल झूठे थे जैसे किस्से-कहानियाँ होती है, 24 के वर्णनो मे आधा झूठ था, सिर्फ 6 के वर्णन घटना के कुछ-कुछ नजदीक आते थे। इस प्रयोग से स्पष्ट है कि एक ही घटना का 'अन्तर्निरीक्षण' द्वारा लिया गया मानसिक-चित्र अविश्वसनीय होता है क्योंकि एक ही घटना का सबका निरीक्षण एक-दूसरे से भिन्न पाया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब हम किसी घटना को देखते हैं तब उस घटना के अतिरिक्त जो घटना का हिस्सा नही है उसे भी कल्पित कर लेते हैं, और यथार्थ-घटना को नही देख पाते, जो चाहते है उसे देखने लगते हैं। यह बात तो तब है जब हम किसी बाह्य घटना को देख रहे होते है, परन्तु जब हमने 'मन' को ही देखना हो तब तो यह अनिश्चितता और बढ जाती है। मन को देखना है, और मन द्वारा ही देखना है—कितना कठिन काम है। जब हम बाह्य-वस्तु को मन द्वारा देख रहे होते हैं, तब अनेक ग़लत बातें बीच मे आ पडती है, जब हम मन द्वारा मन को ही देख रहे हो, तब तो कहना ही क्या है। तब मन मे अनिश्चित, अविद्यमान, गलत बातो का आ जाना, ऐसी बातो का आ जाना जो मौजूद नही है परन्तु जिनको मन चाहता है, क्या बडी बात है ? तब तो जितना हम अन्तर्निरीक्षण द्वारा मन पर विचार करेंगे उतना ही मन का वही स्वरूप दीखने लगेगा जो हमने अबतक अपने भीतर बना रखा है। इन सब कारणो से भौतिकवादी मनोवैज्ञानिको का कथन है कि मन के विषय मे किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'अन्तर्निरीक्षण' किसी प्रकार सहायक सिद्ध नही हो सकता। 'अन्तर्निरीक्षण' से हम मन की यथार्थ-सत्ता को नही समझ सकेंगे, जो-कुछ धारणा हमने मन के विषय मे बनाई होगी वही हमें दीखने लगेगी, अन्तर्निरीक्षण से मन के यथार्थ-रूप का पता नही चल सकेगा।

(ख) प्रेक्षण (Observation)—व्यवहारवादियो का कथन है कि 'अन्तर्निरीक्षण' द्वारा हम किसी तथ्य पर नही पहुँच सकते। मन की सत्ता का मुख्य आधार 'अन्तर्निरीक्षण' ही है, अपने भीतर झाँकने से ही तो हम कहते हैं कि शरीर के अतिरिक्त मन की सत्ता है, परन्तु जब 'अन्तर्निरीक्षण' द्वारा हम किसी तथ्य पर पहुँच ही नही सकते, तब मन की सत्ता सिद्ध करने के लिए इस आधार को लेना बेकार है। तो फिर किसी तथ्य तक पहुँचने का क्या आधार है ? व्यवहारवादियो का कहना है कि ऐसा आधार सिर्फ 'प्रेक्षण' है। हमारा निरीक्षण क्या कहता है ? हम 'मन' को नही देख सकते, 'चेतना' को नही देख सकते, अपने मे अगर कोई चीज देख सकते हैं तो वह है अपना व्यवहार, अपना क्रिया-कलाप।

हम जो-कुछ करते है उसी को हम देख सकते हैं। जब हम 'चेतना' को, 'मन' को देख ही नही सकते, सिर्फ अपने व्यवहार, अपने क्रिया-कलाप को ही देख सकते है, तब 'चेतना' या 'मन' के काल्पनिक-तत्त्व के साथ टक्कर मारने की जगह यही उत्तम है कि हम अपने 'व्यवहार', अपने 'क्रिया-कलाप' का ही अध्ययन करे। ऐसी हालत मे मनोविज्ञान को 'मन' जैसी अज्ञेय तथा काल्पनिक वस्तु की उलझन मे पडने के स्थान मे 'व्यवहार' जैसी ज्ञेय तथा वास्तविक-सत्ता के सम्वन्ध मे विचार करना चाहिए।

इस स्थापना को आधार बना कर 'व्यवहारवादी' (Behaviourist) अपने शास्त्र का प्रारम्भ करता है। वह कहता है कि प्रत्येक प्राणी का वह व्यवहार जो हमे दृष्टिगोचर होता है 'उद्दीपन' (Stimulus) तथा 'अनुक्रिया' (Response) का ही परिणाम है। एक खास प्रकार का उद्दीपक हमारे सामने आता है, उसकी अनुक्रिया हो जाती है जो हमारे व्यवहार मे हमे दीखती है। इस दिशा मे व्यवहारवादियो ने अनेक परीक्षण किये हैं जिनमे से मुख्य परीक्षण को 'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned-response) का परीक्षण कहा जाता है। 'अनुकूलित-अनुक्रिया' का परीक्षण क्या है ?

(I) **अनुकूलित-अनुक्रिया का प्रयोग** (Experiment of Conditioned response)—रूस के मनोवैज्ञानिक पवलव ने कुत्ते पर कुछ प्रयोग किए। उन प्रयोगो के अनुसार पहले कुत्ते को एक सुरक्षित स्थान पर रख दिया गया जहाँ बाहर का कोई विक्षेप नही पहुँच सकता था। उसके सामने भोजन लाया जाता था जिसे देख कर स्वाभाविक तौर पर उसके मुख मे लार आने लगती थी। दूसरे शब्दो मे, भोजन एक 'उद्दीपक' (Stimulus) था, उसे देख कर मुँह मे लार आ जाना 'अनुक्रिया' (Response) थी। इस अवस्था को 'अननुकूलित उद्दीपक' (Unconditioned stimulus) की 'अननुकूलित अनुक्रिया' (Unconditioned response) कहा जाता है—Unconditioned response to an unconditioned stimulus.

इसके बाद प्रयोग की दूसरी स्थिति आती है। इस वार कुत्ते के सामने जब-जब भोजन लाया जाता है, तब-तब एक घण्टी भी वजाई जाती है, हर वार जव भोजन आता है साथ ही घण्टी बजती है।

अब प्रयोग की तीसरी स्थिति आती है। इस स्थिति मे भोजन तो नहीं लाया जाता, सिर्फ घण्टी वजाई जाती है। आश्चर्य की वात यह है कि पहले तो भोजन को देख कर कुत्ते के मुँह मे लार आती थी, अव विना भोजन को देखे, सिर्फ घण्टी को सुनने से ही उसके मुँह मे लार आने लगती है।

इसका अर्थ क्या हुआ ? इसका अर्थ यह हुआ कि पहले तो लार आने मे 'उद्दीपक' का काम भोजन करता था, अब लार आने के लिए एक नया 'उद्दीपक'

घण्टी का बजना उत्पन्न हो गया। यह नया 'उद्दीपक' कैसे उत्पन्न हुआ ? यह ऐसे उत्पन्न हो गया कि जब-जब भोजन आता था, घण्टी बजती थी। घण्टी का बजना भोजन के साथ जुट गया, सम्बद्ध हो गया, और इस प्रकार सम्बद्ध होने से भोजन के साथ लार आने का जो जोड़ था वह जोड़ घण्टी के साथ भी जुड़ गया, दोनों का अनुकूलन हो गया। दूसरे शब्दों में, भोजन तथा घण्टी का 'उद्दीपक' के रूप में एक-साथ सम्बन्ध जुटा, लार का सम्बन्ध जो भोजन के साथ था वह घण्टी के साथ भी हो गया। इसे 'अनुकूलित उद्दीपक' (Conditioned stimulus) की 'अनुकूलित अनुक्रिया' (Conditioned response) कहा जाता है—Conditioned response to a conditioned stimulus

जैसे भोजन के साथ घंटी को जोड़ दिया गया वैसे किसी अन्य उद्दीपक को भी जोड़ा जा सकता है, शर्त इतनी ही है कि यह काम भोजन और उद्दीपक का अनेक बार, बार-बार सम्बन्ध होते रहना चाहिए।

भोजन के साथ किसी सुखद उत्तेजक की तरह किसी दुःखद उत्तेजक को भी बार-बार दोहराने से वह भी भोजन के साथ 'सम्बद्ध' हो सकता है। उदाहरणार्थ, अगर भोजन के साथ-साथ कुत्ते को हर बार सूई से चुभोया जायगा, तो भी सूई चुभने का भोजन के साथ सम्बन्ध हो जायगा, और कालान्तर में सिर्फ सूई चुभोने पर भी कुत्ते के मुँह में वैसे ही लार आने लगेगी जैसे भोजन को सामने लाने पर आती थी।

इस परीक्षण से भौतिकवादी क्या सिद्ध करना चाहता है ? वह कहता है कि अगर मन जैसी कोई हस्ती हो, तब भोजन को सामने देख कर कुत्ते के मुँह में लार आ जाना तो समझ में आ सकता है, परन्तु घण्टी की आवाज़ सुन कर या सुई चुभने पर लार आ जाना समझ नहीं आ सकता। तो फिर घण्टी की आवाज़ सुन कर भौतिकवादी दृष्टिकोण से कुत्ते के मुँह में लार क्यों आ जाती है ? उसका कहना है कि जब 'संवेदन-तन्त्र' (Sensory nerves) भोजन के 'दृश्य-संवेदन' (Visual sensation) को मस्तिष्क के केन्द्र तक पहुँचाते हैं तब घण्टी बजने के 'श्रव्य-संवेदन' (Auditory sensation) भी उसी केन्द्र पर इन तन्त्रों द्वारा पहुँचते हैं, और जब उस केन्द्र से 'प्रेरक-तन्त्र' (Motor nerves) उद्दीपन की अनुक्रिया (Response to the stimulus) को बाहर लाते हैं, तब देखने तथा सुनने के एक-साथ जुड़े हुए संवेदन इन तन्त्रों के द्वारा साथ-साथ बाहर आते हैं। क्योंकि दोनों संवेदन इन तन्त्रों द्वारा साथ-साथ बाहर आते हैं इसलिए दोनों संवेदनों को साथ-साथ बाहर लाने वाला तन्त्र कुछ समय के लिए दोनों प्रकार के संवेदनों के लिए क्रियाशील हो जाता है, और चाहे इकला भोजन सामने लाया जाय, चाहे भोजन के बिना इकली घण्टी बजाई जाय, कुत्ते के मुँह में लार आने लगती है। भौतिकवादी का कहना है कि

'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned response) के इस परीक्षण से स्पष्ट है कि 'उद्दीपक' (Stimulus) के प्रति 'अनुक्रिया' (Response) का कारण मन न होकर 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) ही है।

भौतिकवादियो का कथन है कि जो-कुछ कुत्ते के विषय मे कहा जा सकता है वह मनुष्य के विषय मे भी कहा जा सकता है। कुत्ते का तन्त्रिका-तन्त्र तो बहुत साधारण-सा है, इसलिए हर कुत्ते पर और हर आयु के कुत्ते पर ऐसे प्रयोग किये जा सकते है, परन्तु मनुष्य का तन्त्रिका-तन्त्र साधारण नही है, विषम है, इसलिए हर मनुष्य पर और हर आयु के मनुष्य पर 'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned response) के प्रयोग नही किये जा सकते। ये प्रयोग छोटे बच्चो पर ही किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, व्यवहारवाद के जन्मदाता श्री वाटसन ने 1912-14 मे छोटे बच्चो पर इस प्रकार के कुछ प्रयोग किये। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जैसे कुत्ते के मुँह मे स्वाभाविक तौर पर भोजन सामने होने पर लार आती है, वैसे दो प्रकार के ही ऐसे 'उद्दीपक' है जिनसे स्वाभाविक तौर पर बच्चो मे डर उत्पन्न होता है। वे हैं—ज़ोर की आवाज, तथा यकायक बिना सहारे छूट जाना। फिर भी 3 वर्ष का बच्चा इन स्वाभाविक दो स्थितियो के अलावा भी अन्य अनेक स्थितियो मे भय खाता है। उदाहरणार्थ, वह अँधेरे से, किसी जानवर से, या किसी यान्त्रिक खिलौने से डरने लगता है। वाटसन का कथन है कि ये सब डर 'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned response) के परिणाम है। उदाहरणार्थ, अन्धेरे से बच्चा इसलिए डरने लगा होगा क्योकि किसी समय अँधेरे के साथ कुत्ता ज़ोर-से भौक पडा होगा, या अँधेरे से चलता हुआ वह बेसहारे गिर पडा होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि बच्चा अँधेरे से नही डरा, जब वह अँधेरे मे था तब कुत्ते की ज़ोर की आवाज सुनी या कभी ठोकर खाकर गिर पडा, इन कारणो से वह डरा, परन्तु यह सब-कुछ क्योकि अँधेरे के साथ सम्बद्ध था, उसके साथ जुडा हुआ था, इसलिए वह अँधेरे से भी डरने लगा। बच्चो पर किये गए इन प्रयोगो से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य मे भी अनुक्रिया का कारण मन न होकर 'तन्त्रिका-तन्त्र' ही है।

भौतिकवादियो का कथन है कि 'अननुकूलित-उद्दीपक' (Unconditioned-stimulus) के साथ दूसरा उद्दीपक सम्बद्ध कर देने, जोड देने से 'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned response) हो जाती है—यह भौतिकवादी-सिद्धांत समाज के नव-निर्माण मे भी बडा सहायक सिद्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ, शत्रु से द्वेष करना स्वाभाविक-प्रतिक्रिया है, परन्तु अगर मित्र तथा शत्रु को साथ-साथ रखा जाय, तो मित्र के प्रति प्रेम की प्रतिक्रिया के बार-बार दोहराये जाने का परिणाम यह हो सकता है कि शत्रु के प्रति भी द्वेष के स्थान पर प्रेम की भावना का उदय होने लगे। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण 'संवेगात्मक-जीवन'

(Emotional life) बदला जा सकता है। दूसरे शब्दों में, भौतिकवादियों के कथनानुसार प्रेम-घृणा, ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, मोह, भय आदि मानसिक-संवेग, मानसिक-भावनाएँ मन का परिणाम नहीं, तन्त्रिका-तन्त्र का परिणाम हैं, हम चाहें तो 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के तन्त्रों को भौतिक-दृष्टि से प्रभावित करके घृणा की जगह प्रेम, द्वेष की जगह मैत्री को जन्म दे सकते हैं, और ऐसा करने में मन जैसे किसी तत्त्व की स्थापना करने की आवश्यकता नहीं होगी।

(II) **उक्त प्रयोग के परिणामस्वरूप 'मन' या 'चेतना' को मानने की आवश्यकता नहीं है**—'व्यवहारवादी' (Behaviourists) लोग भौतिकवादी-मनोवैज्ञानिक हैं। इनका कहना है कि 'मन' या 'चेतना' को माने बगैर 'व्यवहारवाद' के उक्त प्रयोगों से उन सब बातों का समाधान हो जाता है जिनके लिए 'मन' या 'चेतना' (Mind or Consciousness) को माना जाता है। उक्त प्रयोगों से स्पष्ट है कि जिस बात का आधार हम 'मन' को कहते हैं, वह सब यन्त्रवत् चल रहा है, 'कारण-कार्य' के नियम से बँधा हुआ है। आग होगी तो सेक होगा, बर्फ होगी तो ठण्ड होगी, उद्दीपक होगा तो अनुक्रिया होगी—इसमें 'मन' या 'चेतना' को बीच में ला खड़ा करने की क्या ज़रूरत है? व्यवहारवादी कहता है कि अगर 'मन' है, तो भी इस बात की ज़रूरत नहीं कि मन को पता हो कि क्या उद्दीपक है, और क्या अनुक्रिया है, उसके जाने बगैर यह 'उद्दीपन-अनुक्रिया' (Stimulus response) का यन्त्र चल रहा है, साथ ही अगर मन चाहे कि 'उद्दीपन-अनुक्रिया' का यह यन्त्र न चले, तो भी वह इसे रोक नहीं सकता। 'मन' या 'चेतना' अगर है, तो सिर्फ, जैसा सांख्यकार का मत है, साक्षी-भाव से, द्रष्टा-भाव से बैठी है, जो-कुछ हो रहा है उसे देख भर ही रही है, काम उसके बगैर ही हो रहा है। जब उसके बगैर ही सब-कुछ हो सकता है, तब उसके मानने की भी क्या ज़रूरत है?

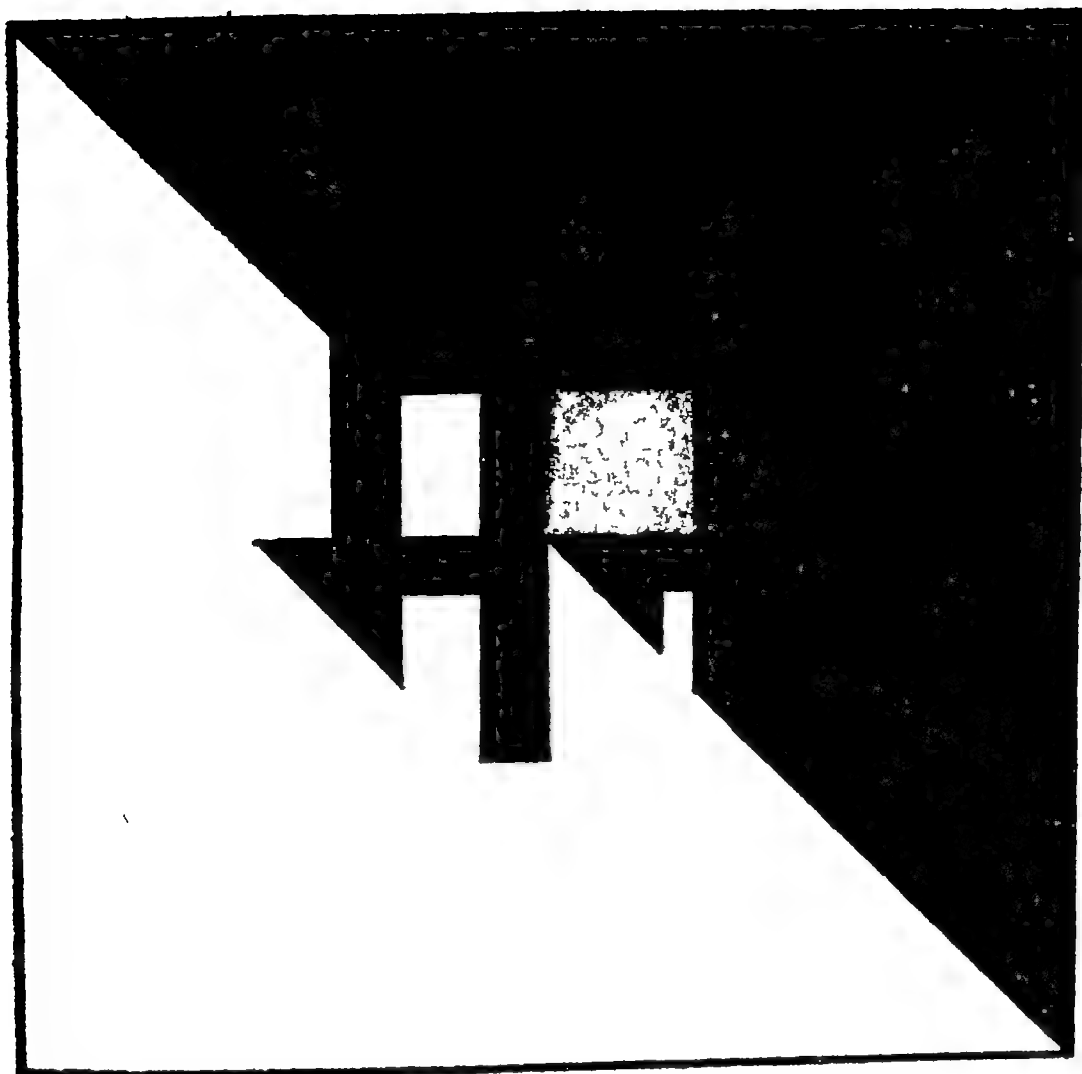
हम जो-कुछ करते हैं उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। या तो हमारे वे काम हैं जिनका हमें ज्ञान है—इन्हें 'ज्ञात-कर्म' कहा जा सकता है, या वे काम हैं जिनका हमें ज्ञान नहीं—इन्हें 'अज्ञात-कर्म' कहा जा सकता है। हम सिनेमा देख रहे हैं, हमें ज्ञात है कि हम देख रहे हैं; हमारा हृदय गति कर रहा है, हमें ज्ञात नहीं कि हृदय गति कर रहा है, यह गति अपने-आप हो रही है। इन दोनों में क्या फर्क है? इन दोनों में फर्क यह है कि 'ज्ञात-कर्म' में हमें ऐसा लगता है कि यह सब-कुछ अपने-आप, यन्त्रवत् नहीं हो रहा, हम कर रहे हैं, 'अज्ञात-कर्म' में सब-कुछ अपने-आप, यन्त्रवत् होता प्रतीत होता है। क्योंकि 'ज्ञात-कर्म' में ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म अलग है, उसे करने वाले हम अलग हैं, हम कर्म को कर रहे हैं, इसलिए हम मान लेते हैं कि कर्म करने वाला—मन—कर्म से अलग है। हम कहने लगते हैं कि कर्त्ता अलग है, कर्म अलग है, ज्ञाता अलग है,

ज्ञेय अलग है। परन्तु व्यवहारवाद के प्रवर्तक प्रो० वाटसन का कथन है कि 'अज्ञात-कर्म' मे जैसे 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) यन्त्रवत् काम कर रहा होता है, वैसे 'ज्ञात-कर्म' मे भी हमारा तन्त्रिका-तन्त्र अपने-आप, यन्त्रवत् चल रहा होता है। यह कहना कि 'ज्ञात-कर्म' मे शरीर यन्त्रवत् काम नही कर रहा होता, हम कर्त्ता होते हैं, ज्ञाता होते है, शरीर से अलग होते हैं, गलत है। उदाहरणार्थ, विचार क्या है ? हम समझते है कि 'विचार' के समय हम शरीर से भिन्न होते है, 'ज्ञात-कर्म' के क्षेत्र मे होते है, ज्ञाता होते है। परन्तु ऐसा नही है। 'विचार' भी 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) का ही एक रूप है। जैसे बोलते हुए गले के तन्त्र अपने-आप हिलते, गति करते अनुभव होते हैं, वैसे विचार करते हुए भी उन तन्त्रो मे अदृश्य-गति हो रही होती है जो 'अज्ञात-कर्म' की तरह यत्रवत् हो रही होती है, इस दृष्टि से 'विचार' जिसके आधार पर हम अपने को कर्त्ता-कर्म, द्रष्टा-दृश्य इन दो भागो मे बाँट लेते है अपने-आप मे स्वतन्त्र वस्तु नही है, यह तन्त्रिका-तन्त्र का ही अदृश्य रूप है। तन्त्रिका-तन्त्र का यन्त्रवत् सचालन हो रहा है, वही 'हृदय' की गति मे हो रहा है, वही 'विचार' करते हुए होता है। 'विचार' एक प्रकार का बोलना है, विचार करते हुए 'तन्त्रिका-तन्त्र' की वही यान्त्रिक-क्रिया होती है जो बोलते हुए होती है। प्रो० वाटसन का कथन है कि 'मन' या 'चेतना' जैसा हमारे भीतर शरीर से भिन्न न कोई कर्त्ता है, न कोई ज्ञाता है, हमारे 'ज्ञात-कर्म' भी 'अज्ञात-कर्म' की तरह 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) द्वारा यन्त्रवत् चल रहे हैं, इसलिए 'मन' या 'चेतना' को मानने की कोई जरूरत नही प्रतीत होती।

ऊपर हमने जो कहा उससे क्या सिद्ध होता है ? इससे इतना ही सिद्ध होता है कि हमारी सब क्रियाएँ 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) द्वारा चलती हैं, इन क्रियाओ का आधार 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus response) का सिद्धान्त है, 'उद्दीपक' सामने होगा तो उसकी 'अनुक्रिया' अपने-आप यन्त्रवत् होगी। परन्तु इससे यह तो सिद्ध नही हो जाता कि 'मन' या 'चेतना' का अस्तित्व नही है। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, परन्तु क्या इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जब क्रिया की प्रतिक्रिया होती है तब चेतना वहाँ साथ नही होती ? 'क्रिया-प्रतिक्रिया' तथा 'चेतना' दोनो साथ-साथ क्या नही रह सकती ? क्या 'क्रिया-प्रतिक्रिया' और 'चेतना' ये दोनो एक ही वस्तु के दो नाम हैं ? ऐसा तो नही प्रतीत होता। मशीन मे जैसी 'क्रिया-प्रतिक्रिया' होती है, वैसी 'क्रिया-प्रतिक्रिया' प्राणी मे, चेतन मे नही होती, भले ही उसमे जो प्रतिक्रिया होती है उसे व्यवहारवादी दृष्टिकोण से यान्त्रिक ही कह दिया जाय। तो फिर प्रश्न उठ खडा होता है कि शरीर या तन्त्रिका-तन्त्र से भिन्न हमारे भीतर किसी 'चेतन' की, 'मन' की स्वतन्त्र सत्ता

है ? हो सकता है, यह स्वतन्त्र-चेतन कोई काम न करता हो, तन्त्रिका-तन्त्र ही काम करता हो, इसका इतना ही काम हो जैसा दीये की रोशनी का मकान मे पडी हर वस्तु को दिखाना होता है। यद्यपि दीया स्वय कुछ काम नही करता परन्तु उसके वगैर भी हमारा काम नही चलता। रोशनी होने से जैसे संसार का कारोवार चल पडता है, रोशनी न रहने से सब ठप्प हो जाता है, वैसे ही क्या चेतना ऐसी रोशनी तो नही जिसके होने से शरीर का, तन्त्रिका-तन्त्र का यत्रवत् काम चल निकलता है, इस रोशनी के बुझ जाने से यह यन्त्र भी ठहर जाता है ? भारतीय-दर्शन मे इस विचार को कपिल आदि साख्यवादियो ने वहुत वल दे कर कहा है, वे भी आजकल के वाटसन आदि व्यवहारवादियो की तरह भौतिक मनोवैज्ञानिक थे। वे शरीर को यन्त्र तो मानते थे, परन्तु इस यत्र का संचालन किसी चेतन-सत्ता की मौजूदगी मे होता है—यह भी मानते थे, प्रो० वाटसन की तरह यह नही मानते थे कि शरीर यन्त्र की तरह चल रहा है, इसको चलाने वाली कोई चेतन सत्ता नही है। साख्यकार इतना भी मानते थे कि शरीर का सचालन हो तो रहा यन्त्र की तरह ही, 'क्रिया-प्रतिक्रिया' या 'उद्दीपन-अनुक्रिया' के सिद्धान्त के अनुसार ही, परन्तु इसका सचालन 'आत्मा' के अस्तित्व को स्वीकार किये वगैर नही हो सकता। आत्मा शरीर के इस यन्त्र को चला नही रहा, वह स्वय निर्लेप, निर्गुण, द्रष्टा मात्र है, शरीर रूपी यन्त्र मे जो-कुछ होता है उसका प्रतिविम्व अपने मे पडा जान कर स्वय को कर्त्ता, ज्ञाता मानने लगता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि आत्मा का काम दीपक की तरह सिर्फ अँधेरे मे उजाला कर देना है, यन्त्र को चलता भर कर देना है।

तो फिर प्रश्न उठ खडा होता है कि क्या 'मन'—'चेतना'—'आत्मा' की शरीर से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता है ? अब तक हमने भौतिकवादियो के दृष्टिकोण की चर्चा की, अब हम द्वितीय अध्याय मे अध्यात्मवादियो के दृष्टिकोण पर चर्चा करेंगे।



यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (यजु, 34—3)

'मन' के सम्बन्ध मे इस अध्याय मे प्रथम अध्याय के भौतिकवादी पूर्व-पक्ष का उत्तर-पक्ष दिया गया है। प्रथम अध्याय मे हमने देखा कि भौतिकवादी पार्थिव-शरीर से अतिरिक्त शरीर मे किसी स्वतन्त्र चेतना की सत्ता को नही मानता। परन्तु क्या यह सम्भव है कि शरीर विना किसी चेतन-सत्ता के स्व-चालित यन्त्र हो ? यजुर्वेद के उक्त मन्त्र मे कहा है—**'यस्मात् न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'**—जिस चेतन के विना शरीर कोई कर्म कर ही नही सकता—उस चेतन को माने बिना शरीर कैसे काम करेगा ? यह कहना कि मानव-शरीर तथा विश्व मे चेतन कोई छाप नही, ये सब निरुद्देश्य, अपने-आप चल रहे हैं, यन्त्र की तरह चल रहे है, गहराई से विचार करने पर युक्तिसगत नही प्रतीत होता। यन्त्र मे 'उद्दीपक' (Stimulus) सामने होने पर एक निश्चित 'अनुक्रिया' (Response) होती है, मनुष्य मे निश्चित-यान्त्रिक-अनुक्रिया नही होती। एक मनुष्य पहाड से गिर पडा, गिरते-गिरते रास्ते मे एक वृक्ष की टहनी को पकड़ कर लटक गया। अब उसकी बाह पर एक ततैय्या आकर काटने लगा। ततैय्ये के काटने पर निश्चित-अनुक्रिया तो यह होनी चाहिये कि वह एक हाथ से

ततैय्ये को उडा दे, परन्तु वह सोच मे पड जाता है, सोचता है कि वृक्ष की टहनी को छोड दूंगा तो नीचे गिर जाऊँगा, हड्डी-पसली चकनाचूर हो जायगी। वह टहनी को नही छोडता। टहनी छोड़ूँ-न-छोड़ूँ—इसमे चुनाव कौन करता है? मशीन चुनाव नही करती, चुनाव करना चेतन का स्वभाव है। मनुष्य पर अविद्यमान, अनागत घटनाओ का प्रभाव पडता है, विगत-घटनाएँ जो इस समय मौजूद नही, उनका स्मृति द्वारा प्रभाव पडता है, सवेगो का—काम, क्रोध, लोभ, मोह का प्रभाव पडता है। अगर मनुष्य मशीन ही हो, उसके भीतर कोई स्वतन्त्र चिंतन करने वाली सत्ता न हो, तो ये सब प्रभाव कैसे पडते है? कल्पना कीजिए कि आपको एक पत्र आया कि आपको लौटरी मे दस लाख रुपया मिला है। इस पत्र पर तो काले-काले अक्षर अकित है। अगर इन अक्षरो को आप पढ नही सकते तो इसका आप पर कुछ प्रभाव नही पडता, अगर पढ सकते हैं तो इन काले अक्षरो से ही आपका जीवन पलट जाता है। वह कौन है जो इन अक्षरो मे निहित अर्थ को समझता है। क्या मशीन अक्षरो मे निहित अर्थ को समझ सकती है? मस्तिष्क मे तो बाह्य-वस्तु का 'संवेदन' (Sensation) पहुँचता है। जहाँ यह 'सवेदन' पहुँचता है, वहाँ कौन-सा दफ्तर है जो इस 'सवेदन' का अर्थ समझ कर उसके अनुसार 'अनुक्रिया' करता है? वह चेतन ही है, आत्मा ही है, जो शरीर से भिन्न है और शरीर के दफ्तर मे आसन जमाये बैठा है।

यह कहना कि शरीर सिर्फ एक यन्त्र है, अपने-आप चल रहा है, इसे चलाने वाली शरीर से अतिरिक्त कोई सत्ता नही, यह कहने के समान है कि रेलगाडी अपने-आप चलती है, उसका कोई ड्राइवर नही। शरीर भौतिक है; विचार, सवेग, मूल-प्रवृत्तियाँ, इच्छा-शक्ति—ये अभौतिक है, भौतिक भौतिक का सचालन तथा उपभोग नही कर सकता, अभौतिक ही भौतिक का सचालन तथा उपभोग कर सकता है—यह अध्यात्मवादी विचारधारा है। इसी विचारधारा को आधार बना कर न्याय तथा साख्य ने 'मन' तथा 'आत्मा' की सत्ता को सिद्ध किया है। इस अध्याय मे इसी अध्यात्मवादी विचारधारा का उल्लेख है।

मन को 'अन्त करण' के अन्तर्गत माना जाता है। क्योकि 'अन्तःकरण चतुष्टय' में चित्त, अहकार, मन, तथा बुद्धि—ये चारो आ जाते है, और 'अहकार' को प्रकृति का विकार माना गया है, इसलिये हमने मन को भी साख्यमतानुसार प्रकृति का विकार (भौतिक) लिख दिया है, परन्तु यह हमारा मत नही है। जब मन को प्रकृति का विकार (भौतिक) कहा जाय, तब अभिप्राय 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) से होता है, चेतन-सत्ता से नही। जब मस्तिष्क के लिये 'मन'-शब्द का प्रयोग हो तब यह भौतिक है, जब चेतना के लिये हो तब अभौतिक है। शरीर से पृथक् जो अशरीरी है, वही 'चेतन' है, चाहे उसे मन कहो, चाहे आत्मा कहो।

द्वितीय अध्याय

मन

(MIND)

अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

'मन'—'चेतना'—'आत्मा' की शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है

अध्यात्मवादी लोग, जो जीवन के भौतिकवादी दृष्टिकोण को स्वीकार नही करते, उनका कहना है कि जीवित-प्राणी सिर्फ यह भौतिक-शरीर ही नही है, जीवन की इस शरीर से अतिरिक्त, इससे भिन्न सत्ता है, जीवन एक शक्ति है, एक निरन्तर धारा है, इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, इसे सिर्फ भौतिक-वस्तु नही कहा जा सकता। जीवन की यह शक्ति जो शरीर से भिन्न है, जो मस्तिष्क से, तन्त्रिका-तन्त्र से भिन्न है, मनुष्य मे जिस स्तर पर प्रकट होती है उसे 'मन' कहते है, 'चेतना' कहते हैं, 'आत्मा' कहते है। इस 'मन', 'चेतना', 'आत्मा' का काम शरीर मे हो रहे क्रिया-कलाप को सिर्फ दर्ज कर लेना, द्रष्टा बन कर उसे सिर्फ देखभर लेना नही है, यह 'मन', 'चेतना', 'आत्मा' अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र-रूप मे काम करता है, घटनाओ को घटित करता, उनका नियन्त्रण करता है। अध्यात्मवादियो की दृष्टि मे जिस काम को हम मन का काम कहते हैं, उसे 'मस्तिष्क' या तन्त्रिका-तन्त्र का काम कह कर समस्या का हल नही किया जा सकता, उनकी दृष्टि मे यह कहना भ्रम-मूलक है कि मन केवल मस्तिष्क के केन्द्र पर पड़े उद्दीपको की अनुक्रिया (Response to stimulus) है। अध्यात्मवादी ऐसा क्यो कहते है इसी को इस प्रकरण मे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा।

(क) किसी लक्ष्य का होना (सोद्देश्यता) : Purposefulness—हम पहले लिख आये है कि विकासवाद के नाम पर भौतिकवादी कहते है कि सृष्टि मे कोई 'प्रयोजन' नही काम कर रहा। असल मे, विकासवाद का गहन अध्ययन

सिद्ध करता है कि सृष्टि मे अणु-अणु मे 'प्रयोजन' है। विकासवाद या जीव-विज्ञान (Evolution or Biology) की दृष्टि से सब प्राणियो मे एक समान-गुण पाया जाता है जिसे 'सोद्देश्यता' कहा जा सकता है। 'सोद्देश्यता' का क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि सब प्राणी किसी उद्देश्य—Purpose—को, किसी लक्ष्य को सामने रख कर जी रहे हैं। वे जीवन मे या तो भविष्य के किसी लक्ष्य से प्रभावित हो रहे होते हैं, या किसी लक्ष्य को पाने के लिए, किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए जीते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्राणी के सामने भविष्य मे कोई ऐसा लक्ष्य है जिसे पाने के लिए वह गति कर रहा है, जिसे पाने के लिए हाथ-पैर मार रहा है। हो सकता है उस लक्ष्य का प्राणी को ज्ञान हो, यह भी हो सकता है कि उस लक्ष्य का प्राणी को ज्ञान न हो, परन्तु प्रकट या अप्रकट रूप मे उसकी गति किसी लक्ष्य को पाने के लिए हो रही होती है। अगर प्राणी की हर गति का कोई लक्ष्य है जो वर्तमान मे नही है, भविष्य मे है, तो यह 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) का परिणाम नही हो सकता, 'उद्दीपन-अनुक्रिया' तो वर्तमान मे ही हो सकती है। वर्तमान मे हमारे सामने 'उद्दीपन' (Stimulus) आया, उसकी वर्तमान मे ही 'अनुक्रिया' (Response) हो गई, जो लक्ष्य वर्तमान मे मौजूद ही नही, जो भविष्य के गर्भ मे निहित है, जिसे प्राणी ने पाना है, वह लक्ष्य—मन, चेतना, आत्मा—जैसी शक्ति मे माने बगैर प्राणी के शरीर से कैसे माना जा सकता है? अगर प्राणियो के जीवन मे 'सोद्देश्यता' है, तो मानना पड़ेगा कि यह गुण प्राणी के शरीर या तन्त्रिका-तन्त्र का नही हो सकता, केवल मन या चेतना का ही हो सकता है।

इतना ही नही कि प्राणी मे 'सोद्देश्यता' का गुण है, वह भविष्य के किसी लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, साथ ही अगर उसके उद्देश्य के पूरा होने मे कोई बाधा आती है या आ सकती है, तो उसे दूर करने के लिए भी वह उद्यम करता है। उदाहरणार्थ, सैलमोन नामक मछली नदी की धार के विरुद्ध, चट्टानो को लाँघती हुई, पानी के तेज प्रवाह का मुकाबिला करती हुई ऐसे स्थान की खोज कर लेती है जो उसके अण्डो के लिए सुरक्षित होता है। इस सारी प्रक्रिया को 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के सिद्धान्त के अनुसार कैसे समझाया जा सकता है? अण्डे उसने कई दिन बाद देने होते हैं, परन्तु अभी से वह उसकी तैयारी मे ही नही लग जाती, उसके मार्ग मे जो बाधाएँ हैं उनका भी मुकाबिला करने लगती है। यह सब-कुछ 'मन' या 'चेतना' को माने बगैर कैसे हो सकता है?

विकासवाद का कथन है कि प्राणी अपने जीवन को बनाये रखने के लिए अपनी शारीरिक-रचना को भी बदलता रहता है। उदाहरणार्थ, केकडे के लिए कहा जाता है कि अगर उसकी एक टाँग कट जाय, तो उसकी जगह दूसरी आ

जाती है। इसका अभिप्राय सिर्फ यही हो सकता है कि प्राणी का जो उद्देश्य है, ध्येय है, लक्ष्य है, उसमे अगर ऐसी भयकर बाधा आ पडे, तो उसे भी उसके भीतर बैठी कोई शक्ति दूर कर देती है। उद्दीपक सामने होने पर उसके अनुकूल अनुक्रिया (Response to stimulus) का भौतिक-सिद्धान्त इन उदाहरणो का कोई समाधान नही करता। ऐसे दृष्टान्तो को देख कर यही कहा जा सकता है कि प्राणी के भीतर कोई जीवित-चेतन-शक्ति है, कोई 'सर्जनात्मक-आवेग' (Creative impulse) है जो अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपने मार्ग की बाधाओ को दूर करता रहता है। हम यह नही कहते कि जीवित-प्राणी का शरीर मशीन या यन्त्र की तरह काम नही करता। प्राणी का शरीर एक खास प्रकार के 'उद्दीपक' (Stimulus) के सामने होने पर एक निश्चित प्रकार की अनुक्रिया (Response) करता है, इस बात को हम स्वीकार करते है, परन्तु हमारा कहना इतना ही है कि प्राणी की प्रतिक्रिया मे यह भी देखा जाता है कि निश्चित-प्रतिक्रिया करने के स्थान मे, मशीन की तरह यान्त्रिक-क्रिया करने के स्थान मे वह ऐसी क्रिया भी करता है जो निश्चित नही होती, यान्त्रिक नही होती, मशीन की तरह नही होती, जिसमे 'उद्देश्य'—Purpose—निहित रहता है, जो किसी मतलब को सामने रख कर की जाती है। उद्देश्य या मतलव को सामने रख कर क्रिया करना सिद्ध करता है कि प्राणी के भीतर 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के अलावा कोई चेतन-सत्ता भी है जो किसी निश्चित-उद्देश्य के अनुसार शरीर का सचालन करती है। दूसरे शब्दो मे, प्राणी एक यत्र ही नही है, इस यन्त्र मे कोई चेतन-सत्ता भी बैठी है, जिसका कोई अपना उद्देश्य या लक्ष्य होता है, जिस लक्ष्य को पूरा करने के लिए प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियाँ करता है। जिस बात को हमने विकासवादी परिभापा मे 'सोद्देश्यता' (Purposefulness) कहा है, उसी को कपिल ऋषि ने साख्य-दर्शन मे '**कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः**' कहा है। साख्यकार ने इसी को '**अत्यन्त पुरुषार्थं**' कहा है। 'कैवल्य' का अर्थ है 'मोक्ष'। प्रत्येक चेतन की प्रवृत्ति मोक्ष के लिए—दु.खो से छूट जाने के लिए है। सांख्यकार का कहना है कि सुख-दु ख आदि द्वन्द्व प्रकृति के गुण है। प्रकृति के साथ सम्पर्क मे आने से प्रकृति के ये गुण आत्मा मे भासित होते है, ठीक ऐसे जैसे स्फटिक मणि के सामने जपा-कुसुम रख देने से फूल का रंग मणि मे न होने पर भी उसमे भासने लगता है, जैसे शान्त जल मे चन्द्र का बिम्ब प्रतिभासित होने लगता है। दु ख से छूटने का उपाय प्रकृति से अलग हो जाना, केवल हो जाना है—यही 'कैवल्य' का अर्थ है। सारी सृष्टि दु.ख से छूटने के लिए प्रयत्नशील है। यह प्रयत्नशीलता सार्थक है, किसी प्रयोजन से है, किसी उद्देश्य से है। दु ख से छूटने का उद्देश्य लेकर जड़ वस्तु क्रियाशील नही हो सकती, चेतन ही क्रियाशील हो सकता है। इस दृष्टि से

विकासवादी दृष्टिकोण तथा सांख्य का दृष्टिकोण एक ही हैं। दोनों जीवन में 'सोद्देश्यता' के लक्षण को देखते हैं, सांख्यकार 'सोद्देश्यता' के लक्षण को देख कर यह कह उठते हैं कि यह गुण चेतन-सत्ता की विद्यमानता का द्योतक है।

(ख) **अनागत—अविद्यमान—घटना का प्रभाव—'अपेक्षा' (Influence of the Future or of the Non-existant—'Expectation')**—प्राणियों के विषय में हमने देखा कि उनमें 'सोद्देश्यता' (Purposefulness) होती है। वे किसी उद्देश्य या लक्ष्य से काम कर रहे होते हैं, परन्तु उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता कि उनका उद्देश्य या लक्ष्य क्या है। उनके व्यवहार को देख कर हम कह सकते हैं कि उनका व्यवहार यन्त्रवत् नहीं चल रहा, उसमें कोई उद्देश्य है, परन्तु यह दूसरी बात है कि उनमें उस उद्देश्य को प्रकट करने योग्य ज्ञान नहीं होता। मनुष्य के विषय में कहा जा सकता है कि इतना ही नहीं कि अन्य प्राणियों की तरह उसके व्यवहार में, उसके काम-काज में कोई उद्देश्य होता है, साथ ही उसे इस बात का ज्ञान भी होता है कि किस उद्देश्य को साधने के लिए वह व्यवहार—काम-काज—कर रहा है। उदाहरणार्थ, एक बालक परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए तैयारी करता है। परीक्षा में उत्तीर्ण होना उसका उद्देश्य है, इस उद्देश्य का उसे ज्ञान है, परन्तु वह यह भी देख रहा है कि परीक्षा आने वाली है। उसके भीतर यह ज्ञान है कि परीक्षा आयेगी, उसमें उत्तीर्ण होना उसके लिए अभीष्ट है। परीक्षा अभी आई तो नहीं, तो भी उसकी प्रतीक्षा करके उसमें उत्तीर्ण होने की वह सोच रहा है। इस सारी प्रक्रिया में अनेक बातें आ जाती हैं—(1) बालक के सामने परीक्षा का एक ध्येय है, (2) परीक्षा के ध्येय का उसे ज्ञान है, (3) वह परीक्षा के ध्येय की जो अभी मौजूद नहीं है, प्रतीक्षा कर रहा है। इन तीनों में से कोई भी बात ऐसी नहीं है जो 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus response) के सिद्धान्त से समझ में आ सके। जो वस्तु अभी है ही नहीं, जो भविष्य के गर्भ में सोई पड़ी है, जिसकी केवल प्रतीक्षा हो सकती है, वह हमें तभी प्रभावित कर सकती है अगर 'मन'-'चेतना'-'आत्मा' जैसी सत्ता का अस्तित्व माना जाय, वर्तमान की वस्तु का जो सामने है 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) पर प्रभाव पड़ सकता है, भविष्य का, अनागत, अविद्यमान वस्तु का, उसका जिसकी सिर्फ प्रतीक्षा हो, व्यवहारवाद के भौतिकवादी-सिद्धान्त के अनुसार हम पर प्रभाव पड़ सकना असम्भव है, परन्तु प्रतीक्षित वस्तु का हम पर प्रभाव पड़ता है—इसमें सन्देह नहीं। यह गुत्थी चेतन की सत्ता को मानने में ही सुलझ सकती है।

(ग) **विगत-घटना का प्रभाव—'स्मृति' (Influence of the Past—'Memory')**—हमने देखा कि जो घटनाएँ अभी घटी ही नहीं, उनकी कल्पना करके, उनकी अपेक्षा तथा प्रतीक्षा का हम पर प्रभाव पड़ता है। यह स्थिति

शरीर को यन्त्र मानने पर समझ मे नही आ सकती, यह तभी हो सकता है जब कल्पना करने वाली, भविष्य की अपेक्षा तथा प्रतीक्षा करने वाली कोई चेतन-सत्ता हो। इसी प्रकार जो घटनाएँ घट चुकी हैं, जिनका अस्तित्व भूत-काल मे था परन्तु जो अब वर्तमान-काल मे नही रहीं, उनका भी हम पर प्रभाव होता है। वह प्रभाव भी तभी समझ मे आ सकता है जब 'मन' जैसी कोई चेतन-सत्ता मानी जाय, अन्यथा जिस घटना का इस समय अस्तित्व नही रहा वह हमे कैसे प्रभावित कर सकती है? भविष्य मे होने वाली तथा भूत की विगत घटनाएँ वर्तमान मे हम पर लगातार प्रभाव डालती रहती है। उदाहरणार्थ, अगर मैं बद्रीनाथ हो आया हूँ, तुम नही हो आए, तो बद्रीनाथ का नाम लेते ही मैं भी वह शब्द सुनता हूँ, तुम भी वही शब्द सुनते हो, दोनो के लिए 'उद्दीपक' (Stimulus) एक ही है, परन्तु हम दोनो की 'अनुक्रिया' (Response) भिन्न-भिन्न होती है। इसका कारण यही हो सकता है कि बद्रीनाथ का नाम सुन कर तुम्हारे भीतर वह सब-कुछ नही जाग उठता जो मेरे भीतर जाग उठता है, हम दोनो के बाहर हमे प्रभावित करने वाली वस्तु एक ही है, परन्तु हम दोनो के भीतर ऐसी वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं जो हम पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालती है। इसे 'स्मृति' (Memory) कहा जा सकता है। यह जड शरीर का धर्म नही हो सकती, किसी चेतन का ही गुण हो सकती है। वही चेतन-सत्ता मन है, चेतन है, या आत्मा है।

मनोवैज्ञानिकों के सम्मुख यह विकट प्रश्न है कि 'स्मृति' का आधार क्या है? जब मैं किसी बात को याद करता हूँ, तो वह घटना तो भूत-काल मे हुई होती है, भूत-काल मे हो चुकने के कारण वर्तमान-काल मे उसका अस्तित्व नही रहता, परन्तु जिस घटना का वर्तमान-काल मे अस्तित्व है ही नही, वह उस पर—हमारे मस्तिष्क पर—कैसे प्रभाव डाल सकती है जो वर्तमान-काल मे मौजूद है? दूसरे शब्दो मे, शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक या व्यवहारवादी (Physiological Psychologist or Behaviourist) के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि 'ज्ञात अथवा अज्ञात स्मृति' का, जो हो रही घटना के रूप मे इस समय मौजूद नही है, मन या चेतन-सत्ता को माने बगैर हमारे जीवन पर कैसे प्रभाव पड़ सकता है? ज्ञात-स्मृति का दृष्टान्त तो हम बद्रीनाथ के उदाहरण से दे आए हैं, 'अज्ञात-स्मृति' का उदाहरण हमारी आदते है। मैं लिख रहा हूँ, लिखते हुए कलम को मैं एक खास तरह से पकड़ता हूँ, एक खास ढग से अक्षरो को लिखता हूँ, यह सब-कुछ अज्ञात-स्मृति का परिणाम है, बन गई आदतो का परिणाम है। मोटे शब्दो मे, प्रश्न यह है कि 'स्मृति' (Memory) भले ही वह ज्ञात हो या अज्ञात हो, क्या शरीर का, मस्तिष्क का, 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) का गुण है, या मन का, चेतन-सत्ता का गुण है। और गहरे मे जाकर

प्रश्न का रूप यह है कि 'स्मृति' जो एक विगत-घटना है, जो इस समय वर्तमान मे मौजूद नही है, उसका मन या चेतन-सत्ता को माने बगैर हम पर प्रभाव कैसे पड सकता है ? इस सिलसिले मे हमे देखना होगा कि भौतिकवादी अथवा व्यवहारवादी लोग 'स्मृति' के सम्बन्ध मे क्या भौतिकवादी समाधान देते हैं।

स्मृति (विगत) के सम्बन्ध में भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

(I) **'स्मृति' (विगत) का भौतिकवादी समाधान**—भौतिकवाद अथवा व्यवहारवाद का कथन है कि 'स्मृति' (विगत) के लिये 'चेतन-सत्ता' को मानना ज़रूरी नही है। भौतिकवादी का कहना है कि जिसे हम 'याद करना' कहते है वह किसी 'विगत-घटना' (Past occurrence) का स्मरण नही है जिसके लिए 'चेतन-सत्ता' को मानना पडे, वह तो केवल मस्तिष्क के तन्त्रो (Nerves) पर पडे सस्कारो का, जो अप्रकट थे, प्रकट हो जाना है। मान लीजिये कि आपका 'तन्त्रिका-तन्त्र' बिल्कुल शान्त अवस्था मे है। अब उस पर किसी 'उद्दीपक' (Stimulus) का—बद्रीनाथ के मन्दिर के दर्शन का—सस्कार पडता है। इस सस्कार के पड चुकने के बाद 'तन्त्रिका-तन्त्र' की पहले जैसी हालत नही रह सकती। पहली शान्त अवस्था को अगर 'क' कहा जाय, तो बद्रीनाथ के मन्दिर के दर्शन के बाद की तन्त्रिका-तन्त्र की अवस्था को 'ख' कहा जायगा। इसका यह अर्थ हुआ कि तन्त्रिका-तन्त्र पर बाह्य, भौतिक-सस्कार पड जाने पर 'तत्रिका-तन्त्र' की वह अवस्था नही रहती जो पहले थी। अब इस 'तत्रिका-तत्र' पर अगर कोई 'उद्दीपक' (Stimulus) पडेगा, तो नये भौतिक-सस्कारो के पड चुकने के कारण बदले हुए 'तन्त्रिका-तन्त्र' द्वारा 'अनुक्रिया' (Response) होगी, यह बदला हुआ 'तन्त्रिका-तन्त्र' विगत-घटना नही है, भूत-काल नही है, वर्तमान-काल है, इस समय है, इस हालत मे है, और जिसे हम याद करना या 'स्मृति' कहते हैं वह विगत-घटना का स्मरण नही है, वर्तमान-काल मे तन्त्रिका-तन्त्र की जो अवस्था हो गई है उसका प्रत्यक्षीकरण है। 'स्मृति' मे चेतन की सत्ता को मानने की तो तभी ज़रूरत थी अगर 'स्मृति' कोई विगत-घटना होती, भूत-काल की घटना होती, ऐसी घटना होती जो भौतिक रूप मे वर्तमान-काल मे हमारे सम्मुख न होती, जिसका आधार भौतिक न होता, जिसके लिए हमे पूछना पडता कि किस भौतिक, स्थूल माध्यम के द्वारा भूत-काल से यह वर्तमान-काल मे हमारे ज्ञान मे सरक आई। परन्तु अगर 'स्मृति' को भूत-काल की घटना ही न समझा जाय, इसे सिर्फ मस्तिष्क के 'तन्त्रिका-तन्त्र' के तत्त्व का भौतिक परिवर्तनमात्र समझा जाय, तो चेतना को मानने की क्या ज़रूरत रह जाती है ?

हर घटना जिसे हम 'स्मृति' कहते है, भूत-काल की घटना कहते है, मस्तिष्क पर घटना की छाप पड़ जाने के कारण, भूत-काल की नही रहती। उदाहरणार्थ, गीली मिट्टी पर हम किसी चीज की छाप लगा देते हैं, उस पर ठप्पा मार देते है, यह छाप, यह ठप्पा, उस गीली मिट्टी पर उसके सूख जाने पर बना रहता है। श्री सेमन का जिन्होंने 'स्मृति' के सम्बन्ध मे उक्त भौतिकवादी समाधान दिया, कहना है कि जो भी घटना होती है वह 'तन्त्रिका-तन्त्र' पर छप जाती है, उसका 'तन्त्रिका-तन्त्र' पर ठप्पा लग जाता है, इसे वे 'सस्काराकन' (Engram) का नाम देते हैं। 'तन्त्रिका-तन्त्र' पर इस 'सस्काराकन' के कारण याद करते हुए हमे पिछली घटना को मन या किसी चेतन-शक्ति द्वारा सोचना नही पडता, परन्तु वर्तमान-काल मे ही 'तन्त्रिका-तन्त्र' पर पडे हुए 'सस्काराकन' (Engram) को हम देख रहे होते है, फिर मन जैसी चेतन-शक्ति को मानने की क्या जरूरत है। 'स्मृति' मे मन पीछे को नही दौड रहा होता, हमे मस्तिष्क पर पडे हुए अकित 'सस्कार' ही वर्तमान मे दीख रहे होते है।

(II) **'स्मृति' (विगत) के सम्बन्ध मे भौतिकवादी समाधान पर अध्यात्मवादी-आपत्ति**—अध्यात्मवादी का कहना है कि भौतिकवादी या व्यवहारवादी के उक्त समाधान का यह अर्थ हुआ कि जिसे हम याद करना कहते हैं वह भूत-काल मे 'तंत्रिका-तत्र' पर पडी हुई छाप को, ठप्पे को, 'सस्काराकन' (Engram) को वर्तमान-काल मे प्रत्यक्ष देखना है। अगर यह बात ठीक है, तो 'स्मृति' मे और 'प्रत्यक्ष' मे कोई भेद न रहा। भौतिकवाद मे 'स्मृति' क्या है ? स्मृति 'तत्रिका-तत्र' पर पडे हुए 'सस्काराकन' हैं जिन्हे हम वर्तमान मे देख रहे है। 'प्रत्यक्ष' क्या है ? प्रत्यक्ष वह है जिसे हम वर्तमान मे देख रहे हैं। तो फिर 'स्मृति' 'प्रत्यक्ष' का केवल दूसरा नाम रह जाता है। परन्तु क्या हम कह सकते है कि 'स्मृति' और 'प्रत्यक्ष' मे कोई भेद नही है ? अगर इन दोनो मे भेद नही है तो इन दोनो के अनुभव मे कोई भेद नही होना चाहिए। क्या इन दोनो के अनुभव मे कोई भेद नही है ? साल भर हुआ जब मैं पेड पर से गिर पड़ा था। हड्डी-पसली टूट गई थी। मैं कराहने लगा था। आज साल भर बाद मैं उस घटना को याद करता हूँ। अगर 'स्मृति' केवल 'तत्रिका-तत्र' पर पडी छाप, सस्कारांकन का प्रतक्षीकरण है, तो आज भी उस घटना को याद करके मुझे उसी तरह कराहने लगना चाहिए जैसे मैं उस दिन कराह रहा था जब उक्त घटना घटित हुई थी। परन्तु ऐसा होता तो नही। जब घटना घटित हुई थी तब मैं पीडा से परेशान था, चिल्ला रहा था, आज उस घटना को याद करके मैं बडी दिलचस्पी से, हँस-हँस कर, मजा लेकर उसे सुना रहा हूँ। इससे स्पष्ट है कि 'स्मृति' तत्रिका-तंत्र पर पडी हुई छाप या संस्काराकन का नाम ही नही है, स्मृति चेतना की एक शक्ति है जो तत्रिका-तंत्र पर पडी हुई छाप, उस पर पड़े हुए सस्कारांकनो के

बावजूद भूत-काल की विगत घटना को स्मरण करती है। किस तरह स्मरण करती है—यह शका हो सकती है, हम कह सकते हैं कि हम नही जानते वह किस तरह स्मरण करती है, परन्तु इतना अवश्य है कि तत्रिका-तत्र पर पढे सस्काराकन का प्रत्यक्षीकरण ही स्मृति नही हैं। जब हम स्मरण कर रहे होते हैं तब एक ऐसी घटना को अपने सामने ला रहे होते है जो वर्तमान-काल मे मौजूद नही है, और जो मौजूद नही है उसे कोई ऐसी शक्ति ही ज्ञान की सीमा मे ला सकती है जो 'तत्रिका-तत्र' से भिन्न है। जो हम मे तब भी थी जब वह घटना हो रही थी, जो हम मे अब भी है जब हम उक्त घटना को याद कर रहे हैं, जो स्वय इन दोनो कालो मे उक्त घटना से भिन्न है, घटना की द्रष्टा है। इसी शक्ति को 'मन'-'चेतना'-'आत्मा' आदि नामो से कहा जाता है।

'अनागत' (भविष्यत्)—अर्थात्, 'पूर्व-दृष्टि' तथा 'अपेक्षा'—के सम्बन्ध मे भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

(1) 'अनागत'(भविष्यत्)—अर्थात्, 'पूर्व-दृष्टि' तथा 'अपेक्षा'—(Foreseeing and Expectation)—**के सम्बन्ध मे भौतिकवादी समाधान**—जैसे 'विगत' घटनाओ के सम्बन्ध मे जो 'स्मृति' के साथ जुडी हुई हैं भौतिकवादी—व्यवहार-वादी—यह समाधान देते हैं कि उनके सिद्धान्त के अनुसार स्मृति का भूत-काल से सम्बन्ध नही है, वह 'तत्रिका-तत्र' के वर्तमान 'सस्काराकन' (Engrams) का ही परिणाम है, उसके लिए 'चेतना' की मौजूदगी आवश्यक नही है, वैसे ही 'अनागत' (भविष्य की)—घटनाओ के सम्बन्ध मे भी जिनकी कभी-कभी हमे जानकारी हो जाती है वे भौतिकवादी समाधान ही देते हैं। 'अनागत' घटनाओ का क्या अर्थ है ? हम एक गाना सुन रहे हैं। गायक ने अभी दो पद ही गाये हैं कि अगले पद, जो अभी नही गाये गये—जो अनागत हैं—जो अभी गाने मे आए नही—उन्हे हम अपने-आप बोलने लगते हैं। सुन कर बोल देना दूसरी बात है, परन्तु अभी तो हमने उन्हे सुना ही नही, गाने के कुछ ही शब्द सुने हैं, अगले, बिना सुने शब्द हमारे ज्ञान मे कैसे आ जाते हैं ? भौतिकवादी इसका उत्तर यही देते हैं कि जैसे 'स्मृति' मे 'तत्रिका-तत्र' पर छाप पडी हुई होती है, तत्रो पर ठप्पा या सस्काराकन (Engrams) पड चुका होता है, वैसे ही इस गाने को हमने पहले कई बार सुना होगा, इसलिए जब भी इस गाने के कुछ शब्द सुनाई पडते हैं, तो तत्रो पर पडे पुराने सस्कार जाग उठते हैं और जो गाना अभी अनागत है, आया ही नही, उसकी हमे 'पूर्व-दृष्टि' (Foresight) हो जाती है, उसके आने की हम 'अपेक्षा' (Expectation) करने लगते हैं। यह 'पूर्व-दृष्टि' तथा 'अपेक्षा' मन के या चेतना के कारण नही होती, 'तत्रिका-तत्र' पर कभी पड़ी छाप के कारण होती है। जहां हमने गाने के कुछ शब्द सुने, वही गाने के अगले शब्द जो हम पहले

कभी सुन चुके होते हैं, जिनकी तंत्रिका-तंत्र पर छाप पड़ चुकी होती है, वे जाग उठते हैं। यह ठीक ऐसे होता है जैसे ताले मे अनेक चाबियो मे से सिर्फ एक चाबी लगती है, वैसे मस्तिष्क पर पड़े संस्कारो को जगाने के लिए उस गीत की सिर्फ़ गुनगुनाहट एक ऐसी चाबी है जो उन भौतिक-सस्कारो का ताला खोल देती है। भौतिकवादियो का कहना है कि इस प्रकार अनागत के ज्ञान के लिए मन या चेतन की आवश्यकता नही है, तंत्रिका-तत्र पर पडे 'सस्काराकन' (Engrams) से ही इस समस्या का समाधान हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, 'स्मृति' (विगत—भूत) के सम्बन्ध मे भौतिकवादियो का जो कथन था उनका वही कथन 'पूर्व-दृष्टि' या 'अपेक्षा' (अनागत—भविष्यत्)—Foreseeing and Expectation)—के विषय मे है।

(II) **'अनागत' (भविष्यत्) के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी-आपत्ति**—अध्यात्मवादी का कहना है कि यह तो ठीक है कि जो घटनाएँ पहले हो चुकी हैं उनसे बँधी हुई अगर कुछ घटनाएँ आगे को—भविष्यत्—मे होने वाली हो, अभी वे अनागत हो, तो तत्रिका-तंत्र पर पहले से पडी हुई छाप—Engrams—संस्काराकन—के कारण उनकी 'पूर्व-दृष्टि' (Foresight) या उनकी 'अपेक्षा' (Expectation) हो सकती है, परन्तु ऐसी बातो की 'पूर्व-दृष्टि' या 'अपेक्षा' तत्रिका-तत्र द्वारा नही हो सकती जो बिल्कुल नई हो, जिनका भूत-काल से कोई सम्बन्ध न हो, जिनकी मस्तिष्क के तत्रो पर किसी प्रकार के छाप की सम्भावना न हो। हमारे जीवन मे 'पूर्व-दृष्टि' तथा 'अपेक्षा' की अनेक घटनाएँ घटती है, अभी उन घटनाओ का कोई अस्तित्व नही होता परन्तु हमारे भीतर वे भासने लगती है। क्योकि वे घटनाएँ पहले हो चुकी नही होती इसलिए तत्रिका-तत्र के 'सस्काराकन' (Engrams) के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें सुलझाया नही जा सकता, वे भविष्य मे होने वाली होती है, उन घटनाओ का भौतिकवादी अथवा व्यवहारवादी के पास क्या उत्तर है? ऐसी हालत मे, कोई अदृश्य, अभौतिक चेतन-सत्ता मानने के लिए विवश होना पड़ेगा जो बिना तत्रिका-तत्र के माध्यम का इस्तेमाल किए हमारी 'पूर्व-दृष्टि' या 'अपेक्षा' का कारण है। यही सत्ता मन या चेतन है जो अनागत को भी जान लेती है, ऐसा ज्ञान जो तत्रिका-तत्र या मस्तिष्क द्वारा नही हो सकता।

(घ) **मानसिक-संवेग** (Emotions)—अब तक हमने देखा कि जीवन मे 'सोद्देश्यता'—(Purposefulness)—अर्थात्, किसी लक्ष्य का होना; विगत-घटना अर्थात्, 'स्मृति'—(Memory)—का जीवन पर प्रभाव; अनागत-घटना के विषय मे हम मे 'पूर्व-दृष्टि' या 'अपेक्षा' का होना—(Foresight or Expectation)—ये तीनो मन या चेतना का अस्तित्व मान लेने के लिए पर्याप्त युक्तियाँ हैं। मनुष्य मे ये तीनो गुण पाए जाते हैं। अगर मनुष्य सिर्फ तंत्रिका-तंत्र है, सिर्फ

एक यंत्र है, तब इन गुणों का होना सम्भव नहीं है। हमने यह भी देखा कि इन गुणों के सम्बन्ध में भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण क्या है, और यह भी देखा कि भौतिकवादी दृष्टिकोण अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के सामने नहीं टिक सकता। अब हमें यह देखना है कि हमारे भीतर जो 'संवेग' (Emotions) दीखते हैं, वे क्या भौतिकवाद या व्यवहारवाद के कथनानुसार सिर्फ यान्त्रिक-प्रतिक्रियाएँ हैं या इन संवेगों का होना भी सिद्ध करता है कि मनुष्य एक यन्त्र नहीं है, सिर्फ तंत्रिका-तंत्र द्वारा संचालित एक मशीन नहीं है, ये संवेग भी मन अथवा चेतना के अस्तित्व के परिचायक हैं।

(I) **संवेगों (Emotions) के विषय में भौतिकवादी-दृष्टिकोण**—हम मानसिक-संवेगों के प्रकरण में देख आए हैं कि जेम्स तथा लैंग के सिद्धान्त के अनुसार 'संवेग' मन का गुण नहीं है, तंत्रिका-तंत्र का गुण है। 'संवेग' क्या है? भौतिकवाद के कथनानुसार 'संवेग' केवल शरीर में हो रहे परिवर्तनों की अनुभूति का नाम है। उनका कहना है कि जब हमें 'भय' लगता है तब वास्तव में 'भय' मन से उत्पन्न नहीं होता, शरीर में ही कुछ परिवर्तन होने लगते हैं, उन परिवर्तनों को ही 'भय' कह देते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे सामने शेर आया। शेर को देख कर शरीर में यकायक एक प्रतिक्रिया होती है जिसके परिणामस्वरूप हम अपने को बचाने के लिए भागने लगते हैं। शरीर में ये सब परिवर्तन ही 'भय' कहलाते हैं। जितना हम भागते हैं उतना ही भय बढ़ता जाता है, रुक कर खड़े हो जायें तो भय भी जाता रहता है। भौतिकवादियों का यह भी कहना है कि जिसे हम 'भय' कहते हैं वह तब होता है जब गुर्दे के पास की 'अधिवृक्क-ग्रन्थियों' (Adrenal glands) में से उनका स्राव निकलने लगता है। इस स्राव के निकलने पर शरीर में जो परिवर्तन आ जाते हैं वे ही भय का कारण हैं, मन भय का कारण नहीं है। संक्षेप में, भौतिकवादी-दृष्टिकोण से भय का आधार मन नहीं, शरीर है।

(II) **संवेगों (Emotions) के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी-आपत्ति**—'संवेगों' के विषय में भौतिकवादियों का जो कथन है वह वहाँ तक ठीक है जहाँ तक हमारे सामने कोई 'उद्दीपक' (Stimulus) हो, परन्तु जब हमारे सामने कोई 'उद्दीपक' न हो, तब 'संवेग' क्यों उत्पन्न हो जाता है? 'उद्दीपक' (Stimulus) हो तो उसकी 'अनुक्रिया' (Response) हो सकती है, शेर सामने हो तो गुर्दे की अधिवृक्क-ग्रन्थियों में से स्राव निकल सकता है, इस स्राव की अनुभूति को 'भय' का नाम दिया जा सकता है, परन्तु अगर 'उद्दीपक' ही सामने न हो, उसका वर्तमान में कोई अस्तित्व ही न हो, तब उसकी 'अनुक्रिया' तो नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, मुझे पार्लियामेंट के 500 सदस्यों के सामने व्याख्यान देना है। अभी व्याख्यान देने में एक दिन बाकी है, परन्तु उस समय की सोच में ही

मुझे घबराहट होने लगती है। यह घबराहट क्यो होती है ? व्याख्यान देने का समय तो अभी आया नही, पार्लियामेट के सदस्य अभी सभा-स्थल मे जुटे नही, उनकी उपस्थिति का प्रत्यक्ष-प्रभाव मुझ पर हुआ नही, फिर यह घबराहट कैसे ? इसका यही समाधान हो सकता है कि घटना की मौजूदगी के बिना हम मे जो घबराहट आदि 'संवेग' उत्पन्न हो रहे है, इन सवेगो के कारण शरीर मे पसीना भी आने लगा है, इस सबका स्रोत शरीर नही, मन है, चेतना है। इसका यह अर्थ हुआ कि शरीर मे हो रहे परिवर्तनो का मन पर प्रतिबिम्ब मात्र नही पडता, मन सवेगो द्वारा शरीर मे परिवर्तन उत्पन्न करता है। यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है, अगर हमे 500 पार्लियामेण्ट के सदस्यो के सामने व्याख्यान देने के स्थान मे 500 विद्यार्थियो के सामने व्याख्यान देना हो। तब हमारे भीतर घबराहट के स्थान मे उल्लास का भाव उदय होता है। दोनो अवस्थाओ मे घटना वर्तमान मे नहीं हो रही, भविष्य मे होने वाली है, दोनो अवस्थाओ मे श्रोताओ की सख्या 500 है, परन्तु दोनो घटनाओ को सोचने पर मन पर प्रभाव एक-दूसरे से उल्टा होता है। पहले तो घटना सम्मुख न होने पर इसकी प्रति-क्रिया ही नही होनी चाहिए, किसी तरह हो भी जाय, तो एक-सी होनी चाहिए, दोनो मे भेद नही होना चाहिए। इसके अलावा एक और आपत्ति भी खडी होती है। अगर भविष्य की सभा 500 श्रोताओ के स्थान मे 499 श्रोताओ की हो तो उसकी प्रतिक्रिया भिन्न होनी चाहिए, अगर सख्या 498 हो तो उसकी प्रतिक्रिया और भिन्न होनी चाहिए क्योकि 'उद्दीपक' के बदल जाने पर 'अनुक्रिया' का बदल जाना जरूरी है, परन्तु ऐसा होता नही। इससे स्पष्ट है कि सवेग का कारण शरीर न होकर मन है, चेतना है।

भौतिकवादियो का कथन है कि 'भय' आदि 'सवेग' (Emotions) शरीर की ग्रन्थियो के स्राव का परिणाम होते हैं. सवेगो का आधार मन या चेतना नही है। कल्पना कीजिए कि मैं डर रहा हूँ, और भौतिकवादी के अनुसार इस डर का कारण गुर्दे के पास की अधिवृक्क-ग्रन्थियो का स्राव (Secretion of adrenal glands) है। परन्तु इस स्राव की तो कुछ मात्रा होगी। कल्पना कीजिए कि जब मैं डर रहा हूँ तब स्राव की जो मात्रा है उसे 'क' का नाम दे दिया गया। जितना 'क' मात्रा के स्राव से मुझे डर लग रहा है अगर उस से दुगुना डर लगे तो स्राव की मात्रा दुगुनी अर्थात् '2 क' हो जानी चाहिए, अगर उससे आधा डर लगे तो स्राव की मात्रा आधी, अर्थात् $\frac{1}{2}$ 'क' हो जानी चाहिए। परन्तु डर की मात्रा तो घटती-बढती रहती है, बहुत ज्यादा डर, उससे कम डर, उससे कम डर—इस प्रकार डर की मात्रा मे ही अनन्त भेद हो सकते हैं। तो क्या डर की हर-एक मात्रा के लिए एक-एक ग्रन्थि है। डर अनन्त हो सकते है, ग्रन्थियां शरीर का अंग होने के कारण सान्त रहेगी, अनन्त नही हो सकती। डर

की जितनी मात्राओं के लिए शरीर में ग्रन्थियाँ मौजूद है उन मात्राओं से डर की जो अधिक मात्रा है उसका कारण कौन-सी ग्रन्थियाँ है ? इसके अतिरिक्त डर की 'मात्रा' (Quantity) ही अनन्त नही, डर का 'गुण' (Quality) भी अनन्त है। कभी डर से घृणा पैदा हो जाती है, कभी घबराहट, कभी आतंक, कभी हैरानी, कभी जी बैठना—नाना प्रकार से डर अपने को प्रकट करता है। हर प्रकार के डर के गुण के लिए अलग-अलग ग्रन्थि माननी पडेगी जो असम्भव है क्योकि डर की मात्रा और डर के गुण या प्रकार अनन्त है, ग्रन्थियाँ इस सीमित शरीर मे रहने के कारण सान्त हैं। उक्त कारणो से 'सवेग' को शरीर की ग्रन्थियो के स्राव का परिणाम नही कहा जा सकता, सवेगो के लिए मन जैसी चेतन-सत्ता का मानना आवश्यक है।

(ङ) अर्थ-बोध (Comprehension of Meaning)—मन या चेतन-सत्ता के होने का एक प्रबल प्रमाण यह है कि हम किसी बात का अर्थ, उसका मतलब समझ जाते हैं। उदाहरणार्थ, अगर एक कागज़ पर कुछ वाक्य लिख दिये जाएँ तो भौतिक-दृष्टि मे वे सफेद कागज़ पर पडे काले-काले कुछ निशान ही तो हैं। अगर यह समझा जाय कि ये काले निशान आँख के लिए 'भौतिक-उद्दीपक' (Physical stimuli) हैं, तो इनसे क्या मतलब सिद्ध होता है ? मतलब की बात तो यह है कि इन निशानो का अर्थ क्या है। कल्पना कीजिये कि आपको एक पत्र आया कि आपको लाटरी मे दस लाख रुपया मिला है। इस पत्र पर जो काले-काले अक्षर लिखे हैं, अगर आप उनका अर्थ नही समझते तो उसका आप पर कोई प्रभाव नही होता। प्रभाव पत्र पर लिखे अक्षरो का नही, अक्षरो मे निहित अर्थ का है। इस अर्थ का इतना प्रभाव हो सकता है कि आपको रात भी काटनी मुश्किल हो जाय। यह स्पष्ट है कि पत्र पर लिखे इन निशानो मे जो अर्थ निहित है वह इन्द्रियो का विषय नही है, तन्त्रिका-तन्त्र का विषय नही है, 'अक्षर' तो इन्द्रियो के विषय हैं, उनका 'अर्थ' नही, क्योकि अर्थ तो अतीन्द्रिय है। हमारी आँख के सामने तो कागज़ पर लिखे अक्षर आते है, उन अक्षरो को देख कर 'अर्थ-बोध' होना मन के बिना कैसे हो सकता है ?

एक और उदाहरण लीजिए। मैंने हिन्दी मे एक पुस्तक लिखी। उसमे आत्मा की सिद्धि के विषय मे अनेक युक्तियो का उल्लेख किया। उस पुस्तक को कमल नाम के व्यक्ति ने पढा और मैंने जो युक्तियाँ दी थी उन्हे वह समझ गया। इन्ही दिनो विमल ने उस पुस्तक का गुजराती मे अनुवाद किया जिसे नूतन ने पढा और जो-कुछ गुजराती मे लिखा था उसे समझ लिया। कुछ दिनो बाद मैंने उसी विषय पर बम्बई मे व्याख्यान दिया जिसे चेतन ने सुना और मेरी युक्तियो की यथार्थता से प्रभावित हुआ। क्योकि कमल, विमल, नूतन और चेतन—ये चारो मेरी युक्तियो को समझ गए, इसका अर्थ यह हुआ कि मेरे विचारो का इन

चारो ने एक-समान अर्थ लिया, अगर ऐसा न होता तो वे यह न कहते कि उन्हे मेरी युक्तियाँ समझ मे आ गई है। यह सब-कुछ होते हुए भी—अर्थ-बोध तो चारो का एक-सा है—परन्तु इन चारो के लिए 'भौतिक-उद्दीपक' (Physical stimulus) भिन्न-भिन्न था। कमल के सामने मेरी पुस्तक थी जिस पर काले-काले हिन्दी अक्षरो के निशान थे, विमल तथा नूतन के सामने भी जो पुस्तक थी उस पर हिन्दी अक्षरो के स्थान मे गुजराती अक्षरो के निशान थे, चेतन के सामने अक्षरो के निशान नही थे, उसने कानो से व्याख्यान के शब्द सुने थे। 'भौतिक-उद्दीपक' सब के भिन्न-भिन्न थे, परन्तु 'अनुक्रिया' चारो की एक-सी थी। होना तो यह चाहिए था कि क्योकि सबके उद्दीपक भिन्न-भिन्न थे, इसीलिए सबकी अनुक्रिया भी भिन्न-भिन्न होती, परन्तु ऐसा नही हुआ। ऐसा क्यो नही हुआ? इसलिए ऐसा नही हुआ क्योकि इन चारो के भीतर कोई ऐसी शक्ति थी जो भौतिक-दृष्टि से इन भिन्न-भिन्न घटनाओ के बीच मे निहित अभिन्न-अर्थ को पकड लेने मे समर्थ थी। अर्थ-बोध की इसी शक्ति को चेतना कहा जाता है।

इस सिलसिले मे मैग्डूगल (1871-1938) ने भी एक उदाहरण दिया है। वह कहता है कि मानो एक आदमी को एक तार आया—'तुम्हारा पुत्र मर गया।' इस दृष्टान्त मे आँखो के सामने जो 'उद्दीपक' (Stimulus) उपस्थित हुआ वह क्या था? एक गुलाबी कागज पर लिखे कुछ काले-काले निशान जिन्हे हम अक्षर कहते है। इस 'उद्दीपक' की 'अनुक्रिया' (Response) क्या होती है? हो सकता है कि इन निशानो को देख कर वह बेहोश हो जाय, बेहोशी से निकलने के बाद हो सकता है कि इन काले-काले निशानो का असर उसके सारे जीवन पर पड जाय, उसका बचा सम्पूर्ण ही जीवन बदल जाय। क्या उस व्यक्ति के जीवन मे यह-सब परिवर्तन सिर्फ गुलाबी कागज़ पर पडे उन काले निशानो के कारण हुआ है? अगर यही बात है, तो किसी दूसरे व्यक्ति को जिसका उस लडके से कोई सम्बन्ध नही है उस तार को दिखा कर देखो। वह तार को पढता है, उस पर कोई असर नहीं होता। 'उद्दीपक' वही है, 'अनुक्रिया' भिन्न-भिन्न है। अगर उसी व्यक्ति को जिस पर उक्त तार का घातक प्रभाव हुआ उसका मित्र यह तार दे देता—'मेरा पुत्र मर गया', तो उस तार का इस व्यक्ति पर सिर्फ इतना प्रभाव होता कि वह अपने मित्र को समवेदना का पत्र लिख देता। इन उदाहरणो मे स्पष्ट है कि जब तक 'उद्दीपक' (Stimulus) और 'अनुक्रिया' (Response) के बीच, माध्यम के रूप मे पड़ी किसी चेतन-शक्ति को हम न मानें, तब तक एक ही उद्दीपक के प्रति भिन्न-भिन्न अनुक्रियाएँ समझ मे नही आ सकती। इन दृष्टान्तो मे हमे काले-काले निशानों के पीछे बैठे अर्थ का बोध होता है जो किसी जड वस्तु का नही, चेतन का ही काम हो सकता है।

(च) मन की संश्लेषण की शक्ति (Synthesizing Power of the Mind)—एक-समान 'उद्दीपक' के हमारे सामने उपस्थित होने पर जो भिन्न-भिन्न 'अनुक्रिया' होती है, वह इस बात का प्रमाण है कि हमारे भीतर 'तन्त्रिका-तन्त्र' के अलावा कोई चेतन-शक्ति है जो अर्थ-बोध के रूप मे भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुक्रिया करती है। इसी तरह जब हम भिन्न-भिन्न स्वर सुनते हैं, या भिन्न-भिन्न रग देखते हैं, तब उन भिन्न-भिन्न स्वरो या भिन्न-भिन्न रगो को सुन या देख कर उनका सश्लेषण करने की शक्ति भी सिद्ध करती है कि हमारे भीतर शरीर से भिन्न कोई चेतन शक्ति है।

उदाहरणार्थ, पहले हम 'स्वर' को लेते हैं। हम जो शब्द उच्चारण करते है उन्हे 'स्वर' कहा जाता है। 'स्वर' क्या है ? 'स्वर' वायु-मण्डल मे छोडी गई कुछ लहरें हैं। जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते है तब उससे वायु-मडल मे एक लहर उत्पन्न होती है। इस प्रकार की अनेक लहरें मिल कर सगीत को उत्पन्न करती हैं। परन्तु सगीत स्वर की इन सब लहरो का जोड मात्र नही है, सगीत स्वर की इन सब लहरो के जोड से कुछ अधिक है, और तभी स्वर की एक-एक लहर मे हमे जो आनन्द आता है, सगीत मे उससे अधिक आनन्द आता है। यह अधिक आनन्द क्यो आता है ? यह अधिक आनन्द इसलिए आता है क्योकि हम सब स्वर-लहरियो को सश्लिष्ट कर लेते हैं, स्वर को एक-एक के तौर पर, भिन्न-भिन्न के तौर पर अनुभव करने के स्थान मे सम्पूर्ण स्वरो को समग्र रूप मे अनुभव करते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब हम समग्र स्वरो को एक-साथ अनुभव कर स्वरो के जोड से आनन्द अनुभव करते हैं, वह भिन्न-भिन्न स्वरो से प्राप्त होने वाले आनन्द से बहुत अधिक होता है। हमारे भीतर कोई शक्ति है जो भिन्न-भिन्न स्वरो से प्राप्त होने वाले आनन्द को सश्लिष्ट करके एक ऐसा आनन्द उत्पन्न कर देती है जो स्वरो को भिन्न-भिन्न रूप मे सुनने से प्राप्त नही होता। अगर इन्ही स्वर-लहरियो का किसी दूसरे क्रम मे उच्चारण किया जाय, तब यद्यपि स्वर वही रहेगे, उद्दीपक वही रहेगा, परन्तु उसकी अनुक्रिया आनन्द देने के स्थान मे झुंझलाहट पैदा कर देगी। क्या कारण है कि स्वर वही हैं, स्वर-लहरें वही है, परन्तु सिर्फ क्रम बदल देने से उसकी अनुक्रिया बदल जाती है ? इसका यही कारण हो सकता है कि हमारे भीतर जो चेतन-शक्ति है वह स्वरो को सश्लिष्ट करती रहती है, इस सश्लेषण मे उसका आनन्द जो एक-एक स्वर मे नही है, उस चेतन-शक्ति द्वारा सश्लिष्ट कर लेने पर अधिक कर लिया जाता है, या समाप्त कर दिया जाता है। अगर आनन्द भिन्न-भिन्न स्वर मे है तो जब उस स्वर को बेतुका उच्चारण किया जाता है, तब स्वरो की सख्या के उतना ही रहने पर आनन्द जाता क्यो रहता है ? अगर 1+2+3 का योग 6 है, तो 1+3+2 या 2+1+3 का योग

भी 6 ही होना चाहिए, परन्तु स्वरो के अदला-बदली मे जहाँ पहले आनन्द आता था, वहाँ अब झुँझलाहट भी आ सकती है। अगर उद्दीपक वही-के-वही रहे, सिर्फ क्रम बदल जाए, तो उनका जोड तो एक-सा ही रहना चाहिए। सगीत मे ऐसा इसलिए नही होता क्योंकि स्वरों की भिन्न-भिन्न लहरो का संश्लेपण करने वाली शक्ति अचेतन-मस्तिष्क न होकर चेतन-मन है।

जो बात हमने कान के विषय 'स्वर' के सम्बन्ध मे कही, वही बात आँख के विषय 'रग' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। चित्र-पट पर हम भिन्न-भिन्न रग ब्रुश से पोत देते है। वे आँख के लिए एक 'उद्दीपक' (Stimulus) का काम करते हैं, परन्तु उसे चित्र-कला का नाम नही दिया जा सकता। जब उन्ही रगो को एक विशेष क्रम से रखते है तब उन रंगो को चित्र-कला कहा जाता है। क्या चित्र-कला एक-एक रग मे थी ? एक-एक रग को देख कर तो कोई उसे चित्र-कला नही कहता। अगर हमारा ज्ञान 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) ही है, तो अलग-अलग या एक तरतीब मे आलिखित रग तो वही हैं, परन्तु रग की अलग-अलग रेखाएँ हमारे भीतर चित्र-कला का भाव उदय नही करती, एक विशेष-क्रम मे आलिखित रग हमारे भीतर चित्र-कला का भाव उदय करते है—ऐसा क्यो ? रगो के सश्लेषण से एक नवीन भाव का उत्पन्न हो जाना सिद्ध करता है कि हमारे भीतर कोई चेतन-सत्ता है जो क्रम-बद्ध रंगो को देख कर उनका सश्लेषण कर लेती है, और इस सश्लिष्ट-भाव को चित्र-कला का नाम दे देती है। यह शक्ति जो भिन्न-भिन्न स्वरो मे विद्यमान आनन्द को, भिन्न-भिन्न रगो मे विद्यमान चित्र-कला को उनमे से खीच कर उन्हे सश्लिष्ट कर लेती है मन या चेतन-शक्ति कहलाती है। यह शक्ति सश्लेषण ही नही करती, परन्तु स्वरो तथा रंगो मे जो भौतिक-तत्त्व है, जो हमे सुनाई देता या दीखता है, उससे कुछ अधिक उत्पन्न कर लेती है—भिन्न-भिन्न स्वरो मे से खीच कर सगीत को, भिन्न-भिन्न रगो मे से खीच कर चित्र-कला को जन्म दे देती है। अन्यथा, भिन्न-भिन्न स्वर मिल कर स्वर मात्र रह जाते, उनमे से सगीत न उपजता, भिन्न-भिन्न रग मिल कर रग मात्र रह जाते, उनमे से चित्र-कला न उपजती।

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि शरीर तथा मस्तिष्क—तन्त्रिका-तन्त्र—जो भौतिक-तत्त्व हैं, उनके अलावा जीवित-प्राणी के भीतर कोई अभौतिक-तत्त्व अवश्य है जिसे मन या चेतना कहा जाता है, यह अभौतिक-तत्त्व शरीर तथा मस्तिष्क से अलग होता हुआ भौतिक-शरीर तथा मस्तिष्क—तन्त्रिका-तन्त्र—का सचालन करता है, उस पर नियन्त्रण रखता है, इसका काम शरीर तथा मस्तिष्क को अपने उद्देश्य, अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये ठीक उस तरह इस्तेमाल करना है, ठीक ऐसे जैसे ड्राइवर अपनी मोटर कार का संचालन करता

है। इस सबको न्याय-दर्शन मे 'इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, सुख, दु ख, ज्ञानानि आत्मनो लिंगम्' कह कर तथा साख्य-कारिका (17) मे निम्न युक्तियो से चेतन-सत्ता की सिद्धि की गई है

चेतन-सत्ता के विषय मे न्याय-दर्शन तथा सांख्य-दर्शन

(क) न्याय-दर्शन का सूत्र—इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःखानि आत्मनो लिंगम्। (न्याय-दर्शन, अध्याय 1, सूत्र 10)

(ख) साख्य-कारिका—

सघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययात् अधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृतेश्च॥
(ईश्वरकृष्ण कृत साख्य-कारिका, 7)

(क) **आत्मा की सिद्धि में न्याय-दर्शन की युक्ति**—न्याय-दर्शन का कहना है कि 'इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, सुख, दु ख, ज्ञानानि आत्मनो लिंगम्'—हमारे भीतर 'ज्ञान' (Knowing) है, 'इच्छा-द्वेप', 'सुख-दु ख' (Feeling) है, 'प्रयत्न' (Willing—Action) है। जड मे न तो ज्ञान हो सकता है, न इच्छा-द्वेप हो सकता है, न सुख-दु ख हो सकता है, न प्रयत्न हो सकता है। मनोविज्ञान भी अपने प्रारम्भ-काल से आजतक यही मानता चला आ रहा है कि हमारे भीतर तीन ऐसे व्यापार हैं जो हमे उलझाए हुए है, जिनके कारण हम परेशानी मे पडे हुए हैं कि जबतक प्राणी मे ये तीन लक्षण मौजूद है तबतक हम चेतन प्राणी को जड मशीन कैसे मान सकते हैं? ये तीन भी अलग-अलग नही हैं। अनुभव बतलाता है कि तीनो लक्षण एक ही चेतना के अग हैं। 'ज्ञान' मे इच्छा-द्वेष, सुख-दु ख तथा प्रयत्न बने रहते हैं, 'इच्छा-द्वेप—सुख-दु ख' मे ज्ञान तथा प्रयत्न बने रहते हैं, 'प्रयत्न' मे ज्ञान तथा इच्छा-द्वेष, सुख-दु ख बने रहते हैं—सिर्फ मात्रा का भेद हो सकता है। मानसिक-व्यापार एक अभिन्न-प्रक्रिया का नाम है। 'ज्ञान' (Knowing) से इच्छा तथा प्रयत्न को जुदा नही किया जा सकता, 'इच्छा' (Feeling) से प्रयत्न तथा ज्ञान को जुदा नही किया जा सकता, 'प्रयत्न' (Willing) से इच्छा तथा ज्ञान को जुदा नही किया जा सकता। इन मानसिक-व्यापारो मे सिर्फ किसी एक लक्षण की प्रधानता रहती है, उसी प्रधानता के कारण हम उस अनुभव को ज्ञान, इच्छा या प्रयत्न का नाम दे देते हैं। उदाहरणार्थ, रास्ते चलते हमे चोट लग गई, हम गिर पडे, तमाशबीन इकट्ठे हो गये। उस समय हमे चोट लगने का 'ज्ञान' (Knowing) तो है ही, दर्द हो रहा है इसलिए 'दु ख' (Feeling) भी है, पाँव को जोर से पकडे बैठे हैं ताकि दर्द कम हो जाय इसलिए 'प्रयत्न' (Willing—Action) भी है, परन्तु दु ख (Feeling) की प्रधानता है। तमाशबीन लोग सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, दर्द

दूर करने के लिए कुछ करना भी चाहते हैं, परन्तु किसे चोट लगी, कैसे लगी, कहाँ लगी, इस प्रकार की कौतुक-पूर्ण जिज्ञासा की उनमे प्रधानता है इसलिए उनमे इच्छा तथा प्रयत्न के होते हुए भी 'ज्ञान' (Knowing) की प्रधानता है। अगर कोई चिकित्सक वहाँ आ पहुँचे तो एकदम इलाज शुरू कर देगा, यह नही कहा जा सकेगा कि उसमे ज्ञान या इच्छा नही है, उसमे 'प्रयत्न' (Willing) की प्रधानता है। तभी न्याय-दर्शन ने कहा कि ये तीनो मानसिक-व्यापार क्योकि चेतनता के लक्षण है, जडता के नही, इसलिए जिस सत्ता मे ये तीनो एक-साथ रहते है वही आत्मा है।

(ख) **आत्मा की सिद्धि में सांख्य-दर्शन की युक्तियां**—आत्मा की सिद्धि के लिए साख्य-दर्शन ने पाँच युक्तियाँ दी है जो बडे महत्त्व की है। ये युक्तियाँ निम्न हैं—

(i) **संघात परार्थत्वात्**— जो जड वस्तु है, सघात से, जोड से, परमाणुओ के मिलने से बनी है, वह अपने लिए नही किसी दूसरे के लिए बनी होती है। मकान मकान के लिए नही होता, मेज-कुर्सी-फर्नीचर सामान आदि रखने के लिए होता है, सामान भी सामान के लिए नही होता, सामानवाले के लिए होता है; बिस्तर बिस्तर के सोने के लिए नही होता, बिस्तर पर सोनेवाले के लिए होता है, जड जड वस्तु के लिए नही होती, किसी चेतन के लिए होती है, जो उसका इस्तेमाल कर सके। इसलिए जड प्रकृति—यह ससार—किसी चेतन के इस्तेमाल करने के लिए है, वही चेतन आत्मा है।

(ii) **त्रिगुणादि विपर्ययात्**—साख्य मे प्रकृति को सत्व, रजस्, तमस्—इन तीन गुणो का माना गया है। प्रकृति मे ये तीन गुण हैं—रजस् उत्पत्ति का प्रतिनिधि है, सत्व स्थिति का प्रतिनिधि है, तमस् प्रलय का प्रतिनिधि है। प्रकृति मे तीन गुण है का अर्थ यह है कि प्रकृति मे उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय ये तीन गुण पाये जाते है। ये तीन गुण जड मे होते है। ससार मे जो भी वस्तु है उसका उल्टा भी अवश्य होता है, उल्टा—अर्थात् 'विपर्यय'। अगर प्रकृति मे उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय है, तो जिसमे ये तीन अवस्थाएँ नही है वह चेतन आत्मा भी है। आत्मा की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय नही होती, जो उत्पन्न होता है, बना रहता है, नष्ट हो जाता है—इन तीनो गुणो वाला जो है वह यह स्थूल शरीर है; ये तीनो गुण जिसमे विपर्यय को प्राप्त हो जाते है वही आत्मा है।

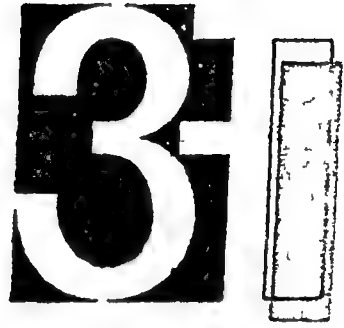
(iii) **अधिष्ठानात्**—आत्मा की सिद्धि मे साख्य ने तीसरी युक्ति यह दी है कि जितना संघातात्मक, त्रिगुणात्मक जगत् है उसका कोई अधिष्ठाता होना चाहिए जो उस जड मे प्रवृत्ति का कारण हो। जड मे अपने-आप प्रवृत्ति—क्रिया—नही हो सकती। रेलगाडी चलती है, तो उसका ड्राइवर होता है; अंत करण चतुष्टय से लेकर स्थूल पंचभूतो तक जितना जड़ शरीर है उसकी

प्रवृत्ति का कारण कोई चेतन अधिष्ठाता होना चाहिए, वही चेतन अधिष्ठाता आत्मा है।

(iv) **भोक्तृभावात्**—भोग्य वस्तु की उपयोगिता इसी मे है अगर उसका कोई भोक्ता हो। ससार सारा-का-सारा भोग्य है, यह स्वय अपने को नही भोग सकता। इसका जो भोक्ता है वही चेतन 'आत्मा' है।

(v) **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**—मनुष्य ससार मे दु खो मे बचना चाहता है, उलझनो से छूट कर अलग हो जाना चाहता है। इसमे सन्देह नही कि वह प्रकृति की लपेट मे, विषयो की आसक्ति मे रमा रहता है, परन्तु यह जान लेने पर कि विषयो के भोग का अन्त दु खमय है, वह समय आने पर, इन सबमे विरक्त भी होकर अलग हो जाना चाहता है। जो प्रकृति के विषयो मे खिचता है, खिचने के बाद जो इनसे अलग होकर—केवल—हो जाना चाहता है, वह कौन है ? अगर वह स्वय प्रकृति नही है, तो प्रकृति से जो अलग है, वही आत्मा है।

इस अध्याय का मुख्य लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि शरीर एक स्व-चालित-यन्त्र नही है, शरीर का सचालन शरीर से ही नही हो रहा, शरीर के पीछे बैठी हुई, शरीर से पृथक् कोई अन्य चेतन-सत्ता है। भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद के दृष्टिकोण मे यही मुख्य भेद है, इसी मुख्य भेद के कारण दोनो का जीवन के प्रति भी दृष्टिकोण अलग-अलग हो जाता है, जीवन मे दोनो के रास्ते अलग-अलग हो जाते है। शरीर से पृथक् वह सत्ता क्या है, उसे 'मन' कहा जाय, 'आत्मा' कहा जाय, 'चेतना' कहा जाय या मन अलग है, आत्मा अलग है, चेतना अलग है, या मन सिर्फ सोचने-विचारने का नाम है, यथार्थ-सत्ता आत्मा की ही है, चेतना की ही है, मन की स्वतन्त्र रूप मे कोई सत्ता नही—इन सब अध्यात्म मे भी परे की बातो मे हमने उलझने का प्रयास नही किया क्योकि हमारी स्थापना यह है कि वैदिक-विचारधारा का मुख्य-आधार जो जीवन को एक निश्चित दिशा दे देता है यह विचार है कि शरीर दृश्य है, इसके भीतर कोई द्रष्टा बैठा है, शरीर भोग्य है, इसके पीछे कोई भोक्ता बैठा है, शरीर साधन है, इसके पीछे कोई इसका उपयोग करने वाला इसका—अधिष्ठाता—बैठा है। 'मन'-शब्द का प्रयोग हमने सिर्फ शरीर से पृथक् उस सत्ता के लिए किया है जिसके लिए कोई 'चेतना', कोई 'आत्मा' आदि शब्दो का प्रयोग करते है। अगले अध्याय मे हम इनके सम्बन्ध मे कुछ शास्त्रीय-चर्चा करेंगे।



प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। उभयमिन्द्रियम्। तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि। पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः। (साख्य कारिका, 22)

'आत्मा' के विषय मे साख्य का अभिमत यह है कि 'आत्मा' अपने उपकरणो को साथ लेकर ससार का उपभोग करता है। ये उपकरण 'प्रकृति' के विकार है। 'आत्मा' चेतन हैं, ये उपकरण जड है। जड-सृष्टि का जब विकास प्रारम्भ होता है, तब विकास का प्रथम-चरण सृष्टि की महानता का है जिसे 'मात्रात्मक-विकास' (Quantitative evolution) कह सकते हैं। इसी को '**प्रकृतेर्महान्**'—यह कहा है। 'मात्रात्मक-विकास' के बाद 'गुणात्मक-विकास' (Qualitative evolution) का क्रम आता है। इसी को '**महतोऽहंकारः**'—यह कहा है। अहकार का अर्थ है—अव्यक्तित्व से व्यक्तित्व का निर्माण। पहले व्यक्तित्व नही था, सिर्फ 'परिमाण' था, परिमाण के बाद 'गुण' आया, व्यक्तित्व आया। इसके बाद सृष्टि का क्रम शुरू हो गया—पहले 5 सूक्ष्म महाभूत हुए जिन्हे तन्मात्र कहा है, फिर सूक्ष्म से 5 स्थूल महाभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश उत्पन्न हुए। इसके अनन्तर 5 कर्मेन्द्रियाँ और 5 ज्ञानेन्द्रियाँ हुई। इस प्रकार 'आत्मा' के ये सब साधन उत्पन्न होकर वह उनका उपभोग करने लगा।

इस प्रकरण मे यह जान लेना आवश्यक है कि 'मन' को साख्य मे भौतिक माना है, अभौतिक नही। 'मन' अन्त करण है, और अन्त करण के विषय मे शास्त्रो का कथन है कि अन्त करण चार है—चित्त, अहकार, मन तथा बुद्धि। जब 'महतोऽहकार' कहा, तब 'अहकार' मे इन चारो का सन्निवेश हो गया।

आत्मा अभौतिक है, शरीर भौतिक है—इन दोनो का मेल कैसे हो? इसी मेल का काम अन्त करण द्वारा होता है, जो भौतिक होता हुआ भी अभौतिकसम है। इसी अन्त करण तथा सूक्ष्म-भौतिक-तन्मात्रो के योग से आत्मा का सूक्ष्म-शरीर बनता है जो सम्पूर्ण जन्मो के सस्कारो का आश्रय-स्थल है। जैसे कटोरी मे पडे केसर को फेंक देने पर भी उसकी वास कटोरी मे मौजूद रहती है, वैसे ही सब कर्म सस्कारो का रूप धारण कर लेते हैं, और वे सस्कार कटोरी मे वास की तरह सूक्ष्म-शरीर मे बने रहते है। इस सूक्ष्म-शरीर के सहारे ही आत्मा उसे उपकरण बना कर सृष्टि का उपभोग करता है। सूक्ष्म-शरीर जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहता है, जब कर्मों का भोग समाप्त होता है, तभी आत्मा का सूक्ष्म-शरीर से साथ छूटता है, आत्मा नही मरता, शरीर मरता है; शरीर का सूक्ष्म-रूप यह सूक्ष्म-शरीर आत्मा के साथ बना रहता है।

पाश्चात्य-दार्शनिक 'आत्मा' को न मान कर—'चेतना'—इस शब्द का प्रयोग करते हैं। उनका कथन है कि 'आत्मा' तथा 'मन' का हमे पता नही चलता, 'चेतना' (Consciousness) का सब-किसी को अनुभव होता है, इसलिये पाश्चात्य-दर्शन मे 'मन', 'आत्मा' आदि शब्दो का प्रयोग करने के स्थान मे 'चेतना' शब्द का प्रयोग अधिक व्यावहारिक समझा जाता है। अगले अध्याय मे हम इसी 'चेतना' पर विशेष चर्चा करेंगे।

मन, चेतना, आत्मा, परमात्मा—इनके शास्त्रीय-भेद को समझ लेना आवश्यक है। जैसा हमने कहा, साख्य मन को भौतिक मानता है, चेतना, आत्मा, परमात्मा अभौतिक हैं, चेतन हैं। आत्मा, परमात्मा दोनो चेतन होते हुए भी आत्मा की चेतनता व्यक्तिनिष्ठ है, परमात्मा की चेतनता समष्टिनिष्ठ है। प्रश्न यह रह जाता है कि चेतना का आत्मा तथा परमात्मा से क्या भेद है? 'चेतना' तथा 'आत्मा' मे भेद यह है कि जहाँ-जहाँ चेतना—जीवन—Life—है, वहाँ-वहाँ आत्मा का होना आवश्यक नही है। घास-पात मे जीवन है, उनमे आत्मा नही है। आत्मा वही है जहाँ कर्म-फल भोग हो। 'चेतना' तथा 'परमात्मा' मे भेद यह है कि जब 'चेतना' सर्जन, पालन, सहार की क्रिया कर रही होती है तब उसी 'चेतना' को 'परमात्मा' कहा जाता है।

'चेतना' तथा 'आत्मा' के विषय मे जिस भेद का हमने जिक्र किया वह कई समस्याओ को हल कर देता है, परन्तु फिर भी इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है।

इस अध्याय मे इन्हीं तत्त्वो का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय

चेतना, मन तथा आत्मा

(CONSCIOUSNESS, MIND, AND SOUL)

भारतीय तथा पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-विचारधारा

हमने पिछले प्रकरण मे देखा कि मानव-शरीर को सिर्फ यन्त्र मान लेने से काम नही चलता। इस भौतिक-शरीर मे कोई चेतन अभौतिक-तत्त्व है जो इसे चलाता है। इस चेतन अभौतिक-तत्त्व को भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हे। कोई इसे सिर्फ 'चेतना' (Consciousness) कहता है, कोई इसे 'मन' (Mind) कहता है, कोई इसे 'आत्मा' (Soul or Spirit) कहता है। क्या ये सब एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न नाम हैं, या ये अलग-अलग सत्ताएँ है? जहाँ तक पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिक-विचारधारा है, उसके अनुसार ये सब एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। यहाँ हम धर्म की बात नही कर रहे, मनोविज्ञान की बात कर रहे हैं। पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिक-विचारधारा के अनुसार हमारे भौतिक-शरीर मे जो अभौतिक-तत्त्व है उसे वे मन कहते है। शरीर का सचालन 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के द्वारा होता है, 'तन्त्रिका-तन्त्र' का सचालन तथा नियन्त्रण कुछ के अनुसार अपने-आप, कुछ के अनुसार मन (Mind) द्वारा होता है—भले ही हम उसे मन कहे, चेतना कहे या आत्मा कहे। वे इस शक्ति के लिए चेतना या मन—इन शब्दो का ही प्रयोग करते हैं, अभिप्राय उनका शरीर से अतिरिक्त एक अलग चेतन-शक्ति से है। सभी पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ऐसा नही मानते, कुछ 'शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक' (Physiological psychologists) हैं, जो चेतन-शक्ति को मानते ही नही, शरीर को सिर्फ एक यन्त्र मानते है जिसका सचालन स्व-चालित-यन्त्र की तरह 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के कारण-कार्य के नियमानुसार हो रहा है—यह मानते है, कुछ अपने को 'व्यवहारवादी' (Behaviourists) कहते है जो शरीर-क्रियात्मक-मनोविज्ञान के ही पृष्ठ-पोषक है, कुछ 'आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक' (Spiritual psychologists) है जो तन्त्रिका-तन्त्र से अतिरिक्त चेतन या मन

की सत्ता को मानते है। हमने पिछले प्रकरण मे इन दोनो की विचारधारा का उल्लेख किया। इससे पहले कि हम मन तथा उसकी शक्तियो के विषय में पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिको की विचारधारा की आगे कुछ चर्चा करें, हम चेतना, मन, आत्मा आदि के विषय मे भारतीय दार्शनिक-विचारधारा पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

1. चेतना, मन तथा आत्मा के सम्बन्ध में भारतीय-विचारधारा

भारतीय दार्शनिक-विचारधारा मे चेतना, मन तथा आत्मा—ये तीनो शब्द पाये जाते हैं। 'चेतना' का प्रयोग तो 'मन' तथा 'आत्मा' दोनो के लिए होता है, परन्तु 'मन' तथा 'आत्मा'—इन दोनो शब्दो का अलग-अलग सत्ता के लिए प्रयोग होता है। वे 'मन' की अलग सत्ता मानते हैं, 'आत्मा' की अलग सत्ता मानते हैं।

'मन' तथा 'आत्मा' का क्या सम्बन्ध है—इसके लिए आचार्य कपिल के साख्य-दर्शन मे विशेष प्रकाश पडता है। सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए वे लिखते है—

प्रकृतेर्महान् महतो ऽहकारः। अहंकारात् पंचतन्मात्राणि। उभयमिन्द्रियम्।
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि। पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः॥

(साख्य-कारिका, 22)

सृष्टि की उत्पत्ति 'प्रकृति' (भौतिक-द्रव्य)—Matter—से हुई है। 'प्रकृति' का अर्थ है—'साम्यावस्था प्रकृति'—पाँच-भौतिक-जगत् की वह अवस्था जिसमे किसी प्रकार का भेद न हो, जब सम-अवस्था हो, उसे 'प्रकृति' कहा गया है। इस समय हमारे सामने जो जगत् है उसमे हर वस्तु का दूसरी से भेद नजर आता है, प्रत्येक वस्तु का अपना पृथक्त्व है, अपनी अलग-से सत्ता है, सम-अवस्था नहीं है, विषम अवस्था है। इस 'विषम-अवस्था' का नाम 'विकृति' है, सम-अवस्था का नाम 'प्रकृति' है। सृष्टि का विकास साम्यावस्था से विषमावस्था की तरफ हुआ है, इसी को पाश्चात्य-दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'First Principles' मे 'साम्यावस्था से विषमावस्था' या 'सजातीयता से विजातीयता' (From homogeneity to heterogeneity) कहा है। प्रकृति जब साम्यावस्था मे थी तब किसी पदार्थ की पृथक् सत्ता नही थी, इसी को वेद मे **'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'** कहा है, इसी को वर्तमान वैज्ञानिक 'Nebula' का नाम देते हैं। 'हिरण्य' भी ज्योतिर्मय है, 'नेब्युला' भी ज्योतिर्मय है। इस 'प्रकृति' (भौतिक-द्रव्य)—Matter—मे जब सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ हुआ तब पहले-पहल 'महत्' प्रकट हुआ। 'महत्' का क्या अर्थ है? 'महत्' का अर्थ है—महान्, विशाल, बड़ा। प्रकृति के विकास मे दो विचार ही तो पहले-पहल आ सकते थे—एक विचार

था 'मात्रात्मक' (Quantitative), दूसरा विचार था 'गुणात्मक' (Qualitative)। अर्थात्, पहला विचार था प्रकृति की विशालता का, इतनी विशाल, इतनी महान् कि इसका कुछ पारावार नही, दूसरा विचार था इतना-कुछ इसमे भरा है, इतना-कुछ इसमे भरा है कि उसका भी पारावार नही, और-छोर नही। इसीलिए कहा है कि प्रकृति जब विकासोन्मुख हुई तब पहले-पहल, 'महत्-तत्त्व' का भाव जागा। इस 'मात्रात्मक-विकास' (Quantitative evolution) के बाद 'गुणात्मक-विकास' (Qualitative evolution) हुआ। यह 'गुणात्मक-विकास' क्या था ? 'गुणात्मक-विकास' था प्रत्येक वस्तु का जो अबतक अदृश्य-रूप मे थी, अव्यक्त-रूप मे थी, बीज-रूप मे थी, उसका दृश्य होने लगना, व्यक्त होने लगना, बीज मे से फूट पडने लगना। इस व्यक्त होने को ही साख्यकार ने 'अहकार' का नाम दिया है। 'अहकार' का अर्थ है—'व्यक्तित्व'—वस्तु की पृथक् रूप से सत्ता। यह पृथक् रूप से सत्ता जड की भी हो सकती है, चेतन की भी। जब तक सृष्टि 'प्रकृति' रूप मे थी, अव्यक्त रूप मे थी, तब तक जड-चेतन मे से किसी की व्यक्त-सत्ता नही थी, जब सृष्टि 'विकृति' रूप मे आई, तब हर वस्तु का अपना-अपना पृथक् आकार प्रकट होने लगा, उसमे 'व्यष्टित्व'—'वैयक्तिकता'—(Individuality) आने लगा। इसी 'व्यष्टित्व'—वैयक्तिकता' को, 'अहत्व' (I-ness) को साख्य मे 'अहंकार' का नाम दिया गया है। विकास की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने पर पहले 'महत्-तत्त्व' प्रकट हुआ, फिर 'अहकार-तत्त्व' प्रकट हुआ—पहले 'मात्रा' (Quantity) प्रकट हुई, फिर 'गुण' (Quality) प्रकट हुआ—'मात्रात्मक से गुणात्मक विकास' (From Quantitative to Qualitative evolution) हुआ—इसी को सांख्य-कारिका मे **'प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकार.'** कहा है, जो वर्तमान पाश्चात्य-वैज्ञानिक मत से मिलता-जुलता है।

फिर 'अहकार' के प्रकट होने के बाद क्या हुआ ? पहले प्रकृति मे एक-तत्त्व था, सारी अनेकता एकता मे विलीन हो चुकी थी, अब जब विकास प्रारम्भ हुआ तब एकता से अनेकता विकसित होने लगी। क्योंकि 'प्रकृति' भौतिक है इसलिए पाँच महाभूतों का विकास हुआ—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश। परन्तु पच-महाभूत भी तो व्यक्त होने से पहले अव्यक्त रूप मे थे, इसलिए उनकी अव्यक्त से व्यक्त होने की प्रक्रिया मे उनका पहले-पहल जो रूप था उसे साख्य ने 'पचतन्मात्र' कहा है। 'तन्-मात्र' का अर्थ है—बस, 'उतना-सा', 'सूक्ष्म-सा', 'अप्रकट-सा', 'अव्यक्त-सा'। 'उतना-सा', 'सूक्ष्म-सा' का अर्थ है—न बिल्कुल सूक्ष्म ही है, न बिल्कुल स्थूल ही है, न बिल्कुल अप्रकट ही है, न बिल्कुल प्रकट ही है, न बिल्कुल अव्यक्त ही है, न बिल्कुल व्यक्त ही है। इसी को 'तन्-मात्र' कहा है साख्यकार ने। जब प्रत्येक वस्तु का 'व्यष्टित्व'—'अहकार'—विकसित होने लगा, तब यह पाचभौतिक-सृष्टि पहले पाँचो महाभूतो की सूक्ष्म-तन्मात्रो मे प्रकट हुई—

पृथिवी-तन्मात्र, आपस्-तन्मात्र, तेजस्-तन्मात्र, वायु-तन्मात्र, आकाश-तन्मात्र—फिर स्थूल रूप मे—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश के रूप मे विकसित हुई। इस प्रकार पाँच तन्मात्रो, सूक्ष्म-भूतो तथा पाँच स्थूल भूतो का विकास हुआ। 'तन्मात्र'—शब्द के विषय मे श्री उदयवीर शास्त्री अपने 'साख्य सिद्धान्त-ग्रन्थ' के पृष्ठ 302 मे लिखते हैं कि साख्य के 'तन्मात्र'-शब्द का वही अर्थ है जो विज्ञान मे ऐलीमेंट (Element) का अर्थ समझा जाता है। वे लिखते हैं कि 'तन्मात्र'—यह सज्ञा तत्त्व की उस अवस्था को स्पष्ट कर देती है जो तत्त्व केवल उतना ही है, या वही है, अर्थात् जिसमे अन्य किसी तत्त्व का सम्मिश्रण नही है। जैसे विज्ञान ने ये मूल भौतिक-तत्त्व कभी 102 बतलाये थे, फिर उनका विलीनीकरण होते-होते अब इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन रह गए, वैसे कभी साख्य ने सृष्टि के मूल-तत्त्वो का विश्लेषण पच-तन्मात्रो मे किया था। ये पंच-तन्मात्र साख्य-विज्ञान के ऐलीमेंट थे। सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए 'तन्मात्र'-शब्द का प्रयोग ही सिद्ध करता है कि साख्यकार का अभिप्राय सृष्टि के निर्माण के आदि के भौतिक मूल-तत्त्वो (Elements) से है। यह विकास तो ब्रह्माण्ड की सृष्टि मे हुआ; पिंड की—देह की—सृष्टि मे भी अगो का विभेदीकरण (Differentiation of Organs) हुआ, और 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ विकसित हुई। इनमे से आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा—ये 5 ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, हाथ, पैर, वाणि, पायु, उपस्थ—ये 5 कर्मेन्द्रियाँ हैं, इनके अतिरिक्त 1 तत्त्व मन है। इस प्रकार प्रकृति, महत्, अहंकार, 5 तन्मात्र, 5 स्थूल भूत, 5 ज्ञानेन्द्रिया, 5 कर्मेन्द्रिया तथा 1 मन—ये 24 तत्त्व हैं जिनका आधार प्रकृति है। इनको साख्यकार ने 'करण' कहा है। करण का अर्थ है—साधन, औज़ार। ये साधन हैं—किसके? पुरुष के, आत्मा के। आत्मा को साख्य मे 'पुरुष' कहा है—'पुरुष' का अर्थ है—'पुरि शेते इति पुरुष' (निरुक्त)—जो शरीर रूपी पुरी मे, नगर मे आकर शयन करता है, विश्राम करता है, वह पुरुष है। 'पुर'-शब्द तो भाषा मे आम चलता हैं—नागपुर, फिरोज़पुर—वही 'पुर'-शब्द पुरुष मे है। इस प्रकार 24 साधनो को साथ लेकर यह 'पुरुष'—शरीर-रूपी पुरी मे रहने वाला आत्मा—अपने को मिलाकर 25 की टोली के साथ इस ससार की यात्रा करता है।

हमने सृष्टि के विकास का साख्य-सम्मत जो उल्लेख किया है उसका आशय उस प्रश्न का समाधान करना है जिसे हमने इस प्रकारण के शुरू-शुरू मे उठाया है। हमारा प्रश्न यह था कि 'चेतन', 'मन' तथा 'आत्मा'—इन तीनो मे क्या भेद है?

सक्षेप मे, उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि साख्यकार के मत मे 'मन' चेतन नही है, 'आत्मा' चेतन है, 'मन' प्रकृति के विकास का परिणाम है, प्राकृतिक है, भौतिक है, आत्मा प्रकृति के विकास का परिणाम नही है, अप्राकृतिक है,

अभौतिक है, 'मन' करण है, साधन है, औज़ार है, आत्मा इस करण का, साधन का इस्तेमाल करने वाला, इसका उपयोग करने वाला है। यह कहना कि 'मन' भौतिक है, अद्भुत लगता है, परन्तु सांख्य की विचारधारा के अनुसार 'मन' भौतिक ही है, प्रकृति से ही इसका विकास हुआ है। उपनिषद् मे भी कहा है—**'अन्नमय हि सोम्य मनः'**—हे सोम्य ! मन अन्न से बना है, अर्थात् मन भौतिक है। जैसे पाश्चात्य-विचारधारा के 'शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक' (Physiological psychologists) या 'व्यवहारवादी' (Behaviourists) हमारे सब व्यवहार का आधार 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) को मानते हैं जो भौतिक है, वैसे ही सांख्यकार भी हमारे सम्पूर्ण व्यवहार का संचालन एक भौतिक-तत्त्व को ही मानते है जिसे उन्होंने 'अहंकार' का नाम दिया है जिसकी एक परिणति 'मन' है। इस बात को स्पष्ट तौर पर तो सांख्य-दर्शन में नही कहा गया, परन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगी कि 'मन' तन्त्रिका-तन्त्र का ही दूसरा नाम है। अगर मन प्रकृति से बना है, और हमारी सब क्रिया-प्रतिक्रिया उसी से चलती है, तो 'मन' तथा 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) मे क्या भेद रहता है ? इस दृष्टि से विचार करें, तो सांख्य का मत, शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिकों का मत तथा व्यवहारवादियो का मत—ये तीनों एक धरातल पर उतर आते है, भेद इतना ही रह जाता है, और वही भेद महत्त्वपूर्ण है, कि सांख्यकार तो मन को भौतिक मानते हुए भी उसे करण मानते हैं, साधन मानते हैं 'आत्मा' का, शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक या व्यवहारवादी 'तंत्रिका-तन्त्र' पर ही अटक जाते हैं, 'तन्त्रिका-तन्त्र' का संचालन करने वाले, उसका नियन्त्रण करने वाले आत्मा को नही मानते। हम पिछले अध्याय मे देख आये हैं कि शरीर की सब क्रिया-प्रक्रिया सिर्फ भौतिकवाद तक रुक जाने और चेतन-सत्ता को न मानने से समझ मे नही आ सकती इसलिए सांख्यकार का मत शरीर-क्रियात्मक-मनोविज्ञान के सिद्धान्त के साथ मिलता हुआ भी उससे आगे निकल जाता है, वह भौतिकवादी होता हुआ भी अध्यात्मवादी है, उसमें भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का समन्वय है।

2. मन का शास्त्रीय-स्वरूप

मन को भारतीय शास्त्रो मे 'अन्त.करण' कहा है। 'अन्त.करण' का अर्थ है—भीतरी साधन, भीतरी उपकरण, भीतरी औज़ार। ऊपर हमने जिस सांख्यकार आचार्य कपिल मुनि का विचार दिया उसके अनुसार प्रकृति से विकसित 'अहंकार' से ही 10 भौतिक (Physical)—5 तन्मात्रो एवं 5 महाभूतों (पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश) तथा 11 मानसिक (Psychical)—1 मन, 5 ज्ञानेन्द्रियो एवं 5 कर्मेन्द्रियो का विकास हुआ। ये 21 तत्त्व 'अहंकार' की परिणति

है, इन्ही मे मन भी एक है, और यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'अहकार' प्रकृति से विकसित हुआ है। क्योकि 'मन' अहकार से विकसित हुआ, अहकार प्रकृति से विकसित हुआ, इसलिए 'मन' प्रकृति से ही विकसित हुआ—ऐसा समझना चाहिए। 'अहकार' तथा 'मन' का क्या सम्बन्ध है—इस विषय मे शास्त्रीय-विचारधारा निम्न है —

प्रश्नोपनिषद् के 4र्थ प्रश्न की 8वी कण्डिका मे लिखा है—**'मनश्च मन्तव्यं, बुद्धिश्च बोद्धव्यं, अहकारश्च अहंकर्तव्य, चित्तं च चेतयितव्यम्'**। इस स्थल मे उपनिषत्कार ने 4 अन्त करण गिनाये है। वेदान्त ग्रन्थो मे भी 'अन्त करण चतुष्टय' का वर्णन मिलता है जिसका अर्थ है—4 भीतर के उपकरण, साधन। सब ग्रन्थो मे 4 का वर्णन नही मिलता। सांख्य मे 3 का, गौतम तथा कणाद मे सिर्फ एक—मन का—वर्णन मिलता है, और अन्यो को इसी एक के भिन्न-भिन्न प्रकट-रूप समझा गया है, परन्तु इस सबके बावजूद प्रसिद्ध शास्त्रीय-विचार 'अन्त करण चतुष्टय'—4 अन्त करणो—का ही रहा है। इन चार का परस्पर सम्बन्ध क्या है ?

अगर अपने भीतर चल रही मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया (Psychological process) का हम विश्लेषण करें, तो उसे 4 भागो मे बाँटा जा सकता है। पहला है—'चित्त' (Consciousness)। किसी भी मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया मे प्रथम अनुभूति चेतना की होना अवश्यभावी है। जबतक हम चेतन नही होंगे, तबतक मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया चलेगी कैसे ? जैसे प्रकृति सर्वत्र मौजूद है, वैसे जहाँ-जहाँ प्रकृति है वहाँ-वहाँ उसका नियत्रण करने वाली चेतन-शक्ति भी मौजूद रहती है। इसी चेतन-शक्ति को पातजल योग-शास्त्र मे 'चित्त' (Consciousness) कहा है। 'प्रकृति' सब जगह है इसलिए 'चित्त' भी सब जगह है। योग-भाष्य मे 'चित्त' को विभु कहा है क्योकि चेतन-शक्ति सब जगह मौजूद है। योग-दर्शन के 'चित्त' शब्द का अर्थ मन या बुद्धि नही है। सांख्य-दर्शन के अन्त.करण चतुष्टय में जब 'चित्त' का उल्लेख आता है तब उस चेतना-शक्ति से अभिप्राय नही है जो सब जगह, हमारे भीतर, हमारे बाहर, चित्ति-शक्ति के रूप मे वर्तमान है। सांख्य का 'चित्त' आत्मा की चिति-शक्ति का सूचक है। चेतना के बाद द्वितीय-अनुभूति है—'अहकार' (Individuality) की। जब चेतना जगेगी तभी तो 'मैं' की, 'अहत्व' की अनुभूति होगी। जब 'अहत्व' का विकास हो गया, तब मन का काम चालू हो गया, सकल्प-विकल्प जारी हो गया। 'मन' (Mind) मानसिक-विकास की तीसरी मजिल है। 'मन' का काम चिंतन करना है, सकल्प-विकल्प करना है, यह ठीक है या वह ठीक है—इस प्रकार के द्वन्द्वो को सामने लाकर उन पर विचार करना है, निश्चय करना नही है। इसके बाद मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया मे चौथी अवस्था आती है, जब मन मे उलझ रहे विकल्पो मे से किसी एक का बुद्धि

(Intelligence) द्वारा निश्चय हो जाता है। यद्यपि अन्त करण चतुष्टय का वर्णन करते हुए प्रश्नोपनिषद् मे क्रम मन, बुद्धि, अहकार तथा चित्त—इस प्रकार मिलता है, तो भी हमारी धारणा के अनुसार ये शब्द उपनिपद् मे मनोवैज्ञानिक-क्रम से नही रखे गए। इनका क्रम होना चाहिए—चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि—क्योंकि हमारी भीतरी मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया इसी क्रम से चलती है।

3. सूक्ष्म-शरीर, लिंग-शरीर, कारण-शरीर
(Causal or Astıal Body)

हमने देखा कि 'मन' का निर्माण प्रकृति से हुआ है। साख्य-सिद्धान्त के अनुसार मूल-प्रकृति से लेकर पचभूत-पर्यन्त जितने तत्त्व हैं सब जड-प्रकृति के विकार हैं, इनमे चित्त, अहकार, मन तथा बुद्धि भी सम्मिलित है। परन्तु क्या चित्त, अहकार, मन, बुद्धि इसी प्रकार स्थूल हैं जिस प्रकार पृथिवी, अप्, तेज, वायु आदि भौतिक-पदार्थ स्थूल है। ऐसी बात नही है। ये चारो तत्त्व प्राकृतिक, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने पर, भौतिक होते हुए भी अभौतिक हैं। जैसे पंच-तन्मात्र के विषय मे हमने कहा है कि वे पाँचो भूतो के सूक्ष्म रूप हैं, इसी प्रकार चित्त, मन, अहकार तथा बुद्धि भी प्रकृति की सन्तान होने पर भी सूक्ष्म हैं। एक तरफ अभौतिक-'आत्मा' है, दूसरी तरफ भौतिक-'शरीर' है। अभौतिक-आत्मा का भौतिक-शरीर से सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इन दोनो मे सम्बन्ध तो है ही। आत्मा शरीर से काम लेता है—यह हम देखते हैं। अभौतिक-आत्मा भौतिक-शरीर से काम कैसे लेता है ? इस खाई को पाटने के लिए किसी ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है जो आत्मा की तरह अभौतिक भी हो, शरीर की तरह भौतिक भी हो—अर्थात्, 'अभौतिक-भौतिक' (Non-material material) हो। इस प्रकार के 'अभौतिक-भौतिक' शरीर की कल्पना शास्त्रकारों ने 'सूक्ष्म-शरीर' के रूप मे की है। इस सूक्ष्म-शरीर को लिंग-शरीर, कारण-शरीर, आतिवाहिक-शरीर—इन भिन्न-भिन्न नामो से स्मरण किया जाता है, मतलब सबका एक ही है। कई विचारक स्थूल-शरीर का कारण सूक्ष्म-शरीर (Astral body) को और सूक्ष्म-शरीर का कारण कारण-शरीर (Causal body) को मानते हैं। चित्त, अहकार, मन, बुद्धि—इन चारो का शरीर सूक्ष्म-शरीर है, इतना सूक्ष्म है कि देखा नही जा सकता, इस दृष्टि से अभौतिक है; परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म-प्रकृति के अशो से वना है इस दृष्टि से भौतिक भी है। अभौतिक होने के कारण वह आत्मा के निकट है, भौतिक होने के कारण वह शरीर की इन्द्रियों के निकट है, इसलिए वह आत्मा तथा शरीर के वीच सेतु का, माध्यम का, सम्पर्क-अधिकारी (Liaison officer) का काम करता है। चेतन-आत्मा के पास अगर कोई साधन न हो, तो वह अचेतन-जगत् के साथ कैसे

सम्वन्ध स्थापित करे। उसी सम्वन्ध को स्थापित करने के लिए उसे चेतन-सम तथा अचेतन-सम सूक्ष्म-शरीर का सहारा लेना पडता है। कई आचार्य 'स्थूल-शरीर' तथा आत्मा के वीच माध्यम होने के कारण 'सूक्ष्म-शरीर' को 'अन्तराभव-देह' भी कहते हैं। अगर कारण-शरीर को पृथक् माना जाए तो सूक्ष्म-शरीर को भी कारण-शरीर का सहारा लेना पडता है, वैसे सूक्ष्म-शरीर तथा कारण-शरीर एक ही सत्ता के दो नाम हैं। जो विचारक सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर को अलग-अलग मानते हैं, वे सूक्ष्म-शरीर का भी कारण कारण-शरीर को मानते हैं, परन्तु इन दोनो मे भेद यह वतलाते है कि सूक्ष्म-शरीर सवका भिन्न है, कारण-शरीर सवका एक ही है; सूक्ष्म-शरीर व्यक्ति-निष्ट है, कारण-शरीर समष्टि-निष्ट है। कारण-शरीर का अर्थ है—'प्रकृति' (Matter) जिससे ससार के सभी पदार्थों का निर्माण हुआ है, वह 'प्रकृति' इस सूक्ष्म-शरीर का भी कारण होने से उसे कारण-शरीर कह देते है।

कारण-शरीर अथवा सूक्ष्म-शरीर की कल्पना करने के दो हेतु है। पहला हेतु तो यही है कि अचेतन-शरीर तथा चेतन-आत्मा के वीच सम्पर्क कैसे स्थापित हो सकता है। जवतक कि इन दोनो मे सम्वन्ध स्थापित करने के लिए कोई अचेतन-सम तथा चेतन-सम सत्ता न हो, ऐसी सत्ता जिममे इन दोनो के गुण मौजूद हो। दूसरा हेतु यह है कि वैदिक विचारधारा मे 'कर्म' तथा 'पुनर्जन्म'—ये दो सिद्धान्त भी माने जाते हैं। कर्मों का फल मिलता है, किन्तु सव कर्मो का फल इस जन्म मे मिलता नही दीखता—इसलिए तो पुनर्जन्म मानना पड़ता है, परन्तु अगर पुनर्जन्म है तो वे कर्म जिनका फल इस जन्म मे नही मिला, वे आत्मा के साथ अगले जन्म मे कैसे चले जाते है? कर्म तो मस्तिष्क पर सस्कार ही छोडते हैं, जव मृत्यु के उपरान्त इस शरीर को भस्म कर दिया तव कर्मों के सस्कारो का भौतिक-आधार जाता रहा, नष्ट हो गया, फिर वे कर्म अपना फल भोगने के लिए कैसे वने रहते है? यह दूसरा हेतु है जिस कारण शास्त्रो ने कारण शरीर अथवा सूक्ष्म-शरीर की कल्पना की। 'कर्म' के सिद्धान्त का अवश्यं-भावी परिणाम पुनर्जन्म का सिद्धान्त और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अवश्यम्भावी परिणाम कारण-शरीर अथवा सूक्ष्म-शरीर का सिद्धान्त है। कारण अथवा सूक्ष्म-शरीर कर्मों का अधिष्ठान है, जिसमे सस्कार भौतिक रूप से सचित रहते हैं।

सूक्ष्म-शरीर क्या है? यह चित्त, अहकार, मन, वुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पच-तन्मात्र तथा पच महाभूत—इन सवके सूक्ष्म-तत्त्वों का संश्लिष्ट शरीर है। इसमे ये सव तत्त्व सूक्ष्म, अत्यन्त सूक्ष्म-रूप मे समाविष्ट रहते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् मे जिन पांच कोशो का उल्लेख है—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश—इन सवका वीजमय रूप भी सूक्ष्म-शरीर अथवा कारण-शरीर मे सन्निहित रहता है। इन पचकोशो का विस्तार से

वर्णन हमने अपनी पुस्तक 'वैदिक सस्कृति के मूल-तत्त्व' में किया है। सूक्ष्म-शरीर प्रकृति के तत्त्वो से ही निर्मित होता है इसलिए भौतिक है, जिन तत्त्वो से निर्मित होता है उन्हे भी तन्मात्र कहा जा सकता है, 'तन्मात्र' अर्थात् 'उतना-सा', 'सूक्ष्म-सा' 'थोडा-सा', परन्तु यह इतना सूक्ष्म होता है कि इसे अभौतिक भी कहा जा सकता है। इसके काम क्या है ? इसके दो काम है। पहला काम तो यह है कि यह इस जन्म के सब संस्कारो को सूक्ष्म-रूप मे, बीज-रूप मे अपने पर अंकित कर लेता है, दूसरा काम यह है कि आत्मा के साथ सदा बना रहता है—पिछले जन्म मे, इस जन्म मे, अगले जन्म मे। जन्म-जन्मान्तर तक यह आत्मा के साथ रहता है, तबतक साथ रहता है जबतक आत्मा के सब संस्कार क्षीण नही हो जाते, और सस्कार क्षीण हो जाने पर सूक्ष्म-शरीर भी नष्ट हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर के कर्मों के जो सस्कार जमा होते रहते हैं, वे इसी सूक्ष्म-शरीर मे जमा होते रहते हैं, संस्कार क्षीण हो गए, कर्मों का भोग निबट गया, तो सूक्ष्म-शरीर छूट गया, सूक्ष्म-शरीर छूट गया, तो आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से तबतक के लिए मुक्त हो गया जबतक नवीन-सृष्टि के प्रारम्भ में आत्मा को नया सूक्ष्म-शरीर नही मिल जाता। यह बात दूसरी है कि जिनका सूक्ष्म-शरीर छूट जाता है उनकी सख्या न के बराबर है।

4. सूक्ष्म-शरीर (कारण-शरीर) के दो काम

(क) **सूक्ष्म-शरीर में संस्कारों का संचित होना**—स्थूल-शरीर तो प्रत्यक्ष है, यह हमे दीखता है, परन्तु इस स्थूल-शरीर का निर्माण सूक्ष्म-शरीर से होता है। जैसे बीज मे वृक्ष बैठा है, बीज के रोपने से वृक्ष उठ खड़ा होता है, वैसे सूक्ष्म-शरीर मे स्थूल-शरीर के सब बीज मौजूद रहते है। हम जो कर्म करते हैं उन सबका फल प्रत्यक्ष रूप मे इस जन्म मे नही मिल जाता—कुछ का मिलता दीखता है, कुछ का मिलता नही दीखता। जिनका फल प्रत्यक्ष रूप मे इस जन्म मे मिलता नही दीखता उनका क्या होता है ? उनका संस्कार सूक्ष्म-शरीर पर अंकित हो जाता है, यही उन कर्मो का इस जन्म में बीज-रूप फल है, जो तत्काल नही फलता, कुछ देर बाद इस जन्म मे या अगले जन्म मे फल लाता है। यह समझना कि जिन कर्मों का फल मिलता नही दीखता, वे नष्ट हो जाते है, गलत धारणा है। वे सूक्ष्म-शरीर मे तबतक जा बैठे रहते है जबतक वे इस जन्म मे या अगले जन्म मे फल नही लाते। क्योकि सूक्ष्म-शरीर उन कर्मों को अपने मे समेट बैठता है, सूक्ष्म-रूप मे, बीज-रूप मे समेट बैठता है ताकि समय आने पर उनका फल मिल जाय, इसलिए इसे कारण-शरीर भी कहते हैं।

यह पूछना कि एक-एक कर्म का फल क्यो नही मिलता कर्म के सिद्धान्त को न समझना है। जिन कर्मो का फल मिलता दीखता है उनके विषय मे तो कोई

शका उठती नही, जिनका फल मिलता नही दीखता उन्ही के विषय मे शका उठती है। परन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करें तो हर कर्म का तत्काल फल मिल जाता है— किसी का प्रत्यक्ष, किसी का अप्रत्यक्ष। उदाहरणार्थ, फर्श पर पानी की एक धार वही। अव धूप पडने पर पानी सूख गया, परन्तु फिर दोबारा जब वहाँ पानी पडेगा तव वह उसी रास्ते वहेगा जिस रास्ते से पहले वहा था। ऐसा क्यो होता है ? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पहले पडे पानी का सस्कार फर्श पर पड जाता है। यह सस्कार ही पहले कर्म का फल है। हमने क्रोध किया। इसका हमे तत्काल फल मिलता नही दीखा; परन्तु नही, क्रोध करते ही हमारे सूक्ष्म-शरीर मे उसका सस्कार पड गया, भौतिकवादी-परिभाषा मे कहा जाय तो क्रोध करते ही हमारे तत्रिका-तत्र मे उसका अमिट प्रभाव पड गया, उसका 'सस्काराकन'—(Engram)—हो गया, और अव जव दूसरी वार साधारण-सा भी 'उद्दीपक' (Stimulus) सामने आयेगा, 'अनुक्रिया' (Response) के लिए सहज-रूप से रास्ता वना-वनाया मिलेगा। एक-एक कर्म का, गणित के हिसाव से, किसी वही-खाते के अनुसार कर्म का फल नही मिलता। हम जितने भी कर्म करते हैं या तो उनका तत्काल फल मिल जाता है, या सस्कार पड जाने के रूप मे फल मिल जाता है। एक आदमी ने झूठ वोला। पहली वार झूठ वोलने से सूक्ष्म-शरीर पर—आधुनिक भौतिकवादी-मनोविज्ञान के अनुसार तन्त्रिका-तत्र पर—उसकी रेखा अकित हो गई, सूक्ष्म-शरीर मे वह सस्कार तत्काल सचित हो गया। अगली वार उस व्यक्ति को झूठ वोलने के लिए वना-वनाया रास्ता मिल जायेगा, यही तो कर्म का अप्रत्यक्ष फल है। समय आयेगा कि झूठ वोलना उसके वायें हाथ का खेल हो जायेगा, उसकी प्रकृति वदल जायगी, उसका स्वभाव वदल जायेगा, यह वदला हुआ स्वभाव कभी उसे जेल मे भी ला वैठायेगा, इस जन्म मे या उस जन्म मे। जैसा हमने पहले कहा, कर्मो का फल एक-एक कर्म के फल के रूप मे भी मिल सकता है, उन सवका घोल वनकर सस्कारो के रूप मे भी मिल सकता है। कर्म का फल तो कारण-कार्य के अखण्ड-नियम के आधार पर मिलता है—**'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'**—विना फल-भोग के कर्म क्षीण नही हो सकता, हो जाय, तो कारण-कार्य का नियम ही खडित हो जाय। इसलिए जिन कर्मों का फल नही मिलता दीखता उनके विषय मे यह नही समझ वैठना चाहिए कि छुट्टी हुई, अव इस कुकर्म के फल से वच गए। वह कर्म सूक्ष्म-शरीर पर उल्लिखित हो जाता है, सस्कार का रूप धारण कर लेता है, समय अनुकूल नही है इसलिए वीज वनकर समय की प्रतीक्षा करता है, मौसम आयेगा, वर्षा होगी और वीज अकुर वन कर वृक्ष का रूप धारण कर लेगा। सस्कार पड जाना, स्वभाव वन जाना, मस्तिष्क मे रेखा अकित हो जाना—यह सव कर्म ही का फल है जो वीज रूप मे सूक्ष्म-

शरीर में तबतक बैठा रहता है जबतक यह अकुर के रूप मे नही फूट पडता।

इस बात को एक और दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है। हम एक कटोरी मे केसर घोलते है। कुछ देर उसमे केसर पडा रहता है, फिर उसे फेक देते हैं। अब केसर की वास उस कटोरी मे वनी रहती है। यह बास सूक्ष्म-रूप मे कटोरी मे जा बैठी है, दीखती तो नही। इस बास को ही सस्कार कहते है। कर्मो की वास, उनके सस्कार सूक्ष्म-रूप मे सूक्ष्म-शरीर मे सचित होते रहते है। जैसे बर्फ भी पानी है, पानी भी पानी है, बर्फ ही पिघल कर पानी हो जाता है, वैसे सूक्ष्म-शरीर ही जन्म लेने के बाद मानो स्थूल-शरीर ही हो जाता है, और इस स्थूल-शरीर में संचित संस्कारो के अनुसार फल भोगता है, एक-एक सस्कार का गिन-गिन कर फल नही भोगता, परन्तु कर्मों के कारण—अच्छे या बुरे कर्मों के कारण—उसकी जो प्रवृत्ति बन चुकी है, उसका जो अभ्यास वन चुका है, उस पर जो संस्कार पड़ चुके हैं, उन सबका सम्पूर्ण-प्रभाव लेकर कर्म-फल भोगता है, वे कर्म जिनका घोल या मिश्रण बन कर उसके सूक्ष्म-शरीर मे पडा है।

(ख) **सूक्ष्म-शरीर का जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहना**—सूक्ष्म-शरीर का दूसरा काम यह है कि यह इस जन्म में ही नही, जन्म-जन्मान्तर तक, जबतक वह कर्म के बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्र नही हो जाता, आत्मा के साथ चिपटा रहता है। आत्मा तो अभौतिक है, उसका भौतिक-शरीर से सम्बन्ध कैसे हो ? सम्बन्ध तो दीखता है क्योकि आत्मा शरीर द्वारा काम करता ही है। यह सम्बन्ध सूक्ष्म-शरीर के माध्यम से होता है। जैसा हम पहले कह आए हैं, सूक्ष्म-शरीर भौतिक होता हुआ भी अत्यन्त-सूक्ष्म होने के कारण अभौतिक के सदृश ही है, यह शरीर के भी निकट है, आत्मा के भी निकट है, यह दोनो मे मेल-मिलाप का साधन बन जाता है। बिना सूक्ष्म-शरीर का सहारा लिए अभौतिक-आत्मा भौतिक-शरीर से काम नही ले सकता। तभी तो जब हम कोई काम करते है, तब पहले वह विचार के क्षेत्र मे जन्म लेता है, 'विचार' तो भौतिक है। भौतिक-वादी दृष्टिकोण से विचार का उदय 'तन्त्रिका-तन्त्र' मे होता है, जिस भारतीय-शास्त्र का हम उल्लेख कर रहे हैं उसके दृष्टिकोण से विचार का उदय सूक्ष्म-शरीर मे होता है जो भौतिक है। आत्मा द्वारा जब सूक्ष्म-शरीर मे विचार की लहर उत्पन्न होती है, तब स्थूल-शरीर क्रिया करता है।

इस दृष्टि से जन्म-मरण का क्या अर्थ है ? जन्म आत्मा का नहीं होता, मरण भी आत्मा का नही होता। पाश्चात्य-भौतिकवादी तो भौतिकवादी हैं ही, हमारे भारतीय-आचार्य ऐसे अभौतिकवादी है कि वे बिना भौतिकवाद का सहारा लिए आत्मा के जन्म-मरण को नही मानते। वे मानते है कि अभौतिक-आत्मा के साथ भौतिक-सूक्ष्म-शरीर सदा बना रहता है। जन्म होता है, तो स्थूल-शरीर का, मृत्यु होती है तो स्थूल-शरीर की। जब स्थूल-शरीर मरता है तब आत्मा

सूक्ष्म-शरीर के साथ इस स्थूल-शरीर से विदा हो जाता है, जब स्थूल-शरीर जन्म लेता है, तब आत्मा सूक्ष्म-शरीर के साथ इस स्थूल-शरीर में आ विराजता है। तभी शास्त्रों में कहा है—**'न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्'**—न आत्मा जन्म लेता है, न मरता है, न कहीं से आता है, न कहीं जाता है। जो-कुछ है, सूक्ष्म-शरीर है, यह सूक्ष्म-शरीर आत्मा का वाहन है; इसीलिए इसे 'आतिवाहिक-शरीर' भी कहा जाता है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो भारतीय-शास्त्रों की दृष्टि तथा पाश्चात्य भौतिकवादी मनोवैज्ञानिकों या व्यवहारवादियों की दृष्टि में इतना ही फर्क है कि भौतिकवाद का सहारा तो दोनों ही लेते हैं, परन्तु भारतीय-विचारक बहुत दूर तक भौतिकवाद के साथ जाकर कुछ आगे निकल जाते हैं, भौतिकवाद को तो वे स्वीकार करते ही हैं, परन्तु जहाँ भौतिकवाद मौन धारण करके खड़ा हो जाता है, वहाँ वे अध्यात्मवाद को सामने ले आते हैं क्योंकि निपट भौतिकवाद हमारी उलझनों को मिटा नहीं सकता।

5. आत्मा का शास्त्रीय-रूप

(क) पंग्वन्ध-न्याय—लंगडे तथा अन्धे का जोड—संसार में दो तत्त्व तो निश्चित तौर पर दीखते हैं—एक है जड-संसार, दूसरा है चेतन-संसार। जितनी दृश्यमान-प्रकृति है यह सब जड-संसार है, जितने प्राणी हैं यह सब चेतन-संसार है। चेतन के दो भाग हैं—एक इस पिंड का आत्मा है, दूसरा ब्रह्माण्ड का परमात्मा है। हम यहाँ परमात्मा पर नहीं लिख रहे, सिर्फ आत्मा पर विचार कर रहे हैं। प्रश्न यह है कि आत्मा का जड-प्रकृति के साथ—अर्थात्, आत्मा का पिंड या शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है? आत्मा चेतन है, प्रकृति जड है, आत्मा क्रियाशील है, प्रकृति में अपने-आप कोई क्रिया नहीं होती, कोई दूसरा इसमें क्रिया उत्पन्न करता है, फिर इन दोनों का आपस में गठ-बन्धन कैसे हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सांख्य-शास्त्री कहते हैं कि जैसे अंधा और लंगडा मिल कर एक-दूसरे की सहायता कर सकते हैं, वैसे प्रकृति तो जड होने के कारण अन्धे के समान है, और आत्मा जो साधन या उपकरण के बिना कुछ काम न कर सकने के कारण लंगडे के समान है—ये दोनों मिल कर काम चला लेते हैं। इसे 'पङ्वन्धवत्-न्याय' कहा जाता है। संस्कृत में 'पंगु' का अर्थ है—लंगडा, 'अंध' का अर्थ है—अंधा। कल्पना कीजिये कि जंगल में दो व्यक्ति हैं जिनमें से एक लंगडा है, दूसरा अंधा है। अचानक जंगल में आग भडक उठती है, दोनों आग की लपटों में घिर जाने के भय से जंगल से निकल भागना चाहते हैं। अन्धा देख नहीं सकता परन्तु भाग सकता है, लंगडा देख सकता है परन्तु भाग नहीं सकता। वे क्या करें? अंधा लंगडे को कहता है—तू मेरी पीठ पर चढ़ जा, मुझे रास्ता दिखलाता जा, मैं भागता जाऊँगा। लंगडा अंधे का

पीठ पर चढ जाता है, अधा जगल मे से निकल भागता है—दोनों एक-दूसरे के सहयोग से बच निकलते है। आत्मा तथा प्रकृति का ऐसा ही मेल है। आत्मा अपने-आप कुछ नहीं कर सकता, उसे साधन की ज़रूरत है। आत्मा चेतन तो है परन्तु बिना उपकरण के वह अपनी चेतनता को काम मे नही ला सकता। संसार-रूपी जगल मे से बच निकलने के लिये उसे जिस उपकरण की आवश्यकता है वही जड़-प्रकृति या यह शरीर है। प्रकृति आत्मा के पुरुषार्थ-साधन के लिए उसका उपकरण है। अंधे के कन्धे पर सुजाखे लगड़े के चढ कर काम चलाने की उपमा जर्मन विचारक शोपनहॉर (1788-1860) ने भी दी है। उसका कहना है कि विश्व का सचालन 'इच्छा-शक्ति' (Will) द्वारा हो रहा है—यह 'इच्छा-शक्ति' ही जड-चेतन सब मे भिन्न-भिन्न रूपो मे अपने को अभिव्यक्त कर रही है। 'इच्छा-शक्ति' (Will) अपने को अभिव्यक्त कैसे करती है ? वह अपने को अभिव्यक्त ऐसे करती है जैसे अंधे के कन्धे पर लगडा बैठ कर उसे रास्ता दिखलाता जाय—उसके शब्द है . 'The Will is the strong blind man who carries on his shoulders the lame man who can see.' सभवत शोपनहॉर ने यह उपमा साख्य की किसी व्याख्या से ली है क्योंकि उसे भारतीय-शास्त्रो मे विशेष रुचि थी। उसने अपने प्रिय कुत्ते का नाम 'आत्मा' रक्खा हुआ था।

(ख) आत्मा चेतन है, तन्त्रिका-तन्त्र उसका उपकरण है—आत्मा का स्वरूप क्या है ? 'आत्मा' का प्रधानतम रूप है—'चेतनता' (Consciousness)। यह चेतनता प्रकृति मे नही है। प्रकृति आत्मा का साधन है, वह अपने 24 उपकरणों, औज़ारो के साथ आत्मा की सेवा मे उपस्थित रहती है, प्रकृति आत्मा की आज्ञा मे मानो हाथ जोड़े खडी रहती है, इसमे अपनी चेतना नही। प्रकृति के जो 24 उपकरण है उनमे चित्त, अहकार, मन, बुद्धि—ये मुख्य हैं, इसलिए मुख्य है क्योकि ये भौतिक होते हुए भी अभौतिक आत्मा के अत्यन्त निकट हैं, अत्यन्त निकट इसलिए है क्योकि आत्मा के सान्निध्य से इनमे भी चेतना की चमक पैदा हो जाती है, कई विचारक तो चित्त, अहंकार, मन, बुद्धि को भौतिक होते हुए भी चेतन कहने लगते है। असल मे, इनमे जो चेतनता की झलक दीखती है वह आत्मा के सान्निध्य, उसकी समीपता के कारण दीखती है, तत्त्वत. इनका निर्माण प्रकृति से होने के कारण ये भौतिक हैं, और जड है। कहने को शरीर भी तो चेतन दीखता है, परन्तु क्या शरीर चेतन है ? यही बात प्रकृति की सन्तान चित्त, अहकार, मन तथा बुद्धि के विषय मे कही जा सकती है।

भारतीय-शास्त्रो की जीवन की समस्या के सम्बन्ध मे सबसे बडी खोज यह है कि उन्होंने चित्त से लेकर आकाश तक जितने भी भौतिक-तत्त्व हैं, उन सबको

आत्मा के उपकरण, आत्मा के साधन, आत्मा के औजार घोषित किया है, चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि को जिन्हे हम मानसिक-तत्त्व कहते है, उन्हें भी भौतिक-तत्त्व ही माना है, और इन्हे भी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय आदि की तरह साधनमात्र माना है, इस खोज मे वे पाश्चात्य-भौतिकवादी-मनोवैज्ञानिको से किसी कदर पीछे नही है। जिस प्रकार पाश्चात्य-विचारक मस्तिष्क या तन्त्रिका-तन्त्र को जो ज्ञान का एक भौतिक-साधन है, केन्द्र मान कर उसी से प्राणी के सम्पूर्ण-व्यवहार का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार साख्यवादी अन्त करण चतुष्टय को, जो भौतिक-साधन है, केन्द्र मान कर प्राणी के सम्पूर्ण-व्यवहार का समाधान करते हैं। भेद एक है। पाश्चात्य-विचारक प्राणी को एक स्व-चालित-यन्त्र मानते है, 'उद्दीपक' (Stimulus) सामने आया और मस्तिष्क द्वारा अपने-आप अनुक्रिया' (Response) हो गई—ऐसा मानते हैं, 'उद्दीपक' की अनेक सम्भव-'अनुक्रियाओं' मे से किसी एक अनुक्रिया को ही कौन चुनता है—इसका उत्तर नही दे पाते, इसलिये समाधान के बीच मे ही अटक जाते हैं, साख्यवादी 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) की भौतिक-प्रक्रिया को तो स्वीकार करते है, मानसिक-प्रक्रिया को भौतिक ही मानते है, परन्तु इस भौतिक-प्रक्रिया के बीच मे कोई अभौतिक-तत्त्व, कोई चेतन-तत्त्व अपना दफ्तर लगाये बैठा है—यह भी साथ ही मानते हैं, उस अभौतिक-तत्त्व को वे 'आत्मा' कहते हैं।

(ग) **जपा-कुसुम स्फटिक-मणि न्याय**—जैसे भौतिकवादियो का कथन है कि 'बाह्य-सवेदनों' (Sensations) को हमारी इन्द्रियाँ 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के सामने ले आती हैं, वैसे साख्यवादियो का कथन है कि बाह्य-विषयो को हमारी इन्द्रियाँ अन्त करण चतुष्टय या बुद्धि के सामने ले आती है। 'तन्त्रिका-तन्त्र' के सम्मुख ले आना या 'बुद्धि' के सामने ले आना एक ही बात है क्योकि साख्यवादियो के अनुसार 'तन्त्रिका-तन्त्र' की तरह 'बुद्धि' भी भौतिक-तत्त्व है। अब आगे क्या होता है? आगे जो होता है उसे स्पष्ट करने के लिए साख्यवादी जपा-कुसुम तथा स्फटिक-मणि एव स्वच्छ-जल मे पड रहे चन्द्र के प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त देते है। इस प्रक्रिया को श्री उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'साख्य सिद्धान्त' (पृ० 70) मे बडे सुन्दर शब्दो मे व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—

"जपा का फूल लाल रग का होता है, इसे भाषा मे गुडहल कहते हैं। यह अन्त करण-स्थानीय है। जैसे फूल अपने अन्दर लाल रंग को लेकर स्वच्छ-मणि के सम्मुख उपस्थित होता है, वैसे अन्त करण इन्द्रियो द्वारा बाह्य-विषयो को लेकर आत्मा के सम्मुख उपस्थित होता है। जपा का फूल जब स्वच्छ स्फटिक-मणि के सम्पर्क मे आता है, तब स्फटिक-मणि जपा के सहयोग से लाल प्रतीत

होने लगती है। स्फटिक-मणि आत्म-स्थानीय है। इस प्रकार बाह्य-विषयो को लेकर अन्त करण जब आत्मा के सम्पर्क मे आता है, तब आत्मा अन्त करण के विषयो को अनुभव करता है। इस भाव को प्रकट करने के लिए साख्य मे यह कहा गया है कि अन्तःकरण—'बुद्धि'—बाह्य-विषयो को लेकर आत्मा मे प्रतिबिम्बित हो जाती है। आत्मा का अपना वास्तविक शुद्ध-स्वरूप चेतन है। जैसे स्वच्छ स्फटिक-मणि जपा-कुसुम के सम्पर्क अथवा सहयोग से लाल प्रतीत होती है, पर उसके अपने वास्तविक-स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता, तथा जैसे स्वच्छ-जल मे चन्द्र के प्रतिबिम्बित होने पर जल के अपने वास्तविक स्वरूप मे किसी प्रकार का विकार नही आता, ठीक इसी प्रकार अन्त करण—'बुद्धि'—के सम्पर्क अथवा सहयोग से सुख-दु ख आदि का साक्षात् अनुभव करने पर आत्मा के अपने शुद्ध, चेतन-स्वरूप मे किसी प्रकार का अन्तर या विकार नही आता।"

आत्मा, शुद्ध, चैतन्य-रूप है, परन्तु वह अन्त करण द्वारा बाह्य-विषयो को अनुभव करता है। उदाहरणार्थ, अगर हमारा कोई पडोसी कैंसर से पीडित है, हम उसे देखने जाते है, उसके दु ख से दु खी होते है, कभी-कभी रो भी पडते है, तो इसका यह अर्थ नही कि उसका कैंसर का रोग हमे हो गया, इसका इतना ही अर्थ है कि उसका कष्ट हममे प्रतिबिम्बित हो गया, इसी प्रकार अगर इन्द्रियो के विषयो को अपने भीतर समेट कर अन्त करण आत्मा के सम्मुख आता है, तो आत्मा अपने चैतन्य-गुण के कारण उन विषयो को ऐसे अनुभव करता है जैसे ये उसके अपने ही हो, वास्तव मे वे उसके अपने नही होते, उसमे सिर्फ जपा-कुसुम के स्फटिक-मणि मे प्रतिबिम्ब की तरह प्रतिबिम्बित हो रहे होते हैं, यद्यपि स्वरूप मे वह उन विषयों से पृथक् होता हैं। जपा-कुसुम का प्रतिबिम्ब मणि मे पड़ता है—**कुसुमवच्च मणिः'**—मणि कुसुम के समान लाल प्रतीत होती है, परन्तु क्या मणि लाल हो जाती है? मणि तो स्वच्छ बनी रहती है, स्वच्छपना ही उसका स्वरूप है। श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—"यह रक्तिमा का अनुभव तभी सम्भव है, जब मणि की स्वच्छता अपने-आप मे अबाध बनी हो। इसी प्रकार साधनभूत अन्त करण के द्वारा अर्पित सुख-दु खादि का अनुभव करने पर भी आत्मा के अपने विशुद्ध, चेतन-स्वरूप मे किसी प्रकार की बाधा या विकृति नही आती। प्रत्युत् यह अनुभव आत्मा के चेतन-स्वरूप के अस्तित्व का द्योतक है।"

ऊपर हमने जो वर्णन किया उसका यही अर्थ है कि साख्य-मत के अनुसार हमारे ज्ञान का आधार अन्त करण है, बाह्य-विषयो का ज्ञान 'अन्त करण' तक पहुँचता है। अन्त.करण की वैसी ही भौतिक-सत्ता है जैसी भौतिक-सत्ता भौतिकवादियो के मत के अनुसार 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) की है। भौतिकवादियो के सामने यह प्रश्न था कि 'तन्त्रिका-तन्त्र' अगर यन्त्र-मात्र है,

तो उसमे कौन-सी शक्ति बैठी है जो 'सवेदन' (Sensation) के अनेक सम्भव उत्तरो मे से किसी एक उत्तर का चुनाव कर लेती है, दूसरो को छोड देती है। उदाहरणार्थ, मैं वृक्ष से गिर पडा, रास्ते मे मैंने उसकी टहनी पकड ली, मैं लटकने लगा। उस समय जिस हाथ मे मैंने टहनी नही पकडी हुई उस पर ततैया आ बैठा। स्वभावत मुझे ततैये को दूसरे हाथ से उडा देना चाहिए, नही तो वह काट खाएगा। मैं ऐसा नही करता, क्योकि अगर ऐसा करूँ तो नीचे गिर जाऊँगा, हड्डी-पसली टूट जाएगी। 'तन्त्रिका-तन्त्र' तक बस कर जाने वाले भौतिकवादी या व्यवहारवादी के लिए यह समस्या बनी रहती है कि इन अनेक विकल्पो मे से किसी एक का चुनाव जड-'तन्त्रिका-तन्त्र' कैसे करता है। यह समस्या साख्यवादी के सामने भी थी, उसके सामने भी यह उलझन थी कि 'अन्त करण' तक इन्द्रियो के विषय पहुँच जाने पर उन विषयो के प्रति 'मैं जानता हूँ'—यह अनुभूति कैसे हुई ? भौतिकवादी अपनी उलझन मे पडा रहा, साख्य-वादी ने अन्त करण के आगे एक दफतर आत्मा का मान लिया जिससे उसकी उलझन रफ़ा-दफा हो गई। इस दफतर का मालिक आत्मा जड नही, चेतन है, इसलिए—'मैं जानता हूँ'—की प्रतीति कर सकता है, यह शुद्ध स्वभाव है, इसलिए स्फटिक-मणि मे जपा-कुसुम की रक्तिमा के प्रतिबिम्बित होने की तरह अन्त करण के इच्छा-द्वेष-सुख-दु ख को अपने भीतर अनुभव करने लगता है, यद्यपि ये उसके स्वरूप के अग नही होते।

(घ) **आत्मा का दर्शन**—साख्य-मत भौतिकवाद मे इतनी गहराई तक उतर कर भी आत्मा के अस्तित्व को मानता है। साख्य-मत 'जड़-प्रकृति' को भी मानता है, 'चेतन-आत्मा' को भी मानता है—इसलिए मानता है क्योकि इन दोनो की प्रतीति, इन दोनो का अनुभव सब-किसी को होता है। जड-प्रकृति मे यह उलझा पडा है, प्रकृति मे जो-कुछ हो रहा है वह चेतन, स्वच्छ, निर्मल, मुक्त-स्वभाव होने के कारण उसे अपने मे हो रहा अनुभव हो रहा है जैसे स्वच्छ, सरल हृदय का व्यक्ति दूसरे के दु ख को अपने मे देखता है। इस उलझन मे से इसे छूटना है, स्वतन्त्र होना है, यही इसका उद्देश्य है, लक्ष्य है। इसी को शास्त्रो ने 'भोग' तथा 'अपवर्ग' कहा है। ससार मे आ पडा है, इसलिए इसका 'भोग' तो कर ही रहा है, इस भोग के कारण इसके चेतन, स्वच्छ, निर्मल, मुक्त स्वरूप मे मलिनता आ गई है, यह चेतन होता हुआ अचेतन, जड की तरह व्यवहार कर रहा है, स्वच्छ तथा निर्मल स्वरूप होता हुआ विषयो से मलिन हो गया है, सुख-दु ख से मुक्त होने पर भी ससार के बन्धन मे बध गया है, अपने स्वतन्त्र, मुक्त रूप को भूल गया है। 'भोग' मे इस प्रकार लिपट रहे आत्मा को इन सबसे छुटकारा पाकर अपने मूल-स्वरूप मे आना है। भोग से छुटकारे के इसी लक्ष्य को शास्त्रो ने 'अपवर्ग' कहा है—'अपवर्ग', अर्थात्, बन्धन से छूट जाना। इस

छुटकारे के लिए आत्मा को उपकरण दिये गए है, साधन दिये गए है। अन्त:-करण चतुष्टय, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचो कर्मेन्द्रियाँ, पंच-तन्मात्र, पच-महाभूत—इनसे बना सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर, ये सब उपकरण है, साधन है जिनसे आत्मा ससार के बन्धनो से मुक्त हो सकता है। ये सब साधन ऐसे हैं जिनके दुरुपयोग से आत्मा बंधन मे फँस भी सकता है, सदुपयोग से बन्धन से मुक्त भी हो सकता है। इन सब उपकरणो मे से मुख्य उपकरण 'अन्त.करण चतुष्टय' है—अन्त-करण मे भी मुख्य मन है जिसका दुरुपयोग आत्मा को दिनोदिन 'भोग' के गढे मे धकेल सकता है, जिसका सदुपयोग उसे 'अपवर्ग' के अपने मुक्त रूप मे उठा ला सकता है। मन द्वारा ही आत्मा अन्य सभी उपकरणो का उपयोग करता है क्योकि इन्द्रियादि सब उपकरण मन के अधीन ही काम करते हैं।

तो फिर, आत्म-दर्शन की असली समस्या मन की रह जाती है। हमारा अनुभव क्या बतलाता है ? हम अनुभव करते है—'हमारा शरीर', हम अनुभव करते हैं—'हमारे विचार'। अगर हम आँखे वन्द करके बैठ जाये, शरीर की तरफ ध्यान न दे, तो शरीर खो जाता है, परन्तु आँखे बन्द करके बैठ जाने पर भी मन के विचार बने रहते है। जब मैं कहता हूँ—'मेरा शरीर', तो यह स्पष्ट है कि शरीर के पीछे कोई बैठा है तो शरीर को 'मेरा' कहता है। शरीर से जुदा होकर जब मैं कहता हूँ—'मेरा विचार' तब भी यह स्पष्ट है कि विचार के पीछे—'विचार', अर्थात् 'मन' के पीछे—कोई बैठा है जो 'विचार' या 'मन' को 'मेरा' कहता है। अगर मैं अपने को शरीर से जुदा करके देखूँ तो मन रह जाता है, अगर मैं अपने को मन से जुदा करके देखूँ तो कुछ तो है जो रह जाता है, नही तो मैं कैसे कहता हूँ—'मेरा शरीर', 'मेरा मन', 'मेरा विचार' ? शरीर से जुदा हो जाने पर, मन से, विचार से जुदा हो जाने पर जो शेष रह जाता है, जिसकी मुझे अनुभूति बनी रहती है, वही आत्मा है। जब मैं एकान्त मे बैठकर ध्यान करता हूँ, तब मेरे सामने विचार आते-जाते रहते हैं। ये विचार मन द्वारा उत्पन्न होते है। अगर मैं एक-एक विचार को शान्त करता जाऊँ, जो विचार आए उसके साथ तादात्म्य स्थापित न करूँ, विचार जैसे आए वैसे चला जाय, मैं यह न अनुभव करूँ कि यह मेरा विचार है, तब विचार के शान्त हो जाने पर मेरे भीतर जो चेतना की अनुभूति बनी रह जाती है, वही आत्मा है, और वही आत्मा का दर्शन है। विचारो की प्रकृति ही यह है—वे आते है, चले जाते हैं, टिकते नही, टिकते भी है तो कुछ देर टिक कर फिर चले जाते हैं, उनके स्थान पर दूसरे विचार आ जाते हैं। जो आते-जाते इन विचारो को देखता है, इन्हे अनुभव करता है, वह स्वयं मन तो नही है क्योकि मन ही तो ये विचार हैं। वह जो मन से अतिरिक्त है, मन को भी देखता है, अनुभव करता है, वही आत्मा है। आत्मा के दर्शन का अर्थ यह समझ लिया जाता है कि किसी उपकरण से,

किसी साधन से हम आत्मा को देख लें। अगर हम किसी साधन से अदृश्य, चेतन आत्मा को देखेंगे, तो वह साधन स्वय अदृश्य तथा चेतन होगा। ऐसी हालत मे प्रश्न जैसे-का-तैसा बना रहेगा। अगर हम अदृश्य, चेतन साधन से अदृश्य, चेतन आत्मा को देख सकते है, तो इस अदृश्य, चेतन साधन को कैसे देखेंगे ? इसी को उपनिषद् मे कहा है—'**विज्ञातारं केन विजानीयात्।**' इसलिए आत्म-दर्शन का अर्थ किसी उपकरण से आत्मा को देखना नही है। आत्म-दर्शन आत्मानुभूति का नाम है, स्वानुभूति का नाम है। जब शरीर हट गया, मन हट गया, सकल्प-विकल्प हट गया, तब अनुभव मे जो-कुछ रह गया, वही आत्म-दर्शन है। इसी को शास्त्रकारो ने कहा है—दीप को दीप से नही दिखाया जाता, दीपक की अपनी ज्योति है, उसी से दीपक का दर्शन हो जाता है। योग-दर्शन ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—'**तदा द्रष्टु: स्वरूपे अवस्थानम्**' —आत्मा का अपना चैतन्य-रूप है जो उस पर शरीर तथा मन के पडे पर्दों के हट जाने पर वह चैतन्य-रूप, स्वय अनुभव हो जाता है क्योकि तब वही शेप रह जाता है। इसे यूँ भी प्रकट कर सकते हैं मानो 'आत्मा'—'मन'—'इन्द्रियो के विपय' एक-दूसरे के ऊपर एक परत के बाद दूसरी परत के रूप मे रखे हुए हैं। इनमे से सबसे ऊपर की परत—'इन्द्रियो के विषय'—हटा ली गई, तब 'मन' की परत रह गई। जब उसके बाद की दूसरी परत—'मन'—को हटा लिया गया, तब 'आत्मा' की परत ही शेष रह गई। यह परत क्योकि हमारा ही अपना रूप है, अपना अस्तित्व है, इसे तो हटाया नही जा सकता। सब परतो के हट जाने पर जो अस्तित्व की अनुभूति शेप रह जाती है यही आत्मा का अनुभव है, दर्शन है। करने का सिर्फ इतना रह जाता है कि शरीर से, मन से, इन्द्रियो से, इन्द्रियो के विपयो से जो तादात्म्य-भाव बना हुआ है, वह निरस्त हो जाय, हट जाय, उसके निरस्त होते ही, हटते ही जो अनुभूति बची रहती है उसी का नाम आत्मा का दर्शन है। यह तो स्पष्ट है कि अगर हमारे सामने कोई भी विपय न रहे, तब भी देखने की, जानने की क्षमता तो रहती ही है। जब हम देखते या जानते हैं, तब हमारी चेतना मे जो-कुछ बाहर से आया होता हैं वही तो हम देखते या जानते है। अगर चेतना मे बाहर से जो-कुछ आया हैं उसे छीन लें, तब हम चेतना-शून्य तो नही हो जाते, तब भी हमे अपने होने की अनुभूति तो रहती है। यह अनुभूति ही आत्म-बोध है, आत्म-दर्शन है। जबतक हम दूसरे को देख रहे हैं तबतक अपनी तरफ से परान्मुख होते हैं, जब दूसरे को देखना छोड देते हैं तब जो रह जाता है वही तो अपना आत्मा है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए ईशोपनिषद् (15) मे कहा है

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

कल्पना कीजिए कि आपकी एक-एक इन्द्रिय को आप से अलग कर दिया गया। हाथ काट दें तब भी बोध होता है कि आप हैं, आँख निकाल दी जाय तब भी बोध होता है कि आप है, जिह्वा काट दी जाय तब भी बोध होता है कि आप हैं। मेरा जगत् समाप्त हो जाता है परन्तु मैं वही-का-वही रहता हूँ। एक-एक अंग के कट जाने पर भी 'मैं' का बोध बना रहता है। यह 'मैं' का बोध किस इन्द्रिय से बना रहता है? इन्द्रियाँ तो एक-एक करके कटती चली गई, परन्तु मैं बना रहा। यह 'मैं' ही आत्मा का बोध है। इसी भाव को छान्दोग्य (पंचम प्रपाठक, प्रथम खंड) में एक कथानक के रूप में कहा गया है। वहाँ लिखा है कि इन्द्रियों में विवाद छिड गया। आँख कहने लगी कि मैं आत्मा हूँ, कान, नाक कहने लगे, हम आत्मा हैं। सबको एक-एक करके एक साल की छुट्टी देते गए, परन्तु आँख के चले जाने पर जैसे अंधे जीते रहते हैं, कान के चले जाने पर जैसे बहरे जीते रहते हैं, नाक के चले जाने पर जैसे नकटे जीते रहते हैं, जिह्वा के कट जाने पर जैसे गूँगे जीते रहते है, वैसे 'मैं' का जीवन बना रहा। उपनिषत्कार ने कहा है कि जब सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती है, जीवन से अलग हो जाती है, तब जो बना रहता है, जिसकी अनुभूति हर-किसी को होती है, वही 'आत्मा' है, वही आत्मा का दर्शन है, वही आत्मा का प्रत्यक्ष-दर्शन है। इसीलिए उपनिषद् ने कहा—**'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत् वाचो ह वाचम् स उ प्राणस्य प्राण' चक्षुषश्चक्षुः'** (केन, 2)—आँख उसे नही देखती वह आँख को देखता है, कान उसे नही सुनता, वह कान को सुनता है, जिसके बिना इन्द्रियाँ निर्जीव पड जाती हैं, वही आत्मा है।

6. मन तथा चेतना के विषय में पाश्चात्य-विचारधारा

(क) **आत्मा, मन, चेतना, तंत्रिका-तंत्र, व्यवहार—इस क्रम से पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-विचार**—पश्चिम में मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय अरस्तु (384-322 ई० पू०) को दिया जाता है। आज जो 'तंत्रिका-तंत्र' पर बल दिया जाता है अरस्तु को उस 'तंत्रिका-तंत्र' का ज्ञान तक नही था। प्लेटो तो मस्तिष्क को ज्ञान का केन्द्र मानता था, अरस्तु हृदय को ज्ञान का केन्द्र मानता था। अरस्तु के कथनानुसार ज्ञान हृदय से पैदा होता है। हृदय ज्ञान का केन्द्र था, परन्तु ज्ञान हृदय को होता हो, ऐसा वह नही मानता था। वह कहता था कि ज्ञान 'आत्मा' को होता है जिसका निवास हृदय मे है। अरस्तु के अनुसार आत्मा मे अनेक शक्तियाँ थी, जिनमे से ज्ञान भी एक 'शक्ति' था। मनोविज्ञान का काम आत्मा मे विद्यमान शक्तियों का अध्ययन था। ज्ञान, स्मृति, विचार, कल्पना आदि आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों का अध्ययन करना मनोविज्ञान का मुख्य विषय था, इसलिए अरस्तु के प्रतिपादित मनोविज्ञान

को 'शक्ति-मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) कहा जाता है। पश्चिम मे वहुत देर तक आत्मा की इन भिन्न-भिन्न शक्तियो का विकास शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता रहा। आत्मा तथा मन मे कोई भेद नही किया जाता था, दोनो मे से किसी भी शब्द का प्रयोग कर लिया जाता था। आत्मा अथवा मन अभौतिक-तत्त्व होने के कारण उनका निरूपण किसी भौतिक-साधन से नही हो सकता था, इसलिए आत्मा अथवा मन पर विचार करने का तरीका 'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection) का तरीका ही था। ईसा से 400 वर्ष पूर्व से 17 वी शताब्दी तक युरोप मे आत्मा अथवा मन को ही मनोविज्ञान का विषय समझा जाता रहा।

पाश्चात्य-दर्शन सदियो तक आत्मा अथवा मन की शरीर से पृथक् सत्ता मान कर चलता रहा। 17 वी शताब्दी मे यूरोप मे गेलिलियो (1564-1642) तथा न्यूटन (1642-1727) के आविष्कारो से वैज्ञानिक-क्रान्ति हुई। इस समय अनेक यन्त्रो का आविष्कार हुआ। यत्रो के आविष्कार तथा निर्माण का परिणाम यह हुआ कि सब विज्ञानो मे यान्त्रिक-नियमो (Mechanical laws) की दृष्टि से विचार करना एक फैशन-सा हो गया। मनोविज्ञान मे भी इस प्रवृत्ति ने प्रवेश किया। अबतक मनोविज्ञान मे 'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection) से काम लिया जाता था, अब टॉमस हॉब्स (1588-1679) ने मनोविज्ञान मे भी भौतिक-विज्ञानो मे प्रयोग तथा प्रेक्षण (Experiment & Observation) के जिन साधनो का उपयोग होता था उन्ही का उपयोग करने की वकालत की। इसी समय एक दार्शनिक हुआ जिसका नाम डेकार्ट (1596-1650) था। उसने भी हॉब्स के विचारो को पुष्ट किया। डेकार्ट पशुओ पर प्रयोग करता था। वह कहता था कि पशुओ मे सब काम यत्र की तरह चलता है। पशु के शरीर मे 'सवेदनो (Sensations) से ज्ञान जाता है। उस ज्ञान के पहुँचने पर मस्तिष्क से यत्रवत् 'अभिप्रेरणा' (Motion) हो जाती है, उसमे आत्मा की कोई आवश्यकता नही होती, इसी तरह मनुष्य का शरीर भी यंत्रवत् चल रहा है। डेकार्ट के अनुसार जहाँ पशु एक प्रकार के यंत्र हैं, वहाँ मनुष्य भी यंत्र ही है। उसकी इस मीमासा के आधार पर मनुष्य की क्रियाओ को भौतिक-विज्ञान के नियमो की दृष्टि से हल किया जाने लगा। हम किसी भी प्रकार की क्रिया क्यो करते हैं? बाह्य-विषय—'उद्दीपक' (Stimulus) का इन्द्रिय पर प्रभाव पडता है, यह प्रभाव जब दिमाग मे पहुँचता है, तब वहाँ स्वय एक 'अनुक्रिया' (Response) उत्पन्न हो जाती है, और हम काम कर डालते हैं। इस दृष्टि से शरीर उन्ही भौतिक-नियमो के अनुसार काम कर रहा है जिनके अनुसार एक यत्र काम करता है। हम बटन दबाते हैं, बिजली जग जाती है, हमे काँटा लगता है, हमारा हाथ

अनायास उधर दौड जाता है । इस प्रकार की अनायास-क्रिया को मनोविज्ञान की परिभाषा मे 'प्रतिवर्त-क्रिया' (Reflex action) कहते हैं । 'प्रतिवर्त-क्रियाओ' के दृष्टान्तो के द्वारा डेकार्ट ने मानसिक-क्रिया को यान्त्रिक अथवा भौतिक नियमो मे ढालने का यत्न किया ।

अभी तक हॉब्स तथा डेकार्ट ने आत्मा या मन की सत्ता से इन्कार नही किया था । डेकार्ट पशुओ मे तो आत्मा नही मानता था, मनुष्य मे मानता था । उसका कहना इतना ही था कि जिस प्रकार पशुओ मे बिना आत्मा के यन्त्रवत् काम चलता है, उसी प्रकार मनुष्य मे भी आत्मा से काम लेने के विना यन्त्रवत् काम चल सकता है । हाँ, मनुष्य मे आत्मा है, परन्तु उसका कोई विशेष काम नही है, वह सिर्फ 'चेतना' (Consciousness) के रूप मे विद्यमान है । आत्मा अथवा मन का हमे पता भी क्या चलता है ? आत्मा तथा मन आदि ऐसे शब्द हैं जिनका स्पष्ट अर्थ किसी को समझ मे नही आता, 'चेतना' (Consciousness) शब्द ऐसा है जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है, इसलिए उक्त मनोवैज्ञानिको की विचारधारा के परिणामस्वरूप मनोविज्ञान का विषय 'आत्मा'—'मन' आदि न रह कर 'चेतना' (Consciousness) तथा 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) हो गया, और मनोविज्ञान के अध्ययन की पद्धति 'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection) के स्थान मे 'प्रेक्षण तथा प्रयोग' (Observation & Experiment) हो गया । प्रेक्षण तथा प्रयोग किसका ? आत्मा हमे नही दीखता, मन हमे नही दीखता, चेतना हमे नही दीखती, हमे दीखता है अपना व्यवहार, हम जो-कुछ करते-धरते है वही तो दीखता है, इसलिए भौतिकवाद के मार्ग पर चलते-चलते मनोविज्ञान 'व्यवहारवाद' (Behaviourism) का रूप धारण कर गया । मानसिक-प्रक्रिया प्रकट रूप मे हमारे बाह्य-व्यवहार मे दीखती है, इसी पर प्रयोग करने के लिए 'मनोवैज्ञानिक-प्रयोगशालाएँ' (Psychological laboratories) खुलने लगी जिनमे से सबसे पहले 1879 मे वुन्डट ने मनोवैज्ञानिक-प्रयोगशाला की स्थापना की । उसके वाद 19वी शताब्दी के उत्तरार्ध तथा बीसवी शताब्दी मे इस प्रकार की प्रयोगशालाओ का ताँता बंध गया ।

पश्चिम मे जिस भौतिकवाद ने जन्म लिया उसका परिणाम मनोविज्ञान पर यह हुआ कि मनुष्य को भी एक यन्त्र समझा जाने लगा, आत्मा तथा मन को निर्वासित कर उसकी जगह मस्तिष्क को ही हमारे सम्पूर्ण-व्यवहार का कारण कहा जाने लगा, परन्तु क्या इससे हमारी शंकाओं का समाधान हो जाता है जो हमने पिछले अध्याय मे उठाई है ?

(ख) आत्मा अथवा मन को निर्वासित कर देने पर शंकाएँ बनी रहती हैं— हम पिछले अध्याय मे इस बात को स्पष्ट कर आए है कि भौतिक-शरीर या

तन्त्रिका-तन्त्र के पीछे कोई अभौतिक-शक्ति—आत्मा—न हो, तो काम नही चल सकता। उदाहरणार्थ·

(i) **यन्त्र की अनुक्रिया निश्चित होती है**—जितने भी भौतिक-यन्त्र है उनमे क्रिया की अनुक्रिया निश्चित होती है, उनमे चुनाव का प्रश्न नही उठता। दीवार पर गेंद फेंकी जायगी तो लौट कर अवश्य आएगी, दीवार पर बैठ कर सोचने नही लगेगी कि लौटूँ या न लौटूँ। हमारी अनुक्रियाएँ यन्त्र की तरह निश्चित नही हैं, अनेक सम्भव अनुक्रियाओ मे से कोई एक चुनी जाती है—यह चुनने वाला कौन है?।

(ii) **एक ही उद्दीपक होने पर यन्त्र की अनुक्रिया भिन्न-भिन्न नहीं होती**—अगर हमे मनोविज्ञान के 600 पण्डितो के सामने व्याख्यान देना हो तो घबराहट होती है, 500 विद्यार्थियो के सामने व्याख्यान देना हो तो उत्साह होता है; उद्दीपकों की सख्या दोनो हालात मे 500 ही है, परन्तु अनुक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। अगर मनुष्य यन्त्रवत् काम करता हो, तो ऐसा नही हो सकता। हमारे भीतर कोई बैठा है जो एक ही उद्दीपक के सामने होते हुए अपनी भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न अनुक्रिया करता है। यह भिन्न-भिन्न अनुक्रिया करने वाला कौन है?

(iii) **मस्तिष्क के केन्द्र के कट जाने पर भी अनुक्रिया होना**—तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous system) को ज्ञान का केन्द्र मान कर 19वी शताब्दी मे जो मनोविज्ञान चला उसे 'शरीर-क्रियात्मक-मनोविज्ञान' (Physiological Psychology) कहा जाता है। इस मनोविज्ञान के आधार पर मस्तिष्क तथा तन्त्रिका-तन्त्र पर अनेक प्रयोग हुए। इन प्रयोगो से निश्चित हुआ कि मस्तिष्क मे देखने, सुनने, सूँघने, चखने तथा स्पर्श के अलग-अलग केन्द्र हैं। इन्द्रियो से सवेदन-तन्त्रो द्वारा जब ज्ञान अपने-अपने केन्द्र मे पहुँचता है, तब जिस विषय का वह केन्द्र है उसका ज्ञान होता है। वह केन्द्र कट जाय, तो उस विषय का ज्ञान नही हो सकता। यह स्थापना भौतिकवाद के सर्वथा अनुकूल है। जब उस ज्ञान को ग्रहण करने का केन्द्र ही कट गया, तब उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? परन्तु 1914 के महायुद्ध के बाद अमरीका मे प्रो० लैशली ने कुछ प्रयोग किए जिनसे सिद्ध हुआ कि जिन केन्द्रो के विषय मे हम समझे बैठे थे कि किसी खास ज्ञान को ग्रहण करने के केन्द्र हैं, वे जब चोट आदि से आहत हो जाते, या काट दिए जाते हैं, तब मस्तिष्क के दूसरे केन्द्र वही काम करने लगते हैं। लैशली ने चूहों पर प्रयोग किए। इन प्रयोगो से यह सिद्ध हुआ कि जब मस्तिष्क का कुछ हिस्सा निकाल दिया जाता था, तब मस्तिष्क के दूसरे हिस्से धीरे-धीरे उसी काम को करने लगते थे और कुछ देर बाद पहले जैसा काम चलने लगता था। इन प्रयोगो से क्या सिद्ध हुआ? अगर मनुष्य का मस्तिष्क एक यन्त्र है, तो इस

यन्त्र मे जिस काम के लिए जो केन्द्र बना है, उस केन्द्र के कट जाने पर वह काम रुक जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नही होता। कौन शक्ति मस्तिष्क मे आसन जमाए बैठी है, जो एक साधन के हाथ से निकल जाने पर दूसरे साधन से वही काम लेने लगती है ? यन्त्र का एक पुर्जा चला जाय, तो यन्त्र बेकार हो जाता है, यहाँ मस्तिष्क जैसी नाजुक मशीन का पुर्जा ही नही, मशीन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा कट जाता है, और मशीन के भीतर बैठा कोई उस हिस्से के बिना मशीन को चालू कर देता हैं। भौतिकवादी के सामने प्रश्न है कि यह कौन है ?

7. व्यवहारवाद—यान्त्रिक-क्रिया, प्रतिवर्त-क्रिया, नैसर्गिक-क्रिया

(Behaviourism—Mechanical action, Reflex action, Instinctive action)

भौतिकवाद ने मन अथवा आत्मा को निर्वासित करके उनकी जगह 'व्यवहारवाद' को जन्म दिया। वे हमारे मानसिक-व्यवहार को समझाने के लिए कहते हैं कि क्रिया (Action) की प्रतिक्रिया (Reaction) तीन तरह की हो सकती है। एक प्रतिक्रिया तो यान्त्रिक (Mechanical) है, दूसरी प्रतिवर्त-क्रिया (Reflex) है, तीसरी नैसर्गिक-क्रिया (Instinctive) है। उदाहरणार्थ, हम बटन दवाते हैं, बिजली जग जाती है—यह 'यान्त्रिक-प्रतिक्रिया' है, यह प्रतिक्रिया बेजान वस्तुओ मे, मशीन आदि मे होती है; दूसरी प्रतिक्रिया जानदार प्राणियो मे होती है और दो तरह की हो सकती है। एक को 'प्रतिवर्त-क्रिया' (Reflex) कहते हैं, दूसरी को 'नैसर्गिक-क्रिया' (Instinctive) कहते है। 'प्रतिवर्त-क्रिया' क्या है ? हृदय गति कर रहा है, श्वास चल रहा है, आँते भोजन पचा रही हैं, आँखें झपकती हैं, गुद-गुदाने से हम सिमिट जाते हैं, काँटा चुभने पर पाँव खीच लेते हैं—ये सब यन्त्र की क्रिया तो नही परन्तु प्राणी की यन्त्र के समान क्रियाएँ है, अपने-आप हो जाती हैं, इसलिए इन्हे 'प्रतिवर्त-क्रिया' कहा जाता है। जानदार प्राणियो मे 'प्रतिवर्त-क्रिया' के अतिरिक्त 'नैसर्गिक-क्रिया' भी पायी जाती है। उदाहरणार्थ, बच्चा पैदा होते ही माँ के स्तन से दूध चुसकने लगता है, उसे किसी चीज की ज़रूरत है तो रोता है, हिरन का बच्चा पानी मे डालते ही तैरने लगता है—ये 'नैसर्गिक-क्रियाएँ' है। इस विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि—

(i) 'यान्त्रिक-क्रिया'—यन्त्र के समान (Mechanical) है,
(ii) 'प्रतिवर्त-क्रिया'—जीवन-रक्षा के लिए 'जैविक' (Biological) है,
(iii) 'नैसर्गिक-क्रिया'—मनोवैज्ञानिक (Psychological) है।

8. नैसर्गिक-शक्ति (Instinctive Power)

मनोविज्ञान मे भौतिकवाद के प्रवेश का स्थूल रूप व्यवहारवाद है। व्यवहारवाद का अर्थ यह है कि मनुष्य मे न मन है, न आत्मा है, प्राणी एक यन्त्र है। अगर प्राणी एक यन्त्र है, तो अध्यात्मवादी यह प्रश्न खडा कर देता है कि प्राणी की क्रियाओ को यन्त्रवत् कैसे समझाया जा सकता है ? इसका उत्तर देते हुए व्यवहारवादी कहता है कि प्राणी मे एक शक्ति पायी जाती है जिसे 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) कहते हैं। यह 'नैसर्गिक-शक्ति' सिद्ध करती है कि प्राणी का मानसिक-व्यापार एक यन्त्र की तरह, मशीन की तरह अपने-आप चलता है। आइए, देखें कि 'नैसर्गिक-शक्ति' के विषय मे भौतिकवादी—व्यवहारवादी—तथा अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण क्या है

(क) **'नैसर्गिक-शक्ति' के सम्बन्ध में भौतिकवादी विचार**—मनोविज्ञान मे भौतिकवादी-विचारधारा के प्रवेश का अवश्यम्भावी परिणाम प्राणी मे 'नैसर्गिक-शक्ति' का मानना था। 'नैसर्गिक-शक्ति' का अभिप्राय यह था कि प्राणी लगभग यन्त्रवत् कार्य करता है, विना सिखाए 'उद्दीपक' (Stimulus) के प्रति 'अनुक्रिया' (Response) करता है, उसमे सोचने की, जिसके कारण हम आत्मा या मन को मानते है, आवश्यकता नही पडती। सोचने या कई सम्भव-अनुक्रियाओ मे से एक का चुनाव करने के लिए ही तो आत्मा या मन को माना जाता है। बच्चा पैदा होते ही माँ का स्तन चूसकने लगता है, हरिण का बच्चा पैदा होते ही पानी मे डाल देने से तैरने लगता है—ये अनुक्रियाएँ इनकी स्वाभाविक हैं, विना सिखाए ये अनुक्रियाएँ स्वय होने लगती हैं, तन्त्रिका-तन्त्र स्व-चालित-यन्त्र की तरह इस प्रकार का व्यवहार करता है—यह भौतिकवादियो का कहना है।

भौतिकवादी से यह पूछा जा सकता है कि माना कि 'नैसर्गिक-शक्ति' मे क्रिया स्वय हो जाती है, प्राणी को सोचना नही पडता, यन्त्रवत् क्रिया कर डालता है, परन्तु यन्त्रवत् क्रिया करने मे पहले तन्त्रिका-तन्त्र पर कोई सस्कार तो पडे होने चाहिएँ, तन्त्रिका-तन्त्र पर कुछ सस्काराकन (Engram) तो होना चाहिए जिसे रास्ता बना कर 'नैसर्गिक-शक्ति' स्व-चालित-यन्त्र की तरह काम करती है। प्राणी तो अभी पैदा हुआ, उसके तन्त्रिका-तन्त्र पर रास्ता बनाने वाले सस्कार कब पडे जिससे इस जन्म मे विना सीखे वह उचित प्रतिक्रिया करता है ? भौतिकवादी इस प्रश्न का उत्तर यह देता है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे कोई समय रहा होगा जब ये 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' जिन्हे अब हमे सीखना नही पड़ता, प्रकट नही हुई थी। प्राणी की आवश्यकताओ के अनुसार उसके सामने नई-नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई होगी, उनके अनुसार उसने नया-नया व्यवहार किया होगा जो उसके तन्त्रिका-तन्त्र मे अकित हो गया होगा। तन्त्रिका-तन्त्र के ये

संगृहीत संस्कार प्रत्येक प्राणी अपनी सतति को 'आनुवशिकता (Heredity) के नियमानुसार देता रहा होगा, होते-होते ये संस्कार वसीयत के तौर पर हर प्राणी को मिल गए होगे। तन्त्रिका-तन्त्र के ये सस्काराकन जो सन्तति-से-सन्तति मे चले आ रहे है, 'नैसर्गिक-शक्ति' कहलाते है जिनको समझाने के लिए आत्मा या मन की आवश्यकता नही।

(ख) 'नैसर्गिक-शक्ति' के सम्बन्ध में मैग्डूगल के विचार—'नैसर्गिक-शक्ति' की तरफ मनोवैज्ञानिको का ध्यान प्रबल रूप मे आकर्षित करने का श्रेय विलियम मैग्डूगल (1871-1938) को है। अबतक मनोवैज्ञानिको ने 'नैसर्गिक-शक्तियो' पर विशेष ध्यान नही दिया था, परन्तु ज्यो-ज्यो भौतिकवाद मनोविज्ञान मे प्रवेश करता गया, त्यो-त्यो प्राणी मे ऐसी शक्तियो की ढूँढ होती रही जिन्हे यान्त्रिक कहा जा सके। क्योकि 'नैसर्गिक-क्रिया' यन्त्रवत् चलती है, उद्दीपक सामने आया और अनुक्रिया हो जाती है, इसलिए मनोविज्ञान का मुख्य लक्ष्य 'नैसर्गिक-शक्तियो' पर विचार करना हो गया। मैग्डूगल ने 'नैसर्गिक-शक्ति' की व्याख्या करते हुए लिखा है—"नैसर्गिक-शक्ति प्राणी का ऐसा वशानुगत या शरीरगत मानसिक स्वभाव है, जो किसी विशेष वस्तु के सामने उपस्थित होने पर उसे विशेष प्रकार का व्यवहार करने के लिए बाधित कर देता है, या कम-से-कम उसके भीतर उस तरह का व्यवहार करने की प्रेरणा उत्पन्न कर देता है।" उदाहरणार्थ, हरिण के बच्चे को नदी मे डाल दे, तो क्या होता है ? या तो उसे वश-परम्परा से—माँ-बाप से, उनके माँ-बाप से— ऐसे सस्कार मिले हैं जिनके कारण वह डूबने के स्थान मे झट-से तैरने लगता है, या उसके तन्त्रिका-तन्त्र की रचना ही ऐसी है कि वह पानी मे पडते ही तैरने लगता है। वह ऐसा करने के लिए बाधित होता है, विवश होता है। कम-से-कम उसके भीतर ऐसी प्रेरणा तो होती ही है, भले ही वह डूब जाय।

(ग) 'नैसर्गिक-शक्ति' के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी विचार—मैग्डूगल जब कहता है कि 'नैसर्गिक-शक्ति' मे व्यवहार करने का आवेग (Impulse to action) अन्तर्निहित रहता है, तब 'नैसर्गिक-शक्ति' का भौतिक-आधार खत्म हो गया। भौतिक-पदार्थ भौतिक-पदार्थ को आवेग या प्रेरणा नही दे सकता। आवेग या प्रेरणा का स्रोत तो कोई अभौतिक-तत्त्व ही हो सकता है, क्योकि जो भी भौतिक-तत्त्व आवेग या प्रेरणा दे रहा होगा उसी के विषय मे शका उठ खड़ी होगी कि उसे किसने आवेग या प्रेरणा दी ? अभौतिक आत्म-तत्त्व तो स्वय चेतन है इसलिए अगर वह आवेग या प्रेरणा दे, तो कोई शका नही रहती। यही अध्यात्मवादी दृष्टिकोण है।

इतना ही नही कि 'नैसर्गिक-शक्ति' का आधारभूत-तत्त्व उसमे निहित आवेग है, 'प्रेरणा' है, परन्तु मैग्डूगल ने जिन 14 मूल-नैसर्गिक-शक्तियो का प्रतिपादन

किया है उनमे से हर 'नैसर्गिक-शक्ति' के साथ उसे आवेग या प्रेरणा देने वाला एक सवेग (Emotion) बधा हुआ है। इस 'सवेग' का काम नैसर्गिक-शक्ति मे जीवन डाल देना है। 'संवेग' तो भौतिक-तत्त्व नही है। मशीन पडी-पडी न रोती है, न हँसती है, न डरती है, न घबराती है, न प्रेम करती है, न द्वेष करती है। मैग्डूगल ने जिन 14 मूल-नैसर्गिक-शक्तियो की तरफ मनोवैज्ञानिको का ध्यान खीचा है, जिनके साथ उनका सवेग साथ-साथ बना रहता है, वे निम्न है —

नैसर्गिक-शक्ति या 'मूल-प्रवृत्ति' [INSTINCTS]	उसके साथ सम्बद्ध 'संवेग' [EMOTIONS]
1 पलायन (Escape)	1 भय (Fear)
2 युयुत्सा (Combat)	2. क्रोध (Anger)
3. निवृत्ति (Repulsion)	3 विरुचि (Disgust)
4 पैतृक-भावना (Parental feeling)	4 दया (Tender feeling)
5 समवेदना—सहानुभूति (Appeal)	5. दु ख (Distress)
6 सभोग (Mating, sex)	6. काम (Lust)
7. जिज्ञासा (Curiosity)	7 आश्चर्य (Wonder)
8. अधीनता (Submission)	8. आत्महीनता (Negative self-feeling)
9 स्वाग्रह (Self assertion)	9 आत्माभिमान (Positive self-feeling)
10 यूथ-चारिता (Gregariousness)	10 एकाकीभाव (Loneliness)
11. खाद्यान्वेषण (Food-seeking)	11. तृप्ति (Gusto)
12 परिग्रहण (Acquisition)	12 स्वत्व (Ownership)
13 रचनात्मकता (Constructiveness)	13 कृति (Creativeness)
14 हास (Laughter)	14. आमोद (Amusement)

उक्त तालिका को देख कर स्पष्ट हो जायगा कि भय, क्रोध, विरुचि, दया, दु ख, काम, आश्चर्य, हीनता, अभिमान, एकाकीभाव, तृप्ति, स्वत्व, कृति, आमोद—ये 'सवेग' प्राणी की 'नैसर्गिक-शक्तियो' के साथ जुडे हुए हैं, 'नैसर्गिक-शक्तियों' को प्रेरणा देने वाले अभौतिक भाव हैं। इसलिए जो 'शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक' (Physiological Psychologists) नैसर्गिक-शक्तियो मे यन्त्र को ढूंढना चाहते हैं उन्हे यन्त्र के स्थान मे यन्त्र का चलाने वाला 'आत्मा' ही हाथ लगता है जिसे न्याय-दर्शन ने '**इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञानानि आत्मनो लिंगम्**' कहा है। भौतिकवादी प्रो० मैग्डूगल तथा अध्यात्मवादी कपिल मुनि के दृष्टिकोण मे इतना ही भेद है कि दोनो 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) को तो

मानते है, गणना भले ही उनकी अलग-अलग हो, परन्तु मैग्डूगल यह मानता है कि ये प्रतिक्रियाएँ अपने-आप हो रही है, बिना चेतन के हो रही हैं, वैदिक ऋषि का कहना यह है कि अगर इन प्रतिक्रियाओ मे कोई जान डालने वाला, इन्हे प्रेरणा देने वाला नही है, तो ये अपने-आप कैसे हो सकती है ? 'सवेग' (Emotion) का काम तो आवेग देना, प्रेरणा देना है, 'नैसर्गिक-शक्ति' मे आवेग या प्रेरणा कौन डाल देता है ? मेज-कुर्सी बैठी-बैठी नही हँसा करती, न रोया करती है—यह मनुष्य क्यो हँस पडता है, क्यो रो पडता है ? हँसने और रोने वाला कोई यन्त्र नही, यन्त्र के भीतर बैठा कोई चेतन है।

9. मन तथा आत्मा में भेद

(क) पाश्चात्य-मनोविज्ञान—पाश्चात्य-मनोविज्ञान या तो मनुष्य को सिर्फ मशीन ही मानता है, इस मशीन का संचालन 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के द्वारा हो रहा है—यह मानता है, या अगर यह कुछ आगे बढता है, तो तन्त्रिका-तन्त्र का सचालन करने वाले 'मन' (Mind) तक पहुँच जाता है, इससे आगे वह कदम नही रखता। इसका परिणाम क्या है ? पाश्चात्य-मनोविज्ञान के आधुनिकतम व्याख्याकार फ्रॉयड, एडलर तथा युँग समझे जाते है। उनकी गवेषणा का अन्तिम ध्येय मन की ग्रन्थियो को सुलझाना है। उनके मनोविज्ञान का क्षेत्र 'अपसामान्य-मनोविज्ञान' (Abnormal psychology) है। 'अपसामान्य-मनोविज्ञान' क्या है ? उनका कहना है कि मनुष्य सिर्फ मन का ही एक खेल है। मानसिक उलझनो से मन मे गाँठें पड जाती है, उन्ही से मन अस्वस्थ हो जाता है, उन्हे निकाल देना, सुलझा देना, उसे स्वस्थ कर देना उनके मनोविज्ञान का काम है। मन को वे दो भागो मे बाँटते है—'सामान्य-मन' (Normal mind) तथा 'अपसामान्य-मन' (Abnormal mind)। 'सामान्य' अथवा 'अपसामान्य' मन क्या है ? उनके कथनानुसार सर्व-साधारण, आम लोग जिस तरह से सोचते-विचारते, रहते-सहते हैं, उस तरह से सोचना-विचारना, रहना-सहना 'सामान्य-मन' का सूचक है, उससे भिन्न तरह से व्यवहार करना 'अपसामान्य-मन' का सूचक है। सर्व-साधारण लोग समाज मे मिलते-जुलते है, एक-दूसरे के सम्पर्क मे आना पसन्द करते है—यह 'सामान्य-मन' का सूचक है; जो व्यक्ति समाज से दूर-दूर रहे, किसी से मिलना-जुलना पसन्द न करे—वह मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से 'अपसामान्य' है। ऐसे 'अपसामान्य' मन के व्यक्ति को मानसिक-उपचार द्वारा आम लोगों के व्यवहार के अनुकूल बना देना फ्रॉयड, एडलर तथा युँग के मनोविज्ञान का काम है। एक व्यक्ति किसी मानसिक-ग्रंथि के कारण अपने को हीन समझता है, दूसरो से छोटा, गया-बीता—यह 'अप-सामान्य'-मन का सूचक है, साधारण तौर पर हर व्यक्ति ऐसा नही समझता,

ऐसे व्यक्ति के मन के भीतर पडी गाँठ को निकाल देना पाश्चात्य-मनोविज्ञान का लक्ष्य है। वह व्यक्ति अपने को दूसरो से हीन क्यो समझता है ? किन्ही परिस्थितियो के कारण उसके मन मे कोई ऐसी गाँठ पड गई है, जो उसे अपने को हीन समझने के लिए वाधित करती है। इसी प्रकार मन की अनेक समस्याएँ हैं। यह मनोविज्ञान मन की इन गुत्थियों को समझने, सुलझाने मे लगा रहता है। इस आधुनिकतम मनोविज्ञान को 'मनोविश्लेषणवाद' (Psycho-analysis) कहा जाता है जिसका सूत्रपात फ्रॉयड (1856-1939), एडलर (1870-1937) तथा युंग (1857-1961) ने किया। यह मनोविज्ञान एक तरह से 'उपचारात्मक-मनोविज्ञान' (Therapeutic psychology) कहा जा सकता है, मन की अस्वस्थता को दूर कर उसे आम लोगो के रास्ते पर डाल देना इसका लक्ष्य है। यह मनोविज्ञान अपने को मन तक सीमित रखता है, मन से आगे, मन से परे, मन से ऊपर आत्मा जैसी कोई अन्य सत्ता है—इसे यह स्वीकार नही करता।

(ख) **भारतीय-मनोविज्ञान**—भारतीय-मनोविज्ञान मन के विषय मे की गई पाश्चात्य-मनोविज्ञान की खोजो को अस्वीकार नहीं करता, उनसे आगे निकल जाता है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान यह नही मानता कि मनुष्य के देह मे मन के अतिरिक्त 'आत्मा'-जैसी कोई सत्ता है, भारतीय-मनोविज्ञान जैसे देह से अतिरिक्त मन की सत्ता को मानता है, वैसे ही मन से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता को मानता है। मन का काम सकल्प-विकल्प करना है। मैं अपने सकल्प-विकल्प को तटस्थ होकर देख सकता हूँ। कौन एकान्त मे वैठ कर अपने भीतर चल रही विचार की प्रक्रिया को नही देख सकता ? अगर मैं उसे देख सकता हूँ, तो स्पष्ट है कि मैं देखने वाला, द्रष्टा, जिसे मैं देख रहा हूँ, जिसे अनुभव कर रहा हूँ, उससे भिन्न हूँ। विचार की प्रक्रिया 'मन' है, उस प्रक्रिया को देखने, अनुभव करने वाला जो है वह मन से भिन्न है, वही 'आत्मा' है।

पाश्चात्य-मनोविज्ञान का कहना है कि मनुष्य अनेक मानसिक-रोगो से ग्रस्त है, उसका उद्देश्य उन रोगो को दूर करके मन को स्वस्थ वनाना है, भारतीय-मनोविज्ञान का कहना है कि मनुष्य अनेक मानसिक-रोगो से ग्रस्त नहीं, मन स्वय एक रोग है, मनुष्य मन से ग्रस्त है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान का कहना है कि मन स्वयं रोग नहीं, मनुष्य मन ही है, मन के सिवाय, उसके अतिरिक्त आत्मा जैसी कोई सत्ता नही, भारतीय-मनोविज्ञान का कहना है कि मनुष्य मन नहीं, आत्मा है जो मन से ऊपर, मन से परे है—हमे मन को पार कर आत्मा तक पहुँचना है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान मन को स्वस्थ करने की वात कहता है, भारतीय-मनोविज्ञान की धारणा यह है कि मन तो स्वयं एक रोग है, हमे मन को लांघना है। मन तो चचल है, अस्वस्थ है, आत्मा के सम्पर्क से ही उसकी चंचलता, उसका अस्वास्थ्य ठिकाने लग सकता है। आत्मा का आश्रय, आत्मा

का सहारा मन को न मिले, तो मन भटकता ही फिरेगा, उसे कही शान्ति तथा चैन न मिलेगा।

पाश्चात्य-मनोविज्ञान जब मानसिक स्वास्थ्य की बात कहता है, तव उसका क्या रूप है ? अस्वस्थ-मन को स्वस्थ बनाने का क्या अर्थ है ? इसका यह अर्थ है कि अस्वस्थ-मन के व्यक्ति को ऐसा बना दिया जाय जैसा साधारण-व्यक्तियो का मन होता है। परन्तु साधारण-व्यक्तियो का—सर्व-साधारण का—जैसा मन होता है, उसे क्या स्वस्थ कहा जा सकता है ? हम सब लोग जो मानसिक-दृष्टि से स्वस्थ कहे जाते है, उनका क्या हाल है ? वे पागल तो नही है, परन्तु उनका मन पागलपन के करीब-करीब ही होता है। कचहरियो मे जाकर देखो, वहाँ चक्कर काट रहे एक-एक व्यक्ति के मन के भीतर डुबकी लगा कर देखो, बाज़ारो मे फिर कर देखो, दुकानो पर बैठे दुकानदारो के अन्तस्तल मे पैठ कर देखो। कोई पैसे के लिए व्याकुल है, कोई स्त्री के लिए व्याकुल है, कोई ईर्ष्या-द्वेष से व्याकुल है। हर-एक का मन चचल है, अशान्त है, चिन्ताग्रस्त है, तनावपूर्ण है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान इस रोगी-मन का इलाज करना चाहता है, परन्तु भारतीय-विचारको का तो कहना है कि मन का तो स्वभाव ही चचलता, चिंता, तनाव, अशान्ति है। जब मन का स्वभाव ही ऐसा है, तव इसका इलाज कैसे हो सकता है ?

परन्तु क्या मानव-जीवन चचलता, चिंता, तनाव तथा अशान्ति का ही मूर्त्त रूप है ? क्या हम नही देखते कि किसी-किसी मनुष्य मे अगाध शान्ति तथा सन्तोष का समुद्र लहलहा रहा होता है; न भी हो तो भी क्या मनुष्य इन अवस्थाओ के लिए, शान्ति तथा सन्तोष के लिए व्याकुल नही रहता ? जिस मन का स्वरूप ही चचलता, चिंता तथा अशान्ति है, वह स्वयं इन्हे दूर करने की कैसे सोच सकता है ? अशान्त तथा चंचल मन के पीछे, इससे परे तथा ऊपर जो सत्ता है, जो मन की चचलता के बावजूद अशान्ति, चिंता तथा तनाव के बावजूद प्रसाद का सन्देश लेकर बैठी है, वह स्वयं मन नही हो सकती। वह जो सत्ता है, वही आत्मा है।

मन अँधेरा है, आत्मा प्रकाश है, मन अंधा है, आत्मा सुजाखा है; मन कहता है—मैं चचलता को छोड नही सकता, मैं चिन्ता को छोड नही सकता, मैं व्याकुलता तथा तनाव को छोड नही सकता—मेरा रूप ही यह है, आत्मा कहता है—तू चचल है, मैं अचंचल हूँ, तू चिन्तामय है, व्याकुलतामय है, तनाव-पूर्ण है, मैं चिन्ताहीन हूँ, प्रशान्त हूँ, प्रसादमय हूँ—मेरा रूप ही यह है। यही मन तथा आत्मा मे भेद है। इसी भेद को सामने रख कर यम ने नचिकेता को कठ उपनिषद् (तृतीया वल्ली, तृतीय श्लोक) मे कहा है—शरीर रूपी रथ का स्वामी आत्मा है, मन तो इन्द्रिय रूपी घोडो को इधर-उधर हांकने का इशारा

देने वाली लगाम है। बृहदारण्यक उपनिषद् (द्वितीय अध्याय, 5) में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहा है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। मैत्रेयी आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्'**—हे मैत्रेयी! आत्मा का दर्शन करने, श्रवण करने, मनन करने, उसे जानने से ही जीवन की समस्या का हल हो सकता है।

(ग) मन तथा आत्मा अलग-अलग हैं—इस सिद्धान्त की जीवन में उपयोगिता—हमने देखा कि पाश्चात्य-मनोविज्ञान सिर्फ मन तक पहुंचता है, भारतीय-मनोविज्ञान का कथन है कि मन तो है ही, परन्तु मन के परे आत्मा है, हमें मन को पार कर जाना (Transcend) है। मन को पार कर जाने की सिर्फ सैद्धान्तिक-उपयोगिता ही नहीं, व्यावहारिक-उपयोगिता भी है। इसकी व्यावहारिक-उपयोगिता क्या है?

हमारा मन काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों का घर है। हम काम के अभिभूत हो जाते हैं, क्रोध हमें पागल कर देता है, लोभ तथा मोह के कारण हम दुनियाँ में फँसे रहते हैं। यह सब मन का खेल है। हमें क्रोध आया, या कोई दूसरा मानसिक-संवेग उमडा। हम क्या करते हैं? हम या उसका दमन कर देते (Suppress) हैं, या क्रोध को पूरे वेग से अभिव्यक्त कर देते (Express) हैं, मार-पीट कर डालते हैं। परन्तु समझने की बात यह है कि जब हम उसे दबा देते हैं, तब वह दबता नहीं, भीतर-ही-भीतर बाहर आने के लिए ज़ोर मारता रहता है। अगर हमें अपने से किसी बड़े पर क्रोध आया, हम कुछ कर नहीं सकते, लाचार होकर उसे दबाना पड़ा, तो अपने से कमज़ोर के सामने आते ही वह दूने ज़ोर से फूट पड़ता है। बाबू दफ्तर में झिड़कियाँ खाकर वहाँ तो गम खा जाता है, घर आकर छोटी-छोटी बात पर बच्चों को पीटने लगता है। असल में, उस समय वह बच्चों को नहीं, बच्चों के बहाने अपने अफसर को, जिस पर उसे क्रोध आया था, पीट रहा होता है। मनोविज्ञान का कहना है कि संवेग दबता नहीं, प्रकट होने की राह देखता है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान हमें सिर्फ यहीं तक पहुँचाता है, सिर्फ यह कहता है कि मन को बेचैनी या तनाव से निकालने के लिए या तो मानसिक-विकार को दबाना नहीं चाहिए, या उसे प्रकट होने का कोई सभ्य, समाजानुमोदित तरीका निकाल लेना चाहिए।

भारतीय-मनोविज्ञान यह नहीं कहता। भारतीय-मनोविज्ञान का कहना है कि मानसिक-विकार से—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से—छूटने का जो तरीका पाश्चात्य-मनोविज्ञान के व्याख्याकार फ्रॉयड आदि बतलाते हैं वह सही तरीका नहीं है। वे इस तरीके का प्रतिपादन इसलिए करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि मनुष्य के भीतर सिर्फ मन की ही सत्ता है, मन के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं है। मन क्योंकि विकारों का पुंज है इसलिए वह तभी हल्का हो

सकता है जब वह अपने भीतर के बोझ-रूप मे पडे हुए विकारो को बाहर निकाल फेंके। परन्तु भारतीय-मनोविज्ञान मन के अतिरिक्त आत्मा को मानता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार जो मन की उलझने है, मन के बोझ हैं, उन्हे आत्मा अपना मानने लगता है। अगर आत्मा अपनी सत्ता को मन से जुदा अनुभव कर ले, तो वह बोझ बोझ नही रहता, अपने-आप गिर जाता है। उदाहरणार्थ, हमे क्रोध आया, भयकर क्रोध। अगर हम समझे कि हम मन के अतिरिक्त कुछ नही, तब तो इस क्रोध से छूटने का वही रास्ता रह जाता है जो फ्रॉयड आदि मनोविश्लेषणवादी कहते हैं—या तो जिस पर क्रोध आया है उसका सिर फोड डालें या दूसरे किसी को अपने क्रोध का शिकार बनाये। परन्तु अगर मन के अतिरिक्त आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है, मन सिर्फ आत्मा का नौकर है, तो सारा दृष्टिकोण बदल जाता है। उस अवस्था मे आत्मा स्वतन्त्र होकर, द्रष्टा बन कर मन को देखता है, यह देखता है कि मेरा नौकर क्रोध में पागल हो रहा है, उसके पागलपन को देख कर मन का मालिक हँस देता है, आत्मा के द्रष्टा के रूप मे हो जाने पर क्रोध अपने-आप रफूचक्कर हो जाता है। जब-तक आत्मा अपने को मन ही समझ रहा होता है तबतक मन का बोझ आत्मा का बोझ बना रहता है, तबतक उस बोझ को हल्का करने का वही तरीका रह जाता है जो फ्रॉयड ने बतलाया है, परन्तु जब मन तथा आत्मा का भेद स्पष्ट हुआ तब न क्रोध को दबाने (Suppress) की आवश्यकता रहती है, न क्रोध को प्रकट (Express) करने की आवश्यकता रहती है, तब आत्मा द्वारा मन के क्रोध को देख कर हँस जाना पडता है, तब क्रोध अपने-आप मिट जाता, लुप्त (Disappear) हो जाता है। इसे शास्त्रकारो ने **'ज्ञानाग्निना दग्धम्'**—ज्ञान की आग से भस्म—हो जाना कहा है। ज्योही हम अपने द्रष्टा रूप मे आ जाते हैं, त्योही वह बोझ जो मन तथा आत्मा के अभेद के कारण हम पर लद गया था नीचे गिर जाता है। ऐसी अवस्था मे जब क्रोध ही नही रहता तब न उसे दबाने की आवश्यकता रहती है, न उसे प्रकट करने की आवश्यकता रहती है। तब ऐसा लगता है मानो कोई दूसरा क्रोध कर रहा है, और जैसे दूसरे-किसी को आगबबूला होते देख कर हमे हँसी आती है, वैसे अपने मन को क्रोध करते देख कर मनुष्य हँसने लगता है। वैसे यह तो हर-किसी के अनुभव की बात है कि जब मनुष्य को क्रोध आये या वह किसी मानसिक-विकार के अभिभूत हो जाय, तब अगर वह क्रोध का विश्लेषण करने लग जाए, मनोविकार पर ऊहा-पोह करने लग जाय, तो न क्रोध टिकता है, न दूसरा कोई मनोविकार टिकता है, मानसिक-अवस्था ही बदल जाती है। क्यो बदल जाती है? इसलिए बदल जाती है क्योकि तब हम क्रोध या मानसिक-विकार को अपने से अलग करके देखने लगते हैं। अपने से अलग करके देखने लगना ही मन तथा आत्मा के भेद

को समझने लगता है। मन तथा आत्मा को अलग-अलग समझ लेने के सिद्धान्त की यही व्यावहारिक उपयोगिता है कि इससे मनुष्य मानसिक-विकारो से ऊपर उठ जाता है।

मन तथा आत्मा के भेद को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। जैसे शरीर को मन द्रष्टा बन कर देखता है, वैसे मन को आत्मा द्रष्टा बन कर देख सकता है। शरीर दृश्य है, मन द्रष्टा है, ठीक इसी तरह मन—सकल्प-विकल्प—दृश्य है, आत्मा द्रष्टा है। जैसे शरीर तथा मन मे भेद है, वैसे मन तथा आत्मा मे भेद है। इस स्थल पर एक प्रश्न उठ खडा होता है। प्रश्न यह है कि हमने अनेक स्थानो पर लिखा है कि साख्य-सिद्धान्त के अनुसार मन प्रकृति का परिणाम है, प्रकृति का परिणाम होने के कारण यह भौतिक है, अगर मन भौतिक है, तो मन शरीर का द्रष्टा कैसे हो सकता है? अभौतिक तो भौतिक का द्रष्टा, भोक्ता हो सकता है, भौतिक भौतिक का द्रष्टा, भोक्ता कैसे हो सकता है? द्रष्टा और भोक्ता होने के लिए चेतनता चाहिए, जो वस्तु भौतिक है वह चेतन नही होती। इस प्रश्न का उत्तर भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से निम्न है

(i) **भौतिकवादी दृष्टिकोण से उत्तर**—भौतिकवाद के दो पक्ष हैं। एक पक्ष तो मन अथवा आत्मा को मानता नही, सिर्फ 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) को मानता है। उनकी दृष्टि से इस प्रश्न का कोई उत्तर नही है, उनकी दृष्टि से शरीर मे द्रष्टा तथा दृश्य का भेद नही हो सकता, न वे आध्यात्मिक झमेले मे पडते हैं। दूसरा भौतिकवादी पक्ष मन को मानता है, उसे भौतिक नही मानता। इस दृष्टि से जिस शंका का हमने ऊपर उल्लेख किया, वह शका उठती ही नही क्योकि अगर मन अभौतिक है, चेतन है, तो चेतन द्रष्टा हो सकता है, भले ही वह भौतिक-शरीर का द्रष्टा हो।

(ii) **अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से उत्तर**—भौतिकवाद की तरह अध्यात्मवाद के भी दो पक्ष है। एक तो वैशेपिक, न्याय आदि दर्शनो का पक्ष है, दूसरा साख्य-दर्शन का पक्ष है। वैशेपिक तथा न्याय मन को भौतिक नही मानते, अभौतिक मानते हैं। अगर मन अभौतिक है, तो वह चेतन है, चेतन है तो द्रष्टा, भोक्ता हो सकता है। साख्य-दर्शन मन को प्रकृति का परिणाम मानता है, अगर वह प्रकृति के विकार का परिणाम है तो वह अभौतिक न रह कर भौतिक हो जाता है, भौतिक हो जाता है तो चेतन नही रहता, चेतन नही रहता तो वह न द्रष्टा बन सकता है, न भोक्ता बन सकता है, अगर मन द्रष्टा-भोक्ता नहीं बन सकता, तो जहां तक साख्य का दृष्टिकोण है हमारी सारी फिलासफी ढह जाती है।

परन्तु ऐसी बात नही है। इसमे सन्देह नही कि सांख्य की दृष्टि से मन भौतिक है, परन्तु क्या हम देखते नही कि भौतिक-शरीर ससार के भौतिक-विषयो के प्रति द्रष्टा है, भोक्ता है; शरीर 'कर्त्ता' (Subject) है, ससार के विषय 'कर्म' (Objects) है। जैसे आँख, कान भौतिक होते हुए दृश्य तथा श्रव्य विषयों के प्रति द्रष्टा-भोक्ता है, वैसे भौतिक-शरीर के प्रति भौतिक-मन द्रष्टा-भोक्ता है, भौतिक-मन के प्रति अभौतिक-आत्मा द्रष्टा-भोक्ता है। परन्तु, फिर प्रश्न जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह जाता है। मूल-प्रश्न तो यह है कि भौतिक भौतिक के प्रति द्रष्टा-भोक्ता कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर साख्य की दृष्टि से यह है कि असली कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा तो आत्मा ही है, जो अभौतिक है, चेतन है, उसके सान्निध्य से मन मे चेतना झलक आती है, इस चेतना की झलक मे भौतिक तथा अचेतन मन अभौतिक तथा चेतन की तरह व्यवहार करने लगता है। सान्निध्य के कारण आत्मा की चेतनता मन मे निक्षिप्त हो जाती है, मन की निक्षिप्त-चेतना शरीर मे निक्षिप्त हो जाती है—शुद्ध अर्थों मे आत्मा ही चेतन है, मन तथा शरीर अचेतन है।

कैमिस्ट्री मे एक शब्द है—कैटेलिटिक एजेन्ट (Catalytic agent)। इसका अर्थ समझ लेने से स्पष्ट हो जायगा कि चेतन आत्मा के सान्निध्य से अचेतन मन तथा अचेतन शरीर चेतन की तरह कैसे व्यवहार करने लगते है। कैटेलिटिक-एजेन्ट वह तत्त्व है जो स्वयं तो नही बदलता, परन्तु अपने सान्निध्य से अन्य तत्त्वो मे परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। उदाहरणार्थ, लोहे मे जग कैसे लग जाता है ? लोहा जब ऑक्सीजन के सम्पर्क मे आता है तब जग लग जाता है; लोहे पर जग लगने मे पानी कैटेलिस्ट (Catalyst) का काम करता है। मध्य-एशिया मे मिस्र तथा इजराइल को मिलाने मे डॉ० किसिंजर 'कैटेलिटिक एजेन्ट' का काम करते रहे है। कल्पना कीजिये कि आपके दो मित्र है जो एक-दूसरे से अपरिचित है। आप उनका एक-दूसरे से परिचय करा कर छोड दे तो कुछ नही होता, उनमे मैत्री नही पैदा होती। उसके बाद आप उनके साथ शामिल हो जाएँ। आपके बीच मे आ जाने से वे मित्र बन जाते है। दो वस्तुओ मे अलग-अलग से जो गुण नही होते, तीसरी के सान्निध्य से उनमे वे गुण आ जाते हैं। ठीक इसी तरह न शरीर चेतन है, न मन चेतन है, आत्मा का सान्निध्य इन दोनो के प्रति कैटेलिस्ट (Catalyst) का काम करता है, और ये दोनो चेतन की तरह व्यवहार करने लगते हैं। इसी व्यवहार के कारण शरीर भी द्रष्टा-भोक्ता बन जाता है, मन भी दृष्टा-भोक्ता बन जाता है, आत्मा तो चेतन स्वरूप होने के कारण द्रष्टा-भोक्ता है ही। एक और उदाहरण लीजिए। चुम्बक लोहे को खीचता है, लोहा लोहे को नही खीचता। शुद्ध चुम्बक के सान्निध्य मे लोहे के बाद लोहे की कतार रख दी जाय, तो सब लोहे चुम्बक का-सा व्यवहार करने

लगते हैं। यही बात भौतिक-शरीर तथा भौतिक-मन के अभौतिक एवं चेतन आत्मा के सान्निध्य मे आने से हो जाती है, शरीर तथा मन अचेतन होते हुए भी द्रष्टा बन जाते हैं।

द्रष्टा-स्थिति को पाना हँसी-खेल नहीं है, अत्यन्त कठिन है, परन्तु इस स्थिति को पाकर ही मानसिक-समस्या का यथार्थ हल हो सकता है, इस स्थिति को पाकर ही मनुष्य निष्काम हो सकता है।

(क) **क्या शरीर, मन तथा आत्मा का भेद अनुभव कर सकना सम्भव है—** अगर शरीर तथा चेतना दोनो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, तो यह सम्भव हो सकना चाहिए कि चेतना अपने को शरीर से अलग होकर साक्षी रूप से शरीर को देख सके, चेतना यह अनुभव कर सके कि यह रहा 'शरीर', और यह रहा 'चेतन-तत्त्व'। थोडा-सा भी विचार करने से प्रतीत होगा कि ऐसा सम्भव ही नही, ऐसा होता भी है। उदाहरणार्थ, मैं बच्चा था, फिर बालक हो गया, फिर युवा हो गया, फिर प्रौढ हो गया, फिर वृद्ध हो गया। मैं अपने भूत-काल के शरीर को स्मृति द्वारा देखता हूँ। मैं क्या देखता हूँ? मैं अपने बचपन के शरीर को, बालपन के, युवापन के, प्रौढपन के शरीर को स्मृति द्वारा देखता हूँ—वह 'मैं' —जो इस समय न बच्चा हूँ, न युवा हूँ। मैं इस समय अपने ही लिए 'साक्षी' बना हुआ हूँ, अपने ही लिए 'द्रष्टा' बना हुआ हूँ, अपने को अपने से भिन्न अनुभव कर रहा हूँ। जो बात भूत के विषय मे कही जा सकती है वही भविष्यत् के विषय मे कही जा सकती है। मैं जैसे स्मृति द्वारा, साक्षी और द्रष्टा बनकर, अब मे पहले जो-कुछ 'मैं' था, उसे भी देख सकता हूँ, वैसे ही कल्पना द्वारा, आगे चल कर, भविष्य मे, बीसियो बरस बाद जो-कुछ हो जाऊँगा, उसे देख सकता हूँ। इस प्रकार भविष्य मे अपने को कल्पना द्वारा देखना चेतना का अपने को शरीर से भिन्न अनुभव करना है। यह अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है; ऐसा अनुभव करने के लिए व्यक्ति का दार्शनिक होना जरूरी नही है। जैसे भूत तथा भविष्यत् मे आत्मा अपने को शरीर से भिन्न अनुभव करता है, वैसे ही वर्तमान मे भी वह अपने को शरीर से भिन्न क्यो अनुभव नही कर सकता?

एक उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी। नाटक मे एक व्यक्ति शिवाजी का काम कर रहा है। बाहर से देखने पर वह शिवाजी बना हुआ है, परन्तु भीतर से वह जानता है कि वह शिवाजी नही है। काम तो सब वह शिवाजी के कर रहा है, फिर कैसे जानता है कि वह शिवाजी नही है? इसलिए जानता है क्योंकि शिवाजी के सब काम करता हुआ भी वह उन सब कामो से अपने को जुदा करके, 'साक्षी' बन कर, 'द्रष्टा' बन कर देख रहा है। नाटक का प्रत्येक पात्र इस बात को जानता है। जो इस बात जो अनुभव कर लेता है कि मनुष्य के भीतर भी एक नाटक खेला जा रहा है वह अपने चेतन-तत्त्व को शरीर

से पृथक् देख लेता है। तभी उपनिषद् ने चेतन-तत्त्व के विषय मे कहा है—**'साक्षी, चेता, केवलो, निर्गुणश्च'**—शरीर के भीतर बैठा हुआ वह चेतन-तत्त्व 'साक्षी' (Witness) है—हमारे भीतर जो नाटक खेला जा रहा है उसे वह देख रहा है। आग्ल कवि शेक्सपीयर ने इस भाव को बडे उत्तम शब्दो मे कहा है :

"All the world is a stage,
And all men and women merely players,
They have their exits and their entrances"
—(As You Like It, Act. ii, Sec. 7, 1)

—संसार एक नाटकशाला है जिसमे हम सब नाटक के पात्र हैं। गीता मे श्रीकृष्ण ने भी कुछ ऐसी-ही बात कही है—**'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया'**—हम सबको वह यन्त्र पर चढी पुतलियो की तरह नचा रहा है। शेक्सपीयर तथा गीता के वाक्यो मे इतना और जोड देने की गुजाइश है कि ससार ही एक नाटकशाला नही, प्रत्येक मनुष्य का भीतरी-जीवन भी एक नाटकशाला है जिसमे बैठा चेतन-तत्त्व मन तथा शरीर के खेल को द्रष्टा बन कर देख रहा है।

10. 'मन', 'आत्मा', 'चेतना' तथा 'ईश्वर' में भेद

मन, आत्मा तथा चेतना—ये तीनो शब्द ऐसे हैं जो एक-दूसरे से इतने जुडे हुए हैं कि उनमे भेद कर सकना कठिन है। फिर भी इन तीनो को एक-दूसरे से भिन्न मान लेने से कुछ तथ्य ज्यादा सुलझ जाते है। जैसा हम पहले कह आए है, साख्य की दृष्टि से मन भौतिक है, एक दृष्टि से 'तन्त्रिका-तंत्र' (Nervous-system) ही मन है। मन भौतिक है, चेतना तथा आत्मा अभौतिक है—मन एक कोटि मे और चेतना तथा आत्मा दूसरी कोटि मे हैं। अब प्रश्न यह है कि चेतना तथा आत्मा मे क्या समानता तथा क्या भेद है ? 'चेतना' (Consciousness) तथा 'आत्मा' (Soul)—ये दोनो अभौतिक हैं—'मन' से, जो तन्त्रिका-तंत्र का ही दूसरा नाम कहा जा सकता है, उससे भिन्न हैं, परन्तु अभौतिकता का गुण दोनो मे समान होने के कारण, एक-दूसरे के समान है। 'चेतना' तथा 'आत्मा'—ये दोनो जहाँ अभौतिक हैं वहाँ चेतन भी है, इस कारण ये 'मन' से तो भिन्न हैं, परन्तु चेतनता के गुण के कारण जो दोनो मे पाया जाता है, एक-दूसरे के समान हैं। ध्यान मे लाने की बात यह है कि इन समानताओ के होते हुए भी 'चेतना' तथा 'आत्मा' एक-दूसरे से भिन्न है। 'चेतना' (Consciousness) सब जगह व्याप्त है, सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त है, यह व्यापक-सत्ता है, सीमित-सत्ता नही है, जहाँ-जहाँ जीवन है—जीवन, अर्थात् जहाँ-जहाँ वृद्धि और विकास है—घास मे, पात मे—उस हर जगह 'चेतना' है, 'चेतना' जो 'समष्टि' का गुण है; 'आत्मा'

(Soul—Self) व्यापक नही है, यह व्यक्ति मे, व्यष्टि मे सीमित है। 'चेतना' विश्व मे प्रवाहित हो रहे जीवन का नाम है, 'आत्मा' जहाँ जीवन दिखलाई देता है, उस जीवन मे 'अहंत्व' (I-ness) के प्रविष्ट हो जाने का नाम है। जीवन की अजस्र-धारा विश्व मे अनवरत वह रही है, उसमे जहाँ अनुभूतिपूर्वक 'अहंत्व' की प्रतीति होती है वही 'आत्मा'-शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, तभी हमने 'चेतना' को 'समष्टि' तथा 'आत्मा' को 'व्यष्टि' का रूप कहा—यद्यपि चेतनता का गुण दोनो मे मौजूद है। इस दृष्टि से यह सम्भव है कि कही चेतना हो, परन्तु आत्मा न हो, क्योंकि चेतना समष्टि मे रहती है, आत्मा व्यष्टि मे रहता है। उदाहरणार्थ, वृक्ष-वनस्पति मे चेतना है, जीवन है, आत्मा नही है। जहाँ-जहाँ आत्मा है वहाँ-वहाँ जीवन है, चेतना है, परन्तु जहाँ-जहाँ जीवन है, चेतना है, वहाँ-वहाँ आत्मा का होना आवश्यक नही है। घास-पात मे जीवन है, परन्तु उसमे कर्म का भोग करने वाला आत्मा नही है, मनुष्य मे आत्मा है, उसमे जीवन भी है। इस विषय पर हमने कुछ विस्तार से पंचम अध्याय मे चर्चा की है। 'चेतना' तथा 'आत्मा' के भेद के बाद 'चेतना' तथा 'परमात्मा' के भेद का प्रश्न उठ खडा होता है। 'चेतना' तथा 'परमात्मा' मे चेतनता तथा व्यापकता का गुण दोनो मे एक-समान है, परन्तु उसी चेतनता को—जब वह सर्जन, पालन, सहार की क्रिया कर रही होती है—हम परमात्मा कह देते हैं, सर्जनात्मक-चेतनता 'ब्रह्मा' कहलाती है, धारणात्मक-चेतनता 'विष्णु' कहलाती है, विनाशात्मक-चेतनता 'महेश' कहलाती है। यह तो सम्भव है कि कही 'चेतना' तो हो परन्तु वहाँ व्यक्तिनिष्ट 'आत्मा' न हो; यह सम्भव नही कि कही 'चेतना' हो, परन्तु वहाँ समष्टिनिष्ट 'ईश्वर' न हो।

मन, आत्मा, चेतना तथा ईश्वर के विचार मे यह भेद विलक्षण-सा लगता है, परन्तु अगर उक्त सत्ताओ पर उक्त दृष्टि से विचार किया जाय, तो भौतिक-वाद तथा अध्यात्मवाद के भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की आपसी टक्कर की अनेक उलझनें सुलझ सकती हैं। इस स्थल पर हमने विचार की एक दिशा की तरफ सकेत किया है, अन्तिम-सत्य तो सब सत्यो का जाननेहारा ही जानता है।

11 क्या आत्मा चेतना का प्रवाहमात्र है ?

युरोप मे अरस्तु (384-322 ई० पू०) के समय 'आत्मा' की स्वतत्र रूप मे सत्ता मानी जाती थी, परन्तु 18वी शताब्दी मे ऐसे विचारक उत्पन्न हो गए जिनका कहना था कि 'आत्मा' की स्वतन्त्र रूप मे कोई सत्ता नही, जिसे हम आत्मा कहते हैं वह 'प्रत्ययों' (Ideas) का पुजमात्र है। 'आत्मा' है या नही—इसे कौन जानता है ? मन को किसने देखा है ? हाँ, हम अनुभव करते हैं कि हम मे 'चेतना' है। हम मे विचार आते है, जाते है—इससे कौन इन्कार कर सकता है ? हमारी चेतना जन्म से प्रत्यय-शून्य है। उसमे बाह्य-जगत् से 'विचार'

—'प्रत्यय'—आते-जाते रहते हैं। मन एक 'खाली-पट्टी' (Tabula rasa) के समान है। ज्यो-ज्यो हम ससार के विषयो के सम्पर्क मे आते है, त्यो-त्यो इस पट्टी पर 'प्रत्ययो' (Ideas) के सस्कार पडते जाते है। इन 'प्रत्ययो' का आपस मे सम्बन्ध जुड जाता है। सम्बन्य जुडने के अनेक कारण है जिनमे से मुख्य है—'आवृत्ति'—प्रत्यय का बारबार आना—(Frequency), 'आसन्नता'—(Recency), 'सजीवता'—(Vividness) आदि। आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता नही, प्रत्ययो का आपस मे सम्बन्ध जुड़ जाना मात्र है। इन प्रत्ययो को ही 'चेतना' कहा जा सकता है। हमे आत्मा की अनुभूति नही होती, 'चेतना' की अनुभूति होती है, 'चेतना' आत्मा की तरह कोई स्थिर तत्त्व नही है। अभी एक प्रत्यय आया, फिर दूसरा आ गया, इनको एक सूत्र मे बाँधने वाला कोई तत्त्व नही है, ये सिर्फ एक-दूसरे से उक्त कारणो के कारण जुडे रहते हैं, इनका आपस मे 'कारण-कार्य' (Causation) का भी सम्बन्ध नही है। यह विचार जॉन लौक (1662-1704) तथा डेविड ह्यूम (1711-1776) ने दिया।

जॉन लौक तथा डेविड ह्यूम से बहुत पहले बौद्ध-धर्म मे महात्मा बुद्ध (563-483 ई० पू०) ने भी आत्मा के विषय मे इसी विचार का प्रतिपादन किया था। बौद्ध-धर्म मे आत्मा की सत्ता को स्वीकार नही किया जाता, आत्मा के सम्बन्ध मे बौद्धो का सिद्धान्त 'नैरात्म्यवाद' कहलाता है। उनका कहना है कि जैसे नदी की अनविच्छिन्न-धारा बहती चली जाती है, इस क्षण जो जल है अगले क्षण वह वह नही है, जैसे दीप-शिखा अनवरत प्रज्वलित हो रही है, इस क्षण जो शिखा है अगले क्षण वह वह नही है, वैसे ही चेतना का प्रवाह हमारे भीतर प्रवाहित हो रहा है। मिलिन्द पन्हो मे आत्मा के विषय मे नागार्जुन तथा यवन राजा मिलिन्द का वार्तालाप पाया जाता है। मिलिन्द ने नागार्जुन से पूछा—आत्मा क्या है? उत्तर मे नागार्जुन ने राजा से पूछा—रथ क्या है? क्या दण्ड, क्या पहिए रथ है, क्या लगाम रथ है, क्या चाबुक रथ है? राजा को कहना पड़ा कि न दण्ड रथ है, न पहिये रथ है, न लगाम, न चाबुक, इन सबके जोड का नाम रथ कह दिया जाता है। नागसेन ने कहा—यही बात 'आत्मा' के विषय मे समझो। लौक तथा ह्यूम का कहना था कि आत्मा की स्वतत्र सत्ता नही, विचार, प्रत्यय की ही सत्ता है, प्रत्यय चेतना का ही दूसरा नाम है, इसी तरह नागार्जुन का कथन है कि आत्मा की सत्ता नही, चेतना के भिन्न-भिन्न अंगो की सत्ता है। चेतना के भिन्न-भिन्न अंगो को बौद्ध-दर्शन मे रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—इन पाँच अवयवो मे बाँटा गया है, इनका पारिभाषिक नाम 'स्कन्ध' है, इसलिए **'पचस्कन्ध'** को ही 'आत्मा' कह दिया जाता है, जैसे लौक तथा ह्यूम के कथनानुसार 'प्रत्ययो के साहचर्य' (Association of Ideas) को भ्रमवश हम आत्मा कह देते है।

बौद्धो के दार्शनिक-सिद्धान्तो मे एक मुख्य सिद्धान्त **'संघातवाद'** का है। अभी हमने जिन पंचस्कंधो का उल्लेख किया वह **'संघातवाद'** का ही उदाहरण है। 'सघात'—अर्थात्, जोड, पुज। बौद्धो की दृष्टि मे आत्मा की स्वतन्त्र रूप मे कोई सत्ता नही है—पाँच स्कन्धो के सघात को, पुज को, जोड को ही आत्मा कह देते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है—'स्कन्धो के सघात' के पाँच 'स्कन्ध' हैं—**'रूप'**, **'वेदना'**, **'संज्ञा'**, **'संस्कार'** तथा **'विज्ञान'**।

'रूप' क्या है ? जो वस्तु दीखती हो, पकड़ मे आती हो, भारी हो, जगह घेरती हो, वह रूप है। पृथिवी, अप्, तेज, वायु—ये रूपात्मक हैं, इनसे बना शरीर भी रूपात्मक है। पाँच स्कन्धों का यह पहला स्कन्ध है। रूप-स्कन्ध के अलावा जो वस्तु दीखती नही, पकड मे नही आती, जिसका भार नही, जो जगह नहीं घेरती, वह 'नाम' कहलाती है। वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये चार 'स्कन्ध' नाम मे आ जाते है। बौद्धो का कहना है कि इस प्रकार रूप और नाम के संघात को आत्मा कह देते हैं—सक्षेप मे, आत्मा की स्वतन्त्र तौर पर अपनी कोई सत्ता नही है।

'रूप' का उल्लेख हमने ऊपर किया। 'नाम' मे वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान—ये अरूपात्मक मानसिक-वृत्तियाँ आ जाती हैं, 'अरूपात्मक' इसलिए क्योंकि इनका 'रूप' नही है।

'वेदना' क्या है ? रूपात्मक वस्तु से किसी को सुख होता है, किसी को दुःख होता है, रूपात्मक वस्तु के प्रति इस प्रकार का अनुभव 'वेदना' कहलाती है। 'वेदना' का स्वय कोई रूप नही है, इसलिए यह अरूपात्मक है।

'संज्ञा' क्या है ? रूपात्मक वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव करने पर जो प्रतीति होती हैं वह 'सज्ञा' है। 'सज्ञा' का स्वय कोई रूप नही है।

'संस्कार' क्या है ? वेदना या सज्ञा का स्मृति मे अंकित हो जाना 'संस्कार' कहलाता है।

'विज्ञान' क्या है ? हमारे भीतर जो चैतन्य-गुण है, वह 'विज्ञान' है। वस्तु का सविकल्पक तथा सगुण प्रत्यक्ष 'सज्ञा' कहलाती है, निर्विकल्पक तथा निर्गुण प्रत्यक्ष 'विज्ञान' कहलाता है।

बौद्धो के सघातवाद के अनुसार आत्मा की स्वतन्त्र रूप मे कोई सत्ता नही है, उक्त पाँच स्कन्धो के जोड़ को ही आत्मा का नाम दे दिया जाता है, जोडने वाली कोई सत्ता—जैसे मनको मे सूत्र—ऐसी 'आत्मा' नाम की कोई सत्ता नही है—इसी को **'नैरात्म्यवाद'** कहते हैं।

बौद्ध-दार्शनिक 'स्कन्धो' के पुज की और पाश्चात्य-दार्शनिक 'प्रत्ययो' के पुंज की पृथक्-पृथक् सत्ता मानते हैं, आत्मा को मानने की आवश्यकता नही समझते। ये 'प्रत्यय', ये 'स्कन्ध' ही चेतना के रूप हैं।

परन्तु क्या 'आत्मा' की स्वतन्त्र-सत्ता नही है ? क्या चेतना का ही नदी की धार की तरह, दीप-शिखा के ज्वलन की तरह, प्रत्ययो के सहचार की तरह प्रवाह वह रहा है, इनके जोड को, पुज को ही भ्रमवश हम आत्मा का नाम दे देते है, या आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है, और जिन्हे हम 'स्कन्व' कहते है, 'प्रत्यय' कहते है, वे स्वतन्त्र नही है, वे आत्मा के गुण हैं।

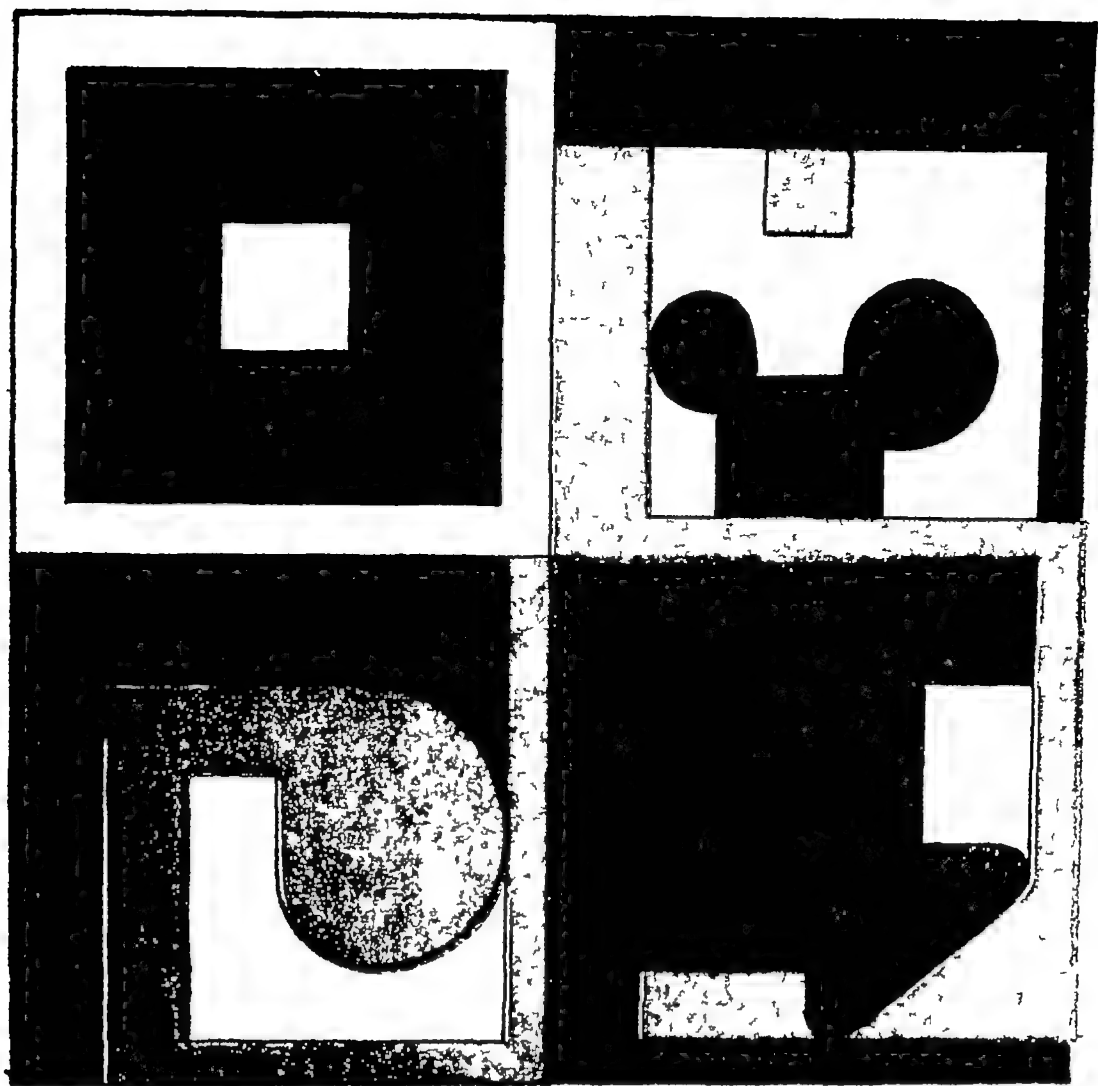
डेकार्ट (1596-1650) का हम पहले भी उल्लेख कर आए है। उसका कहना है कि मान भी ले कि आत्मा नही है, तो भी यह तो मानना पडता है कि मैं सन्देह करता हूँ कि आत्मा है या नही है। अगर यह मान लिया जाय कि मैं सन्देह करता हूँ, तो विवश होकर यह मानना पडेगा कि मैं विचार करता हूँ। जो विचार करेगा वही तो सन्देह कर सकेगा कि मैं हूँ या नही हूँ। अगर मैं विचार करता हूँ, तो यह निश्चित हो गया कि मैं हूँ—(I doubt, this is absolutely certain. Now, to doubt is to think. Hence, it is certain that I think. To think is to exist. Hence it is certain that I exist)—डेकार्ट की आत्मा-सिद्धि की इस युक्ति को—*Cognito ergo sum*—कहा जाता है—'मै विचार करता हूँ, इसलिए मैं हूँ'।

चेतन-तत्त्व की सत्ता सिद्ध करते हुए जर्मन विचारक शोपनहॉर का कथन है कि चेतन-तत्त्व मौजूद है इससे तो इन्कार नही किया जा सकता, इतना ही कहा जा सकता है कि चेतन-तत्त्व जड-प्रकृति का, दूसरे शब्दो मे 'मन' (Mind) 'भौतिक-तत्त्व' (Matter) का ही परिणाम है। उसका कहना है कि हम 'मन' को जड़-प्रकृति का परिणाम कैसे मान सकते है जव प्रकृति का ज्ञान ही हमे मन के द्वारा होता है—'How can we explain mind as matter, when we know matter only through mind'—(देखो—The Story of Philosophy . Will Druant द्वारा लिखित, पृ० 337)।

आत्मा के विषय मे शकराचार्य की विचारधारा का उल्लेख करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' (पृ० 348) मे लिखते है . "वर्तमान को इस समय मैं जानता हूँ, अतीत को मैंने जाना, अनागत को मैं जानूंगा—इस अनुभव परम्परा मे ज्ञातव्य-वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का रूप कथमपि परिवर्तित नही होता क्योकि वह सर्वदा अपने स्वरूप मे विद्यमान रहता है। शकराचार्य ने अन्यत्र इसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि सब किसी को आत्मा के अस्तित्व मे भरपूर विश्वास है, ऐसा कोई व्यक्ति नही है जो विश्वास करे कि '**मैं नहीं हूँ**'। यदि आत्मा न होता, तो सब किसी को अपने न रहने मे विश्वास होता, परन्तु ऐसा तो कभी होता नही। अतः आत्मा की स्वत.सिद्धि माननी ही पडती हैं।"

'आत्मा'-शब्द का अर्थ ही यह है—'आत्मान जानातीति आत्मा'—अर्थात्, जिसे अपने-आप की प्रतीति हो वह 'आत्मा' है। यह डेकार्ट के उक्त कहने के समान है कि क्योंकि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ। वृहदारण्यक (2 अध्याय, 14) मे भी याज्ञवल्क्य ने आत्मा के लिए इसी युक्ति का उपयोग किया है। वहाँ लिखा है **'विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्'**—जो जान रहा है उसे किसी दूसरे से कैसे जाना जा सकता है, अर्थात्—'मैं जान रहा हूँ'—इतना ही क्या आत्मा के स्वतन्त्र-अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है।

वौद्धो, लौक तथा ह्यूम का यह कहना कि आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता नही है, चेतना का प्रवाह हो रहा है, इसके अतिरिक्त कुछ नही है—भ्रान्तिमूलक विचार है। 'मैं' का सूत्र चेतना के सव अनुभवो मे मौजूद रहता है। वचपन मे जो मैं था, युवावस्था मे जो मै था, वृद्धावस्था मे जो मैं रहूँगा—ये सव 'मैं' अगर प्रत्यय-मात्र हैं, अगर नदी के जल के प्रवाह मात्र है, अगर दीप-शिखा की क्षण-क्षण वदल रही ज्वालामात्र हैं, तो वाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था एक ही व्यक्ति की कैसे हो सकती है, इन सवमे 'मैं-पन' कैसे हो सकता है ? नदी के प्रवाह को एक वनाने वाला उसका धरातल है, दीप-शिखा को एक वनाने वाला दीया, तेल तथा वत्ती है। हमारे भिन्न-भिन्न प्रत्ययो को एक कौन वना देता है ? सात साल मे शरीर के सव अग वदल जाते है, हर साल नया शरीर वन जाता है, फिर इस शरीर में एकता की अनुभूति कैसे वनी रहती है। नदी तथा दीप-शिखा मे हमे एकता का जो अनुभव होता है, वह मिथ्या हो सकता है, परन्तु हमे तो अपने भीतर ही शरीर के अणु-अणु के वदल जाने पर भी 'मैं वही हूँ' का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। यह ज्ञान विना आत्मा के स्वतन्त्र-अस्तित्व को माने नही वन सकता। याज्ञवल्क्य, शकराचार्य तथा डेकार्ट की आत्म-सिद्धि-विषयक इस युक्ति का आज तक भौतिकवादियो ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नही दिया है। इसके अतिरिक्त ह्यूम ने तो 'कारण-कार्य के नियम' (Law of Causation) को भी मानने मे इन्कार कर दिया है। उसका कहना है कि एक प्रत्यय के वाद दूसरा प्रत्यय आ जाता है, उनके सम्वन्ध को ही हम कारण-कार्य कह देते हैं, उनके मिलाने वाला, प्रत्ययो को जोडने वाला आत्मा जैसा कोई स्थिर कारण नही है। यह एक अत्यन्त क्लिष्ट-कल्पना है क्योंकि कारण-कार्य के नियम पर ही शका कर देने से विज्ञान का सारा ढाँचा ही ढह जाता है।



सोऽयमात्मा चतुष्पात् (माण्डूक्योपनिषद्, 2)

'चेतना' पर इस अध्याय मे कुछ गहरा विचार किया गया है। सबसे पहला प्रश्न यह है कि क्या 'चेतना'—'जीवन'—Life—'प्रकृति' (Matter) से उत्पन्न होती है, या जीवन जीवन से ही उत्पन्न हो सकता है ? इस सम्बन्ध मे 'अजीवनात्-जनन' (Abiogenesis) तथा 'जीवनात्-जनन' (Biogenesis)—ये दो विचारधाराएँ है। भौतिकवादी कहते है कि प्रकृति से, स्वय, अकस्मात् जीवन उत्पन्न हो जाता है, जैसे गोबर मे से कीडे रेंगने लगते है, परन्तु अध्यात्म-वादियो का कहना है कि जहाँ अजीवन से जीवन प्रकट होता प्रतीत होता है, वहाँ सूक्ष्म-रूप मे—जर्म आदि के तौर पर—जीवन पहले से मौजूद होता है। भौतिकवादी 'चेतना' की उत्पत्ति मानते हैं, अध्यात्मवादी 'चेतना' को नित्य मानते हैं।

'चेतना' के सम्बन्ध मे माण्डूक्योपनिषद् मे विचार करते हुए उसकी चार अवस्थाओ का वर्णन किया गया है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—इन्ही का उद्धरण देते हुए हमने ऊपर 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' लिखा है। पाश्चात्य-

मनोविज्ञान का आधार-स्तम्भ फ्रॉयड का मनोविश्लेपणवाद (Psycho-analysis) है। इस वाद की परिभापा मे उपनिपद् की जागृतावस्था को 'सचेतनावस्था' (Conscious state), स्वप्नावस्था को 'अवचेतनावस्था' (Sub-conscious state) तथा सुपुप्तावस्था को 'अचेतनावस्था' (Unconscious state) कहा जा सकता है। उपनिषद् की तुरीयावस्था का मनोविश्लेपणवाद मे जिक्र नही है। मनोविश्लेपणवाद 'अचेतन' (Unconscious) तक जाकर जिसमे गन्द भरा रहता है, अटक जाता है, औपनिपदिक-विचार गन्द भरे मन से आगे निकल कर 'तुरीयावस्था' मे जा पहुँचता है जिसमे जाकर विश्व-चेतना से सम्पर्क हो जाता है—विश्व-चेतना जिसे हमने समष्टि-चेतना कहा है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जहाँ पहुँच कर आत्मा का आनन्दमय के साथ सम्पर्क हो जाता है। इस सम्बन्ध मे हमने निद्रा का आधुनिकतम मनोवैज्ञानिक प्रयोगात्मक वर्णन किया है जिससे सिद्ध होता है कि स्वस्थ-निद्रा वह अवस्था है जिसमे आत्मा शरीर तथा ससार का साथ छोड कर सृष्टि के अन्तराल मे छलछलाते आनन्द के समुद्र मे गोते खाकर जब शरीर मे लौटता है तब आनन्द-विभोर होता है, तभी सुपुप्ति से लौट कर वह कहता है—ऐसा आनन्द आया जैसा ससार के विपयो के उपभोग से कभी नही मिला।

जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति, तुरीय का वाणी के वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा स्तर के साथ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को बनाये रखने वाला सूत्र 'ओकार' है। किस तरह 'ओकार' का जाप वाणी के परा-स्तर मे आने पर चेतना के तुरीय-स्तर को छूता है—इस सम्बन्ध मे इस अध्याय मे चर्चा है। चेतना की सुपुप्ति या तुरीय-अवस्था अनजाने सब की होती है, यह अनजानी अवस्था इस बात की सूचक है कि ध्यानपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक भी वही अवस्था लायी जा सकती है। उसी को 'समाधि' कहते हैं। यही यथार्थ अध्यात्मवाद है, अपने को ब्रह्म कह देना मात्र अध्यात्मवाद नही है।

इसी प्रकरण मे फ्रॉयड के 'मनोविश्लेपणवाद' (Psycho-analysis) तथा एडलर के 'व्यष्टि-मनोविज्ञान' (Individual Psychology) की चर्चा करते हुए 'लिबिडो' (Libido) की 'काम' से, एडलर के 'स्वाग्रह' (Self-assertion) की 'अहकार' से तुलना करते हुए 'पुत्रैपणा'-'वित्तैपणा'-'लोकैपणा' पर इस अध्याय मे तुलनात्मक प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय

चेतना

(CONSCIOUSNESS)

पिछले तीन अध्यायों में हमने देखा कि 'मन' क्या है, 'आत्मा' क्या है, इन दोनो मे भेद क्या है। 'मन' तथा 'आत्मा' के विषय मे हमने जो-कुछ जाना, उससे आगे भी जानने लायक कुछ रह जाता है। ससार मे दो तत्त्व तो साक्षात् दीखते हैं—जड तथा चेतन। जड 'प्रकृति' का नाम है, चेतन मे 'आत्मा' तथा 'परमात्मा' आ जाते हैं। 'मन' को हमने साख्य के दृष्टिकोण से प्रकृति की परिणति कहा है, 'तन्त्रिका-तन्त्र' का ही गुण कहा है। 'परमात्मा' पर तो अगले अध्याय मे लिखेंगे, 'मन' तथा 'आत्मा' पर पहले लिख आये हैं। 'मन' तन्त्रिका-तंत्र है, आधिभौतिक है, परन्तु 'आत्मा' सिर्फ 'तन्त्रिका-तन्त्र' नही, आधिभौतिक नही, आधिभौतिक से भिन्न आध्यात्मिक-सत्ता है। इस आध्यात्मिक-सत्त ाको हमने 'चेतना' नही कहा, 'आत्मा' कहा है। तो फिर, 'चेतना' क्या है? चेतना पर हम कुछ पिछले अध्याय मे लिख आये है, कुछ विशेष यहाँ लिखेंगे।

1. चेतना क्या है—क्या चेतना प्रकृति से उत्पन्न होती है?

ससार मे हमे दो तत्त्व दीखते है—जड तथा चेतन। जितने प्राकृतिक-पदार्थ हैं, वे सब जड़ है; इन जड़-पदार्थों के अतिरिक्त हमे चेतना भी दिखलाई पडती है, जितने प्राणी हैं वे चेतन है। चेतना को हमने दो भागो मे बाँट रखा है—आत्मा तथा परमात्मा। इस प्रकार इन तीन तत्त्वो पर ही सब विचारक घूमा करते हैं। भौतिकवादी चेतना को नही मानते, उनका कहना है कि जड़-प्रकृति की ही यथार्थ-सत्ता है, विकास की प्रक्रिया होते-होते जड से ही चेतना का विकास हो जाता है; इसके विपरीत अध्यात्मवादियो मे से वेदान्ती जड़-प्रकृति को नही मानते, उनका कहना है कि चेतना ही जड रूप हो जाती है, भले ही वे उसे लीला कहे, माया कहे, भ्रम कहे। हम यहाँ क्योकि चेतना की चर्चा कर रहे है, इसलिए इस प्रकरण मे यह विचार करना आवश्यक है कि क्या जड-प्रकृति से चेतन-सत्ता का विकास हुआ है, या चेतन की जड-प्रकृति मे पृथक्, स्वतन्त्र सत्ता है, भले ही वह 'आत्मा' के रूप मे हो, 'परमात्मा' के रूप मे हो, या सिर्फ 'चेतना' के रूप मे हो।

भौतिकवादी कहते है कि जड-प्रकृति से ही चेतना उत्पन्न हो जाती है—इस विचार को अग्रेज़ी मे Abiogenesis—'अजीवनात्-जनन'—कहते हैं, अध्यात्मवादी कहते है कि चेतन से ही चेतन उत्पन्न हो सकता है, दीये से ही दीया जल सकता है, जड से जड तो वन सकता है, चेतन नही वन सकता—इस विचार को अग्रेज़ी मे Biogenesis—'जीवनात्-जनन'—कहते हैं—अर्थात्, Living matter can arise only from living matter.

अगर जड से चेतन उत्पन्न हो सकता है, तो अध्यात्मवादियो का सारा महल ढह जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ऐसा हो भी सकता है ? तर्क यह कहता है कि यह वात युक्ति के सर्वथा विरुद्ध है। जड से चेतन तभी उत्पन्न हो सकता है अगर जड मे चेतन पहले से मौजूद हो। वीज से वृक्ष पैदा होता है क्योंकि सूक्ष्म-रूप मे वृक्ष वीज मे पहले से मौजूद होता है। अगर चेतन, सूक्ष्म-रूप मे, वीज-रूप मे, जड मे पहले से ही मौजूद है, तो जड जड नही रहा, चेतन हो गया, अगर मौजूद नही है, तो जड से चेतन किसी हालत मे पैदा नही हो सकता। दर्शनशास्त्र का सिद्धान्त है—**'कारण-गुण पूर्वक कार्य-गुणो दृष्टः'** (वैशेषिक दर्शन, 1, 2, 24)—कार्य मे जो गुण हो वे पहले से कारण मे होना ज़रूरी है। जव कार्य-रूप जड मे चेतना है ही नही, तव जड-प्रकृति से चेतना पैदा कैसे हो सकती है ? कहा जा सकता है कि प्रयोगो के आधार पर देखा गया है कि जड वस्तु से चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे गोवर मे कीडे। यह दृष्टान्त भ्रान्तिमूलक है क्योंकि गोवर मे या जहाँ-कही भी किसी जड वस्तु मे चेतना पकट होती है वहाँ जर्म (Germs) पहले से मौजूद होते है। ये सव वातें तभी कही जाती हैं जव चेतना के प्रकट होने के सिद्धान्त को ठीक तौर से न समझा जाए। चेतना कव और कहाँ प्रकट होती है ? चेतना अपने को भौतिक-तत्त्व मे तव और वहाँ प्रकट करती है जव और जहाँ उसके प्रकट होने के सव साधन मौजूद हो। स्त्री के गर्भाशय मे ऐसी परिस्थिति मौजूद होती है कि वहाँ पुरुष के शुक्राणु अगर स्त्री के अडाणु के साथ सम्पर्क मे आएँ, तो जीवात्मा उचित परिस्थिति के कारण वहाँ प्रवेश कर जाता है, अगर यह ही परिस्थिति गर्भाशय के वाहर कही उपस्थित कर ली जाय, तो जीवात्मा वहाँ प्रवेश कर जायगा। आवश्यक शर्त, उचित परिस्थिति है। परख-नली मे वच्चो के उत्पन्न होने (Test-tube babies) की वात मे कुछ सिद्ध नही होता, क्योंकि उत्पत्ति का सम्वन्ध गर्भाशय से नही, परिस्थिति से है। सव वातो की एक वात यह है कि अभी तक जड से किसी चेतन की उत्पत्ति नही हुई, चेतन से ही चेतन की उत्पत्ति—'जीवनात् जनन'—(Biogenesis) देखी जाती है, अगर कोई दृष्टान्त जड से चेतन की उत्पत्ति का कभी मिलेगा, तो भी वहाँ यही कहा जा सकेगा कि क्योंकि तुमने चेतन के प्रकट होने की परिस्थिति उत्पन्न कर दी, इसलिए वह वहाँ अनुकूल

परिस्थिति पाकर प्रकट हो गया, जड़ से उत्पन्न नही हुआ। जड को कितना ही सूक्ष्म करते जाएँ, परमाणुओ तक चले जाएँ, उसमे कही चेतना प्रकट नही होती। भौतिकी-विज्ञान (Physics) ने जड का विश्लेषण करते-करते यही तो पता लगाया है कि प्रत्येक जड वस्तु परमाणुओ से बनी है, परमाणु की रचना इलैक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन—इन विद्युत्कणो से बनी है जो शक्ति-रूप न्यूक्लिअस के गिर्द सौर-मण्डल की तरह चक्कर काटते हैं। प्रत्येक भौतिक-वस्तु की रचना मे ये ही तत्त्व हैं, इनकी सख्या मे भेद से वस्तु का भेद हो जाता है। ये विद्युत्कण 'धनात्मक' (Positive) तथा 'ऋणात्मक' (Negative) कहलाते है, धनात्मक के गिर्द ऋणात्मक तीव्र वेग से चक्कर काटता है। 'प्रकृति' (Matter) सिर्फ धनात्मक तथा ऋणात्मक विद्युत्कण हैं, ऊर्जामात्र (Energy) है। परन्तु 'प्रकृति'—'भौतिक-द्रव्य'—(Matter) के इस सम्पूर्ण विवेचन मे वह बिन्दु कही नही मिला जहाँ कहा जा सके कि प्रकृति का विश्लेषण करते-करते यह रहा वह स्थल जहाँ प्रकृति मे चेतना उपलब्ध हो गई। प्रकृति के विश्लेषण से वह ऊर्जा मे तो विश्लिप्ट हो गई, परन्तु ऊर्जा चेतना मे विश्लिष्ट नही हुई, जड़ तथा चेतन का भेद जो स्थूल रूप मे मौजूद था, वह प्रकृति की सूक्ष्मतम अवस्था मे जहाँ मैटर टूटता-टूटता 'ऊर्जा' (Energy) मे बदल गया—वहाँ भी वह भेद वैसे-का-वैसा बना रहा क्योकि एनर्जी भी तो मैटर का ही एक रूप है। ऐसी हालत मे 'चेतना' की 'जड़' से स्वतन्त्र सत्ता माननी पड जाती है।

2. चेतना के विषय में शास्त्रीय-विचार

माण्डूक्य उपनिषद् मे 'चेतना' की चार अवस्थाओ का वर्णन किया गया है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। चेतना की 'जाग्रत-अवस्था' वह है जो हमे प्रत्यक्ष रूप मे दिखलाई देती है। हम जागते है, उठते-बैठते है, बोलते-चालते, खाते-पीते हैं। यह जाग्रत-अवस्था है जिसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-परिभाषा मे 'सचेतनावस्था' (Conscious state) कहा जा सकता है। चेतना की द्वितीय अवस्था वह है जिसे शास्त्रो मे 'स्वप्नावस्था' या पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-परिभाषा मे 'अव-चेतनावस्था' (Sub-conscious state) कहा जा सकता है। चेतना की तृतीय-अवस्था वह है जिसे शास्त्रो मे 'सुपुप्ति-अवस्था' या पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-परिभाषा मे 'अचेतनावस्था' (Un-conscious state) कहा जा सकता है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान मे चेतना की चतुर्थ-अवस्था का कोई जिक्र नही है, परन्तु माण्डूक्य उपनिषद् मे जहाँ चेतना की अवस्थाओ का उल्लेख है, चेतना की एक चतुर्थ-अवस्था का वर्णन आता है जिसे वहाँ चेतना की 'तुरीयावस्था' (Supra-conscious state or Transcendental state) का नाम दिया गया है।

पहले हम चेतना के सम्बन्ध मे श्रौपनिपदिक विचार पर प्रकाश डालेंगे, फिर चेतना के सम्बन्ध मे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-विचारधारा पर कुछ लिखेंगे।

'चेतना' पर श्रलग-से लिखने की श्रावश्यकता क्यो हुई—इसका विशेष कारण है। 'मन' पर लिखते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका एक श्रलग-से कोई स्वरूप है, उसकी भाव-वाचक सत्ता न होकर व्यक्तित्व-वोधक सत्ता है; श्रात्मा तथा परमात्मा पर लिखते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि उनका कोई स्थूल स्वरूप है, उनकी व्यक्तित्व के रूप मे एक पृथक् सत्ता है। इसी सत्ता, इसी व्यक्तित्व के सामने श्राते ही श्रनेक शकाएँ उठ खडी होती हैं। 'चेतना' का व्यक्तित्व के रूप मे कोई स्वरूप नही प्रतीत होता यद्यपि चेतना की श्रनुभूति हर-किसी को होती है। कोई मन को माने या न माने, श्रात्मा को माने या न माने, परमात्मा को माने या न माने, चेतना के विपय मे तो किसी को सन्देह ही नही होता। यद्यपि चेतना पर लिखना मन, श्रात्मा, परमात्मा पर लिखने के ही समान है, फिर भी 'चेतना' एक ऐसा शब्द है जो श्रात्मा तथा परमात्मा पर घटित होता हुश्रा भी उन पर उठने वाली शकाश्रो से वहुत-कुछ मुक्त है। पिंड तथा व्रह्माड की चेतना जाग्रत, स्वप्न तथा सुपुप्ति रूपो मे हर-किसी के श्रनुभव मे श्राती है, इसलिए श्रात्मा-परमात्मा की परिभापा मे वोलने के स्थान मे वैदिक-सस्कृति ने चेतना की परिभापा मे भी सृष्टि के भीतर छिपे गूढ-रहस्य को प्रकट किया है। मन, श्रात्मा, परमात्मा के सम्वन्ध मे हर-किसी के भिन्न-भिन्न विचार वने हुए पाये जाते हैं। मन कहे तो एक खास चित्र हमारे सामने उठ खडा होता है, श्रात्मा कहे तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई के सामने एक दूसरा ही चित्र श्रा जाता है, परमात्मा कहे तो भी सवकी दृष्टि भिन्न-भिन्न पायी जाती है, परन्तु चेतना कहे तो श्राध्यात्मिक-सत्ताश्रो के विपय मे हमारी वनी-वनाई कल्पनाएँ छँट जाती हैं, श्रौर धर्म के भक्तो तथा विज्ञान के उपासको—सवके सामने एक ऐसी श्राध्यात्मिक-सत्ता का भान होने लगता है जिससे न धर्म का पडित, न विज्ञान का दावेदार इन्कार कर सकता है। इसीलिए माण्डूक्योपनिपद ने इस चेतन-शक्ति को 'प्रज्ञा' का नाम दिया है। चेतना का चेतन रूप ही 'प्रज्ञा'—ज्ञान—कहलाता है। चेतना, श्रर्थात् ज्ञान—Consciousness—के सम्वन्ध मे यहाँ कुछ शास्त्रीय-चर्चा की जा रही है।

3. चेतना का जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय रूप

(क) जाग्रतावस्था (सचेतनावस्था) मे चेतना (Conscious state)—माण्डूक्योपनिपद् का कहना है कि पिंड मे—शरीर मे—जव 'चेतना' प्रकट होती है तव चेतना को जाग्रतावस्था (सचेतनावस्था) मे कहा जा सकता है, इसी तरह जव चेतना व्रह्माड में—प्रकृति मे—इस ससार मे—प्रकट होती है, तव भी

चेतना को जाग्रतावस्था (सचेतनावस्था) मे कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, जब शरीर चलता-फिरता है, बोलता-चालता है, काम करता है, लडता-झगडता है, तब यह कहा जा सकता है कि चेतना जाग गई है क्योकि बिना चेतन-तत्व के शरीर जड है, न चल सकता है, न फिर सकता है, न बोल सकता है, न कोई काम कर सकता है, न लड़-झगड सकता है। चेतना के शरीर से निकल जाने पर हम शरीर को जला डालते है। शव को इसीलिए जला डालते हैं क्योकि उसमे चेतना नही रहती। इसी तरह जब ससार मे सूर्य-चन्द्र-तारा अपनी-अपनी परिधि पर नियमपूर्वक घूमते है, समुद्र मे किन्ही निश्चित नियमो से ज्वार-भाटा आता है, पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्कर काटती है, इन नियमो मे कोई अपवाद नही दीखता, तब कहना पडता है कि चेतना विश्व मे जाग उठी है, जाग्रतावस्था (सचेतनावस्था) मे आ बैठी है। हम शरीर को क्रियाशील देख कर उस क्रियाशीलता मे चेतना का मानो प्रत्यक्ष-दर्शन करते हैं, इसी तरह विश्व को दिन-रात अपने निश्चित क्रम मे चलते हुए देख कर इस क्रम मे भी एक चेतना के दर्शन होते है। इस प्रकार से पिंड तथा ब्रह्माण्ड मे इनकी क्रियाशीलता के माध्यम से चेतना जाग उठती है और उसका इस प्रकार जाग उठना चेतना-शक्ति का प्रत्यक्ष-दर्शन है। इसी को जाग्रतावस्था या पाश्चात्य-मनोविज्ञान की परिभाषा मे सचेतनावस्था (Conscious state) कहा जा सकता है।

(ख) स्वप्नावस्था (अवचेतनावस्था) में चेतना (Sub-conscious state)—स्वप्नावस्था अव-चेतना की अवस्था है। इसमे चेतना शान्त तो हो जाती है, परन्तु बिल्कुल शान्त नही होती। यह जाग्रत तथा सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। आँख खुली नही होती, पर फिर भी बिना खुले देख रही होती है, कान सुन नही रहे होते, परन्तु बिना शब्द के सुने सुन रहे होते हैं, मनुष्य दौड नही रहा होता, परन्तु बिना दौडे दौड रहा होता है। इस समय स्थूल-देह काम नही कर रहा होता, परन्तु सूक्ष्म-शरीर, कारण-शरीर जिसमे स्थूल-शरीर के सब अग सूक्ष्म-रूप मे मौजूद रहते है, काम कर रहा होता है। यह सूक्ष्म-देह जो आत्मा के साथ सदा बना रहता है स्वप्नावस्था (अवचेतनावस्था) मे स्थूल-देह की इन्द्रियो के क्रियाशील होने के बिना काम करता है क्योकि हमारी क्रिया का प्रवाह आत्मा से सूक्ष्म-देह और सूक्ष्म-देह से स्थूल-देह मे होता है। पिंड मे—शरीर मे—जैसे स्वप्नावस्था (अवचेतनावस्था) होती है, चेतना धुंधली-सी हो जाती है, स्वप्न आते हैं इसलिए चेतना बनी भी रहती है नही भी बनी रहती, वैसे ही ब्रह्माण्ड मे—प्रकृति मे, इस संसार मे—रात आ जाने पर सब जगह अंधेरा छा जाता है, वृक्ष-पशु-पक्षी सब शान्त हो जाते हैं, मनुष्य की तरह प्रकृति भी सिमिट जाती है मानो सृष्टि मे भर रही चेतना अपने जाग्रत-रूप से हट कर स्वप्न-रूप (अवचेतन—Sub-conscious—रूप) मे जा विराजती है। जैसे पिंड

तथा ब्रह्माण्ड मे चेतना के जाग्रत-रूप का हमने वर्णन किया, वैसे ही पिंड तथा ब्रह्माण्ड मे चेतना का स्वप्न-रूप हो जाता है जिसे पाश्चात्य-मनोविज्ञान की परिभाषा मे अव-चेतन-रूप (Sub-consciousness) कहा जा सकता है। उपनिषद्कार ने सृष्टि की कार्य-रूपावस्था को, उस अवस्था को जिसमे सृष्टि अपने भिन्न-भिन्न रूपो मे दिखलाई देती है—सूर्य है, चन्द्र है, पृथिवी है, तारे है, सृष्टि स्पष्ट आँखो से सामने दीख पडती है—इसे चेतना का जाग्रत-रूप (सचेतन-रूप) कहा है, और सृष्टि की कारण-रूपावस्था को—उस अवस्था को जिसमे सृष्टि महत्, अहकार, पच-तन्मात्र के 'कारण-रूप मे' विलीन हो जाती है—चेतना का स्वप्न-रूप (अवचेतन—Sub-conscious—रूप) कहा है। जैसे चेतना के जाग्रत-रूप मे स्थूल-जगत् वर्तमान रहता है, वैसे चेतना के स्वप्न-रूप (अवचेतन-रूप) मे स्थूल-जगत् का सिर्फ नकशा बन कर रह जाता है।

(ग) **सुषुप्तावस्था (अचेतनावस्था) मे चेतना** (Unconscious state)—स्वप्नावस्था के बाद चेतना का तीसरा रूप है जिसे सुषुप्तावस्था कहते हैं। इसे पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिको ने अचेतनावस्था (Unconscious state) कहा है। जब हम जागते हुए होते है तब हमारी इन्द्रियो का तथा चेतना का सीधा सम्बन्ध बना रहता है, इसलिए इन्द्रियाँ बाह्य-जगत् के साथ सम्पर्क आने पर बाह्य-ज्ञान को ग्रहण करती रहती है, जब हम सो जाते है तब चेतना से इन्द्रियो का सम्पर्क तो छूट जाता है परन्तु सूक्ष्म-शरीर के द्वारा चेतना का काम चलता रहता है और चेतना बिना आँख के देखती, बिना कान के सुनती, बिना स्थूल-इन्द्रियो के सब काम करती है, तब स्वप्न आते हैं—यह चेतना-अचेतना के बीच की अवस्था है, जब हमे स्वप्न भी नही आते, हम अचेतन से पड जाते है, वह सुषुप्तावस्था है। सुषुप्तावस्था मे क्या होता है? माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार सुषुप्तावस्था मे सूक्ष्म-शरीर भी अपने को चेतना से उस समय के लिए अलग कर लेता है, शान्त हो जाता है, चेतना मात्र रह जाती है, बिना स्थूल-शरीर तथा बिना सूक्ष्म-शरीर के सम्पर्क के चेतना की जो अवस्था रह जाती है वही सुषुप्तावस्था है और वही चेतना का यथार्थ स्वरूप है। चेतना के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर से अलग होने की प्रतीति सुषुप्तावस्था मे हर-किसी को प्रतिदिन होती है, परन्तु हम इसी को भूले रहते हैं। जैसे स्वप्नावस्था मे चेतना स्थूल-शरीर से अलग हो जाती है, परन्तु स्वरूप मे जाने की तैयारी करने लगती है, सूक्ष्म-शरीर मे सिमिट जाती है, वैसे सुषुप्तावस्था में वह सूक्ष्म-शरीर से अलग हो जाती है, अपने यथार्थ-रूप मे आ जाती है। चेतना का अपना स्वरूप आनन्दमय है, सुख-दुःख शरीर के साथ बधे हुए हैं, उपनिषत्कार तभी कहते हैं कि जब चेतना सुषुप्तावस्था मे अपने स्वरूप मे आ जाती है तब उसके बाद जाग उठने पर आदमी कहता है—बडा आनन्द आया—'**सुखमहं अस्वाप्सम्**,

नादर्शम्, नाश्रौषम्'—कैसे सुख से सोया, न देखता हुआ, न सुनता हुआ। ऐसा वह क्यों कहता है ? ऐसा इसलिए कहता है क्योंकि जब चेतना स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के बन्धन से छूट गई, तब उसे अपने स्वरूप मे आ जाने पर जिस असीम आनन्द की अनुभूति हुई उसी को याद करके वह कहता है—आनन्द आया। वैसे आनन्द तो तब आना चाहिए जब इन्द्रियाँ जाग रही हो, काम कर रही हो, परन्तु यह कहता है कि जब इन्द्रियाँ बिल्कुल शान्त हो गईं, काम ही नही कर रही थी, उस अवस्था मे जाने से आनन्द आया। इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि चेतना का अपने को ससार तथा शरीर से अलग अनुभव कर लेना, अपने स्वरूप मे आ जाना ही वास्तविक-आनन्द है। इसी आनन्दमय स्व-स्वरूप मे जाने के लिए योगी लोग समाधि की प्रक्रिया करते है। समाधि तथा सुषुप्ति मे क्या अन्तर है ? समाधि की अवस्था जानते हुए प्राप्त की जाती है, सुपुप्ति की अवस्था हर-किसी को ससार तथा इन्द्रियो के थक जाने पर अपने-आप हर रोज प्राप्त हो जाती है, समाधि जानते हुए सुपुप्ति को प्राप्त करना है, सुषुप्ति अनजाने समाधि लग जाना है।

जिस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था मे पिंड की चेतना स्थूल-शरीर तथा सूक्ष्म-शरीर से अपने को अलग कर स्व-स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाती है, इसी प्रकार जब ब्रह्माण्ड की चेतन-शक्ति कार्य-रूप (जाग्रत) तथा कारण-रूप (स्वप्न) विश्व के निर्माण मे क्रियाशील नही हो रही होती, तब ब्रह्माण्ड की चेतना स्व-स्वरूप (सुषुप्ति) मे प्रतिष्ठित होती है। ब्रह्माण्ड की चेतना के स्व-स्वरूप मे प्रतिष्ठित होने का यह अभिप्राय नही है कि उसकी क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। उसके विषय मे तो शास्त्रो का यह अभिमत है कि उसमे **'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च'**—ज्ञान, बल, क्रिया तो विश्व-चेतना के स्वाभाविक गुण है—इन्ही गुणो के कारण उसे चेतना कहा जाता है—परन्तु जिस प्रकार उसके विषय मे हमारा ज्ञान इस विश्व की क्रियाशीलता के साथ बँधा हुआ है, उससे उसे अलग करके हम उसका अनुभव करने लगते हैं—यही ब्रह्माण्ड-चेतना का सुषुप्ति रूप है, और यही ब्रह्माण्ड-चेतना का तुरीय-रूप भी है।

(घ) तुरीयावस्था में चेतना (Transcendental or Supra-conscious state)—परन्तु, उक्त तीनो अवस्थाओ के अतिरिक्त पिंड चेतना का एक चौथा भी रूप है। जाग्रतावस्था मे पिंड-चेतना स्थूल-शरीर की अपनी ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो द्वारा ससार के विषयो मे एकात्म—एक-जान—हो रही होती है, द्वितीयावस्था मे जिसे हमने स्वप्नावस्था कहा, वह इन्द्रियो से कुछ-कुछ जुदा होने लगती है, अपने स्वरूप की तरफ चल पडती है, सूक्ष्म-शरीर तक पहुँच जाती है, तृतीयावस्था मे जिसे हमने सुषुप्तावस्था कहा, वह सूक्ष्म-शरीर से भी अपने को जुदा अनुभव करने लगती है, चेतन-स्वरूप मे आ जाती है जिसको

जाग उठने पर वह अनुभव करके कहती है—बड़ा आनन्द आया। ये तीनों अवस्थाएँ सभी लोग अनजाने हर-रोज़ सोने के माध्यम से अनुभव करते हैं। इन अनुभवों का यह परिणाम है कि हम अनजाने भी जान जाते हैं कि चेतना स्थूल-शरीर से अलग है, सूक्ष्म-शरीर से अलग है, इन सबसे अलग होकर इसका अपना स्व-स्वरूप है। परन्तु यह सब ज्ञान तो अनजाने मे होता है, सोने के माध्यम से होता है। जब यह ज्ञान सोने के माध्यम मे न होकर जानते-बूझते, जागते हुए हो, तब हमारी क्षुद्र-चेतना—यह छोटी-सी चेतना—जो इस देह रूपी पिंजरे मे बन्द है, अपने-आपको लाँघ कर, अपने को उस विशाल-चेतना के, ब्रह्माण्ड-चेतना के सम्मुख उपस्थित पाती है जो इस विशाल, अनन्त-सृष्टि मे जीवन का संचार कर रही है। एक तरफ यह अल्प-चेतना जिसने अपने को शरीर के बन्धनो से पृथक् अनुभव कर लिया, यह जान लिया कि वह आँख नही है, कान नही है, नाक नहीं है, जिह्वा नही है, त्वचा नहीं है, हाथ नही, पाँव नही—यह शरीर बिल्कुल नही, शरीर से अलग है, दूसरी तरफ वह विशाल, अनन्त चेतना जो सृष्टि से अणु-अणु मे व्याप्त है, सूर्य, चन्द्र, तारे, आसमान मे, नदी-नाले-जंगल-पहाड़-समुद्र मे—सृष्टि के कोने-कोने मे मौजूद है—जब वह अल्प-चेतना उस महती-चेतना के सम्पर्क मे आती है, तब पिंड-चेतना का तुरीय-रूप प्रकट हो जाता है, तब पिंड-चेतना अपने को असीम, विशाल ब्रह्माण्ड-चेतना के सान्निध्य मे पाकर अपूर्व आनन्द मे डूब जाती है। पहले वह संसार के क्षुद्र-विषयो मे अपने को एक-जान अनुभव करती थी, अब इन विषयो से छूट जाने तथा अनन्त-चेतना के संसर्ग मे आने पर उस चेतना के साथ अपने को एक-जान-सा अनुभव करने लगती है। अपने-आपको इस प्रकार लाँघ जाने का नाम ही 'ध्यान' है, ध्यान मे यह क्षुद्र-चेतना तुरीयावस्था मे पहुँच जाती है। पहले जिस सुषुप्तावस्था का वर्णन हमने किया वह 'अचेतन'-अवस्था (Unconscious state) कहलाती है, परन्तु सुषुप्ति की 'अचेतन-अवस्था' का यह अर्थ नही है कि चेतना अचेतन हो गई। चेतना चेतना कहला ही नही सकती अगर वह अचेतन हो जाय। सुषुप्ति की अचेतनावस्था का अर्थ यह है कि शरीर अचेतन हो गया, शरीर की ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो ने कार्य करना छोड़ दिया क्योंकि चेतना ने शरीर के साथ बना हुआ गठ-बन्धन शिथिल कर दिया। यह चेतना जो सदा जागरूक रहती है, वह शरीर के बन्धनो को लाँघ कर जब जाग्रतावस्था (Consciousness), स्वप्नावस्था (Sub-consciousness) तथा सुषुप्तावस्था (Unconsciousness) को परे छोड़ कर, शरीर के बन्धनो से छूट कर, इनके परे की तुरीयावस्था (Supra-conscious or Transcendental state) मे पहुँच जाती है तब चेतना अपने यथार्थ-स्वरूप मे आ जाती है। चेतना के इसी रूप को पा लेना भारतीय-शास्त्रो का लक्ष्य है।

4. निद्रा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक परीक्षण

'तुरीयावस्था' को समझने के लिए निद्रा के सम्बन्ध मे किए गये प्रयोगो से पर्याप्त प्रकाश पडता है, इसलिए हम यहाँ निद्रा के सम्वन्ध मे किए गये प्रयोगो पर कुछ लिखेगे ।

निद्रा के सम्बन्ध मे जो वैज्ञानिक अनुसंधान हुए है उनसे सिद्ध होता है कि हमारे भीतर शरीर से अतिरिक्त कोई ऐसी चेतन-सत्ता है जो तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous system) या मस्तिष्क (Brain) को लाँघ कर, इनसे हट कर अपने ऐसे स्वरूप मे चली जाती है जहाँ से यह आनन्द, उल्लास, उत्साह वटोर कर बाहर निकलती है । निद्रा में वह चेतन-सत्ता इस शरीर का और इस जगत् का साथ छोड देती है, उसके लिए शरीर मर जाता है, यह ससार मिट जाता है। वह शरीर को छोड कर और ससार को भुला कर जहाँ चली जाती है, वहाँ से जब लौटती है तब क्या होता है ? तब उस चेतन-सत्ता का सपर्क पाकर यह थका-माँदा शरीर तरोताजा हो उठता है, यह चिन्ता से व्याकुल मन प्रफुल्ल दीखने लगता है । क्या कारण है कि चेतना जब शरीर तथा विचार को छोड देती है, इसे भुला देती है, नीद मे—गहरी नीद मे—चली जाती है, तभी उसके लौटने पर शरीर तथा मन मे फुर्ती आती है, अगर इस शरीर को न छोडे, नीद मे न जाए, दिन-रात जागती रहे, इस शरीर के साथ चिपटी रहे, तब मनुष्य के लिए जीना मुश्किल हो जाता है ? जो लोग उन्निद्र-रोग से पीडित होते है, वे क्या चाहते है ? यही तो चाहते हैं कि किसी तरह शरीर को भुला दे, इस दुनिया को भुला दें । न भुला सके तो शरीर टूट जाता है, दुनिया मे कोई रस नही रहता । शरीर से अलहदा होकर, दुनिया को भुला कर चेतना जहाँ चली जाती है, वहाँ से लौटने पर वह आनन्द, उल्लास, उत्साह, प्रफुल्लता लाती है, वहाँ न जा सके, तो शरीर तथा मन दोनो बेचैन हो जाते है, कोई-कोई आत्मघात भी कर बैठते है । जव ऐसी बात है तब प्रश्न उठ जाता है कि वह क्या स्थिति है जहाँ से लौटने पर चेतना उत्साह का भण्डार लेकर लौटती है । इसके उत्तर दो ही हो सकते हैं या तो शरीर तथा ससार के वधनो से मुक्त होने पर क्योकि चेतना अपने स्वरूप मे आ जाती है, इसलिये इस स्वरूप की अनुभूति से उसमे आनन्द भर जाता है, या आनन्दो के आनन्द, आनन्द के अथाह समुद्र विश्व-चेतना के साथ उसका अनजाने सपर्क हो जाता है, उस आनन्द को लेकर वह लौटती है—इसलिये उसमे प्रफुल्लता भर जाती है । अन्यथा, निद्रा से उत्साह तथा प्रफुल्लता का होना कैसे समझा जा सकता है ?

प्रश्न यह है कि क्या निद्रामात्र से मनुष्य मे उत्साह तथा प्रफुल्लता आ सकती है ? वैज्ञानिक परीक्षणो से सिद्ध होता है कि निद्रामात्र से आनन्द, उत्साह तथा प्रफुल्लता नही आ सकती ।

अमरीका मे निद्रा के सम्बन्ध मे अनेक परीक्षण किए गये हैं। नीद के समय क्या होता है—उसे मापने के लिए एक यन्त्र बना हुआ है जिसका नाम है 'इलेक्ट्रो-इन्सेफेलो-ग्राफ' (Electro-Encephalo-Graph या EEG)। सोते समय मस्तिष्क से जो विद्युत्-तरगें निकलती हैं वे अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। उन तरगो को यह यन्त्र पकड लेता है, और बडा करके दिखला देता है। इस यन्त्र के साथ एक पैंसिल लगी होती है जिसके नीचे एक ग्राफ-पेपर होता है जो गति करता है। नीद हल्की है, गहरी है, स्वप्न आ रहे है, या भयकर स्वप्न आ रहे हैं—यह सब-कुछ इस ग्राफ-पेपर पर अकित होता जाता है। अमरीका मे अनेक विश्वविद्यालयो मे नीद के स्वरूप को जानने के लिए अनेक प्रयोगशालाएँ बनी हुई हैं जिनमे सोने के लिए व्यक्तियो को बुलाया जाता है, और प्रयोगकर्ता स्वय रातभर जागकर इन व्यक्तियो के अगो मे उक्त यन्त्र की तारो को जोड कर उनकी निद्रा का ग्राफ-पेपर पर अकन करता है। इन ग्राफ-पेपरो के अध्ययन से निद्रा के चार-स्तरो का पता चला है जिनका वर्णन श्रीयुत् गे गेयर तथा डॉ० जूलियस सेगल ने अपनी पुस्तक 'How to Avoid Insomnia' मे इस प्रकार दिया है—

(क) **निद्रा का पहला स्तर**—निद्रा के क्षेत्र मे प्रवेश करते समय का यह पहला स्तर है। इस समय पैंसिल ग्राफ-पेपर पर उन छोटी-छोटी तरगो को अकित करने लगती है जो निद्रालुता प्रारम्भ होते समय मस्तिष्क द्वारा प्रवाहित होने लगती है। निद्रा प्रारम्भ होते समय मस्तिष्क से विद्युत् की जो वोल्टेज चलने लगती है वह अत्यन्त निम्न-स्तर की होती है, इसलिए ग्राफ-पेपर पर निशान छोटी-छोटी गहराई के पडने लगते हैं। उस समय मास-पेशियाँ ढीली होने लगती हैं, नाडी की गति धीमी पड जाती है, परन्तु व्यक्ति अभी यह अनुभव नही करता कि वह सो गया है। अगर इस स्थिति मे उसे उठा दिया जाय, तो वह यही कहेगा कि वह जग रहा था। अगर न उठाया जाय, तो कुछ ही मिनटो मे वह निद्रा के दूसरे स्तर मे चला जायगा।

(ख) **निद्रा का दूसरा स्तर**—इस स्तर मे पहुँचते समय ग्राफ-पेपर पर पडी रेखाओ से स्पष्ट होता है कि मस्तिष्क मे क्रियाशीलता का सचार हो गया है, मस्तिष्क की विद्युत्-तरगें (Brain waves) बडी तेजी से बडी होने लगती है, उनकी गहराई बढ जाती है। उस समय आँखो के साथ लगी तारो से ग्राफ-पेपर पर जो रेखाएँ खिचती है उनसे पता चलता है कि सोने वाले की आँखो के डेले दायें-बायें चलने लगते हैं। निद्रा के दूसरे स्तर मे आँखो की दाये-बायें जो तीव्र-गति (Rapid Eye Movement) होती है उसे निद्रा की परिभाषा मे 'REM' कहते हैं। अगर इस समय व्यक्ति को जगा दिया जाय, तो हो सकता है कि वह कहे कि वह अभी जग ही रहा था, यह भी हो सकता है कि वह कहे कि वह ठीक-ठीक से कह नहीं सकता कि वह जग रहा था या सो रहा था। इस समय उठा देने पर अगर

उसे अपनी स्मृति को ताज़ा करने को कहा जाय, तो वह कहेगा कि कुछ सपने की झलक-सी आने लगी थी। इसके लगभग 30 मिनट बाद व्यक्ति तीसरे स्तर मे चला जाता है।

(ग) **निद्रा का तीसरा स्तर**—इस स्तर मे आकर मस्तिष्क से प्रवाहित होने वाली तरगों की ग्राफ-पेपर पर पडी रेखाएँ पहाडियो की ऊँचाई-गहराई की-सी शक्लें धारण कर लेती है। इन तरगो से पता चलता है कि इस स्तर पर मस्तिष्क से बहुत ऊँचा बोल्टेज प्रवाहित होने लगता है। इस समय सोने वाला हिलेगा भी, बडबडायेगा भी, परन्तु उसे कुछ पता नही चलेगा। निद्रा मे व्यक्ति 12-15 बार करवट बदल डालता है परन्तु उठने पर कहता है कि एक ही करवट सोता रहा। इस समय माँसपेशियाँ ढीली पड जाती है, साँस सन्तुलित गति से चलने लगता है, तापमान गिर जाता है, ब्लड-प्रेशर नीचे चला जाता है। इस निद्रा से जगाना हो तो बहुत ऊँची आवाज देनी होगी।

(घ) **निद्रा का चौथा स्तर**—निद्रा का तीसरा स्तर शीघ्र ही चौथे स्तर मे चला जाता है। यह निद्रा का गहनतम स्तर है। जैसे पहले तथा दूसरे स्तर को 'REM SLEEP' कहते है, वैसे तीसरे तथा चौथे स्तर को 'DELTA SLEEP' कहते है। इस समय मस्तिष्क से जो तरगे चलती है उन्हे Delta waves कहा जाता है। इस समय पेंसिल से ग्राफ-पेपर पर जो अकन होता है वह पहाडियो की शृखलाओ (Mountain ranges) के समान होता है। इस समय की निद्रा गहनतम अन्धकार की निद्रा होती है। Rem मे स्वप्न आते हैं, Delta मे स्वप्न नही आते, यह स्वप्नहीन निद्रा है। इससे 10 मिनट पहले जो शब्द व्यक्ति को जगा देता, वह अब प्रभावहीन हो जाता है। अगर इस समय व्यक्ति को हिलाया जाय, उसका नाम लिया जाय, तो वह अनमना-सा निद्रा के गहन-स्तर मे से ऊपर के स्तर मे आता अनुभव करेगा। थकावट के बाद ऐसी निद्रा आती है। भारतीय-शास्त्रो मे Rem Sleep को 'स्वप्नावस्था' तथा Delta sleep को 'सुषुप्तावस्था' कहा गया है।

असल मे, निद्रा के मुख्य तौर पर दो ही स्तर है। पहला तथा दूसरा स्तर —ये दोनो मिलकर Rem sleep या 'स्वप्नावस्था' कहे जाते हैं, तीसरा तथा चौथा स्तर—ये दोनो मिलकर Delta sleep या 'सुषुप्तावस्था' कहे जाते है। पहले दो स्तरो मे स्वप्न आते है, दूसरे दो स्तरो मे स्वप्नहीन निद्रा होती है। यह समझना कि 'स्वप्नहीन-निद्रा' (Delta sleep) ही यथार्थ निद्रा है, गलत धारणा है। स्वप्नहीन-निद्रा, निद्रा का सिर्फ एक हिस्सा है। व्यक्ति प्रगाढ-निद्रा मे ही नही बना रहता। 'स्वप्न' (Rem) तथा 'सुषुप्ति' (Delta) का चक्र चलता रहता है। निद्रा प्रारम्भ करते समय हम 20 मिनट तक 'सुषुप्ति' (Delta) मे रहकर फिर ऊपरी-स्तर (Rem) मे आ जाते है, और उसके बाद

फिर प्रगाढ-निद्रा मे 70-90 मिनट तक रह कर फिर ऊपरी-स्तर पर आने लगते है।

'स्वप्न' (Rem) से 'सुषुप्ति' (Delta) और 'सुषुप्ति' से 'स्वप्न' का चक्र बराबर चलता रहता है, और सारी रात मे यह प्रक्रिया 3-4 वार होती है। प्रात काल के समय हम 'सुषुप्ति' (Delta sleep) मे नही होते, 'स्वप्न' (Rem) मे होते है। इस समय 'स्वप्न' (Rem sleep) का समय लम्बा होता है। इस सारे लम्बे समय मे हम 'स्वप्न' (Rem sleep) मे होने के कारण कई घटो तक स्वप्न ले रहे होते हैं। 1950 मे निद्रा के अनुसन्धानकर्ताओ ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानवमात्र की निद्रा एक निश्चित 'आरोहावरोह'—चढाव-उतार—पर चलती है, और एक ही आयु के सब स्वस्थ-व्यक्तियो की निद्रा का 'आरोहावरोह'—चढाव-उतार—एक-सा होता है।

निद्रा के सम्बन्ध मे जिस वात पर हम विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि स्वास्थ्य के लिए 'स्वप्न' (Rem sleep) तथा 'सुषुप्ति' (Delta sleep) दोनो आवश्यक हैं, आवश्यक ही नही, स्वस्थ-निद्रा मे ये दोनो स्तर आते ही है, भले ही हम समझते हो कि हमे तो प्रगाढ-निद्रा ही आती है, स्वप्न नही आते। स्वस्थ-निद्रा मे स्वप्न आते हैं, परन्तु जागते ही हम तत्काल भूल जाते हैं।

'स्वप्नावस्था' (Rem sleep) तथा 'सुषुप्तावस्था' (Delta sleep) का स्वास्थ्य के साथ क्या सम्बन्ध है—इस पर वैज्ञानिको ने कुछ परीक्षण किये है जिनसे सिद्ध होता है कि निद्रा के दोनो स्तर स्वास्थ्य के लिये एक-समान महत्त्व के हैं। अगर किसी को 'स्वप्नावस्था' (Rem sleep) न लेने दी जाय, सिर्फ 'सुषुप्तावस्था' (Delta sleep) लेने दी जाय, तो उसके स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पडेगा, और इसी तरह अगर किसी को 'सुषुप्तावस्था' न लेने दी जाय, सिर्फ स्वप्नावस्था लेने दी जाय, तो उसके स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पडेगा?

(i) **बिना स्वप्नावस्था के निद्रा** (Sleep without Rem)—निद्रा-विशेषज्ञो का कहना है कि जब ग्राफ-पेपर पर 'स्वप्न-निद्रा' (Rem sleep) के चिह्न पडने लगें और प्रयोक्ता को पता चला कि व्यक्ति स्वप्न ले रहा है, तभी उसे जगा दिया गया ताकि वह स्वप्न न ले सके। परिणाम यह हुआ कि वह व्यक्ति चिडचिडा तथा झगडालू—Irritable, Hostile—स्वभाव का हो गया। डॉ० डिमेन्ट का कहना है कि इसी कारण मानव के स्वास्थ्य के लिए स्वप्नावस्था की निद्रा (Rem sleep) की अत्यन्त आवश्यकता है। तभी सिगमड फ्रॉयड का कथन था कि स्वास्थ्य के लिये स्वप्न इसलिए आवश्यक हैं क्योकि एक तरह से मानव की अपूर्ण-इच्छाएँ स्वप्नो द्वारा पूर्ण हो जाती हैं, वे इस प्रकार पूर्ण न हो तभी वह चिडचिडाता है, झगडता है।

(ii) **बिना सुषुप्ति के निद्रा** (Sleep without Delta)—1960 मे विल्से वी वेब ने फ्लोरिडा विश्वविद्यालय मे ऐसे प्रयोग किये जिनमे सोनेवाले को 'सुषुप्तावस्था' (Delta sleep) मे पहुँचते ही जगा दिया जाता रहा, सुषुप्तावस्था में जाने ही नही दिया गया, वह केवल स्वप्नावस्था मे ही रहा। ऐसे व्यक्ति हीनोत्साह तथा मायूस—Apathetic, Depressed—स्वभाव के हो गये।

जिन व्यक्तियो को सिर्फ स्वप्नावस्था मे रखा जाता है, सुषुप्तावस्था मे नही आने दिया जाता, वे जब अपनी स्वाभाविक-निद्रा लेने लगते है तब पहले सुषुप्तावस्था की निद्रा की कमी को पूरा करते है, इसी प्रकार जिन व्यक्तियो को दवाई के जोर पर सिर्फ सुषुप्तावस्था मे रखा जाता है, उनमे स्वप्नावस्था नही आने दी जाती, वे भी जब अपनी स्वाभाविक-निद्रा लेने लगते है तब पहले स्वप्नावस्था की निद्रा की कमी को पूरा करने लगते है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए स्वप्न की निद्रा तथा सुषुप्ति की निद्रा—दोनो आवश्यक हैं।

निद्रा के सम्बन्ध मे इस विस्तृत विवेचन का हमारे प्रकरण के साथ क्या सम्बन्ध है, और 'चेतना' के विषय को समझने के लिए इस विवेचन से क्या प्रकाश पड़ता है?

हमने देखा कि चेतना का स्वप्न मे तथा सुषुप्ति मे जाने का अगर मार्ग प्रयोक्ता के द्वारा अथवा औषधि के द्वारा तन्त्रिका-तन्त्र को सुन्न करके अवरुद्ध कर दिया जाय, तो जाग उठने पर व्यक्ति चिडचिडा, झगडालू या मायूस हो जाता है, अवरुद्ध न किया जाय, उसे स्वप्न तथा सुषुप्ति मे निर्बाध जाने दिया जाय, तो वह प्रसन्न तथा प्रफुल्ल उठता है। ऐसा क्यो होता है? ऐसा इसलिये होता है क्योकि विधाता ने मानव के मस्तिष्क की रचना ही ऐसी बनाई है जिसका सहारा लेकर ही चेतना गतिशील होती है, और जिससे प्रतिदिन अपने-आप स्वाभाविक-निद्रा के माध्यम से शरीर तथा ससार से चेतना का नाता टूट जाता है, वह शरीर को भूल जाती है, ससार को भूल जाती है, सुषुप्ति तथा तुरीय-स्तर (Delta stage) पर पहुँचकर या तो अपने निज-रूप मे आ जाती है, या विश्व-चेतना के सम्पर्क मे आकर वहाँ से नव-जीवन को भरकर फिर शरीर तथा ससार मे लौट आती है। तभी प्रगाढ-निद्रा से लौटकर मनुष्य उल्लास अनुभव करता है, कहता है—ऐसा आनन्द आया जैसा जागते समय कभी नही आया। इस आनन्द तथा उल्लास को पाने के लिए शरीर तथा ससार से नाता तोडना पडता है, यह नाता तोड कर ही शरीर तथा ससार का रस लिया जा सकता है। रस इन्द्रियो तथा ससार के विषयो मे नहो, उसमे है जहाँ से सुषुप्ति तथा तुरीय-स्तर मे जाकर चेतना रस को ग्रहण कर फिर शरीर तथा ससार मे लौट आती है। जब प्रयोक्ता द्वारा या नीद की औषधियो द्वारा 'तन्त्रिका-तन्त्र'

(Nervous system) को सुन्न कर दिया जाता है, तब हमारी चेतना 'स्वप्न' (Rem) तथा 'सुषुप्ति' (Delta) मे न जा कर शरीर के साथ ही अटकी रहती है, शरीर से आगे 'स्वप्न' तथा 'सुषुप्ति' मे जाने का रास्ता कृत्रिम उपाय या निद्रा की औषधियो से रोक दिया जाता है, उसे शरीर से नाता तोडकर अपने स्वरूप मे तथा विश्व-चेतना के सपर्क मे नही जाने दिया जाता। स्वप्न तथा सुषुप्ति का द्वार जब खुला रहता है, तभी चेतना इन मार्गों से तुरीय तक पहुँचती है, और वहाँ का प्रसाद ला कर शरीर तथा मन मे चेतना का रस भर देती है।

विधाता ने शरीर की रचना ही ऐसी की है जिससे प्रतिदिन निद्रा के माध्यम से हमारा शरीर से नाता टूट जाय, और हमे उस स्थिति की हर रोज झाँकी मिलती रहे जो यथार्थ सत्य है। इस स्थिति का 'सुषुप्ति' अथवा 'तुरीयावस्था' मे जाने पर अपने-आप हम सबको अनुभव होता है। इसी स्थिति को—शरीर तथा ससार से नाता तोड लेने को—सोते हुए नही, अपने प्रयत्न से प्राप्त करने का नाम ही ध्यान है। सोने से 'सुषुप्ति' प्राप्त होती है, ध्यान से 'समाधि' प्राप्त होती है—दोनो अवस्थाओ मे इन्द्रियो तथा ससार से नाता टूट जाता है—दोनो अवस्थाओ मे प्रसाद तथा प्रफुल्लता की प्राप्ति होती है, 'सुषुप्ति' की अवस्था परमात्मा का दिया हुआ सिर्फ साधन है जो इशारा करती है कि अनजाने मिली हुई यह स्थिति प्रयत्न से भी प्राप्त हो सकती है।

5. 'चेतना' की चार अवस्थाओं की तरह 'वाणी' के—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा—ये चार स्तर

हमने ऊपर कहा है कि जब चेतना अपने-आपको लाँघ जाती है उसी का नाम 'ध्यान' है, उसी का नाम 'तुरीयावस्था' है। 'तुरीय' का अर्थ है—'चतुरीय'—चौथी अवस्था। पहली तीन अवस्थाएँ—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—सोते हुए पायी जाती है, सब-किसी के अनुभव की है, चौथी अवस्था—तुरीय-अवस्था—जागते हुए होती है, आध्यात्मिक-दृष्टि से विरले ही इस अवस्था को पहुँच पाते हैं। पहली तीन अवस्थाओ का दृष्टान्त इसलिए दिया जाता है जिससे हर-कोई समझ जाय कि तुरीय-अवस्था—चेतना के अपने को शरीर से जुदा होने के अनुभव की बात—कोई मन-घडत बात नही है, सोने की प्रतिदिन की प्रक्रिया मे सब-कोई अनजाने मे अनुभव करता रहता है कि शरीर तथा चेतना अलग-अलग हैं, इनके अलग-अलग अनुभव होने मे महान् आनन्द का पता चलता है, इसलिए पता चलता है क्योंकि सुषुप्ति से जागने पर हम सब कहते हैं कि इतना आनन्द आया जितना कभी न आया था। पहली अवस्थाएँ अपने-आप हुआ करती हैं, चौथी—तुरीय-अवस्था—आध्यात्मिक-जीवन के क्षेत्र मे अपने-आप नही होती, उनका अनुभव प्राप्त करने से लिए प्रयत्न करना पड़ता है, उसी प्रयत्न का नाम

'ध्यान' है। तुरीयावस्था मे पहुँच कर चेतना अचेतन-शरीर से अपने को मुक्त अनुभव कर सृष्टि की महान् चेतना के सम्पर्क मे आती है, यही आत्मा-परमात्मा का सगम है। हमने देखा कि शरीर मे चेतना अपने को शरीर की चार अवस्थाओ मे प्रकट करती है। शरीर की पहली अवस्था जहाँ चेतना अपने को व्यक्त करती है 'जाग्रत' कहलाती है, शरीर की दूसरी अवस्था जहाँ चेतना अपने को व्यक्त करती है 'स्वप्न' कहलाती है, शरीर की तीसरी अवस्था जहाँ चेतना अपने को व्यक्त करती है 'सुषुप्ति' कहलाती है, शरीर की चौथी अवस्था जहाँ चेतना अपने को व्यक्त करती है 'तुरीय' कहलाती है। असल मे, ये अवस्थाएँ शरीर की होती है, चेतना की नही, समझने की सुविधा के लिए हमने इन्हे चेतना की अवस्थाएँ लिखा है।

चेतना की चार अवस्थाओ को स्पष्ट करने के लिए जैसे शास्त्रो ने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्थाओ का सहारा लिया है, वैसे ही चेतना की इन चार अवस्थाओ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वाणी की चार अवस्थाओं का सहारा लिया है क्योकि चेतना प्रकट-रूप मे अपने को जैसे जागने-सोने के रूप मे प्रकट करती है, वैसे ही प्रकट-रूप मे वाणी द्वारा भी प्रकट करती है। वाणी की चार अवस्थाएँ है—बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा। उल्टी तौर से कहा जाय तो इन्हे परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी कहते हैं। चेतना का चौथा स्तर या उसकी चौथी अवस्था जैसे 'तुरीय-अवस्था' कहलाती हैं, वैसे ही वाणी का चौथा स्तर या उसकी चौथी अवस्था 'परा-स्तर' कहलाती है। चेतना की तुरीय-अवस्था तथा वाणी के तुरीय-स्तर का एक ही अर्थ है—यह Supra-conscious या Transcendental stage है। चेतना की तुरीय-अवस्था तथा वाणी के परा-स्तर को समझने के लिए निम्न विचार-प्रक्रिया को समझ लेना होगा

जड़ तथा चेतन मे क्या भेद है? जड़ अपने-आप क्रिया नही कर सकता, चेतन क्रियाशील है, इसी क्रियाशीलता के गुण के कारण वह जड मे क्रिया का सचार कर सकता है। क्रियाशीलता को देख कर हम अनुमान करते हैं कि जहाँ क्रियाशीलता है वहाँ उसके व्यक्त होने मे ज्ञात या अज्ञात तौर पर चेतना का हाथ अवश्य है। प्राणी हिलता-जुलता है, इसलिए उसमे चेतना होनी ही चाहिए। परन्तु भौतिकवादी बहस के तौर पर कह सकता है कि यह क्रियाशीलता स्वाभाविक है, अपने-आप हो रही है, तत्रिका-तत्र पर वाह्य-सवेदन, उद्दीपक का आभ्यन्तर-परिणाम, उसकी अनुक्रिया है। इसलिए पतजलि मुनि ने चेतना के चार स्तरो पर अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा है कि वे जड तथा चेतन मे जो अत्यन्त स्पष्ट भेद है उसी को सामने रख कर चेतना के चार स्तरो को स्पष्ट करेंगे।

जड़ तथा चेतन मे स्पष्ट भेद है—'वाणी' का। चेतन बोल सकता है,

भाषा का प्रयोग कर सकता है, जड बोल नही सकता, भाषा का प्रयोग नही कर सकता, अपना भाव दूसरे को समझा नही सकता। इस 'वाणी' द्वारा, 'शब्द' के प्रयोग द्वारा, हम चेतना के चार स्तरो को समझ सकते हैं जिन्हे उन्होंने परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी 'वाणी' कहा है। चेतना के तुरीय-स्तर (Transcendental level of consciousness) पर पहुँचने के लिए, जहाँ मानवीय-स्वल्प-चेतना अपने विशुद्ध-रूप मे व्यक्त होकर, शरीर की इन्द्रियो एव ससार के विषयों से मुक्त होकर, जगत्-चेतना के सान्निध्य तथा सम्पर्क मे आ जाती है, वहाँ पहुँचने के लिए, पतजलि मुनि ने ओकार के जप को जो 'वाणी' का ही एक रूप है—माध्यम बनाने का उपदेश दिया है। किसी भी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने की यही प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ, हम किसी भी विचार को लें—हर विचार मे वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा—चेतना के ये चारो स्तर सब-किसी के अनुभव मे आते हैं। पहले विचार वाणी मे व्यक्त होता है। हम बात करते हैं, बोलते हैं, बहस करते हैं। यह चेतना का 'वैखरी-स्तर' है। फिर यह विचार वाणी से हट कर मन मे चला जाता है, होठ हिलना बन्द हो जाता है, हम खाली बैठे, जिन बातो को वाणी से कहा था, जिन बातो की बहस की थी, वे विचार बिना वाणी के हमारे भीतर चलने लगते है। यह चेतना का 'मध्यमा-स्तर' है। मध्यमा इसलिए कि न हम बोल रहे होते हैं, न बिल्कुल चुप ही होते है, बात कर भी नही रहे होते, बात चल भी रही होती है। इसके बाद विचार चेतना के 'पश्यन्ती-स्तर' मे चला जाता है। इस समय मन मे विचार चलना तो बन्द हो जाता है, परन्तु वह विचार जीवन का अग हो जाता है, जीवन पर छा जाता है, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, हमारा जीवन उस विचार से ओत-प्रोत हो जाता है, वह विचार मानो हमे तथा हमारे सभी निकटवर्ती लोगो को दीखने-सा लगता है, सब कहने लगते है कि यह व्यक्ति विचारमय हो गया है, विचार का स्वरूप हो गया है। चेतना की इस अवस्था को 'पश्यन्ती-स्तर' कहा जाता है। इसके बाद चेतना का चतुर्थ-स्तर है, जो उक्त तीनो को लाँघ जाता है, जब वह विचार दीखने ही नही लगता, हम उस विचार को विचार के रूप मे भूल जाते हैं, हम और वह विचार एक हो जाते हैं, हम मे और उस विचार मे भेद-भाव ही नही रहता। जहाँ भेद होगा वही तो कोई वस्तु दीखेगी, जहाँ भेद ही नही होगा, वहाँ दीखेगा क्या ? इसलिए चेतना के 'पश्यन्ती-स्तर' के आगे का स्तर 'परा-स्तर' कहलाता है, 'परा'—अर्थात्, सब स्तरो से परे—जो सब स्तरो को लाँघ जाता है। वाणी का यही 'परा-स्तर' चेतना की 'तुरीयावस्था' भी कहलाती है। हमारे भीतर अनेक मनोभाव हैं। प्रेम है, द्वेष है, ईर्ष्या है, घृणा है—ये सब भी चेतना के चार स्तरो मे हर-कोई अपने भीतर देख सकता है। हर प्रकार के ध्यान की यही प्रक्रिया है। चेतना के सम्बन्ध मे ध्यान की इसी प्रक्रिया का आश्रय लेकर

योगाचार्य महर्षि पतजलि ने इसे चेतना के साक्षात्कार पर घटाया है। उनका कथन है कि ओंकार का उच्चारण पहले चेतना के बैखरी-स्तर पर हो, फिर मध्यमा-स्तर पर, फिर पश्यन्ती-स्तर पर, फिर परा-स्तर पर। जब साधक ओंकार के सहारे चेतना के परा-स्तर पर पहुँच जाता है, तब वह चेतना की तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है जिसमे चेतना अपने विशुद्ध-रूप मे आ जाती है। ओंकार का उच्चारण पहले बैखरी-वाणी द्वारा चेतना के बैखरी-स्तर पर किया जाता है, फिर मध्यमा-वाणी द्वारा चेतना के मध्यमा-स्तर पर किया जाता है, फिर पश्यन्ती-वाणी द्वारा चेतना के पश्यन्ती-स्तर पर किया जाता है, फिर परा-वाणी द्वारा चेतना के परा-स्तर पर किया जाता है, चेतना का यह परा-स्तर ही चेतना की तुरीयावस्था (Transcendental state) है जिसमे पिंड-चेतना तथा ब्रह्माण्ड-चेतना का द्वैत होते हुए भी आपसी सपर्क हो जाता है।

तो फिर, बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा का ओंकार के जप द्वारा चेतना के साक्षात्कार के साथ क्या सम्बन्ध है ?

(क) चेतना के 'बैखरी'-स्तर में ओंकार का जाप—ध्यान के विज्ञान के अनुसार वाणी से उच्चारण करना ध्यान की प्रथम अवस्था है। जब हम वाणी द्वारा किसी शब्द का उच्चारण करते है, तब सब तरफ से ध्यान खिंच कर उस तरफ आ टिकता है, चेतना वहाँ केन्द्रित हो जाती है। उच्चारण द्वारा चेतना का एक शब्द मे केन्द्रित हो जाना चेतना का बैखरी-स्तर कहलाता है। आध्यात्मिक-दृष्टि से ओंकार का उच्च-स्तर से उच्चारण करने के द्वारा ध्यान का उस स्वर मे टिक जाना ध्यान का प्रथम चरण है।

(ख) चेतना के 'मध्यमा'-स्तर में ओंकार का जाप—बैखरी, चेतना का सबसे ऊपरी-स्तर है। उसके बाद उच्च-स्वर मे उच्चारण करने के स्थान मे ओंकार का भीतरी-ध्यान चलता है। इस द्वितीय-अवस्था मे ओंकार को ज़ोर-ज़ोर से नही बोला जाता, होठो द्वारा ओंकार का उच्चारण नही किया जाता, हृदय के भीतर, मुँह से बिना जपे इस मन्त्र का जाप किया जाता है। चेतना मे जाप की यह मध्यमा-स्थिति है क्योकि इसमे उच्चारण-पूर्वक जाप जपा भी नही जाता, परन्तु मन के भीतर जाप जपा भी जाता है। चेतना के क्षेत्र मे ज्यो-ज्यो हम आगे-आगे चलते है, त्यो-त्यो चेतना की गहराई मे उतरते जाते है, जो चेतना बाह्य-ससार से घिरी पड़ी है, उसके बाहर के पर्दों को चीर कर चेतना के निकट बाहर से भीतर जाते है। कौन चेतना के निकट, बाहर से भीतर जाता है ? कोई दूसरा नही, हमी जो बैखरी मे बिखरे पडे थे मानसिक-जप द्वारा अपने-आप मे सिमटने लगते है।

(ग) चेतना के 'पश्यन्ती'-स्तर मे ओंकार का जाप—मध्यमा के बाद चेतना का 'पश्यन्ती'-स्तर आता है। 'पश्यन्ती'-स्तर वह है जिसमे हम ओंकार का न

तो मुख से उच्चारण करते है, न मन मे उसे दोहराते है , इस स्तर मे पहुँच कर ओंकार हमारे लिए दृश्य रूप धारण कर लेता है। दृश्य का अर्थ यह नही कि स्थूल-रूप मे आँखो से दीखने लगता है, इसका यह अर्थ है कि हम इसी मे समाए रहते है, हमे इसके सिवाय और कुछ सूझता ही नही, इतना समाये रहते है मानो हमारे लिए इसका होना प्रत्यक्ष के समान हो जाता है, तभी इसे 'पश्यन्ती'-स्तर कहा है।

(घ) **चेतना के 'परा'-स्तर मे ओंकार का जाप**—चेतना की गहराई मे उतरते-उतरते साधक चेतना के महानतम-स्तर मे जा पहुँचता है, तीनो स्तरों को लाँघ कर अपने चेतन-स्वरूप मे आ जाता है, ओंकारमय हो जाता है। अपने स्वरूप मे आ जाना या ओंकारमय हो जाना एक ही बात है। 'परा'-स्तर में उतर जाना ही तुरीयावस्था है जिसका जिक्र हमने जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के सिलसिले मे किया था। वाणी का 'परा'-स्तर या चेतना की 'तुरीयावस्था' का एक ही अर्थ है, इसी को अंग्रेजी मे Supra-conscious or Transcendental state का नाम दिया गया है।

6 शुद्ध-चेतना के रूप मे तुरीयावस्था की प्राप्ति ही मनुष्य का चरम-लक्ष्य है

हम देख चुके हैं कि चेतना की चार अवस्थाओ मे से 'तुरीयावस्था' अन्तिम अवस्था है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के बाद की अन्तिम अवस्था तुरीयावस्था है, वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती के बाद वाणी का जो अन्तिम स्तर है, जिसे 'परा' कहा जाता है, वह भी 'तुरीयावस्था' का ही दूसरा नाम है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति—ये अवस्थाएँ शरीर की है जिनमे से गुज़रती हुई चेतना का शुद्ध-रूप तुरीय के नाम से अभिव्यक्त होता है, वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती—ये अवस्थाएँ वाणी की—भावनाओ की—है, जिनमे से गुजरती हुई वाणी अपने अन्तिम 'परा' रूप मे अभिव्यक्त होती है, जो चेतना की तुरीयावस्था ही है। चेतना का शुद्ध, निखरा हुआ रूप न तो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति मे से कोई-सा है, न वाणी की वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती मे से कोई-सा है। वह इन सबसे पृथक् है। जब वह पिंड के सब रूपो को छोड कर अपने चेतना-स्वरूप—स्व-रूप—मे आ जाती है, तब वह ब्रह्माण्ड की चेतना के सम्पर्क मे आ जाती है, ब्रह्माण्ड के अणु-अणु को जीवन देने वाली चेतना के निकट आ जाती है। वह अवस्था चेतना की तुरीयावस्था तथा वाणी का परा-स्तर है।

हमारा बाह्य-जीवन, बाहर का व्यवहार, हमारे भीतर बैठी चेतना की तुरीयावस्था के खूँटे मे बँधा रहता है—यह बात हर-किसी के अनुभव मे आती है। उदाहरणार्थ, अगर हमारे भीतर चिन्ता बैठी हो, तो देखने को तो हम ऊपर

का सारा व्यवहार ऐसे करते रहते है मानो कुछ हुआ ही नही, परन्तु मन किसी डोरी से भीतर बँधा रहता है। मनुष्य अगर किसी के प्रेम-पाश मे अटका है, तो बाहर से भले ही कुछ करता रहे, उसकी तार भीतर से ही खिचा करती है। मनुष्य कारोबार मे लगा दीखता है, परन्तु अगर भीतर कोई दुविधा है, तो उसकी छाया भीतर से बाहर पडती-ही-पड़ती है। जो बात भौतिक-जीवन मे होती है, वही बात आध्यात्मिक-जीवन मे होती है। अगर चेतना के तुरीय मे चिन्ता है, तो चेतना का सम्पर्क चिन्ता से होगा और मानव के तुरीय का चिन्ता के खूँटे से बँधे रहने के कारण उसके बाहर के व्यवहार मे चिन्ता का ही प्रवाह बहेगा; अगर चेतना के तुरीय मे प्रेम है, तो चेतना का सम्पर्क प्रेम से होगा, और मानव के तुरीय का प्रेम के खूँटे से बँधे रहने के कारण उसके व्यवहार मे प्रेम का ही प्रवाह होगा, अगर चेतना के तुरीय मे शुद्ध-चेतना है, वह संसार के विषयो को छोड कर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप मे व्यक्त हो रही है, तो उसका सम्पर्क ब्रह्माण्ड की अनन्त चेतना से होगा, और उस अनन्त चेतना के खूँटे से बँध जाने के कारण मानव का जीवन, उसका व्यवहार सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप अनन्त चेतन के रग मे रँग जाएगा। इस प्रकार जब चेतना तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेती है, संसार के विषयो से छूट कर परे—'परा'-भाव—को प्राप्त कर लेती है, तब उसका विश्व की सच्चिदानन्द-स्वरूप चेतन-शक्ति से सम्पर्क हो जाने के कारण उसमे सांसारिक सुख नही, आध्यात्मिक प्रसाद छलछला उठता है, और यही मानव का चरम लक्ष्य है।

सोचने की बात है, वृक्ष को रस कहाँ से मिलता है? वृक्ष को रस मिलता है जड से। पत्तों पर पानी छिडकने से वृक्ष हरा नही होता, जड को पानी देने से वृक्ष हरा होता हैं। जड़ का काम पोषक-तत्त्वो को लेना हैं, लेकर आगे दे देना हैं। ठीक इसी तरह मनुष्य मे चेतना का काम भीतर से शक्ति को लेना और उसे लेकर व्यवहार मे फेंक देना है। अगर हमारी चेतना ऊपर-ऊपर के स्तर पर ही रही, तुरीय-स्तर पर नही पहुँची, उस स्तर पर जहाँ विश्व-चेतना का समुद्र लहलहा रहा है, तो कहाँ से वह शक्ति लेगी, बल लेगी, तेज लेगी, उत्साह लेगी। हम तो जाग्रत या बैखरी के बाह्य-स्तर पर ही अटके पडे रहते है, चेतना को वहाँ जो-कुछ मिलेगा वही तो हमारे व्यवहार मे प्रकट होगा। वहाँ क्या हैं? वहाँ तो बस विषयो का क्षण-भगुर रस है, और मानव वही अटके रहने के कारण उस क्षण-भगुर रस मे ही अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देता हैं। चेतना को अखण्ड-रस मिलता है, शक्ति मिलती है, चेतना का रसमय से, आनन्द-मय से, शक्ति के पुज से सम्बन्ध स्थापित कर लेने से। जैसे एक छोटे-से बल्ब को बिजली के प्लग मे जमा देने से वह चमक उठता है, वैसे ही पिंड की चेतना को विश्व का सचालन करने वाली महती-चेतना के साथ जोड देने से इस अल्प-चेतना मे महती-शक्ति का सचार हो जाता है, उस शक्ति के संचार से मानव की

चेतना उत्साहपूर्ण, आनन्दमग्न हो उठती है, आनन्द उसमे छलछलाने लगता है, इसलिए छलछलाने लगता है क्योकि तुरीयावस्था मे पहुँच जाने के कारण आनन्द के भण्डार, आनन्द के स्रोत, सच्चिदानन्द से उसका सम्वन्ध जुड जाता है जहाँ से अजस्र आनन्द का झरना वहा करता है, परन्तु जो हमारी चेतना का उससे सम्पर्क न होने के कारण रस से भरपूर होते हुए भी हमारे लिए सव सूका पडा रहता है।

क्या यह सम्भव है कि मानव की चेतना का आनन्द के स्रोत के साथ सम्वन्ध स्थापित किया जा सके ? शास्त्रो का कथन है कि यह सम्भव ही नही, यही सम्भव है, यही स्वाभाविक है। हमारी स्वल्प-चेतना हर समय उस चेतना के अखण्ड-स्रोत के साथ जुडना चाहती है, परन्तु हम उसे वीच मे ससार के विषयो की झाडियो मे अटका लेते हैं। चेतना एक मधु-मक्खी के समान है। हम समझते हैं कि मधु-मक्खी का स्वभाव ही उडते रहना है, परन्तु यह वात नही है। मधु-मक्खी तो मधु की तलाश मे उड रही है। जहाँ उसे मधु की एक वूँद मिली, वह वही चिपक जाती है, वहाँ से वह हिलना नही चाहती। हाँ, जव वह वूँद चुक जाती है, तव वह फिर झट मधु की तलाश मे भटकने लगती है। चेतना भी आनन्द की तलाश मे भटका करती है। विषयो मे जो आनन्द मिलता है उसके साथ वह चिपट जाती हैं, परन्तु चिपटे-चिपटे पता चलता है कि ये सव आनन्द क्षणिक हैं, कुछ देर रहते है फिर नही रहते। असल मे तो चेतना आनन्द के अखण्ड स्रोत की तलाश मे भटका करती है, वह जव नही मिलता तव उस भटकने को हम चेतना का स्वभाव समझ लेते हैं। हम कहने लगते हैं—चेतना चचल है, कही टिकती नही, टिक कर वैठती नही। ऐसी वात नही है। चेतना तो मधु-मक्खी की तरह आनन्द की तलाश मे भटकती है। इसकी चचलता स्वाभाविक नही, चचलता तो कही टिकने के लिए भटकना है। इसका स्वभाव आनन्द को ढूंढना है। इसके सामने ससार के विषय आते हैं। इनमे आनन्द है, यह उनका आनन्द लेने के लिए उनमे अटक जाती है। जव वह आनन्द समाप्त हो जाता है, तव मधु-मक्खी की तरह फिर दूसरी जगह मधु की तलाश होने लगती है। स्वभाव इसका मधु को पाकर उसके साथ चिपक जाना है, भटकते रहना इसका स्वभाव नही है। चेतना मे यह तलाश इस गहराई तक वैठी हुई है कि तलाश की इस भावना का इतना जवर्दस्त होना ही इस वात का सवूत है कि आनन्द का कोई अथाह स्रोत ससार मे जरूर मौजूद है जिसकी चेतना को इतनी गहरी तलाश है।

आनन्द को ढूंढते रहने की यही प्रक्रिया ध्यान कहलाती है। चेतना आनन्द मे डूवना चाहती है, इसमे विभोर हो जाना चाहती है। चेतना आनन्द के उस अमिट स्रोत तक पहुँच ही नहीं पाती, इसीलिए भटका करती है। चेतना का कही अजस्र-स्रोत है, तभी तो यह उसे पाने के लिए भटक रही है। शास्त्रो ने

उस अजस्र, अखण्ड स्रोत को पाने की विधि बतलाई है। वह विधि क्या है ? वह विधि मन्त्र-जाप की विधि है। मन्त्र-जाप की विधि क्या है ?

7. चेतना की तुरीयावस्था की प्राप्ति के लिए मन्त्र-जाप

चेतना की तुरीयावस्था तक पहुँचने के लिए शास्त्रो ने मन्त्र के जाप का विधान किया है। सब मन्त्रो से उत्कृष्ट मन्त्र 'ओ३म्' का कहा गया है। 'ओ३म्' का क्या रहस्य है ? आध्यात्मिक-प्रक्रिया का मूल-आधार प्राणायाम है। प्राणायाम मे प्राण भीतर लिया जाता है, बाहर निकाला जाता है। प्राण-वायु लेने मे 'सो', निकालने मे 'हम्' की ध्वनि होती है, इस प्रकार 'सोऽहम्'-शब्द प्राणायाम का प्रतिनिधि है। प्राणायाम की ध्वनि का प्रतिनिधि होने के अतिरिक्त 'सोऽहम्' का अर्थ—'स अहम्' भी है, अर्थात् 'मैं यह शरीर नही हूँ'—वह 'आत्मा' हूँ। यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है। यजुर्वेद के 40 वे अध्याय मे मन्त्र आता है—**'योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'**। इस मत्र मे भी 'सोऽहम्' शब्द आता है। अग्रेजी मे 'सोऽहम्' का अर्थ है—That I am. बायबल मे (Exodus, Chapter 3, Verse 14) खुदा ने मूसा को कहा कि मेरा निज नाम 'That I am' है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय यह भारतीय-विचार यहूदियो मे पहुँचा और उन्होंने भी खुदा का नाम 'सोऽहम्' (That I am) रखा। यहूदियो की तरह ग्रीक लोगो मे भी इसी तरह का एक शब्द है—'Teteragrammaton'—जिसमे 'Tetera' का अर्थ है—'चतुर'; 'Grammaton' का अर्थ है—'अक्षर'—जिससे ग्रामर-शब्द बना है। 'टैट्राग्रामेटोन' का अर्थ है—चार अक्षरो वाला शब्द। यहूदियो के परमेश्वर 'जिहोबा' (Jehovah) के लिए ग्रीक-भाषा मे 'टैट्राग्रामेटोन'-शब्द का प्रयोग हुआ है। ग्रीक-भाषा मे (देखो, ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी मे 'टेट्रा'-शब्द) इस शब्द का अर्थ है—चार अक्षरो वाला ईश्वरवाचक शब्द। माण्डूक्योपनिषद (मन्त्र 2) मे 'ओकार' को 'चतुष्पाद्'—चार अक्षरो वाला शब्द कहा गया है—**'सोऽयमात्माचतुष्पात्'**। इस उपनिषद् मे कहा है कि ओकार के चार अक्षर है—अ, उ, म् तथा अमात्र (8,12)—**'अकार उकारो मकार इति—अमात्रश्चतुर्थः'**। जैसे यहूदियो ने उपनिषदो के **'सोऽहम्'** या **'तत्त्वमसि'** का अनुवाद करके अपने ईश्वर का नाम 'That I am' रखा, वैसे ग्रीक लोगो ने भी उपनिषदो के **'चतुष्पाद् ओंकार'** का अनुवाद करके ईश्वर-वाचक शब्द का प्रयोग करने के लिए 'Teteragrammaton'-शब्द का प्रयोग किया क्योकि 'चतुष्पाद' तथा 'टैट्राग्रैमेटोन' का एक ही अर्थ है। उपनिषद् मे 'चतुष्पाद्' शब्द का प्रयोग ओंकार के लिए हुआ है, ग्रीक-भाषा मे 'टैट्राग्रैमेटोन'-शब्द का प्रयोग जिहोवा—ईश्वर—के लिए हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ओकार की विचारधारा ही यहूदियो मे तथा ग्रीक लोगो मे किसी माध्यम से पहुँची है। 'सोऽहम्' जो प्राणायाम का प्रतिनिधि है उसी का

संक्षिप्त-रूप 'ओ३म्' है, 'स' और 'ह' निकल जाने से 'ओ' और 'म्' शेष रह जाता है। प्राणायाम में ओ३म् का सहारा लेकर इस मंत्र के जाप का शास्त्रों में विधान है। इस मन्त्र के जाप में साधक चेतना के चार स्तरों में से गुज़रता है। पहले-पहल ओंकार का जाप 'वैखरी'-वाणी में होता है। 'वैखरी' का अर्थ है—वाणी द्वारा उच्चारण। शुरू-शुरू में—'ओ३म्', 'ओ३म्'—इस प्रकार बोलकर जाप किया जाता है—सौ बार, हज़ार बार, बार-बार। इसके बाद जप 'मध्यमा'-वाणी के स्तर में आ जाता है। मध्यमा-वाणी का स्तर वह है जिसमें जप वाणी द्वारा बोलने के स्थान में संकल्प के क्षेत्र में आ जाता है। इसमें होंठ नहीं हिलते, परन्तु चेतना अपने भीतर-ही-भीतर जप में लगी रहती है। तीसरी अवस्था वह आती है जब चेतना में संकल्प भी नहीं रहता, वाणी तो बोलती ही नहीं, परन्तु चेतना के भीतर मन्त्र समाने लगता है। उस अवस्था में न हम वाणी से बोलते है, न भीतर-ही-भीतर जाप करते हैं, जप ही छूट जाता है, परन्तु मन्त्र की अनुभूति-मात्र रह जाती है। यह 'पश्यन्ती'-वाणी का स्तर है। पश्यन्ती, अर्थात् मन्त्र को हम देख-से रहे होते हैं, अनुभव कर रहे होते हैं, मन्त्र को न तो बोल रहे होते हैं, न भीतर-ही-भीतर जप रहे होते हैं। यह स्थूल से सूक्ष्म की तरफ जाना है। इसके बाद चौथी अवस्था आती है, जो 'परा'-वाणी का स्तर कहलाती हैं, इसी को तुरीयावस्था भी कहते हैं। इसमें मन्त्र की अनुभूति भी नहीं रहती, आनन्द, उत्साह, शक्ति मात्र रह जाते हैं, यह अवस्था मन्त्र-जाप, मन्त्र-संकल्प तथा मन्त्रानुभूति के परे की भावातीत अवस्था है जिसमें ओंकार तथा चेतना एक-रस हो जाते हैं, उनमें भेद नहीं रहता। जब चेतना इस अवस्था में पहुँच जाती है, तब पिंड की चेतना का ब्रह्माण्ड की चेतना से सम्पर्क हो जाता है—यही ब्रह्मानुभूति या ईश्वर-दर्शन है।

मन्त्र-जाप का यह अर्थ नहीं है कि साधक दिन-रात मन्त्र का जाप करता रहे। जिन लोगों ने दिन-रात मन्त्र-जाप करने की बात की थी उन्होंने भारत को निकम्मा बना दिया था। दिन-रात ध्यान लग नहीं सकता। परिणाम यह हुआ कि गुरु लोग शिक्षा तो यह देते रहे कि दिन-रात ध्यान करो, ऐसा हो नहीं सकता था, न चित्त ध्यान में लगा, न काम में लगा, न परलोक सिद्ध हुआ, न यह लोक सिद्ध हुआ। जप की, ध्यान की यह प्रक्रिया नहीं है। ध्यान की प्रक्रिया क्या है? जैसे कपड़े को रंगा जाता है, वैसे ध्यान द्वारा चेतना को रंगा जाता है। कपड़ा रंग कर धूप में फैला देते हैं। फैलाते हुए छाया में नहीं फैलाते, धूप में फैलाते हैं ताकि जितना रंग उड़ना है उड़ जाय। फिर उसे रंगते है, फिर धूप में फैलाते हैं। इस बार भी रंग उड़ता है, परन्तु पहले से कम। रंगना, फिर धूप में रंग का उड़ना—इस प्रक्रिया को करते-करते रंग कपड़े में स्थिर रूप से टिक जाता है। यही प्रक्रिया चेतना के साथ की जाती है। ध्यान करो, फिर काम करो,

ध्यान करो, फिर काम करो—ध्यान और काम, काम और ध्यान—परलोक और इहलोक, इहलोक और परलोक—परमेश्वर और संसार, ससार और परमेश्वर—इस प्रकार दोनो क्षेत्रो मे आने-जाने से चेतना वास्तविकता के जगत् मे रहती है क्योकि जैसे परमेश्वर सत्य है वैसे यह जगत् भी सत्य है। संसार के काम करने के बाद जब ध्यान मे जाओगे तब विश्व की अथाह चेतना के साथ सम्पर्क मे आने के कारण व्यक्ति की चेतना मे इतनी शक्ति का सचार हो जायगा, इतना उत्साह, आनन्द तथा उल्लास भर जायगा कि भौतिक-जगत् मे काम करते हुए भी आध्यात्मिक-जगत् से प्राप्त किया हुआ आनन्द बना रहेगा। तभी तो उपनिषदों मे जनक आदि राजाओ के विषय मे ऐसा वर्णन आता है कि दुनियाबी काम करते हुए भी उनके हृदय मे भगवान् की लौ लगी रहती थी। जप का, ध्यान का उद्देश्य, तुरीयावस्था की प्राप्ति का लक्ष्य, मानव को ससार से उपराम बना देना नही, अपितु सासारिक-जीवन को भी सफल बना देना है। ध्यान मे बैठने पर चेतना एक प्रकार से विश्व-चेतना के डायनेमो के सम्पर्क मे आकर शक्ति से चार्ज हो जाती है, भर जाती है, उसमे परम-चेतना के सम्पर्क द्वारा शक्ति का संचार हो जाता है, मानव—आनन्द, शक्ति, उत्साह, प्रफुल्लता से छल-छलाने लगता है। यह छलछलाहट उस तक ही सीमित नही रहती, दूसरो को भी इसका अनुभव होने लगता है। यह सभी का अनुभव है कि कई व्यक्तियो के सम्पर्क मे आने से हम भी सूक-रो जाते है, कई के सम्पर्क मे आने से हम भी हरे-भरे हो जाते है। जो स्वय हरे-भरे होगे वे ही तो दूसरो को भी हर-भरा बना सकते है। जैसे चुम्बक लोहे को चुम्बकित कर देता है, वैसे ही विश्व-चेतना के सम्पर्क मे आकर हमारी चेतना चुम्बकित हो जाती है, फिर वह चेतना जिस किसी के सम्पर्क मे आती है उसमे भी शक्ति से लबालब भरे हुए अपने प्याले मे से कुछ-कुछ हिस्सा बॉटती जाती है।

8. मिथ्या-अध्यात्मवाद

अध्यात्मवाद की यह मिथ्या-धारणा है कि यह ससार असत्य है, यह कि जब तक हम इस ससार से विरक्त नही हो जाते, इसे छोड़ नही देते, तबतक उस आनन्दमय भगवान् के दर्शन नही हो सकते। ससार असत्य नही है, सत्य है, भगवान् भी असत्य नही है, सत्य है। हम मकान मे बैठे हैं, मकान सत्य है, परन्तु मकान के बाहर बगीचा है, वह भी सत्य है। मकान मे बैठ कर मकान का आनन्द लेना, मकान के बाहर जाकर बगीचे का आनन्द लेना—इन दोनों को मिला देने से पूरा आनन्द मिलता है। हमारे सामने एक फूल है। फूल भी सत्य है, फूल के भीतर का रस, उसकी सुगध भी सत्य है। न हम यही कह सकते हैं कि केवल फूल की सत्ता है, न यही कह सकते हैं कि केवल रस या गंध की

ही सत्ता है। फूल और रस, फूल और गध दोनो की सत्ता है। इसी प्रकार यह ससार सत्तामय है, यह मिथ्या नही है, साथ ही ससार रूपी फूल का रस, उसकी गध, उसमे सन्निविष्ट आनन्दमय भगवान्—वह भी सत्य है। वेदान्ती लोग ससार को माया-मोह तथा मिथ्या-जाल कहते हुए एक भ्रान्त धारणा मे पड जाते हैं। वे ससार को छोडने की वात कहते है, परन्तु दूसरो से तो ससार क्या छूटना था, उनसे भी तो नही छूटता। तभी श्री शकराचार्य ने दो शव्दो को गढा—'परमार्थ' मे ससार असत् है, 'व्यवहार' मे ससार सत् है। असली चीज़ व्यवहार है। जव व्यवहार मे उसने सत् रहना है, तव परमार्थ की वात व्यर्थ है। यही कारण है कि परमार्थ का नाम लेने वालो के जीवन उसी तरह काम, क्रोध, वासना से सने दिखलाई देते है जैसे अन्य ससारी जीवो के। वैदिक-अध्यात्मवाद ससार को असत्य नही मानता, वह इसे इतना ही सत्य मानता है जितना ससार रूपी फूल मे आनन्द रूपी रस का सचार करने वाले को सत्य मानता है। वैदिक अध्यात्मवादी इस ससार मे रहता हुआ अपना सम्पर्क विश्व की आनन्दमयी-सत्ता से वनाये रखता है जिससे उसका व्यावहारिक-जीवन शक्तिमय, आनन्दमय, उत्साहमय, उल्लासमय वना रहता है, शक्ति के स्रोत से उसके जीवन मे आनन्द का प्रवाह वहता रहता है।

वेदान्ती लोग ससार को ही मिथ्या नही कहते, अपने को भी ब्रह्म कहते हैं। उनके अध्यात्मवाद की यह भी मिथ्या धारणा है। मैं अपने को राजा कहता फिरूँ और भीख माँगता फिरूँ—इन दोनो वातो मे सगति नही है। अपना देश इसलिए क्रियाहीन, शक्तिहीन हो गया क्योकि इस देश मे अपने को ब्रह्म कहने वालो की टोलियो-की-टोलियाँ उठ खडी हुई। अपने को राजा कह देने से कोई राजा नही वन जाता। इसमे सन्देह नही कि हमे सशक्त होना है, आनन्दमय होना है, राजा वन कर जीना है, परन्तु इसका तरीका यह नही है कि हम अपने को ब्रह्म कहने लगें, राजा कहने लगें। इस रास्ते पर चल कर देश का सत्यानाश हो गया, भिखारियो की मण्डलियाँ दर-दर भीख माँगने लगी। इसका सही रास्ता तो यही है कि हम अपना सम्वन्ध उस आनन्दमय से जोडे। रेल का डिव्वा जव इजन मे जुडता है तव 50-60 किलोमीटर की रफतार से दौडने लगता है। इसीप्रकार जव ध्यान द्वारा हमारी चेतना का सम्पर्क तुरीयावस्था मे पहुँच कर आनन्द की स्रोत विश्व-चेतना से होगा, तव हमारी चेतना भी आनन्द मे लवाल्व भर उठेगी, हममे आनन्द छलकने लगेगा, वह आनन्द हम तक ही सीमित नही रहेगा, जो भी हमारे सम्पर्क मे आयेगा वह भी आनन्दमय हो जायेगा। तव हम ससार को मिथ्या और अपने को ब्रह्म या राजा नही कहते फिरेंगे, दूसरे भी हमे राजा ही अनुभव करेंगे, तव हम ससार को मिथ्या कह कर उससे उपराम नही हो जायेंगे, तव हम ससार को यथार्थ मान कर उसका शासन

करेंगे, संसार को जिधर चाहेगे चलाएँगे। चुम्बक के सम्पर्क मे आने से लोहा चुम्बक हो जाता है, ध्यान द्वारा आनन्द के स्रोत के साथ जुड जाने से मानव आनन्दमय हो जाता है।

9 यथार्थ-अध्यात्मवाद

हमारा दृष्टिकोण एकागी है। भौतिकवादी लोग, चाहे पूर्व के हो चाहे पश्चिम के हो, सिर्फ इस दुनिया मे रमे रहते हैं, भौतिकवाद का नारा लगाये फिरते हैं, अध्यात्मवादी सिर्फ परलोक की बात करते हैं। ये दोनो दृष्टियाँ एकागी हैं, अयथार्थ है। सर्वांगीण तथा यथार्थ-दृष्टि यह है कि ससार भी सत्य है, ब्रह्म भी सत्य है, इन दोनो को आपस मे लडाने के स्थान मे इन दोनो के मेल से ही जीवन का सीधा रास्ता बनता है। सर्वांगीण-दृष्टि यह है कि मानव की स्वल्प-चेतना ध्यान द्वारा चेतना की 'तुरीयावस्था' या बाणी के 'परा-स्तर' पर पहुँच कर अव्यक्त विश्व-शक्ति के तेजोमय शक्ति-पुज सच्चिदानन्द के सम्पर्क में आकर शक्ति का संचय करे और आधिभौतिक जगत् मे आकर, सशक्त होकर, सासारिक-जीवन को सफल बनाए। हर समय अध्यात्म मे डूबे रहना सासारिक लोगो को निकम्मा बना देता है। नाम ले, परन्तु काम करे। सिर्फ नाम ही लेते रहने से काम नही होता, सिर्फ काम ही करते रहने से काम करने की शक्ति ही नही रहती। नाम द्वारा शक्ति का सचय करना, और संचित-शक्ति से काम मे लग जाना—यही सही रास्ता है। हम कुछ देर के लिए खजाने मे जाते है, वहाँ से धन लेकर दिन-भर बाजार मे काम करते है, इसी से दुनिया के कारोबार चलते है। अगर हम खजाने मे ही बन्द रहे तो बेकार, अगर खज़ाने से पैसे लिए बिना बाजार मे कारोबार के लिए चले जाएँ तो बेकार। ध्यान मे बैठना खजाने मे जाना है, ध्यान के बाद काम मे लग जाना बाजार मे जाना है। खजाने मे जाओ और बाजार मे आओ, नाम लो परन्तु उसके बाद काम करो, ध्यान मे बैठो और शक्ति संचित कर ससार के व्यवहार को चलाओ—यही सर्वांगीण-दृष्टि है, यही यथार्थ वैदिक-अध्यात्मवाद है, इसी की घोषणा वेद मे **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** कह कर की गई है—ससार का भोग करो, परन्तु ध्यान रखो कि भोग ही सब-कुछ नही है।

हम कहते है कि ससार के विषयो के खिचाव इतने प्रबल है कि ध्यान मे बैठा ही नही जाता। ध्यान मे बैठते ही दुनिया की बातें चेतना-पटल पर सिनेमा के चल-चित्रो की तरह खिचने लगती है। हम कैसा ही प्रयत्न करे, चेतना उनसे हटती ही नही। ध्यान के विज्ञान के पास इसका भी समाधान है। इसका समाधान यह है कि चेतना को विषयो से खीचना नही है। कैसे खिचेगी? यह कैसे हो सकता है कि जो सासारिक-विषय चेतना को दिन-रात घेरे रहते है उनकी तरफ

हम ध्यान न दें ? जब हम उनकी तरफ ध्यान न देने की बात सोचने लगते हैं तब तो वे और प्रबल हो उठते हैं। इसका उपाय यही है कि इन विषयों के समकक्ष इनसे प्रबल कोई विषय चेतना के सामने रख दिया जाय। अगर मोमबत्ती का प्रकाश हो रहा हो, तो बिजली के प्रकाश से यह दब जाता है, रेडियो चल रहा हो तो उधर तो ध्यान बरबस जाता है परन्तु अगर उससे अधिक मधुर संगीत की तान छेड़ दी जाय, तो रेडियो चलता रहेगा परन्तु ध्यान उससे अपने-आप हट जायगा। चेतना को संसार के विषय घेरे रहते हैं इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता, परन्तु हाँ—अगर चेतना के सम्मुख इन विषयों से प्राप्त होने वाले आनन्द से भी प्रबल विश्व-चेतना के सान्निध्य का आनन्द रख दिया जाय, तो बरबस उसके ध्यान का केन्द्र संसार के विषय न होकर विश्व-चेतना हो जाएगी—क्योंकि विषयों के आनन्द और चेतना के आनन्द की तुलना में विषयों का आनन्द क्षणिक दीखने लगेगा। चेतना की यह स्थिति 'तुरीयावस्था' या 'परा-स्तर' पर पहुँचने पर ही हो सकती है।

10 चेतना के विषय में मनोविश्लेषणवाद का पाश्चात्य-विचार

चेतना के सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनों की जिस विचारधारा का हमने उल्लेख किया उससे मिलती-जुलती विचारधारा का युरोप में फ्रॉयड (1856-1839) ने सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे 'मनोविश्लेषणवाद' (Psycho-analysis) कहा जाता है। 1892 में उसने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसका रूप यह था कि चेतना का अध्ययन हमें बतलाता है कि हमारी 'सचेतनावस्था' (Conscious state) से गहरी एक दूसरी चेतना है जिसे उसने 'अचेतनावस्था' (Unconscious state) का नाम दिया। हमारी सचेतनावस्था के नीचे, गहराई में एक ऐसी 'अचेतनावस्था' है, जैसे समुद्र के पानी की ऊपरी सतह के नीचे गहरा पानी होता है। सचेतनावस्था पानी की ऊपरी सतह है, अचेतनावस्था इस ऊपरी सतह के नीचे गहरा पानी है। उसका कहना था कि 'सचेतन' तथा 'अचेतन' के बीच में 'अवचेतनावस्था' (Sub-conscious state) है जो इन दोनों को मिलाती है। इस विचार को यूं भी प्रकट किया जा सकता है कि मानो समुद्र में एक ग्लेशियर पड़ा है। ग्लेशियर बर्फ के उस विशाल-खण्ड को कहते हैं जो पहाड़ से बह कर समुद्र में आ पड़ता है। इसका बहुत ही थोड़ा हिस्सा पानी के ऊपर दिखलाई देता है, बहुत बड़ा हिस्सा पानी में ही डूबा रहता है। चेतना मानो इसी प्रकार का ग्लेशियर है। ग्लेशियर का थोड़ा-सा हिस्सा पानी की सतह पर दीखता है, उसी की तरह हमारी चेतना का थोड़ा-सा हिस्सा ही हमारे अनुभव में आता है, इसी को 'सचेतन' (The conscious) कहा जाता है; ग्लेशियर का तीन-चौथाई से अधिक हिस्सा पानी में डूबा रहता है, इसी को

'अचेतन' (The unconscious) कहा जाता है ; ग्लेशियर का कुछ हिस्सा पानी की सतह को कुछ ऊपर से कुछ नीचे से छूता है, इसी को 'अव-चेतन' (The sub-conscious) कहा जाता है। मनोविश्लेपणवाद के अनुसार हमारी चेतना का वहुत बडा भाग पानी मे डूब रहे ग्लेशियर की तरह 'अवचेतना' तथा 'अचेतना' के रूप मे हमारे अनजाने हममे बना रहता है।

(क) **सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन** (Conscious, Sub-conscious, Unconscious)—'सचेतन' (Conscious), 'अवचेतन' (Sub-conscious) तथा 'अचेतन' (Unconscious) मे क्या भेद है ? पहले तो हमे 'सचेतन' तथा 'अचेतन' मे भेद समझ लेना चाहिए क्योकि यही दो मुख्य है, 'अवचेतन' तो इन दोनो के वीच का रास्ता है। फ्रॉयड का कहना है कि मनुष्य मे कई तरह के विचार रहते हैं। कई विचार ऐसे हैं जिन्हे हमारा समाज बर्दाश्त कर लेता है, उन विचारो के लिए माता-पिता या समाज का कोई बन्धन नही होता। कई विचार ऐसे भी होते हैं जिन्हे हमारे माता-पिता पसन्द नही करते, न हमारा समाज उन्हे पसन्द करता है। जिन विचारो को हमारे माता-पिता, अभिभावक तथा समाज पसन्द करते है, वे हमारे 'सचेतन' (Conscious) मे रहते ही हैं, परन्तु जिन विचारो को हमारे माता-पिता या समाज पसन्द नही करते, वे मन मे तो उठते ही रहते है, उनका क्या होता है ? फ्रॉयड का कहना है कि वस, वे ही विचार 'अचेतन' (Unconscious) मे जाकर जमा हो जाते हैं, और 'सचेतन' के लिए मानो लुप्त हो जाते है। हम अपनी तरफ से तो मानो उन विचारो को मन मे से धकेल कर बाहर फेक देते है, परन्तु ऐसा होता नही है। बाहर चले जाने के बजाय वे चेतना के अन्तर-स्तल मे जा बैठते है, 'अचेतन-स्तर' मे जा छुपते हैं। हम समझते हैं कि हमने उन्हे निकाल दिया, परन्तु निकल जाने के बजाय वे अन्दर गड़ कर बैठ जाते हैं। जब हम माता-पिता, समाज तथा अभिभावको द्वारा अमान्य उन अनुचित, अश्लील, गन्दे विचारो को जो वाहर के वातावरण से हमारे मन मे प्रवेश करते है इच्छापूर्वक दवाकर 'अचेतना' के कूडाघर मे धकेल देते हैं, तब इस मानसिक-प्रक्रिया को मनोविश्लेषणवाद की परिभाषा मे 'दमन' (Suppression) कहा जाता है, ये दवे हुए विचार भीतर से बाहर आने के लिए अकुलाने लगते हैं, ये गन्दे विचार 'अचेतन' के भीतर जाकर मरते नही, उनकी क्रियाशीलता बढ जाती है। जिस विचार को दवाया जाय, वह बाहर निकलने के लिए जोर लगाता ही है, अगर नही निकल सकता तो भीतर वेचैनी पैदा करता है, इसी से तन्त्रकीय-रोग (Nervous diseases) पैदा हो जाया करते हैं। दवाया हुआ गन्दा विचार मरा नही, क्रियाशील है, वाहर निकलने के लिए जोर मार रहा है, परन्तु वाहर 'सचेतन-मन' (Conscious mind) मे आने के लिए उसे 'अवचेतन-मन' (Sub-conscious

mind) मे से गुज़रना पडता है। क्योंकि यह विचार गन्दा है, अश्लील है, इसलिए 'अवचेतन' जो अचेतन को सचेतन और सचेतन को अचेतन से मिलाने की सीढी है, वहाँ एक 'अवरोधक' (Censor) बैठा है, जो गन्दे विचारो को अपने गन्दे रूप मे आने नही देता, उन्हे फिर भीतर धकेल देता है, उनका 'दमन' (Suppression) कर देता है। परिणाम यह होता है कि ये गन्दे विचार अपनी शक्ल बदल कर दूसरे रूप मे सचेतन मे आने का प्रयत्न करते है। स्वप्न मे यही होता है। हमारे 'अचेतन' मे दबे हुए विचार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर स्वप्नो मे विचरते है। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति किसी विवाहिता-स्त्री के प्रेम-पाश मे फँस गया। यह विचार ऐसा है जिसे समाज सहन नही करता। हमारा मन इसे 'अचेतन' मे धकेल देता है, इसका 'दमन' (Suppression) करता है। यह विचार मरता तो नही, अचेतन से बाहर निकलने की कोशिश करता है, अपने गन्दे रूप मे तो 'अवरोधक' (Censor) इसे निकलने नही देता, इसका 'दमन' (Suppression) कर देता है, ऐसी हालत मे यह गन्दा विचार या तो जाग्रत मे जब 'अवरोधक' पहरा दे रहा होता है अपना रूप बदल कर 'सचेतना' मे किसी बीमारी आदि की शक्ल मे प्रकट होता है, या जब 'अवरोधक'-रूपी पहरेदार मनुष्य के सो जाने पर छुट्टी ले लेता है, तब वह उस विवाहिता-स्त्री से स्वप्न मे प्रेम कर लेता है। चेतना मे जब ये अनुचित तथा गन्दे विचार दब जाते हैं, जब उन्हे भेस बदल कर या बिना किसी भेस बदले अचेतन के कैदखाने मे से बाहर निकलने का अवसर नही मिलता, तब व्यक्ति या तो मानसिक-सन्तुलन को खो बैठता है, या उसके भीतर मानसिक-तनाव (Tensions) उत्पन्न हो जाते है। मनोविश्लेपणवाद का कहना है कि जब रोगी को पता चल जाय कि उसका मानसिक-असन्तुलन या मानसिक-तनाव किस परिस्थिति मे मनोभाव को दबाने से हुआ है, किस परिस्थिति के दमन से उसे मानसिक-कष्ट हुआ है, तब उसके ज्ञानमात्र से उसका रोग जाता रहता है। इसीलिए मानसिक-रोगो का इलाज करने के लिए मनोविश्लेपणवाद का सहारा लिया जाता है।

ऊपर हमने जो लिखा उसे दूसरी तरह भी समझाया जा सकता है। हमारी चेतना की, तुलना के लिए, कल्पना कीजिए कि हम एक ऐसे मकान मे रहते है जिसमे एक तहखाना है, तहखाने के ऊपर एक मकान बना हुआ है। एक परिवार नीचे तहखाने मे रहता है, दूसरा तहखाने के ऊपर बने मकान मे रहता है। दोनों परिवार अलग-अलग हैं। ऊपर के मकान मे जो परिवार रहता है, वह सभ्य है, सुशिक्षित है, सदाचारी है, सफाई-पसन्द है, साफ-सुथरे कपडे पहनता है, भला तो है ही, दूसरो के सामने भी भला लगना ही पसन्द करता है। इसे मन की 'सचेतनावस्था' (Conscious state) का प्रतिनिधि समझिए। अब आइये तहखाने के भीतर। वहाँ गन्दे, अश्लील लोग रहते है, परिवार उनका

बहुत बडा है, हो-हल्ला मचाते रहते है, अपने स्वार्थ के सिवाय उन्हें कुछ सूझता नही। सब तरह के काम-क्रोध-लोभ-मोह के वे शिकार हैं, निर्लज्जता उनका स्वाभाविक गुण है। उनकी हर समय यह इच्छा बनी रहती है कि वे अपनी काल-कोठरी को जिसमे न हवा, न पानी, न प्रकाश है, छोडकर ऊपर के मकान के लोगो के बीच आएँ, उनसे मिले-जुले और इस प्रयत्न मे वे हर समय जी-तोड़ प्रयत्न करते रहते हैं। इस तहखाने तथा उसमे रहने वालो को मन की 'अचेतनावस्था' (Unconscious state) का प्रतिनिधि समझिए। ऊपरी मकान तथा तहखाने को मिलाने वाला एक स्थल है जिसमे से गुजर कर तहखाने के लोग ऊपर के मकान मे जबर्दस्ती आ घुसने की कशमकश कर रहे है। इस स्थल को 'सचेतन' तथा 'अचेतन' को मिलाने वाली मन की 'अव-चेतनावस्था' (Sub-conscious state) समझिए। इस स्थल पर एक पहरेदार तैनात है जो आने वालो के टिकट देखकर ही योग्य व्यक्तियो को आने देता है, नही तो सबको पीछे धकेल देता है। इस पहरेदार को 'अवरोधक' (Censor) समझिये। पहरेदार जब जागता होता है तब भेस बदल कर कुछ तहखाने वाले बाहर निकल आते है, कुछ तब निकल आते हैं जब पहरेदार रात को सो जाता है; जो वाहर नही निकल सकते वे भीतर ऊधम मचाते रहते है। इसी को मानसिक-असन्तुलन, मानसिक-तनाव समझिये।

(ख) **इड, ईगो, सुपर-ईगो** (Id, Ego, Super-Ego)—चेतना के विषय मे जैसे फ्रॉयड ने 'सचेतन' (Conscious), 'अवचेतन' (Sub-conscious) तथा 'अचेतन' (Unconscious) शब्दो का प्रयोग किया है, वैसे चेतना के विषय मे ही उसने इड, ईगो तथा सुपर-ईगो (Id, Ego, Super-Ego) शब्दो का प्रयोग किया है। ये क्या है? 'इड'-शब्द का प्रयोग उन प्रसुप्त तथा दबी हुई इच्छाओं के लिए किया गया है, जो 'अचेतना के क्षेत्र' (Area of the unconscious) मे छिपी हुई पडी रहती है। हमे इनका ज्ञान नही रहता, परन्तु वे वहाँ पडी वाहर निकलने के लिए कुलबुलाती रहती है। 'अचेतना' तथा 'इड' मे क्या भेद है? 'अचेतना' तो उस क्षेत्र का, चेतना की उस अवस्था का नाम है जिसे 'अज्ञात' कह सकते हैं, 'इड' उस वस्तु-जात का, उस तत्त्व का नाम है जो अज्ञात में रहता है। 'इड' हमारी अतृप्त, अश्लील, गन्दी वासनाओ के पुज का नाम है जो चेतना के 'अचेतन', अज्ञात-क्षेत्र मे मुंह छिपाये पडी रहती है और 'सचेतन', ज्ञात-क्षेत्र मे आने के लिए ज़ोर मारती रहती है। उनका इस प्रकार ज़ोर मारते रहना ही हमारे मन मे असन्तुलन, तनाव आदि उत्पन्न करता है। मनुष्य की वासनाओ के ढेर को जिसमे बुद्धि काम नही करती, जो अचेतन मे, अज्ञात मे अस्त-व्यस्त पडी रहती हैं 'इड' सज्ञा दी गई है। 'इड' के बाद दूसरी सत्ता 'ईगो' की है। फ्रॉयड का कहना है कि 'इड' का क्षेत्र तो अचेतन (Unconscious) है; 'ईगो'

का क्षेत्र अवचेतन (Sub-conscious) तथा सचेतन (Conscious) है। पिछले दो मे बुद्धि काम करने लगती है। क्योकि 'ईगो' का सम्बन्ध बाह्य-जगत् से होता है इसलिए इसमे अन्ट-सन्ट विचार नही होते, परन्तु इस पर 'इड' का प्रभाव बना रहता है। 'इड' से विचार 'ईगो' मे आते रहते हैं, और 'ईगो' उनमे तरतीब बैठाता रहता है, उनके बेढगेपन को दूर करता रहता है। 'ईगो' के बाद तीसरी सत्ता 'सुपर-ईगो' की है। 'इड'-'ईगो'-'सुपर-इगो' का 'अचेतन'-'अवचेतन'-'सचेतन' के साथ क्या सम्बन्ध है ? अगर 'अचेतन' की हम एक 'क्षेत्र' से तुलना करें, तो 'इड' उसमे वर्तमान एक 'मानसिक-तत्त्व' है ; इसी प्रकार 'अवचेतन' को अगर हम एक 'क्षेत्र' समझें, तो 'ईगो' उसमे वर्तमान एक 'मानसिक-तत्त्व' है ; ठीक इसी तरह 'सचेतन' को अगर हम एक 'क्षेत्र' कहे, तो 'सुपर-ईगो' उसमे वर्तमान एक 'मानसिक-तत्त्व' है। चेतना 'क्षेत्र' है ; इड, ईगो, सुपर-ईगो उसमे उग रहे पौधे हैं। यह 'सुपर-ईगो' क्या है ? ज्यो-ज्यो बालक का मानसिक-विकास होता है, वह इस ठोस-जगत् के सम्पर्क मे आता है, परिस्थिति की यथार्थता को समझने लगता है, त्यो-त्यो उसमे 'सुपर-ईगो' का निर्माण होने लगता है। पहले तो वह हर बात को अपनी इच्छानुसार देखना या करना चाहता है, परन्तु धीरे-धीरे वह समझने लगता है कि इस दुनिया मे उसकी ही इच्छा नही चलेगी। उसे यह भी दीखने लगता है कि माता-पिता ने, समाज ने कुछ नियम बना रखे हैं, कुछ विचार, कुछ धारणाएँ बना रखी हैं, उसे उनके अनुसार ही अपने को ढालना होगा। जीवन को चलाने के लिए समाज ने जो आदर्श बना रखे हैं, वे उसके लिए 'सुपर-ईगो'—'आदर्श-स्व'—बन जाते हैं, और वह अपनी इच्छा के अनुसार चलने के स्थान मे उन आदर्शों को माप-दण्ड मान कर चलने लगता है। पहले ये आदर्श उसके माता-पिता उसके सामने रखते हैं, फिर उसके अध्यापक, फिर अभिभावक और फिर समाज। इस प्रकार हमारा जीवन बालपन से युवावस्था तथा वृद्धावस्था तक अचेतन मे इड (Id), अवचेतन तथा सचेतन मे ईगो (Ego) एव पूर्ण-सचेतना मे सुपर-ईगो (Super-Ego) से बँधा हुआ है। सुपर-ईगो मे हमारा जो 'आदर्श-स्व' (Ideal-self) बन जाता है उसी को मापदण्ड मानकर हमारा जीवन चलता है, उसी को फ्रॉयड ने आत्मा की आवाज (Voice of conscience) कहा है जिसे मनु ने **'स्वस्य च प्रियमात्मन'** कहा है।

(ग) **काम-भावना बनाम शक्ति-प्राप्त करने की भावना** (Libido versus Will to Power)—ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उतने तक मनोविश्लेषणवाद समाप्त नही हो जाता। फ्रॉयड का कथन है कि 'इड' मे 'लिबिडो' निहित है, अर्थात् 'इड' का स्वरूप 'लिबिडो' है। 'लिबिडो' का क्या अर्थ है ? फ्रॉयड के सिद्धान्त के अनुसार 'इड' का स्वरूप है—'लिबिडो'—'काम-लिप्सा'। काम-लिप्सा का स्वरूप है लिंग-सम्बन्धी (Sexual) विचार। वह कहता है कि बच्चे मे

लिंग-सम्बन्धी विचार जन्मते ही उत्पन्न हो जाते हैं। बालक अपनी माता के प्रति खिचता है, बालिका अपने पिता के प्रति। बालक के माता के प्रति और बालिका के पिता के प्रति खिचाव को फ्रॉयड ने लिंग-सम्बन्धी खिचाव कहा है। फ्रॉयड के मत मे बच्चे की प्रत्येक क्रिया का आधार 'काम-लिप्सा' (Libido) है। अंगूठा चूसना, पेशाब करना, मल त्यागना—उसी 'काम-लिप्सा' के भिन्न-भिन्न रूप हैं। फ्रॉयड के इस मत से उसके साथी एडलर (1870-1937) का मत बिल्कुल भिन्न था। एडलर का कहना था कि फ्रॉयड का यह मत कि मानव की प्रारम्भिक-क्रियाओ का आधार 'काम-लिप्सा' है, गलत बात है। एडलर ने कहा कि काम-लिप्सा का जीवन मे मुख्य-स्थान तो है, परन्तु वह जीवन की सर्वेसर्वा नही; जीवन मे मुख्य-स्थान, जीवन का सब से बड़ा आवेग 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा'—'स्वाग्रह'—(Self-assertive Impulse या Will to Power) हैं। इसी आवेग के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति मे परिस्थितियो के कारण अपने को बडा समझने की—'श्रेष्ठता-मनोग्रन्थि'—(Superiority complex) या छोटा समझने की—'हीनता-मनोग्रन्थि'—(Inferiority complex) बन जाती है।

11. शास्त्रीय-विचार तथा मनोविश्लेषणवाद की तुलना

(क) 'सचेतन', 'अवचेतन', 'अचेतन'—इन तीन के विचार के साथ 'जाग्रत', 'स्वप्न', 'सुषुप्ति', 'तुरीय' एवं 'बैखरी', 'मध्यमा', 'पश्यन्ती', 'परा' इन चार के विचार की तुलना—फ्रॉयड ने चेतना की सचेतन, अवचेतन, तथा अचेतन—इन तीन अवस्थाओ का वर्णन किया है। माण्डूक्योपनिषद् मे चेतना की चार अवस्थाओ का वर्णन है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय; पतजलि मुनि ने वाणी के चार स्तरो का वर्णन किया है—बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा। हम इस प्रकरण के प्रारम्भ मे देख आए है कि फ्रॉयड की सचेतनावस्था (Conscious state) उपनिषद् की जाग्रतावस्था है; फ्रॉयड की अवचेतनावस्था (Subconscious state) उपनिषद् की स्वप्नावस्था है, फ्रॉयड की अचेतनावस्था (Unconscious state) उपनिषद् की सुषुप्तावस्था है। प्रत्येक विद्वान् का अपने मन्तव्य को प्रकट करने का अपना-अपना तरीका, अपने-अपने दृष्टान्त होते है, परन्तु यह स्पष्ट है कि फ्रॉयड द्वारा प्रतिपादित 'सचेतन', 'अवचेतन' तथा 'अचेतन' उपनिषद् के 'जाग्रत', 'स्वप्न' तथा 'सुषुप्ति' के विचार को ही प्रकट करते है। इनमे भेद केवल दृष्टि का है। फ्रॉयड ने चेतना की इन तीन अवस्थाओ का वर्णन मानव के व्यवहार को समझने-समझाने के लिए किया है क्योंकि पाश्चात्य-विचारधारा मनुष्य के भौतिक-जीवन तक ही अपने को सीमित रखती है। उपनिषद् ने चेतना की तीन अवस्थाओ की जगह उसकी चार अवस्थाओ का वर्णन किया है जिनमे

से पहली तीन का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि मानव के इस देह में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में देह के सो जाने पर भी जो सत्ता बनी रहती है, स्वप्न में बिना आँख के देखती, बिना कान के सुनती है, वह शरीर नहीं, तन्त्रिका-तन्त्र नहीं, वह सत्ता भौतिक न होकर अभौतिक है, और क्योंकि भारतीय-विचार-धारा भौतिक-जीवन तक ही अपने को सीमित नहीं रखती, आध्यात्मिक-जीवन को समझना उसका लक्ष्य है, इसलिए जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के आगे उसने चेतना के चौथे स्तर, तुरीय-स्तर का वर्णन किया है। चेतना का तुरीय-स्तर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के आगे का स्तर है जिस तक फ्रॉयड नहीं पहुँच पाया। यह तुरीय-स्तर चेतना का शुद्ध रूप है, ऐसा रूप जिसमें चेतना पर पड़े सब भौतिक-आवरण छंट जाते हैं, चेतना अपने स्व-स्वरूप में आ जाती है, इस रूप में यह अपने सचेतन, अवचेतन, अचेतन—इन तीनों स्तरों को लाँघ कर आगे निकल जाती है। इसको भावातीत-अवस्था (Supra-conscious or Transcendental state of consciousness) कहा जा सकता है।

चेतना के शुद्ध रूप को, स्वरूप को, इन्द्रियों की वासनाओं तथा बाह्य-विषयों की मलिनता से अलग होकर, सब विकारों से छट कर चेतना का जो रूप रह जाता है, उसे उपनिषत्कार ने तुरीय-चेतना कहा है। ध्यान की जपादि प्रक्रिया से वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती 'वाणी' के द्वार में से गुज़रते हुए साधक, ओंकार के जप द्वारा, जिस परा-वाणी में प्रवेश करता है, वह तुरीय-चेतना का ही स्तर है। उस स्तर पर पहुँच कर मानव की अल्प-चेतना का विश्व की महत्तम सत्-चित्-आनन्द स्वरूप चेतना से सम्पर्क हो जाता है। ओंकार के जप द्वारा 'परा'-वाणी में पहुँच जाना तुरीय-चेतना में प्रवेश करना है। फ्रॉयड 'अचेतन' (Unconscious) तक अटक जाता है क्योंकि उसे भौतिकवादी-दृष्टि से मनुष्य के गन्दे, अश्लील, मलिन व्यवहार को जानना है; उपनिषत्कार 'अचेतन' (Unconscious) से आगे निकल कर विश्व की आनन्दस्वरूप, विशाल, अनन्त चेतना तक पहुँचने का प्रयत्न करता है क्योंकि अध्यात्मवादी-दृष्टि से उसे आनन्दों-के-आनन्द की खोज करना है। फ्रॉयड कहता है कि 'अचेतन' (Unconscious) में सारा गन्द भरा पड़ा है, उसमें यौन तथा लिंग सम्बन्धी (Sexual) सामग्री भरी पड़ी है, वहाँ 'इड' तथा 'काम-लिप्सा' (Id and Libido) का निवास है। फ्रॉयड उसी की खोज में लग गया है, आगे नहीं चल सका। उपनिषद् के ऋषि इस गन्द में नहीं अटके, इस गन्द को पीछे छोड़ कर शुद्ध-चैतन्य को खोजते-खोजते आगे निकल गए हैं, और इसीलिए उन्होंने चेतना के तीन स्तरों के स्थान में चार स्तरों का वर्णन किया है। पाश्चात्य तथा भारतीय विचारकों की खोज की दिशा तो एक ही रही है, दोनों की भाषा अलग-अलग है, दोनों का दृष्टिकोण अलग-अलग है, लक्ष्य अलग-अलग है, तीन पड़ावों तक दोनों एक ही रास्ते पर चले हैं, इससे आगे पाश्चात्य-विचारक

तीसरे पड़ाव पर अटक गए है, भारतीय-विचारक चौथे पड़ाव पर पहुँच गए हैं। इन दोनो के अध्ययन का परिणाम यह हुआ है कि पश्चिम का मनोवैज्ञानिक जिसने मनोविश्लेषणवाद को जन्म दिया 'अचेतन' (Unconscious) के कीचड की दलदल मे फँस गया है, उसे उस दलदल की ही जाँच करना है, भारत का मनोवैज्ञानिक भी जिसने अध्यात्मवाद को जन्म दिया 'अचेतन' (Unconscious) तक पहुँचा है, परन्तु वहाँ अटक जाने के स्थान मे उसे लाँघ कर पिंड तथा ब्रह्माण्ड की चैतन्य-शक्ति की खोज मे वह आगे निकल गया है।

फ्रॉयड का यह कथन कि 'सेक्स' तथा 'काम-लिप्सा' (Sex and Libido) से मानव की सब वासनाओं का उदय होता है कोई नई खोज नही है। भारत के दार्शनिको ने मानव की मानसिक-रचना मे 'पुत्रैषणा' को प्रथम स्थान दिया है। भेद इतना ही है कि फ्रॉयड ने एक भौतिकवादी भद्दे शब्द का प्रयोग किया है, इस भावना को 'लिबिडो'—'काम-लिप्सा'—(Lust)—कहा है, भारतीय ऋषियो ने इसके लिए अध्यात्मवादी-शब्द का प्रयोग किया है, इस भावना को 'पुत्रैषणा' कहा है, आधारभूत बात एक ही है। जहाँतक इस भावना मे 'सेक्स' (Sex)—लिंग—का सम्बन्ध है, वैदिक-विचाधारा यह है कि काम-वासना तो सब मे होती ही है, परन्तु मानव का ध्येय इस वासना के कीचड मे फँसने के स्थान मे तुरीयावस्था मे पहुँचना है जिससे ज्ञान की अग्नि द्वारा ये वासनाएँ भस्म हो जाएँ। फ्रॉयड वासनाओं के स्वरूप को देखता है, वैदिक-मनोविज्ञान उनके स्वरूप को देख कर उन्हे भस्म करने की, ज्ञानाग्नि द्वारा जला देने की बात करता है।

(ख) **इड, ईगो, सुपर-ईगो के साथ अहंकार, चित्त, मन, बुद्धि की तुलना**—मनोविश्लेषणवाद के सिलसिले मे हम लिख आए हैं कि फ्रॉयड ने चेतना के प्रकरण मे 'अचेतन' (Unconscious) का 'इड' (Id) से, 'अवचेतन' तथा 'सचेतन' (Sub-conscious and Conscious) का 'ईगो' (Ego) से तथा 'पूर्ण-सचेतन' का 'सुपर-ईगो' (Super-Ego) से सम्बन्ध जोड़ा है। यहाँ पर भी फ्रॉयड ने तीन सत्ताओं का उल्लेख किया है, भारतीय-दर्शन मे चार सत्ताओं का उल्लेख है। फ्रॉयड का कथन है कि 'इड' मे प्रेरणा का जो स्रोत है वह 'लिबिडो' (Libido) है, 'सेक्स' (Sex) है। हमने लिखा था कि इस बात से एडलर सहमत नही रहे। एडलर, फ्रॉयड के समकक्ष, उसके साथ काम करने वाले विद्वान् थे, वे इस बात को मानने के लिए तैयार नही थे कि जीवन का स्रोत 'काम-लिप्सा' (Libido) से ही प्रभावित होता है। 'काम-लिप्सा' का जीवन मे मुख्य स्थान है, परन्तु यह जीवन मे अन्त तक नही बनी रहती, समय आता है जब यह नष्ट हो जाती है। एडलर के कथनानुसार आत्म-गौरव या आत्माभिमान की भावना जीवन मे शुरू से पायी जाती है, अन्त तक बनी रहती है।

इसलिए जहाँ फ्रायड 'अचेतन' (Unconscious) मे वर्तमान इड, लिविडो या काम-लिप्सा को जीवन को प्रेरणा देने वाला मूल-स्रोत मानता है, वहाँ एडलर की तरह भारतीय-दर्शन 'अहंकार' को चेतना में वर्तमान जीवन को प्रेरणा देने वाला मूल-स्रोत मानता है। एडलर जिस आवेग को 'शक्ति प्राप्त करने का आवेग' (Self-assertive impulse)—'स्वाग्रह का आवेग'—कहता है, भारतीय-दर्शन उसी को 'अहकार' कहता है। अहकार का अर्थ ही 'स्वाग्रह' (Self-assertion) या शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा है। हम पहले साख्य-दर्शन का उद्धरण देकर लिख आए हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति मे पहले-पहल प्रकृति से 'महत्' तथा महत् से 'अहकार' उत्पन्न हुआ—'प्रकृतेर्महान्, महतोऽहकारः'। इस दृष्टि से साख्यकार का अहकार तथा एडलर का ईगो एक ही मत है। फ्रॉयड के अनुसार 'इड' के वाद 'ईगो' हुआ। 'ईगो' का अर्थ है—सचेतनावस्था' (Conscious state) का तत्त्व। साख्य-सिद्धान्त के अनुसार 'अहकार' के वाद 'चित्त' हुआ—'चित्त-चतुष्टय' मे हम पहले लिख आए हैं कि इसका क्रम 'अहकार', 'चित्त', 'मन', 'वुद्धि'—इस प्रकार है। 'इड' या 'लिविडो' (काम-लिप्सा) के सम्वन्ध मे साख्य का सिद्धान्त फ्रॉयड से नही मिलता, एडलर से मिलता है; 'ईगो' के सम्वन्ध मे फ्रॉयड तथा साख्य का सिद्धान्त एक-सा है। फ्रॉयड के 'ईगो' का सम्वन्ध सचेतन से है, साख्य के 'चित्त' का सम्वन्ध भी सचेतन से है। इसके वाद फ्रॉयड का तीसरा तत्त्व जिसका सचेतन के साथ सम्वन्ध है 'सुपर-ईगो' है। 'सुपर-ईगो' का निर्माण कैसे होता है ? 'सुपर-ईगो' के लिए 'उच्च-अन्त.करण'-शब्द का या 'पर+अहम्' (पराहम्)—'अहम्' से ऊपर जाने के कारण 'पराहम्'-शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उच्च-अन्त करण के निर्माण की एक प्रक्रिया है। वह प्रक्रिया क्या है ? जव वच्चा जन्म लेता है, तव वह अपने को एक समाज मे पाता है। इस समाज के अनेक नियम वने हुए हैं। दूसरे की वस्तु को उसकी आज्ञा के विना चुपके से उठा लेना चोरी है, झूठ वोलना पाप है। ज्यो-ज्यो वालक वडा होने लगता है, त्यो-त्यो उसके भीतर ये विचार गडने लगते हैं। होते-होते जव वह वडा हो जाता है, तव इन नियमो को वह स्वतः सिद्ध समझने लगता है। उसके भीतर एक ऐसा 'अहम्'—'उच्च-अन्त.करण'—'पराहम्'—(Super-Ego) उत्पन्न हो जाता है जो उसे चोरी करने का प्रलोभन होने पर भी चोरी नही करने देता, झूठ वोलने की इच्छा होने पर भी भीतर से कोई उसे धिक्कारता है। यह—'पराहम्'—'उच्च-अन्त करण' अच्छे तथा वुरे की पहचान का मानो निर्णायक हो जाता है। यह 'उच्च-अन्त करण'—'पराहम्'—समाज मे प्रचलित आदर्शों का प्रतिविम्व वन जाता है। मानव इस उच्च-अन्त -करण के माप-दण्ड से अपने व्यवहार को अच्छा या वुरा समझता है। फ्रॉयड का यह 'उच्च-अन्त करण' (Super-Ego)—'पर+अहम्'—वुद्धि के इस्तेमाल से

बनता है। साख्य के अन्त.करण चतुष्टय मे जो 'मन' तथा 'बुद्धि' हैं, वे फ्रॉयड के 'उच्च-अन्त करण' (Super-Ego)—'पर+अहम्'—के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार हमने देखा कि 'इड' अचेतन का 'अहंकार' है, 'ईगो' अवचेतन तथा सचेतन का 'चित्त' है, 'सुपर-ईगो' ज्ञात-चेतना का 'मन तथा बुद्धि' है। सक्षेप मे, 'इड'-'ईगो'-'सुपर-ईगो' साख्य के अन्त करण चतुष्टय—अहंकार, चित्त, मन-बुद्धि—के ही समान है। इस विवरण मे फ्रॉयड तथा साख्य मे भेद यह है कि फ्रॉयड इड तथा लिबिडो को मानता है, साख्य इड तथा लिबिडो की जगह एडलर के 'स्वाग्रह' (Self-assertion) के सिद्धान्त से मिलते-जुलते 'अहकार'-तत्त्व को मानता है।

(ग) **'काम-लिप्सा' तथा 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' (स्वाग्रह) के विचार के साथ पुत्रैषणा, लोकैषणा तथा वित्तैषणा के शास्त्रीय सिद्धान्त की तुलना**—फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का आधार 'इड' या 'लिबिडो' है। 'इड' या 'लिबिडो' का आधारभूत भाव 'काम-लिप्सा' है। फ्रॉयड का कथन है कि जीवन मे मानसिक-विकास का प्रारम्भ काम-लिप्सा से होता है। बच्चा जन्मते ही कामी होता है। 'लिबिडो'-शब्द 'का अग्रेज़ी मे अर्थ 'Lust' है—'लस्ट' अर्थात् काम। शास्त्र मे भी कहा है—**'कामस्तदग्रे समवर्तत'**—शुरू-शुरू मे 'काम' ही था। उपनिषद मे वर्णन पाया जाता है—**'सोऽकामयत्'** (बृहदारण्यक, 1-4)—उसने 'कामना' की। शास्त्रो मे अन्यत्र भी तीन एषणाओ का उल्लेख है। 'एषणा' का अर्थ है—मनुष्य को प्रेरणा देने वाली मानसिक-शक्ति। अग्रेजी मे एषणाओ' को 'Urges' कहा जा सकता है। फ्रॉयड के मत मे जीवन की प्रेरणा का स्रोत, वह स्रोत जिसकी वजह से वह क्रियाशील होता है, इड है, लिबिडो है, काम-लिप्सा है, सेक्स है। अगर 'लिबिडो' के अर्थ को सेक्स (Sex) तक ही सीमित न रखा जाए, तो शास्त्रीय-सिद्धान्त के अनुसार यह कहना अनुचित न होगा कि मानव के व्यवहार की प्रेरणा का आधार 'काम' ही है। इसी को शास्त्रो मे तीन एषणाओ का नाम दिया गया है, जिनमे से प्रथम 'पुत्रैषणा' है। एक तरह से पुत्रैषणा ही इड है, लिबिडो है। परन्तु हम पहले ही देख आए हैं कि फ्रॉयड का समकक्ष, उसका साथी एडलर कहता था कि 'लिबिडो' जीवन का उतना आधारभूत तत्त्व नही है जितना अपने को बड़ा समझने या बनाने की अभिलाषा जिसे उसने 'Self-assertion'—'स्वाग्रह'—कहा है। हर-कोई 'मैं-पन' का शुरू से ही शिकार होता है। काम-लिप्सा तो अन्त तक नही बनी रहती, 'मैं-पन' जीवन के प्रारम्भ से शुरू होता है, जीवन के अन्त तक बना रहता है। इसको सांख्य की परिभाषा मे 'अहकार' कहा गया है, एषणाओ की शब्दावली मे इसे 'लोकैषणा कहा गया है। ऐसा लगता है कि हमारे शास्त्रो की दृष्टि मे फ्रॉयड तथा एडलर का कथन एकागी है, इन दोनो के कथनो को मिला देने से ही चेतना का ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है। चेतना के निर्माण मे 'इड'—

'लिविडो'—अर्थात् 'पुत्रैषणा' का उतना ही हाथ है जितना 'मैं-पन' का—अर्थात् 'अहंकार' या 'लोकैषणा' का। हमारा शास्त्र इससे भी एक कदम आगे चलता है। उसका कहना है कि इन दोनो एषणाओं के अलावा एक तीसरी एषणा भी है—'वित्तैषणा'—जीवन-यापन के साधनो को पाने के लिए प्रयत्नशील होना। फ्रॉयड के अनुसार इड या लिविडो जीवन के व्यवहार के लिए मूलभूत तत्त्व है, एडलर के अनुसार 'मैं-पन' मूल-तत्त्व है, भारतीय-शास्त्रो के अनुसार तीन मूल तत्त्व हैं, तीन एषणाएँ हैं जिनमे फ्रॉयड तथा एडलर दोनो के तत्त्व तो सम्मिलित ही है, इन दोनो मे एक तीसरे तत्त्व का भी समावेश है—ये तीन तत्त्व है—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा।

12. पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा

हमने अभी फ्रॉयड के 'मनोविश्लेषणवाद (Psycho-analysis) का ज़िक्र किया। मनोविश्लेषणवाद से मिलता-जुलता वाद एडलर का है जिसे 'व्यष्टि-मनोविज्ञान' (Individual psychology) कहा जाता है। फ्रॉयड तथा एडलर बहुत दिनो तक साथी रहे, परन्तु अन्त मे जाकर दोनो की विचारधारा भिन्न-भिन्न दिशाओ मे चल पडी। फ्रॉयड का कहना था कि 'काम-लिप्सा' (Libido—Sex) जीवन मे प्रेरणा का स्रोत है, एडलर का कहना था कि 'स्वाग्रह' (Self assertion) जीवन मे प्रेरणा का स्रोत है। एडलर का कहना था कि मनुष्य मे बालपन से ही ऐसी स्थितियाँ आती हैं जिनमे उसे अपनी हीनता का बोध होता है। इस हीनता का या तो वह मुकाबिला करता है, और या जन्म-भर इसका शिकार बना रहता है। अपने को हीन समझने की भावना को उसने 'हीनता-मनोग्रन्थि' (Inferiority complex) का नाम दिया है। फ्रॉयड का आग्रह था कि बचपन से ही सेक्स-सम्बन्धी विचार बालक के चित्त पर प्रभाव डालने लगते हैं, उसी से उसका सम्पूर्ण-व्यवहार बनता है; एडलर का आग्रह था कि सेक्स की अपेक्षा बचपन से ही शक्ति प्राप्त करने की, बडा बन जाने तथा कहलाने की अभिलाषा मानव-जीवन के व्यवहार को प्रेरणा देने वाला स्रोत है। इसे शास्त्रो मे 'अहकार' कहा है।

भारतीय-शास्त्रों ने भी फ्रॉयड के काम-लिप्सा (Libido) तथा एडलर के स्वाग्रह (Self-assertion)—इन दोनो को जीवन मे प्रेरणा देने वाले स्रोत माना है, सिर्फ भिन्न परिभाषाओ का प्रयोग किया है। शास्त्रो मे 'लिविडो' या 'सेक्स' की जगह 'काम'-शब्द का प्रयोग हुआ है, 'सेल्फ-असर्शन' की जगह 'अहकार'-शब्द का प्रयोग हुआ है। 'काम' के लिए अथर्ववेद (9-2-19) मे लिखा है—**'कामो जज्ञे प्रथमम्···ततः त्वमसि ज्यायान्, विश्वहा महान् तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि'**—अर्थात्, पहले-पहल 'काम' ही उत्पन्न हुआ, इसीलिए 'काम' सबसे

बडा है, महान् है—यह विश्व का सहार भी कर सकता—'विश्वहा'—है, इसलिए हे काम ! तुझे नमस्कार है। उपनिषद् मे भी लिखा है—'सोऽकामयत्'। यह 'काम'-शब्द सेक्स का सूचक तो है ही, 'काम' का अर्थ 'कामना' होने के कारण इसका अर्थ सेक्स से कुछ अधिक भी है। फ्रॉयड ने भी 'लिबिडो'-शब्द को सेक्स तक सीमित रखने के स्थान मे कुछ व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार 'अहकार'-शब्द का प्रयोग एडलर के 'स्वाग्रह' (Self-assertion) का सूचक है। मनुष्य मे ये दोनो एपणाएँ है—इन एषणाओ से मानव का व्यवहार चल रहा है। भारतीय-शास्त्र फ्रॉयड तथा एडलर से कुछ आगे की भी बात सोचते हैं। उनका कहना है कि 'काम' (Libido) तथा 'स्वाग्रह' (Self assertion)—इन एषणाओ में से सिर्फ एक को जीवन मे प्रेरणा देने का स्रोत मानने के स्थान मे जीवन मे प्रेरणा देने वाले उक्त दो के अलावा तीन स्रोत मानने चाहियें, जिनमे से तीसरा प्रेरक-स्रोत 'परिग्रहण-एषणा' (Desire for Acquisition) है। मनुष्य मे सिर्फ 'काम' की ही नही, 'अहंकार' की ही नही, 'परिग्रहण'—सग्रह—की भी एषणा है, इन तीन प्रेरको—तीन आवेगो—तीन एषणाओ से प्रभावित होकर यह मानव-जीवन चल रहा है। शास्त्रो मे काम की एषणा को 'पुत्रैषणा', परिग्रहण की एषणा को 'वित्तैषणा' तथा श्रेष्ठता-प्राप्ति या अहकार की एषणा को 'लोकैषणा' कहा गया है।

एपणाएँ तो बरसात की बाढ की तरह हर व्यक्ति के भीतर उमडा करती हैं, इन्ही से मनुष्य परेशान रहता है। ये जहाँ मनुष्य के व्यवहार की प्रेरणा-स्रोत हैं, वहाँ उसकी परेशानियाँ भी यही हैं। इन एषणाओ को तृप्त भी किया जाय, इनका शिकार होने से बचा भी जाय—इन से कैसे निपटा जाय—यह फ्रॉयड की समस्या थी, यह एडलर की समस्या थी, भारतीय-ऋषियो के सम्मुख भी यही समस्या थी। आइए, इन एषणाओ से कैसे निपटा जाय—इस पर विचार कर लें।

(क) **पुत्रैषणा**—मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्त्तक फ्रॉयड का कहना है कि सेक्स का विचार बालक को जीवन के प्रारम्भ से पकड़ लेता है। बालक माता के प्रति तथा बालिका पिता के प्रति आकृष्ट रहती है। फ्रॉयड का कथन है कि विजातीय के प्रति आकर्षण का कारण सेक्स ही है। ज्यो-ज्यो बालक-बालिका बडे होने लगते है, त्यो-त्यो सेक्स का विचार गहरा होता जाता है। समाज की धारणा सेक्स के विचारो को प्रकट-रूप मे व्यक्त होने मे बाधा डालती है, इसलिए ये विचार अचेतन-मन (Unconscious mind) मे जा बैठते हैं जिससे आँखो से तो ओझल रहे, परन्तु वहाँ से मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। जितना सेक्स-सम्बन्धी विचारो का 'दमन' (Suppression) किया जाता है उतने ही वे भीतर-ही-भीतर क्रियाशील होते जाते हैं, और मनुष्य का

मानसिक-सतुलन विगडने लगता है, मनुष्य के मन मे 'तनाव' (Tension) रहने लगता है। मानसिक-असतुलन, मानसिक तनाव, मानसिक-अस्वास्थ्य का मुख्य कारण सेक्स-सम्बन्धी विचारो का दमन ही है। प्रश्न यह है कि मनोविश्लेपणवाद के पास इस प्रकार के मानसिक-अस्वास्थ्य का इलाज क्या है ? इस प्रकार के मानसिक-अस्वास्थ्य के लिए मनोविश्लेपणवाद के पास दो मार्ग हैं .

(i) इच्छा की सन्तुष्टि (Satisfaction of Desire)—जो लोग मनोविश्लेपणवाद के जवर्दस्त हामी है उनका कहना है कि सेक्स के विचारो का दमन करने के स्थान मे विपय-भोग कर लेने से मन मे से तनाव दूर हो जाता है, और मानसिक-अस्वास्थ्य नही रहता। इतना ही नही, मानसिक-स्वास्थ्य के लिए वे हस्तमैथुन (Masturbation) की भी सलाह देते हैं। अभी पिछले दिनो अमरीका के एक डाक्टर ने लिखा कि हृद्-रोग के लिए सवमे अच्छा इलाज सम्भोग है। इस विचारधारा का यह परिणाम है कि आज का हमारा समाज सेक्स-प्रधान होता जा रहा है। सिनेमा मे, व्यापार मे, वेश-भूपा मे, जीवन मे—सव जगह सेक्स-ही-सेक्स दिखलाई देने लगा है।

परन्तु यह सोचना कि विपय-भोग से शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है अत्यन्त भ्रम-मूलक है। विपय-भोग जहाँ तक जीवन का आवश्यक अग है उसे ध्यान मे रखते हुए शास्त्रो ने गृहस्थाश्रम का विधान किया है, परन्तु जिस प्रकार आज का समाज विपय-भोग के पीछे दौडा जा रहा है उससे अनेक युवको का मानसिक-स्वास्थ्य सुधरना तो क्या था, वे 'तन्त्रिका-भग' (Nervous breakdown) के शिकार हो जाते हैं, न्यूरेस्थेनिया से पीडित। इसीलिए अथर्ववेद के उक्त मन्त्र मे 'काम' को 'विश्वहा'—विश्व को नष्ट करने वाला—भी कहा है।

इन्द्रियो के विपयो के सम्वन्ध मे दो मनोवैज्ञानिक-नियम हैं जिन्हे ध्यान मे रखना आवश्यक है। पहला नियम तो यह है कि इन्द्रियाँ विपयो से उत्तेजित होकर विपय-भोग के कुछ देर वाद शान्त तो हो जाती हैं, परन्तु उन्हे विषय-भोग का चस्का पड जाता है। जितना विपय-भोग होगा उतनी ही उसके प्रति चाह वार-वार जागेगी। दूसरा नियम यह है कि पहली वार के विषय मे जितनी तीव्रता थी दूसरी वार के विपय मे उतनी ही तीव्रता से रस नही मिलेगा, रस पाने के लिए हर वार के विपय की तीव्रता वढती चली जानी चाहिए। विषयो का रस लेना वुरा नही है, इन्द्रियाँ वनी ही इसके लिए हैं, परन्तु यह कह कर कि दमन करेंगे तो मानसिक-स्वास्थ्य गिरेगा, वार-वार इन्द्रियो के रस मे डूवते जाना मनुष्य को कही का नहीं छोडता। जैसे अनुभव यह कहता है कि इन्द्रियो के दमन से मानसिक-तनाव पैदा हो जाता है, वैसे ही अनुभव यह भी कहता है कि इन्द्रियो का दास होने के वजाय इन्द्रियो पर विजय पाने से एक प्रकार के विजयोल्लास मे मन प्रसन्न हो जाता है। विपयो का भोग करने से किसको तृप्ति हुई है ?

विषय-भोग से विषय-वासना बढती ही जाती है मनुस्मृति (2-94) मे ठीक कहा है :

न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।

—कामनाएँ कभी उनका उपभोग करने से शान्त नही होती । कामना का जितना उपभोग किया जाय उतनी ही उसके प्रति लालसा तीव्र हो जाती है, ठीक ऐसे जैसे आग मे घी डाले, तो आग शान्त होने की जगह चमक उठती है, और अधिक घी की आहुति चाहती है ।

मनोविश्लेषणवाद का भोगवादी दृष्टि-कोण एक तरफ है, भारतीय-शास्त्रों का अध्यात्मवादी दृष्टिकोण दूसरी तरफ है । मनोविश्लेपणवाद कहता है कि विषय-भोग से मन शान्त हो जाता है, मानसिक-तनाव दूर हो जाता है; वैदिक-विचारधारा का कथन है कि विषय-भोग की शान्ति क्षणिक शान्ति है, कुछ देर बाद यह शान्ति अधिक अशान्ति को जन्म देती है । इस विकट-स्थिति मे मनोविश्लेषणवाद के पास एक दूसरा रास्ता भी है । वह रास्ता क्या है ?

(ii) **इच्छा का उदात्तीकरण** (Sublimation of Desire)—सेक्स एक शक्ति है । इसका स्वाभाविक-प्रवाह विषय-भोग की तरफ होता है । स्वाभाविक-प्रवाह से क्या अभिप्राय है ? स्वाभाविक-प्रवाह से अभिप्राय यह है कि जब पुरुष स्त्री के या स्त्री पुरुष के सम्पर्क मे आती है, तब सेक्स की 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct) के कारण उसके 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) मे नैसर्गिक तौर पर उत्तेजना होती है। यह उत्तेजना जबतक दूर नही हो जाती तबतक उत्तेजित-व्यक्ति की 'तन्त्रिकाएँ' (Nerves) तनाव की स्थिति मे बनी रहती है । उस व्यक्ति के सेक्स के कृत्य मे प्रवृत्त हो जाने से ये उत्तेजित तन्त्रिकाएँ शान्त हो जाती है, तनाव मिट जाता है । परन्तु हमारे समाज की धारणाएँ व्यक्ति के इस प्रकार सेक्स मे प्रवृत्त हो जाने को घृणित समझती हैं, परिणामस्वरूप उत्तेजित-व्यक्ति सेक्स मे समाजानुमोदित या समाजनिन्दित तरीके से प्रवृत्त होने के बजाय इन विचारो का दमन कर देता है, परन्तु दमित सेक्स भीतर बेचैनी तथा तनाव उत्पन्न कर देता है, इसलिए 'मनोरोगविज्ञानी' (Psychiatrists) सेक्स-सेवन का ही सुझाव देते हैं । परन्तु क्या इच्छाओं के सम्बन्ध मे दमन के सिवाय दूसरा रास्ता नही है ? यह दूसरा रास्ता ही सेक्स-शक्ति का 'उदात्तीकरण' (Sublimation) है । पानी की भाप एक शक्ति है । इस शक्ति से हम एक नही, अनेक काम ले सकते है । इसी भाप से हम रसोई-घर मे रोटी-दाल पका सकते है, इसी से रेलगाड़ी का इंजिन भी चला सकते हैं । शक्ति को किसी ऊँचे कार्य की दिशा दे देना ही उसका 'उदात्तीकरण' है । शक्ति हाथ मे होनी चाहिए, उस से ध्वंस भी किया जा सकता है, सर्जन तथा निर्माण भी किया जा सकता है । फ्रॉयड के 'लिबिडो' या 'सेक्स' को—वेदो तथा

उपनिषदो के 'काम' को—विषय-भोग की दिशा भी दी जा सकती है, इस शक्ति के उदात्तीकरण से उच्च-कोटि का सर्जनात्मक-जीवन भी वनाया जा सकता है। ससार के उच्च-कोटि के विचारक जिन्होंने विश्व को ऊँचे-से-ऊँचे विचार दिए मानव की काम-रूपा मूल-प्रवृत्ति को विषय-भोग मे खोने के स्थान मे उसके उदात्तीकरण के उदाहरण है।

कहा जा सकता है कि सेक्स का उदात्तीकरण एक कठिन कार्य है। तथ्य यह है कि सेक्स का उदात्तीकरण कठिन नही है, परन्तु पर्यावरण को विकृत करके उसे कठिन वना दिया गया है। यह वात गलत है कि विषय-भोग—'काम'—का भूत मनुष्य पर सवार रहता है। हमने समाज की रचना ही ऐसी वना दी है कि आज का मानव चारो तरफ से विषय-भोग को जागत करने वाली सामग्री से घिरा रहने के कारण सेक्स-पीडित हो गया है। सेक्स के विषय मे यह विचार घर कर गया है कि सेक्स के विना स्वास्थ्य नही, घर-गृहस्थी मे या लुके-छिपे लोग सेक्स मे प्रवृत्त रहते हैं, आज का जीवन ही सेक्समय वन गया है, तभी आए-दिन हमारे युवक-युवतियो का नर्वस-ब्रेकडाउन हो जाता है, वे न्यूरेस्थेनिया से रोग-ग्रस्त हो जाते हैं, सेक्स के चिंतन मे ही अहर्निश लगे रहते हैं। वैदिक-ऋषियो ने यह समझ कर कि सेक्स—'काम'—एक महती-शक्ति है, उसके दमन की नही, उसे सर्जनात्मक-कार्य मे लगाने की विचारधारा को जन्म दिया था। वह सर्जनात्मक-कार्य जो सेक्स का उदात्तीकरण था, क्या था।

हमने इस प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए सेक्स की मूल-प्रवृत्ति को 'पुत्रैपणा' का नाम दिया है। सेक्स की मूल-प्रवृत्ति का दमन करने के स्थान मे उसे पुत्र-कामना की दिशा मे फेर देने से इस प्रवृत्ति का 'उदात्तीकरण' (Sublimation) हो जाता है। भौतिकवादी दृष्टिकोण मे विषय-भोग मुख्य है, सन्तान का आ जाना उसका आनुशंगिक फल है, अध्यात्मवा दीदृष्टि-कोण मे सन्तान का आगमन मुख्य है, विषय-भोग उसका साधन है, अवान्तर-प्रक्रिया है। स्त्री-पुरुष जव गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते है, तव विषय-भोग की खातिर प्रवेश नही करते, नव-मानव के निर्माण का ध्येय सामने रख कर सेक्स के जीवन का प्रारम्भ करते हैं। सिर्फ सेक्स के लिए सेक्स का जीवन भौतिकवादी दृष्टिकोण है, सन्तानोत्पत्ति के लिए सेक्स का जीवन अध्यात्मवादी दृष्टि-कोण है। वैदिक विचारधारा सेक्स का दमन करने को नही कहती, सेक्स के उदात्तीकरण की वात कहती है। हमने कहा कि सेक्स एक शक्ति है, इस शक्ति से ध्वस भी किया जा सकता है, सर्जन भी किया जा सकता है। वैदिक दृष्टिकोण से सेक्स की शक्ति को नव-मानव के निर्माण में नियुक्त कर देने से इस शक्ति का उदात्तीकरण हो जाता है, दमन नही होता। मानसिक-अस्वस्थता सेक्स का दमन करने से होती है, उदात्तीकरण से नही। क्योकि गृहस्थाश्रम का उद्देश्य विषय-भोग न होकर नव-मानव का निर्माण करना था,

इसलिए गृहस्थी का जीवन सोलह संस्कारो से घिरा हुआ था जिनमें से एक-एक संस्कार का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का निर्माण करना था। जब गृहस्थी के सम्मुख गृहस्थाश्रम का उद्देश्य समाज को सुसस्कृत सन्तान देना हो, तब एक उच्च-लक्ष्य होने के कारण वह सेक्स का शिकार नही होगा, उसके जीवन में स्वत सेक्स की मूल-प्रवृत्ति का उदात्तीकरण हो जाएगा। यह ठीक है कि सब किसी के लिए सेक्स का उदात्तीकरण सम्भव नही है। हमने यहाँ सेक्स के सम्बन्ध में वैदिक विचारधारा के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, परन्तु जो इस दिशा में नही चल सकते उनके लिए मनोविश्लेषणवाद के निष्णात 'मनोरोगविज्ञानियो' (Psychiatrists) का निर्दिष्ट किया हुआ रास्ता खुला ही है।

(ख) **वित्तैषणा**—दूसरी एषणा जिसका जीवन मे गहरा प्रभाव है 'वित्तैषणा' है। वित्त का अर्थ है—'धन'। हर-कोई धन पाने के लिये व्याकुल रहता है। विस्तृत अर्थो मे 'वित्तैपणा' का अर्थ है—'परिग्रहण' (Acquisition) करना, भौतिक-पदार्थों के पीछे भागना और उनका सग्रह करना। हर-कोई चाहता है कि जो-कुछ मिले उसे समेट ले। वैदिक विचार-धारा के अनुसार यह एपणा भी मानव के व्यवहार को प्रेरणा देने वाली मुख्य-स्रोत है। इस एषणा ने भी काम-वासना की तरह मानव-समाज को व्याकुल कर रखा है। इसके सम्बन्ध मे भी भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण मे महान् भेद है। भौतिकवादी लोग मरते दम तक हाय पैसा, हाय पैसा चिल्लाते है, उन्हे धन-संग्रह करने मे ही सन्तोष मिलता है, अध्यात्मवादी दृष्टि मे 'अपरिग्रह' का विचार जीवन के दर्शन-शास्त्र की एक महान् खोज है। किसी-न-किसी दिन हमारे हाथ से छूटना तो सब-कुछ है, साथ लेकर तो आजतक कोई नही गया, परन्तु यह जानते हुए भी इच्छा से छोडना कोई नही चाहता। स्वेच्छा से त्याग तथा अनिच्छा से बाधित होकर त्याग मे ज़मीन-आसमान का अन्तर है। स्वेच्छा से छोडने वाला हँसता-हँसता छोडता है, बाधित होकर छोडने वाला रोता-रोता छोडता है—छोडना दोनो को है। जीवन का जो होने वाला अवश्यम्भावी अन्त है, जो किसी के रोके रुक नही सकता, उसी को ध्यान मे रखकर बृहदारण्यक उपनिपद (2 अध्याय, 4-5 ब्राह्मण) मे याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को कहा था—'**अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन**'—जीवन की अमरता—पूर्णता—के लिये वित्त से—धन-धान्य से—आशा करना व्यर्थ है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रख कर कठोपनिपद् (प्रथम वल्ली-27) मे नचिकेता ने यमाचार्य को कहा था—'**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**'—मनुष्य ससार भर की धन-दौलत पाकर भी तृप्त नही हो सकता।

यही कारण है कि जैसे 'काम' को मूल-प्रवृत्ति मानते हुए वैदिक विचार-धारा मे 'काम' का उदात्तीकरण करते हुए 'पुत्रैषणा' को स्थान दिया गया है, वैसे ही 'परिग्रह'—'संग्रह'—'धन-कमाने' को मूल-प्रवृत्ति मानते हुए वैदिक

विचारधारा मे वैश्य-जीवन को भरपूर स्थान दिया गया है। आज जैसे सारे समाज पर 'काम' छाया हुआ है, वैसे ही 'वित्तैषणा'—धन कमाने की इच्छा—हर व्यक्ति पर छाई हुई है। वैदिक-व्यवस्था मे धन कमाने के काम को सीमित कर दिया गया था, इतना सीमित जिससे हर-एक व्यक्ति व्यापारी या धन कमाने की मशीन नही बना हुआ था। आज समाज इसलिए तहस-नहस हो रहा है क्योंकि हर व्यक्ति पैसा कमाने मे जुटा है। वैदिक-व्यवस्था मे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, सन्यासी धन नही कमाते थे, सिर्फ गृहस्थी धन कमाते थे; गृहस्थियो मे भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र का धन्धा धन कमाना नही था, उनके अपने-अपने धर्म थे, सिर्फ वैश्य का काम धन कमाना था, व्यापार करना था। वैश्य भी अपने स्वार्थ के लिए ही धन नही कमाता था, समाज के लिये धन कमाता था, वह समाज के लिये कमाए हुए धन का ट्रस्टी था। गृहस्थ-वैश्य के लिए कहा गया है—

यथा नदी नदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम्
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् । मनुस्मृति, 6-90

—जैसे नदी-नालो का पानी समुद्र मे जा पडता है, वैसे ब्रह्मचारी, गृहस्थी वानप्रस्थी, सन्यासी—ये सब लोग गृहस्थ-वैश्य के द्वारा पालित-पोषित होते है। गृहस्थ-वैश्य जो धन कमाये उसे समाज के काम मे लगा दे—यह वैश्य के लिये वैदिक-विचारधारा का आदेश है। इतना ही नही, वैश्य धन कमाता था, परन्तु उसके धन कमाने के दिन भी बाध दिये गए थे। प्रत्येक गृहस्थी-वैश्य के लिए आदेश था कि जब वृद्धावस्था के चिह्न प्रकट होने लगे, तब घर-बार छोड़कर वानप्रस्थी हो जाय। गृहस्थ-वैश्य के लिए मनुस्मृति (6-2) मे लिखा है :

गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्य समाश्रयेत् ।

—जब गृहस्थी-वैश्य यह देखे कि बाल पकने लगे हैं, त्वचा मे झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं, पुत्र के पुत्र हो गया है, तब गृहस्थाश्रम को छोडकर वानप्रस्थी हो जाय। चार आश्रमो मे से सिर्फ एक आश्रम—गृहस्थ—मे पैसा कमाया जाता था, उसमे भी सिर्फ एक वर्ण—वैश्य—पैसा कमाता था, वैश्य भी सिर्फ अपनी आयु के चौथाई भाग मे पैसा कमाता था, उसमे भी जो-कुछ कमाता था उसे समाज के काम मे लगा देता था, वैदिक-व्यवस्था मे इस हद तक 'वित्तैषणा' को सीमित कर दिया गया था, बाँध दिया गया था। वित्तैषणा को भोग कर, इस एषणा से स्वेच्छा से अलग हो जाने पर यह एषणा तृप्त भी हो जाती थी, स्वेच्छा से छोड देने के कारण मनुष्य को व्याकुल भी नही करती थी।

(ग) **लोकैषणा**—हम ऊपर लिख आए हैं कि फ्रॉयड के मनोविश्लेषणवाद (Psycho-analysis) के अनुसार 'काम-लिप्सा' (Libido) तथा एडलर के व्यष्टि-मनोविज्ञान (Individual psychology) के अनुसार 'स्वाग्रह'

(Self-assertion) की मूल-प्रवृत्ति मानव के व्यवहार का प्रेरणा-स्रोत है। शास्त्रीय विचारधारा के अनुसार, फ्रॉयड के लिबिडो या सेक्स की जगह 'काम'-शब्द का तथा एडलर के सेल्फ-असर्शन (स्वाग्रह) की जगह 'अहंकार'-शब्द' का प्रयोग किया गया है। जैसे 'काम' के लिए अथर्व मे **'कामो जज्ञे प्रथमः'** कहा गया है, वैसे ही 'अहंकार' के लिये सांख्य दर्शन मे कहा है—**'प्रकृते र्महान् महतोऽहंकारः'**। 'अहंकार'—'स्वाग्रह'—सृष्टि के प्रारम्भ मे हुआ। 'अहंकार' का अर्थ है—'मैं-पना', 'व्यक्तित्व'। एडलर का 'स्वाग्रह' (Self-assertion) तथा साख्य का 'अहकार'—इन दोनो का एक ही अर्थ है। एषणा की परिभाषा मे 'काम' का अर्थ है—'पुत्रैषणा', इसी प्रकार एषणा की परिभाषा मे 'अहकार' का अर्थ है—'लोकैषणा'। एडलर के सेल्फ-असर्शन (स्वाग्रह) तथा साख्य के अहकार का लोकैषणा की दृष्टि से एक ही अर्थ है। हर-कोई बडा बनना चाहता है, कम-से-कम यह चाहता है कि दूसरे लोग उसे बडा समझे। उसका 'ईगो' (Ego)—'अहंकार'—उसके भीतर उछाले मारता है—वह भीतर से 'मैं-मैं' किया करता है। इसी मनोवैज्ञानिक-प्रवृत्ति को आधार बनाकर एडलर ने 'व्यष्टि-मनोविज्ञान' (Individual psychology) की स्थापना की थी। उसने 'मैं वड़ा'—'मै वड़ा'—'लोकैषणा' की बडे मनोरजक ढग से व्याख्या की है। वह 'मैं बडा' से शुरू करने के स्थान मे 'मैं छोटा' से शुरू करता है। एडलर का कहना है कि मनुष्य को अपने भीतर झाँकने से कुछ कमी—कुछ छोटापन—दिखलाई देता है। छोटा बच्चा चारो तरफ से बडे लोगो से घिरा रहता है। कोई उससे कद मे बडा, कोई धन मे वडा, कोई किसी दूसरी बात मे उससे बढ-चढकर होता है। इसलिए हर बच्चे मे कुछ-न-कुछ अंश हीनता का—छोटेपन का—जा बैठता है। इसे उसने 'हीनता की मनोग्रन्थि' (Inferiority Complex) का नाम दिया है। परन्तु इस 'हीनता की मनोग्रन्थि' के साथ-साथ उसका मुख्य प्रेरणा-स्रोत 'स्वाग्रह' (Self-assertion) होता है जिसे साख्य के शब्दो मे 'अहंकार' (Ego) कहा जा सकता है। इस 'स्वाग्रह'—'अहकार'—'ईगो'—के कारण वह अपनी हीनता को दूर करने का प्रयास किया करता है। मनुष्य छोटा नही कहलाना चाहता, वडा कहलाना चाहता है—यही 'लोकैषणा' है। जो व्यक्ति एक दिशा मे दव गया, वह दूसरी दिशा मे प्रबल वेग से चल निकलता है। हमने कहा था कि सेक्स एक शक्ति है, वह कई दिशाओ मे जा सकती है। ठीक ऐसे ही 'स्वाग्रह' (Self-assertion)—'अहकार'—'मैं'—'ईगो'—भी एक शक्ति है, एक दिशा मे अगर उसके सामने हीनता की भावना उसका रास्ता रोकती है, तो वह दूसरी दिशा मे अपना रास्ता बना लेती है। बायरन लगडा था, वह अच्छा तैराक वन गया, रूज़वेल्ट को वचपन मे पोलियो हो गया था, वह अमरीका का राष्ट्रपति वन गया, मिल्टन अन्धा था, वह महान् कवि बन गया, पत्नी की धिक्कार खाकर

कालिदास कालिदास वन गया, तुलसीदास तुलसीदास वन गया। एक प्रकार की न्यूनता, 'स्वाग्रह' (Self-assertion)—अहकार—की मूल-प्रवृत्ति के कारण दूसरे प्रकार की श्रेष्ठता द्वारा पलडा वरावर कर देती है—यह एडलर का कथन है।

एडलर का जो-कुछ भी कहना हो, उसका अभिप्राय 'लोकैपणा' मे आ जाता है। लोकैपणा' का अर्थ है—लोग हमारी तारीफ करें, हमे छोटा न समझें, वडा समझें। यह एपणा हर-किसी मे होती है, इसी को शास्त्रो मे 'लोकैपणा' कहा है।

एडलर ने तो मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण करके इतना भर कह दिया है कि अपनी हीनता को दूर करने तथा दूर करके अपने को वडा वनाने की इच्छा हर-किसी मे पायी जाती है, फिर भले ही वह किसी भी उपाय से वडा वनने का प्रयत्न करे—'येन केन प्रकारेण प्रसिद्ध: पुरुषो भवेत्'। ज्यादातर क्या पाया जाता है? स्वार्थी लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए जायज़ तथा नाजायज़ उपायो से समाज मे उच्च-स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी सस्थाओ मे 'स्वाग्रह' (Self-assertion) की, अहकार की, ईगो की होड मची हुई है। लोग दूसरो को धन देकर, लालच देकर, भुलावा देकर अपने 'ईगो' को तृप्त करने मे लगे हुए हैं। जिस रास्ते पर चलकर लोग 'लोकैपणा' की तृप्ति करने मे लगे हुए हैं, यह भौतिकवादी मार्ग है, इस मार्ग पर चल कर तभी तक वाह-वाह होती है जव तक स्वार्थी लोगो की कलई नही खुलती। स्वार्थ को आधार वना कर लोकैपणा को सिद्ध करने की प्रवृत्ति का ही परिणाम है कि आज मन्दिरो के, मस्जिदो के, गिरजाघरो के, धार्मिक-सस्थाओ के, शिक्षा-सस्थाओ के, राजनैतिक नेताओ के आये-दिन कचहरियो मे एक-दूसरे के खिलाफ मुकदमेवाजी होती रहती है। हर-किसी के मन मे है—मैं खाऊँगा, तू क्यो खाता है, मैं नेता हूँ, तू कैसे नेता वन गया है। लोकैपणा के क्षेत्र मे यह सव झमेला इसलिए चलता है क्योकि लोकैपणा की दौड मे जो खिलाडी हैं उनमे ऊँचा उठने के जो दो मौलिक-तत्त्व हैं उन तत्त्वो का अभाव होता है।

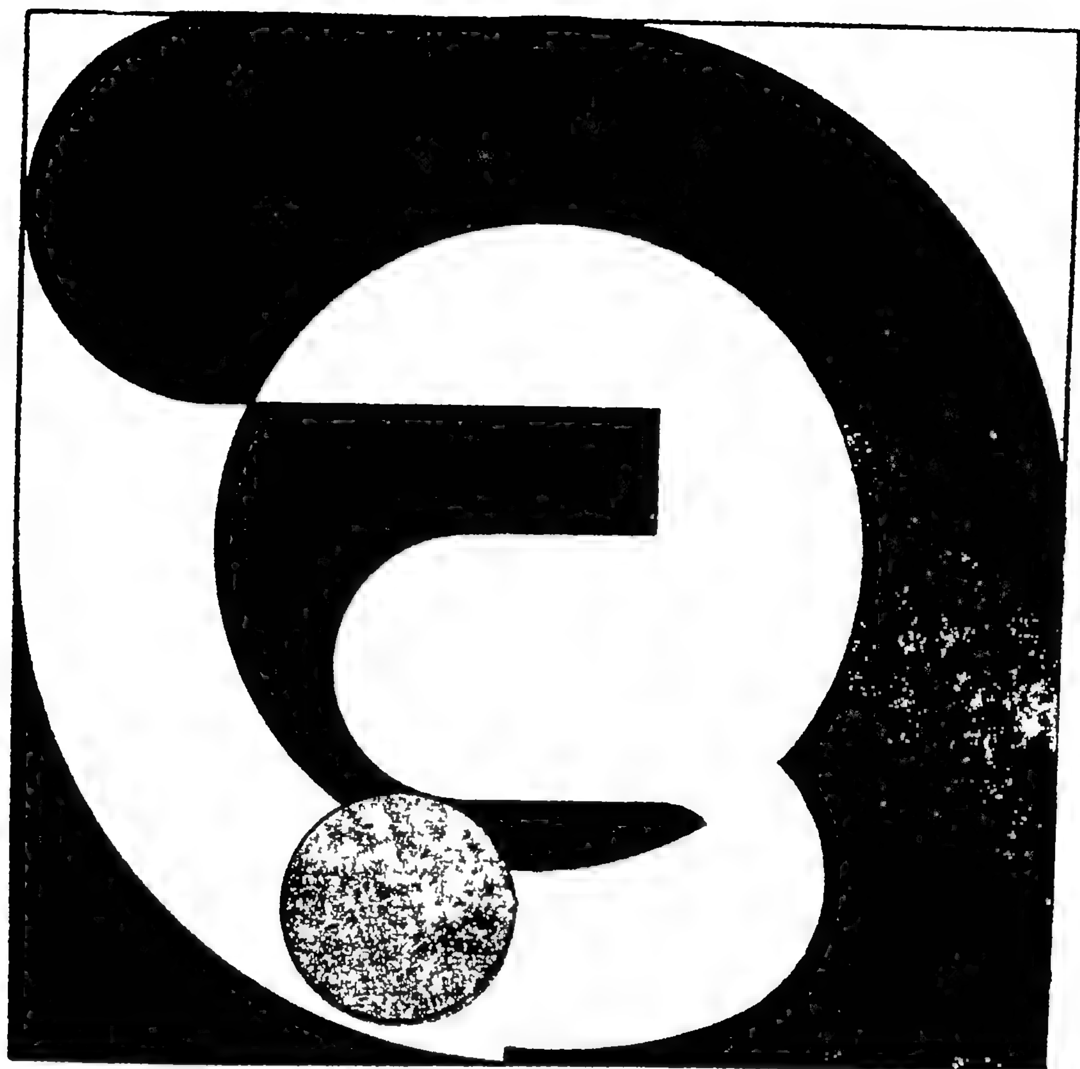
लोकैपणा की सिद्धि मे आधारभूत जो दो मौलिक-तत्त्व हैं, वे है—'त्याग' तथा 'सेवा'। जो व्यक्ति लोकैपणा की तृप्ति के लिए स्वार्थ को मन मे लेकर इस एपणा के क्षेत्र मे पग रखता है, घर वनाना चाहता है, वाल-वच्चो के लिए, उनकी परवरिश तथा उनकी आजीविका के लिए साधन जुटाना चाहता है, अपना निजी हित चाहता है, वह भी 'त्याग' तथा 'सेवा' का ढोग रच कर ही आता है। स्वाभाविक भी है। 'लोकैपणा' का अर्थ है—लोगो से वाहवाही लेना। जवतक लोगो के लिए आप कुछ करने का ढोग नही रचेंगे, तवतक वे आपके लिए ताली क्यो वजायेंगे? आप कहते हैं—मैं सव-कुछ छोड दूंगा, आपकी सेवा करूँगा, तन-मन-धन से आप-ही-आप के—जनता के—हित मे काम करूँगा।

लोगो को क्या पता कि आपके दिल मे क्या है। वे भुलावे मे आ जाते है, आपके नाम के नारे लगाने लगते है। पर यह खेल देर तक नही चलता। कुछ दिन बाद जब आपकी पोल खुल जाती है, जनता को यह नज़र आ जाता है कि आपने तो अपने लिये ही यह ढोंग रचा था, तब वे उल्टे नारे लगाने लगते है। स्वार्थी व्यक्ति की लोकैषणा की सिद्धि का गुरु इतना ही है कि वह कब तक अपने कौशल से जनता को इस भुलावे मे रख सकता है कि उसने दो मन्त्र सिद्ध कर लिये है—पहला मन्त्र 'त्याग' का, दूसरा मन्त्र 'सेवा' का। क्योंकि देर तक लोगो की आँखो मे धूल नही झोकी जा सकती इसलिए हर-एक स्वार्थी जन-सेवक की कुछ दिन बाद छीछालेदर होने लगती है।

वैदिक-विचारधारा के अनुसार लोकैषणा की सिद्धि वही प्राप्त कर सकता था जो स्वार्थ को तिलाजलि देकर इस क्षेत्र मे पग रखता था। उसके दो विशिष्ट गुण होते थे—पहला गुण 'त्याग' था, दूसरा गुण 'सेवा' थी। जो व्यक्ति सब-कुछ त्याग देता था—घर-बार त्याग देता था, बाल-बच्चो को त्याग देता था, धन-सम्पत्ति को त्याग देता था, जिसका अपना कुछ नही रहता था, वह जनता के सम्मान की पहली शर्त को पूरी करता था। त्याग करना तो सिर्फ़ एक 'ऋणात्मक' (Negative) कृत्य है। इस 'ऋणात्मक'-कृत्य के साथ वह 'धनात्मक' (Positive) कृत्य भी करता था। धनात्मक-कृत्य था—'सेवा'। सब-कुछ छोड कर यह हाथ-पर-हाथ धर कर नही बैठ जाता था, अपनी सेवा छोड़ कर वह जन-सेवा मे, जन-कल्याण मे लग जाता था। ऐसा जीवन संन्यासी का जीवन था, ऐसा व्यक्ति ही जनता के सम्मान का अधिकारी था। फिर उसे सम्मान के पीछे नही भागना होता था, सम्मान उसके पीछे भागता था। यह आवश्यक नही कि इस प्रकार के जीवन के लिये व्यक्ति कपड़े रग कर अपने-आपको सच्चिदानन्द सरस्वती ही कहने लगे; इसके बिना भी अगर मनुष्य की वृत्ति 'त्याग' तथा 'सेवा' की है, तो वह हर देखने वाले को नजर आ जाती है, और ऐसे व्यक्ति को अपने-आप जनता का सम्मान प्राप्त हो जाता है। 'लोकैषणा' के विषय में वैदिक-विचारधारा का यही दृष्टिकोण है।

इस प्रकार हमने देखा कि जहाँ फ्रॉयड सिर्फ 'काम-लिप्सा' (Libido) को मानव के व्यवहार का प्रेरणा-स्रोत मानता है, जहाँ एडलर सिर्फ 'स्वाग्रह' (Self-assertion) को मानव के व्यवहार का प्रेरणा-स्रोत मानता है, वहाँ ऋषियो की विचारधारा 'काम' तथा 'स्वाग्रह' के अलावा मानव-व्यवहार के एक तीसरे प्रेरणा-स्रोत—'परिग्रहण'—(Acquisition) पर भी उतना ही बल देती है। इस दृष्टि से फ्रॉयड तथा एडलर का एकांगी-पक्ष है, शास्त्रो का व्यापक-पक्ष है, ऐसा व्यापक-पक्ष जिसमे फ्रॉयड तथा एडलर के विचार समा जाते हैं, और समा जाने के बाद वह उनसे आगे निकल जाता है। आगे कैसे निकल जाता है?—

आगे ऐसे निकल जाता है क्योंकि इन एषणाओ का शास्त्रीय-विवेचन इन एषणाओ का सिर्फ विश्लेषण ही नही करता, मानव-हित मे इन एषणाओ का कैसे सदुपयोग हो सकता है—इस पर भी प्रकाश डालता है, इन एषणाओ का दुरुपयोग कैसे रोका जा सकता है—इस बात पर भी प्रकाश डालता है।



अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषम् महान्तम् ।
(श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3—19)

'ईश्वर' मे मतवादियो ने 'मानवत्वारोपण की सकल्पना' (Anthropomorphic conception) की है, उसे मानव-सरीखा कल्पित कर लिया है, 'ईश्वर' को पुरुष जैसा मान लिया है। योग-दर्शन मे भी ईश्वर को 'क्लेश कर्म विपाकाशयै अपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वर' कहा है, परन्तु यह मानवत्वारोपण नही है क्योकि यहाँ लौकिक-भाषा का प्रयोग करते हुए उसके अलौकिक रूप का वर्णन किया गया है—यह कहा है कि पुरुष तो क्लेशादि से परामृष्ट होता है, वह ऐसा पुरुष है जो क्लेशादि से अपरामृष्ट है। इसका यह अर्थ नही कि वह 'पुरुष' है, इसका तो यह अर्थ है कि वह पुरुष नही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का ऊपर जो उद्धरण दिया गया है उसमे यही तो कहा है कि उसके न हाथ है, न पाँव हैं, विना हाथो के पकडता, विना पाँवो के गति करता है, उसके न आँख है, न कान है, वह विना आँखो के देखता, विना कानो के सुनता है। वैदिक दृष्टिकोण

यह है कि 'ईश्वर' कोई व्यक्ति नही है, शक्ति है, परन्तु यह शक्ति प्रकृति की विद्युत् आदि की तरह अचेतन-शक्ति नही, 'ईश्वर' चेतन-शक्ति है।

ईश्वर की सिद्धि मे अनेक युक्तियाँ दी जाती है जिनमे से मुख्य-युक्तियाँ है—सृष्टि मे सर्जनात्मक चेतन-शक्ति का होना, सृष्टि मे क्रम तथा नियमबद्धता का होना, सृष्टि मे प्रयोजन अथवा उद्देश्य का होना, सृष्टि की विविधता मे एकसूत्रता का होना, सृष्टि मे विशालता का होना, अस्थायित्व मे स्थायित्व का होना। ये सब लक्षण जड-जगत्, वनस्पति-जगत् तथा प्राणी-जगत् मे सर्वत्र पाये जाते हैं जिनके आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विश्वगत चेतन-शक्ति की सत्ता माने बिना यह सब होना सम्भव नही है। जिस शक्ति के कारण सृष्टि मे ये लक्षण पाये जाते हैं वही शक्ति 'ईश्वर' है। भारतीय-दर्शनो मे भी वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग तथा वेदान्त ने ईश्वर-सिद्धि मे अपनी-अपनी युक्तियाँ दी हैं, अपना-अपना मत प्रकट किया है। इन मे से पूर्व-मीमांसा-शास्त्र मे 'ईश्वर' को माने बिना काम चलाया गया है, यह शास्त्र 'कर्म' को ही 'ईश्वर' समान मान लेता है, परन्तु जड कर्म चेतन-समान काम कैसे करता है, कर्म का फल अपने-आप कैसे मिल जाता है—इसका इसके पास कोई उचित समाधान नही है। अन्य मुख्य-दर्शन आस्तिकवाद के ही समर्थक है।

'ईश्वर' के दर्शन हो सकते है या नही—यह प्रश्न भी उठा करता है। असल मे, दर्शन का अर्थ संकुचित-रूप मे न लेकर विस्तृत-रूप मे लेना चाहिये। आँख से तो 'ईश्वर' के दर्शन नही हो सकते, परन्तु अगर ध्यान को पाँचो ज्ञानेन्द्रियो की तरह एक छटी ज्ञानेन्द्रिय मान लिया जाय, तो ध्यान द्वारा 'ईश्वर' के दर्शन हो सकते हैं। 'अस्तित्व', 'अभिव्यक्ति' तथा 'अनुभूति' मे भेद है। पार्थिव-पदार्थों का अस्तित्व है, उनकी अभिव्यक्ति भी है, अनुभूति भी है, ईश्वर का अस्तित्व है, अभिव्यक्ति नही, परन्तु अनुभूति होती है। ईश्वर की यह अपूर्व-सृष्टि ही 'ईश्वर' की अनुभूति है, उसका दर्शन है।

जब हम कहते हैं, कि 'ईश्वर' नही है, 'प्रकृति' है, तब हमारा क्या अभिप्राय होता है? क्या पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—भौतिक-द्रव्य—(Matter)—प्रकृति है? ये तो अपने-आप सृष्टि का निर्माण नही करते, इनके द्वारा सृष्टि का निर्माण होता है। भौतिकवादी दृष्टिकोण से भी प्रकृति से अभिप्राय उस 'शक्ति' (Nature) से होता है जो भौतिक-द्रव्यो का उपयोग करके सृष्टि का निर्माण करती है। प्रकृति के भौतिक द्रव्य जिनसे सृष्टि बनती है, वे तो दीखते हैं, परन्तु वह शक्ति जिसे भौतिकवादी ईश्वर न कह कर प्रकृति की शक्ति (Nature) का नाम देते हैं—क्या वह दीखती है? जब प्रकृति की भौतिक-शक्ति (Nature) ही नही दीखती, तब परमात्मा क्यो नही दीखता—यह शंका करना व्यर्थ है। प्रकृति की इस शक्ति को भौतिकवादी 'जड' मानते हैं, अध्यात्मवादी 'चेतन' मानते हैं, प्रत्यक्ष-दर्शन दोनो को नही मिलता।

पंचम अध्याय

ईश्वर

(GOD)

I. ईश्वर के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा

(क) **ईश्वर एक बड़ा, महान् शक्तिशाली मानव है—ईश्वर में 'मानवत्वारोपण की संकलपना'** (Anthropomorphic conception of God)—साधारण-व्यक्ति का ईश्वर के सम्बन्ध मे यह विचार है कि जैसे वह अपना मकान बनाता है, उसके हाथ-पैर है, मन है, बुद्धि है, ऐसे ही कोई एक बहुत बडा मानव है, जो इतना बड़ा है कि बहुत ही बडा है, हमारे मकान बनाने की तरह वह भी सृष्टि की रचना करता है, जैसे हम अपने मकान मे रहते है वैसे हमारी तरह ही वह कही स्वर्गलोक मे रहता है। जैसे मनुष्यो का शासन राजा करता है, वैसे ससार का शासन वह करता है, वह राजाओ का राजा है। यह विचार उस सामाजिक-रचना का प्रतिबिम्ब है जिसमे एक राजा होता था, वह अपनी प्रजा पर शासन करता था, उसे जैसा चाहता बनाता-बिगाडता था। कुटुम्ब मे पिता का शासन, समाज मे राजा का शासन, ससार मे ईश्वर का शासन—इस सारी परम्परा का निष्कर्ष ईश्वर को एक महान् मानव समझना था। मनुष्य छोटे से क्षेत्र मे शासन करता है, ईश्वर महान् क्षेत्र मे राज्य करता है, ईश्वर एक महा-पुरुष है। जैसे मनुष्य की सेवा या स्तुति से सेवक उसे सन्तुष्ट करता है, वैसे ईश्वर की सेवा एवं स्तुति से उसे प्रसन्न किया जा सकता है। ऐसे ईश्वर की इसी प्रकार प्रार्थना भी की जाती है और उससे भिन्न-भिन्न प्रकार की याचनाएँ भी की जाती है।

(ख) **अधिकांश धर्मों में ईश्वर को महामानव ही माना गया है**—यहूदी, ईसाई, तथा इस्लाम मे ईश्वर का यही रूप है। वह अदन के बगीचे मे टहलता है, मनुष्यो का-सा व्यवहार करता है। यहूदी धर्म मे जिहोवा मूसा को मॉट-सिनाई मे प्रकट हुआ, ईसाई तथा इस्लाम मे भी उसका निवास-स्थान स्वर्ग-लोक माना गया है। स्वर्ग-नरक की कल्पना भी ईश्वर को मनुष्य-सरीखा मानने के कारण है।

परन्तु क्या ईश्वर को मनुष्य का-सा मानने का यह विचार युक्ति-सगत है ? अगर ईश्वर मनुष्य-जैसा है, किसी स्थान-विशेष मे रहता है, स्तुति-उपासना करने से खुश तथा गाली देने से ना-खुश हो जाता है, तो उसके विषय मे जो यह दार्शनिक-धारणा है कि वह अनादि है, अनन्त है, आनन्दमय है—यह सब व्यर्थ सिद्ध हो जाती है। जो स्थान-विशेष मे रहेगा वह सर्वव्यापी नही होगा, जो सर्वव्यापी नही होगा वह परिच्छिन्न होगा, जो परिच्छिन्न होगा उसका भौतिक-शरीर होगा, जिसका भौतिक-शरीर होगा उसमे जन्म तथा मृत्यु भी होगी, जिसकी जन्म-मृत्यु होगी वह अनादि-अनन्त नही होगा। इसलिए बाधित होकर यह मानना पडता है कि ईश्वर को पुरुष-विशेष मानने की बात हमने अपने छोटे-से दिमाग के सन्तोष के लिये गढ रखी है, यह विचार बाल-मस्तिष्क का है। ईश्वर एक व्यक्ति-विशेष नही, शक्ति-विशेष है, और वह शक्ति-विशेष सत्ता भी भौतिक न होकर चैतन्य-स्वरूप है। वैसे तो जड मे भी शक्ति है, परमाणुओ का विश्लेपण करते-करते धनात्मक तथा ऋणात्मक विद्युत्कण ही रह जाते हैं जो शक्ति के ही पुज तथा शक्ति के ही दूसरे रूप हैं। प्रकृति के परमाणुओ मे निहित शक्ति जड का ही एक रूप है, जड ही है, वह शक्ति ईश्वर नही है। ईश्वर को जब हम शक्ति-विशेष कहते हैं तब हमारा अभिप्राय विद्युत् की तरह जड-शक्ति से नही होता, वह शक्ति जड न होकर चैतन्यस्वरूप है। जड़-शक्ति प्रकृति कहलाती है, चेतन-शक्ति परमेश्वर कहलाती है, इस चेतन-शक्ति के कारण ही चैतन्यस्वरूप परमेश्वर सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, सहर्ता है—परन्तु वह महा-पुरुष नही है, व्यक्ति नही है, शक्ति है, शक्ति भी जड-शक्ति नही, चेतन-शक्ति है।

(ग) **तो फिर योग-दर्शन ने ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' क्यों कहा गया है—** यह ठीक है कि योग-दर्शन मे ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' कहा है, परन्तु कैसा 'पुरुष-विशेष'। वहाँ कहा है—'**क्लेश कर्म विपाकाशयै अपरामृष्ट पुरुषविशेषः ईश्वर**'—जो क्लेश—अर्थात्, जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेशो से अछूता है—ऐसा पुरुष-विशेष ईश्वर है। अगर ईश्वर को पुरुष के रूप मे देखना ही हो जैसा कि ससार के सब धर्मो ने देखने का यत्न किया है, तो वह कैसा पुरुष होगा ? ऐसा पुरुष जिसमे 'क्लेश'—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि—नही है, 'कर्म'—जिसमे अच्छा या बुरा कर्म नही है, जो सिर्फ द्रष्टा रूप मे सृष्टि का सचालन कर रहा है, 'विपाक'—जो अच्छा या बुरा कर्म नही करता इसलिए जो हमारी तरह कर्म-फल भी नही भोगता, 'आशय'—क्योंकि वह कर्म-फल के अधीन नही है इसलिए उसमे कर्म-फल से उत्पन्न होने वाली वासना भी नही है, वह वासना जो जन्म तथा मृत्यु का कारण होती है—ऐसा 'पुरुष-विशेष' जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अछूता

है, ईश्वर है। 'पुरुष' भी उसको क्यो कहा ? 'पुरुष' का अर्थ है—**'पुरि शेते इति पुरुषः'**—जैसे आत्मा शरीर रूपी पुरी मे, नगर मे विराजमान है, ऐसे ही ईश्वर ससार रूपी पुरी मे—इसके अणु-अणु में वर्तमान है। 'पुर'-शब्द वैसा ही है जैसा सहारनपुर या नागपुर मे 'पुर' शब्द पाया जाता है। वे छोटे शहर हैं, ईश्वर के लिए यह विशाल-विश्व मानो एक शहर के समान है। इस अलंकार की भावना से उसे 'पुरुष' कहा है। योग-दर्शन ने जव ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' कहा तो लौकिक-भाषा का प्रयोग करते हुए उस अलौकिक शक्ति का ऐसा वर्णन कर दिया जो सर्व-साधारण की समझ मे भी आ सकता था, परन्तु जिस वर्णन मे ईश्वर का दार्शनिक रूप—अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक—भी समा जाता था। ससार के मत-मतान्तर ईश्वर का पुरुप के रूप मे वर्णन करते रहे, मानवत्वारोपण की सकल्पना (Anthropomorphic conception) करते रहे, और ऐसा वर्णन करते हुए उसे वे अपने जैसा पुरुप ही समझते रहे। योगदर्शनके 'पुरुष-विशेष' और मत-मतान्तर के 'पुरुष-ईश्वर' मे यही भेद है। योगदर्शन सर्व-साधारण को समझाने के लिये ईश्वर को 'पुरुप-विशेष' कह देता है, परन्तु पुरुप कहते हुए भी उसे अपुरुष ही वतलाता है, तभी उसे 'पुरुष-विशेष' कहता है, मत-मतान्तर उसे पुरुष-रूप मे ही देखते है, पुरुप के सभी गुणो के साथ उसे केवल 'महा-पुरुष' मानते है। उनके अनुसार है वह 'पुरुष' ही, यह बात दूसरी है कि वह साधारण-पुरुप न होकर अत्यन्त 'महान् पुरुष' है।

जैसा हमने कहा, ईश्वर कोई व्यक्ति नही है, शक्ति है, चैतन्य-स्वरूप शक्ति। 'प्रकृति' (Matter) का विश्लेषण करते-करते हम ऋणात्मक तथा धनात्मक विद्युत्-कणो तक पहुँचते है, अर्थात् विश्लिष्ठ-प्रकृति का रूप 'शक्ति' है, परन्तु प्रकृति की यह शक्ति चेतन नही है, अचेतन है, जड है; परमेश्वर भी शक्ति रूप है, व्यक्ति नही है, परन्तु वह शक्ति चेतन है, जड़ या अचेतन नही है। इसी चेतन-शक्ति को ईश्वर, परमेश्वर कहा जाता है।

इस बात को इस तरह समझिये। मैं अपने मकान मे वैठा हूँ। वडा आलीशान मकान है। पंखे हैं, वातानुकूलक हैं, फ्रिज हैं—सव चल रहे हैं। एकाएक पखे घूमने वन्द हो गये, वातानुकूलक मे गति न रही, उनसे ठण्डी हवा आना रुक गया, फ्रिज भी शान्त हो गये। वाहर से सव वही-का-वही है—सव की जान चली गई—यह क्या हो गया ? देखा तो पता चला कि किसी ने स्विच ऑफ कर दिया था। जव स्विच ऑन किया तव फिर सव पहले-सा चलने लगा। तो क्या यह सब-कुछ विजली की धारा का ही खेल था! विजली की धारा आई, सव घूमने लगा, गई तो सब खड़ा हो गया। मकान मे विजली के इस खेल को देखकर मेरा ध्यान अपने पर गया। यह शरीर चलता-फिरता है, काम

करता है, तो क्या मकान मे न दीखने वाली बिजली की धारा की तरह इस शरीर मे भी कोई ऐसी बिजली की-सी धारा है जो इसे चला रही है ? एक आदमी चलता-फिरता था, खाता-पीता था, बोलता-चालता था, वह एकदम ठडा पड गया, जैसे पखे चलने बन्द हो गये थे। अब वह वैसा-का-वैसा ही है, परन्तु न चलता-फिरता है, न बोलता-चालता है, साँस तक नही लेता। क्या हो गया उसे ? अनायास विचार उठ पड़ता है कि जैसे मकान मे बिजली की धारा बन्द हो जाने से पखे, वातानुकूलक, फ्रिज चलने बन्द हो गये, वैसे इस शरीर में भी कोई बिजली की-सी धारा है जिसका स्विच ऑफ हो गया। परन्तु उस बिजली की धारा और इस बिजली की धारा मे एक भेद है। पखे मे बिजली की धारा अचेतन-शक्ति है, शरीर के भीतर की धारा चेतन-शक्ति है। क्या किसी की समझ मे यह बात आ सकती है कि पखे की बिजली की शक्ति बोलती क्यों नही ; मेरी शक्ति की धारा बोलती क्यो है, सोचती क्यो है ? अगर दोनो मे एक ही शक्ति है, तो यह भेद क्यो ? यह भेद इसलिए है क्योकि यद्यपि दोनो मे शक्ति की धारा बह रही है, तो भी पखे की विद्युत्-धारा जड है, शरीर मे बह रही शक्ति की धारा चेतन है। प्रकृति का विश्लेषण करते-करते आज विज्ञान इस बिन्दु पर तो पहुँच गया है कि 'प्रकृति' (Matter) सिर्फ इलैक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन—इन विद्युत्-कणो का खेल है, विद्युत् की धारा ही अनवरत रूप से बह रही है, परन्तु प्रकृति तथा मनुष्य मे जो शक्ति बह रही है उस भेद को नही मिटा सका। मनुष्य मे प्रवाहित इस चेतन-शक्ति को ही 'आत्मा' कहा जाता है। अब एक कदम और आगे चलिये। मकान के पखे, वातानुकूलक, फ्रिज की गति की तरह इस विशाल विश्व मे पृथ्वी, चाँद, तारे, सूर्य अनवरत गति कर रहे है, हर चीज़ घूम रही है—क्या इसमे भी कोई शक्ति की धारा बह रही है ? इस सीमातीत ब्रह्माड मे सब-कुछ नियम से बँधा है, जो कुछ हो रहा है सब सुजाखेपन से हो रहा है, अन्धेपन से नही हो रहा। इतना बडा ब्रह्माण्ड। अगर इसका सचालन अन्धेपन से हो रहा होता तो क्या पृथ्वी, चाँद, सूरज कभी, कही टकरा न जाते, अन्धापन होता तो क्या सब चकनाचूर न हो जाता ? जैसे मेरे भीतर की धारा अचेतन न होकर चेतन है, वैसे क्या विश्व का जिस धारा से सचालन हो रहा है—वह न हो तो इतने अथाह ब्रह्माण्ड की गति का अपने-आप प्रारम्भ तथा अन्त कैसे हो—क्या वह चेतन नही है ? मेरा चैतन्य मुझ मे है—इसका मुझे अनुभव तो होता है परन्तु पता नही चलता कि वह चैतन्य-शक्ति मेरे इस छोटे-से जगत् मे कैसे समाई हुई है, ठीक ऐसे ही कोई पहली चैतन्य-शक्ति जो इस असीम-जगत् को भ्रमा रही है—**'भ्रामयन् सर्वभूतानि'**—इस विशाल-विश्व मे समाई हुई है—इसका अनुभव तो होता है, परन्तु पता नहीं चलता कि वह इस विश्व मे कैसे समाई हुई है। जब अपने भीतर का ही

पता नही चलता, तो उसका क्या पता चलेगा। विश्व की इसी चेतन-शक्ति का नाम ही परमेश्वर है—परमेश्वर जो व्यक्ति-विशेष नही, चैतन्य-शक्ति-विशेष है। इससे अधिक उस शक्ति का हम साधारण-व्यक्तियो को कुछ पता नही चलता, पता न चल सकने की विवशता के कारण कोई उसे **'सहस्रशीर्षः सहस्राक्षः सहस्रपाद्'** कह देता है, कोई उसे **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीत पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः'** कह देता है; कोई कह देता है, उसके हजारो हाथ-पैर है, कोई कह देता है कि न उसके हाथ है, न पैर हैं। कहने के ढग मे फर्क है—दोनो के कहने का अर्थ एक ही है, यह अर्थ कि ईश्वर एक अज्ञेय चेतन-शक्ति है जिससे सृष्टि का संचालन हो रहा है, सृष्टि का सचालन करने वाली शक्ति जड नही है।

सृष्टि मे एक महती चेतन-शक्ति है जो विश्व का सचालन कर रही है—इसमे निम्न प्रमाण है

2. सृष्टि में सर्जनात्मक चेतन-शक्ति
(Creative Conscious Energy)

सृष्टि की रचना का अर्थ है—सृष्टि का विकास, सृष्टि का बनना। सृष्टि मे विकास हो रहा है, यह बन रही है—इसका अर्थ यह है कि इसकी जो पहले अवस्था थी वह अब नही, जो अब है वह आगे नही रहेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि में परिवर्तन हो रहा है, परिवर्तन—अर्थात् 'गति'। जड वस्तु मे गति अपने-आप नही हो सकती, जहाँ गति होगी वहाँ गति को देने वाला कोई दूसरा होगा। यह दूसरा अगर जड है, तो उसमे गति कौन देगा, वह जड नही हो सकता क्योकि अगर वह जड है तो उसमे अपने-आप गति माननी पडेगी, परन्तु जड मे अपने-आप गति नही हो सकती, जड मे गति सदा बाहर से आती है। बाहर से आती है इसलिए समाप्त भी हो जाती है, अगर बाहर से न आए, उसकी अपनी हो, तो वह कभी समाप्त भी न हो। जड की हर गति कालान्तर मे समाप्त हो जाती है, इसलिए यह मानना पडेगा कि वह बाहर से आती है, उसके भीतर से नही आती। इस युक्ति-क्रम से सिद्ध है कि क्योकि सृष्टि मे विकास है, रचना है, सर्जन है, परिवर्तन है, गति है, सृष्टि कार्य है, इसलिए इस गति को देने वाली कोई शक्ति इस से भिन्न होनी चाहिए। मैं कलम से लिख रहा हूँ, कलम अपने-आप नही लिखने लगती; मैं साइकल या मोटर चला रहा हूँ, साइकल या मोटर अपने-आप नही चलने लगती। लिखना शुरु करता हूँ और समाप्त कर देता हूँ, साइकल पर चढता हूँ और उतर जाता हूँ। साइकल की अपने भीतर से गति होती तो वह चलती ही रहती, चलती ही रहती। जड वस्तु तभी क्रियाशील होती है जब उसमें बाहर से चेतन द्वारा क्रिया का प्रवेश किया जाता है। इसी भाव को सम्मुख रख कर संस्कृत मे

सृष्टि, ससार, जगत्, सर्ग—इन शब्दो का प्रयोग किया गया है। सृष्टि तथा सर्ग 'सृज धातु' से बने हैं जिसका अर्थ है—उत्पन्न होना, बनना, कार्य होना। संसार तथा जगत् शब्दो का अर्थ है—गतिशील होना। सृष्टि मे गति है, विकास है, यह कार्य है—इस गति को देने वाली कोई चेतन-शक्ति होनी चाहिए, वह जड नही होनी चाहिए, उस रचना या सर्जन करने वाली चेतन-शक्ति का नाम ही ईश्वर है। यह सर्जनात्मक-शक्ति जड़-जगत्, वनस्पति-वृक्ष-जगत् तथा प्राणि-जगत् मे सब जगह काम कर रही है, इसलिए यह मानना पडता है कि कोई चेतन-शक्ति विश्व मे जागरूक होकर काम कर रही है क्योंकि सर्जन तथा विकास तो हो ही रहा है, और विकास का यह गुण जड मे अपने-आप हो नहीं सकता। अगर यह माना जाय कि शुरू-शुरू मे यह गति चेतन-शक्ति ने दी, उसके बाद विकास अपने-आप होने लगा, तो इसमे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती। ऐसी हालत मे तब चेतन-शक्ति को तो मानना ही पडेगा, परन्तु यह कहना युक्ति-सगत नही होगा कि उस चेतन-शक्ति ने प्रकृति मे गति उत्पन्न कर देने के बाद हरिकरी कर ली। विकास तथा सर्जन हर घडी हो रहा है, प्रत्येक कार्य फिर कारण बनकर अगले कार्य को उत्पन्न कर रहा है, इसलिए वह शक्ति अहर्निश जागरूक है, क्रियाशील है। हम इस प्रकरण मे पहले जड़-जगत्, फिर वृक्ष-वनस्पति-जगत्, फिर प्राणी-जगत् के क्रम से विवेचना करेंगे क्योंकि जड़ तथा प्राणी के बीच मे वनस्पति-जगत् आधा जड तथा आधा प्राणी जैसा है।

(क) **जड़-जगत् में सर्जनात्मक चेतन-शक्ति**—विज्ञान के अनुसार सृष्टि की रचना 'नेब्युला' (Nebula) से हुई। यह 'नेब्युला' सृष्टि का प्रकाशमान आदि-तत्त्व है। हमारी सृष्टि की रचना जिस प्रकार के 'नेब्युला' से हुई उसी प्रकार के अनन्त 'नेब्युला' इस सृष्टि मे मौजूद हैं। 'नेब्युला' को वेद मे 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है—'**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**'—अग्रे, अर्थात् आदि-काल मे सृष्टि हिरण्यगर्भ के रूप मे हुई, 'हिरण्यगर्भ'—अर्थात् जिसके गर्भ, अन्तराल मे सुवर्ण जैसी चमक है।

नेब्युला मे गति है। यह गति कितनी कल्पनातीत है यह जानकर आश्चर्य होता है। 'मौडर्न साइन्टिफिक थॉट' (Modern Scientific Thought)-नामक पुस्तक मे सर जेम्स जीन्स लिखते हैं कि सौर-मण्डल मे अनेक नेब्युला ऐसे हैं जो कल्पनातीत गति से पृथ्वी तथा एक-दूसरे से दूर भागते जा रहे हैं, और अन्तरिक्ष मे वे जितनी दूर भागते जाते हैं उतनी ही उनकी गति और भी तेज़ होती जाती है। उदाहरणार्थ, 100 इच बड़े टैलिस्कोप से एक ऐसा 'नेब्युला' देखा गया है जो एक सेकण्ड मे 15 हज़ार मील की गति से पृथ्वी से दूर भागा जा रहा है। सर जेम्स जीन्स का कहना है कि एक ऐसा 'नेब्युला' है जिसका प्रकाश पृथ्वी तक आने मे 1 अरब (1000000000) वर्ष लग जाते हैं। अगर

इस बात को ध्यान मे रखा जाए कि प्रकाश की गति एक सैकण्ड मे 1 लाख 86 हज़ार मील है, तो यह समझकर आश्चर्य होगा कि पृथ्वी से कितनी दूर वह नेब्युला होगा, और कितनी तीव्र गति से भागा जा रहा होगा। इतनी तीव्र गति अपने-आप हो रही है—क्या यह समझ मे आने वाली बात है ?

अन्तरिक्ष मे इतने तारे है जितने संसार के सभी समुद्र-तटो पर रेत के कण हैं। जैसे हमारे सौर-मण्डल मे गति है, वैसे उनमे भी गति तथा विकास की प्रक्रिया चल रही है। ये सब तारे नभोमण्डल मे तीव्र-गति से दौड रहे हैं, वे एक-दूसरे से लाखो मील दूर हैं, लाखो, करोडो सालो से ये गतिशील हैं, कोई दूसरे से टकराता नही है। ये सब अग्नि के पुज हैं। पृथ्वी भी किसी समय इसी प्रकार अग्निमय थी। धीरे-धीरे अग्नि का क्षय होने लगा। जड वस्तु वनती है, फिर नष्ट भी होती है। पृथ्वी ठण्डी हुई और इस पर जीवन का वने रहना भी सम्भव हुआ। क्या जड-जगत् की इतनी गति, इतना विकास अपने-आप हो गया। इस सबको करने के लिए अगर चेतन-शक्ति को माने वगैर मनुष्य की बुद्धि इस विकास को समझ सकती है, तो ईश्वर जैसी चेतन-शक्ति को मानने की अपेक्षा भी यह और अधिक अचम्भे की बात है। एक छोटा-सा तिनका भी चेतन-शक्ति के माध्यम के बिना नही हिलता, फिर यह असीम-विश्व अपने-आप कैसे चल रहा है ? अगर तिनके को हवा उडा रही है, तो हवा को कौन चला रहा है ? हवा तो इस जड-जगत् का एक अंग मात्र है। जो प्रश्न हम ब्रह्माण्ड की गति के सम्बन्ध मे करते हैं, वह वैसा ही हवा के लिए, हर भौतिक-तत्त्व के लिए खड़ा है। जड-जगत् का नेब्युला से शुरू होकर वर्तमान भौतिक-जगत् तक विकसित हो जाना एक महान् निर्माण है, महान् रचना है, महान् सर्जन है, महान् सृष्टि है, महान् वनना है—इस जड-जगत् मे विकास करने वाली जो चेतन-शक्ति है उसी को 'ईश्वर'—इस नाम से कहा जाता है।

वैशेषिक तथा न्यायदर्शन ने, पाश्चात्य-विचार के धनात्मक तथा ऋणात्मक इलैक्ट्रोन, न्यूट्रोन तथा प्रोटोन की तरह जो जड-शक्ति के मूलभूत विद्युत्मय अणु है, सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि जव सृष्टि का निर्माण होता है तव दो अणु मिल कर द्व्यणुक को उत्पन्न करते हैं, अणु के समान यह द्व्यणुक भी इन्द्रियो से नही देखा जा सकता। इसके बाद तीन द्व्यणुक मिल कर एक त्रसरेणु को उत्पन्न करते है जिसमे 6 अणुओ के मिलने से सूक्ष्मता के वाद स्थूलता आ जाती है। पाश्चात्य-विचार के अनुसार सवसे पहले 'नेव्युला', उसके वाद धनात्मक तथा ऋणात्मक विद्युत्मय तीन अणु—इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, प्रोटोन—उनके मिलने से यह सृष्टि वनी, भारतीय-विचार के अनुसार सवसे पहले 'हिरण्यगर्भ', उसके बाद दो अणुओं का द्व्यणुक, फिर तीन द्व्यणुको के मिलने से त्रसरेणु—इस प्रकार सृष्टि वनी। दोनो की भाषा अलग-अलग है, विचार मूलत

एक ही है, भेद इतना ही है कि पाश्चात्य-विचार भारतीय-चार्वाक-चिन्तन के अनुसार इस गति को, सर्जन को, विकास की प्रक्रिया को अपने-आप होने वाला मानता है, भारतीय-आस्तिक-विचार यह है कि जड मे यह गति, यह विकास, उसके जड होने के कारण, अपने-आप नही हो सकता, अगर अपने-आप हो सके तो जड ही चेतन हो जाए, परन्तु जड कहीं चेतन नही दीखता, विना चेतन के जड़ मे गति या विकास नही हो पाता।

इसके अतिरिक्त जड़-प्रकृति मे अगर पाश्चात्य-विचारकों तथा भारतीय-चार्वाकों के कथनानुसार स्वाभाविक-गति मान ली जाय, तो वह सदा वनी रहनी चाहिए, समाप्त नही हो जानी चाहिए। जव गति जड का स्वभाव ही हो, तो वह स्वभाव समाप्त नहीं हो सकता, परन्तु पाश्चात्य-विज्ञान भी यह मानता है कि सूर्य की गर्मी धीरे-धीरे समाप्त हो रही है, और समय आयगा जव सूर्य भी ठण्डा हो जायगा। वही गति समाप्त होती है जो किसी दूसरे द्वारा दी जाती है, अपने-आप मे स्वभावगत-गति समाप्त नही हो सकती, समाप्त हो जाती है तो मानना पडेगा कि वह उसका स्वभाव नही है। न्यूटन ने जिस 'गति के नियम' (Law of Motion) का प्रतिपादन किया उसका सार ही यह है कि भौतिक-पदार्थ अगर गतिहीन अवस्था मे है, तो गतिहीन ही रहेगा जव तक वाहर से इसे गति नही दी जायगी, अगर गति की अवस्था मे है, तो गति मे ही रहेगा, अगर वाहर से उसकी गति का किसी के द्वारा प्रतिरोध नही होगा। सृष्टि के प्रारम्भ मे नेव्युला (Nebula) मे गति कहाँ से आई, अन्त मे यह गति समाप्त कैसे होगी, अगर इसे कोई देने वाला नहीं, कोई समाप्त करने वाला नहीं ? यह गति नित्य नही, हर वस्तु वन रही है, नष्ट हो रही है—यह तो स्वयसिद्ध है।

(ग) **वनस्पति तथा वृक्ष जगत् मे सर्जनात्मक चेतन-शक्ति**—वनस्पति तथा वृक्ष के विकास मे भी चेतन-शक्ति का हाथ दीखता है। जड-जगत् का विकास, उसमे गति, उसमे परिवर्तन होता है—यह हमने देखा। शुरू-शुरू मे सृष्टि सूक्ष्मावस्था मे थी, नेव्युला या हिरण्यगर्भ की अवस्था मे थी, उसके वाद स्थूलावस्था मे आयी, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु का रूप प्रकट हुआ—यह सव जड़ का विकास था। विकास की यह प्रक्रिया पृथ्वी, जल आदि की तरह वनस्पति-वृक्ष-जगत् मे भी देखी जाती है। एक वीज को हम पृथ्वी मे गाड देते है, उसके विकास का सिलसिला जारी हो जाता है। वीज का अकुर, अकुर का पौधा, पौधे पर पुष्प, पुष्प पर फल—यह सारा विकास जड मे अपने-आप नही हो सकता। विश्व के कण-कण मे वैठी हुई चेतन-शक्ति ही विकास के इस क्रम को चला सकती है, अन्यथा चेतन-शक्ति के अभाव मे जड-वीज मे किसी प्रकार की गति नहीं आ सकती। यह नियम है कि जड मे जो गति है वह उसकी अपनी

नही, चेतन से आती है, बाहर से आती है, बाहर की गति अगर फिर जड से आये तो प्रश्न वही-का-वही खडा रहता है, हल हाथ नही आता। बाहर की गति अगर चेतन से आये, तभी इस समस्या का हल होता है क्योकि सिर्फ चेतन के विषय मे यह कहा जा सकता है कि उसकी गति उसका स्वभाव है—**'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'**—यह उपनिषद् का वचन है—जड़ के विषय मे यह नही कहा जा सकता।

वनस्पति, वृक्ष आदि मे चेतना है—इसमे सन्देह नही। चेतना इसलिए है क्योकि उनमे वृद्धि होती है, ह्रास होता है। परन्तु क्या उनमे आत्मा भी है? यहाँ 'आत्मा' तथा 'चेतन-शक्ति' मे भेद करना होगा। चेतन-शक्ति तो वह है जो विश्व के अणु-अणु में जगत् के कर्तृत्व-भाव से सर्वत्र व्याप रही है, उसकी वजह से वनस्पति तथा वृक्ष का बीज पृथ्वी मे डालने के बाद गुरुत्वाकर्षण के नियम से बँधा होने के कारण भी नीचे को जाने के स्थान मे ऊपर को अकुर के रूप मे फूट पडता है, बढता है, फलता है, फूलता है, परन्तु यह सब उस बीज मे निहित चेतन-शक्ति का ही प्रभाव है। वृक्ष मे सूक्ष्म-शरीर को धारण करने वाले आत्मा का निवास नही है, सिर्फ परमात्मा का निवास है। 'आत्मा' वह है जो शरीर मे आकर कर्मों को करता और उनका भोग भोगता है, वनस्पति तथा वृक्ष मे 'चेतना' वह है जो वनस्पति की वृद्धि एव ह्रास का तो कारण है, परन्तु आत्मा की तरह कर्म नही करती, कर्मों का फल नही भोगती। 45 साल हुए जब लेखक को श्री जे० सी० बोस से मिलने का अवसर मिला था। लेखक ने उनसे प्रश्न किया कि जब आप वृक्षो मे भी आत्मा कहते है तब शाकाहारियो के सामने एक विकट समस्या खडी हो जाती है। अगर वृक्षो मे भी आत्मा है, तो उनका भक्षण भी जीव-हत्या है, फिर मास खाने तथा वनस्पति खाने मे क्या अन्तर रह जाता है? उन्होने उस समय बडा मार्मिक उत्तर दिया था। वे कहने लगे कि वृक्ष मे 'जीवन' (Life) तो है, 'आत्मा' (Soul) नही है। जीवन के लक्षण है—वृद्धि-ह्रास, विकास, बढना-घटना आदि। वृक्ष मे क्योकि विश्वात्मा का चैतन्य-स्वरूप मौजूद है इसलिए उसकी प्रेरणा-शक्ति से उसमे गुरुत्वाकर्षण के विपरीत नीचे को जाने के स्थान मे बीज का ऊपर की तरफ बढना, उगना, फलना-फूलना पाया जाता है, ठीक ऐसे जैसे जड-जगत् मे व्याप्त विश्वात्मा की चैतन्यता के कारण उसमे भी गति तथा विकास एव ह्रास पाया जाता है, परन्तु जड चट्टान तथा वृक्ष मे वह आत्मा नही है जो कर्मो को करता तथा फलों को भोगता है। 'आत्मा' एक व्यक्तिगत-अस्तित्व (Individual existence) है, 'जीवन' एक विश्वगत-अस्तित्व (Cosmic existence) है। व्यक्तिगत-अस्तित्व ही कर्म, कर्म के बन्धन, फल-भोग आदि की उलझन मे पडी रहती है, विश्वगत-अस्तित्व नही। मनुष्य के शरीर मे व्यक्तिगत-अस्तित्व आत्मा का है, वह कर्म

करता है, फल भोगता है, इसके साथ उसमे विश्वात्मा का भी चैतन्य-स्वरूप अस्तित्व है जो नदी, पहाड, समुद्र, वन, वृक्ष, वनस्पति सबमे है। सक्षेपत, जड-जगत् तथा वनस्पति-जगत् मे परमात्मा की सत्ता के कारण वहाँ जीवन दिखलाई देता है, उनमे कर्म करने वाला एव फल भोगने वाला आत्मा नही है; प्राणी-जगत् मे परमात्मा की सत्ता के अलावा आत्मा की भी वैयक्तिक-सत्ता है जो कर्म करता है और फल भोगता है। कर्म करने तथा कर्मानुकूल फल भोगने वाले प्राणी को शरीर से जुदा करके उसके विकास मे बाधा डालना हिंसा कहा जा सकता है, परन्तु जहाँ केवल विश्वात्मा का चैतन्य-स्वरूप प्रकाशित हो रहा है, उस चैतन्यता के कारण भ्रमवश ऐसा लगता है कि यहाँ भी जन्म-जन्मान्तरो मे विचरने वाला आत्मा है, वहाँ वनस्पति तथा वृक्ष आदि मे—वनस्पति के उपभोग को हिंसा नही कहा जा सकता। इस दृष्टि से जड तथा वनस्पति आदि मे एक चेतन है—परमात्मा, प्राणी मे दो चेतन हैं—आत्मा तथा परमात्मा। आत्मा कर्म की गठरी बाँधे प्राणी-शरीर मे कैद पडा है, परमात्मा जड, वनस्पति, प्राणी सबमे चेतनता के रूप मे विराजमान है, परन्तु किसी शरीर मे बन्धन मे डालने वाले किसी कर्म को नहीं करता।

अगर 'जीवन' (Life) तथा 'आत्मा' (Soul) मे भेद न माना जाय, तो मानना पडेगा कि जहाँ-जहाँ जीवन है वहाँ-वहाँ आत्मा है। अगर यह बात ठीक है, तो 'शुक्राणुओ'—'स्पर्मेटोज़ोआ' (Spermatozoa)—मे जो वीर्य के अत्यन्त गतिशील पदार्थ हैं आत्मा मानना पडेगा। विज्ञान के अनुसार 'एक बार के वीर्य-स्राव मे लाखो शुक्राणु होते हैं। क्या इन लाखो शुक्राणुओ मे से एक-एक शुक्राणु मे एक-एक आत्मा है? फिर, मनुष्य का एकबार ही नही अनेक बार वीर्य-स्राव होता है। क्या हर बार के शुक्र-पात मे लाखो आत्मा निकलते हैं? फिर मनुष्य भी तो एक नही, करोडो, अरबो हैं। मनुष्य ही क्या, जीव-जन्तु भी अनन्त हैं—सब प्राणियो के वीर्य-स्राव मे—और उनमे भी हर प्राणी के वीर्य-स्राव मे लाखो शुक्राणु रहते हैं। क्या इन सब शुक्राणुओ मे आत्मा रहती है? अगर ऐसी बात है, तो आत्मा को मानने वाले, पुनर्जन्म को मानने वाले यह क्यो कहते हैं कि गर्भ ठहर जाने के सातवें मास गर्भ मे आत्मा प्रवेश करता है? उदाहरणार्थ, गर्भोपनिषद् मे लिखा है "ऋतुकाले सप्रयोगादेकरात्रोषित कलिलं भवति, सप्तरात्रोषित बुद्बुद भवति, अर्धमासाभ्यन्तरेण पिंडो भवति, मासाभ्यन्तरेण कठिनो भवति, मासद्वयेन शिर सम्पद्यते, मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति, अथ चतुर्थेमासेऽङ्गुल्यजठरकटिप्रदेशो भवति। पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति, षष्ठेमासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति, **सप्तमेमासे जीवेन सयुक्तो भवति।** अष्टमेमासे सर्वसंपूर्णो भवति..." "अथ नवमेमासि सर्वलक्षण सपूर्णो भवति, पूर्वजाती स्मरति.. शुभाशुभ च कर्म विन्दति।"—गर्भोपनिषद् के इस

सन्दर्भ का यही अर्थ है कि इस उपनिषद् के लिखने वाले के विचार मे गर्भ बढता तो रहता है, परन्तु उसमे जीवात्मा का प्रवेश सातवे महीने मे होता है।

आत्मा गर्भ मे सातवें मास मे प्रवेश करता है—इसका यही अर्थ हो सकता है कि उससे पहले गर्भ मे 'जीवन' (Life) तो होता है, 'आत्मा' (Soul) नही होता। अगर माना जाय कि सातवें मास नही, 'शुक्राणु' (Sperm) तथा 'अडाणु' (Ovum) के मिलते ही आत्मा गर्भ मे प्रविष्ट हो जाता है, तब भी मानना पडेगा कि 'शुक्राणु' के 'अडाणु' मे प्रवेश करने से पहले 'शुक्राणु' मे जीवन तो था, आत्मा नही थी। इस दृष्टि से यह मानना पडेगा कि जहाँ-जहाँ आत्मा है वहाँ-वहाँ जीवन तो है, परन्तु यह जरूरी नही कि जहाँ-जहाँ जीवन दिखलाई दे वहाँ-वहाँ आत्मा अवश्य है। वह कौन-सी सीमा है जहाँ जीवनधारी-जगत् मे कर्म-फल भोगने वाला आत्मा सन्निविष्ट हो जाता है, जहाँ सिर्फ जीवन है, आत्मा नही है—यह बात अज्ञात के गर्भ मे है।

'जीवन' (Life) सर्वत्र है, विश्व-व्यापी है, कर्म-फल को भोगने वाला 'आत्मा' (Soul) सर्वत्र नही व्याप रहा। अगर यह बात ठीक है तो यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। जहाँ-जहाँ जीवन है वहाँ-वहाँ मस्तिष्क होता है, हृदय होता है—इसलिए वही जीवन मानना उचित है जहाँ मस्तिष्क है, हृदय है, जहाँ मस्तिष्क नही, तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous system) नही, वहाँ जीवन के अस्तित्व को कैसे माना जा सकता है? परन्तु यह शंका ठीक नही है। इस शका का तो यह अभिप्राय हुआ कि वही प्राणी हज्म कर सकता है जिसमे पेट हो क्योकि मनुष्य मे हाजमे के लिये पेट है। अमीबा हज्म कर सकता है परन्तु उसमे पेट नही है। अस्ल बात यह है कि प्राणी जितना पूर्ण विकसित होता जाता है उतना ही उसमे भिन्न-भिन्न अंगो का भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये विकास होता जाता है। ऐसा जीवन है जिसमे मस्तिष्क नही, तन्त्रिका-तन्त्र नही, हृदय नही, परन्तु वृद्धि है, ह्रास है, विकास है। जितना ही हम ऊपर से नीचे की तरफ उतरते हैं उतना ही हम जीवन को, चेतना को, मस्तिष्क, तन्त्रिका-तन्त्र तथा हृदय से पृथक्, उससे जुदा पाते है, जितना हम प्राणी के विकास की सीढी मे नीचे से-ऊपर को आते है उतना ही जीवन के प्रकाश के लिये अलग-अलग अंगो का निर्माण देखते हैं। ऐसा जीवन है जिसमे मस्तिष्क नही, तन्त्रिका-तन्त्र नही, हृदय नही, भिन्न-भिन्न अग भी नही, वे पेट से हज्म न कर सारे शरीर से हज्म करते है, आँख से न देख कर त्वचा से देखते हैं। इसलिए यह मानना पडता है कि 'जीवन' तथा 'चैतन्य' की अलग सत्ता है कर्म-फल भोगने वाले आत्मा की अलग सत्ता है; जीवन तथा चैतन्य सर्वव्यापक है, आत्मा वही है जहाँ कर्म-फल भोग है। यह सम्भव है कि जहाँ जीवन दिखलाई देता हो वहाँ आत्मा न हो, यह सम्भव नही है कि जहाँ आत्मा हो वहाँ जीवन

न हो—'जीवन' (Life) तथा 'आत्मा' (Soul) इन दोनो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है।

(ग) **प्राणी-जगत् मे सर्जनात्मक चेतन-शक्ति**—यही चेतन-शक्ति प्राणि-जगत् मे उद्बुद्ध हो रही है। परन्तु प्राणि-जगत् की सर्जनात्मक चेतन-शक्ति तथा जड एव वृक्षादि मे वर्तमान चेतन-शक्ति मे भेद है। वह भेद क्या है? वह भेद वही है जिसका हमने अभी ऊपर निर्देश किया है। प्राणी मे वैयक्तिक-चेतना तथा विश्व-चेतना दोनो मौजूद हैं। इनमे वैयक्तिक-चेतना 'आत्मा' कहलाती है, विश्व-चेतना 'परमात्मा' कहलाती है। 'आत्मा' कर्म करता है, कर्म के बन्धनो मे पड जाता है, फल भोगता है, 'परमात्मा' जड-चेतन सबमे मौजूद रहता है, परन्तु वह बन्धनजनक कर्म नही करता, इसीलिए फल भी नही भोगता। यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि प्राणी के शरीर मे चेतना तथा आत्मा दोनो हैं, जड-जगत् तथा वृक्ष-वनस्पति मे सिर्फ चेतना है, आत्मा नही है। आत्मा वह है जो कर्म करता, फल भोगता है, चेतना वह है जो न कर्म करती, न फल भोगती है—वह केवल मात्र चेतना-शक्ति है जिसके कारण विश्व मे गति तथा विकास हो रहा है। वह चैतन्य-शक्ति ही 'ईश्वर' है क्योकि विकास बिना चैतन्य-शक्ति के नही हो सकता।

जीव विज्ञान (Biology) के मत मे प्राणी-जगत् की रचना की प्रथम इकाई वह जन्तु है जिसे 'अमीबा (Amoeba) कहते है। भौतिकवादियो का कथन है कि 'अमीबा' जीवन की वह इकाई है, वह कोशिका (Cell) है, जहाँ 'जड' विकसित होता हुआ अचानक 'चेतन' बन जाता है। 'अमीबा' सृष्टि के प्रथम सूक्ष्म-प्राणी का देह है जिसके भीतर चेतन-तत्त्व रहता है। इस चेतन-तत्त्व को —'जीव-द्रव्य'—'प्रोटोप्लाज़्म' (Protoplasm) कहते है। प्रोटोप्लाज्म-गर्भित अमीबा सृष्टि का प्रथम प्राणी है जिससे विकसित होते-होते लाखो, करोडो वर्षों मे परिस्थितियो से सम्पर्क स्थापित करते-करते मानव का विकास हुआ है। परन्तु क्या—यह कह देने मात्र से कि जड से चेतन का विकास हो गया—इस समस्या का हल हो जाता है? जड से चेतन न हुआ है, न हो सकता है, दोनो की पृथक्-पृथक् सत्ता है, जड मे गति का प्रवेश चेतन ही कर सकता है, जड मे अपने-आप गति नही हो सकती, उसका अपने-आप विकास नही हो सकता। 'अमीबा' की वही स्थिति है जो वनस्पति-वृक्ष आदि की है। वनस्पति-वृक्ष आदि मे भी जीवन (Life) तो है, आत्मा (Soul) नही है, इसी प्रकार अमीबा मे 'जीवन-तत्त्व' है, 'आत्म-तत्त्व' नही है; आत्मा वह सत्ता है जो कर्म तथा कर्म-फल को साथ लेकर जीवन-तत्त्व मे आ बैठती है। जब जीवन-तत्त्व विकसित होता-होता इतना विकसित हो जाता है कि आत्मा के लिए उपकरण बन सके, तब आत्मा अपने सूक्ष्म-शरीर के साथ, कर्मों के बीज-रूप सस्कारो को लेकर

उसमे प्रवेश करता है। निस्सन्देह यह चौंका देने वाली स्थापना है, परन्तु इस स्थापना को स्वीकार कर लेने से अनेक उलझनें सुलझ जाती हैं।

जैसे जड-जगत् के विकास मे तथा वनस्पति एवं पशु-जगत् के विकास मे चेतन-शक्ति काम कर रही है, वैसे ही प्राणी-जगत् के विकास मे भी चेतन-शक्ति काम करती है। प्राणी-जगत् मे इस विकास को गति देने वाली वही चेतन-शक्ति ईश्वर है। विकास की इस प्रक्रिया मे एक स्थिति ऐसी आती है जहाँ चेतन-शक्ति के साथ जीव भी कर्म तथा कर्म-फल के कारण देह मे प्रवेश कर जाता है। क्योंकि सार्वभौम-चेतन-शक्ति कर्म तथा कर्म-फल के वश मे नही है, स्वतन्त्र है, सिर्फ विकास की प्रक्रिया को गति देती है, इसलिए जड मे, वनस्पति मे, वृक्ष मे, पशु मे, मनुष्य मे, इन देहो को अनुप्राणित करते हुए भी उस पर किसी प्रकार का विकार आरोपित नही होता। अगर वह 'चैतन्य-शक्ति' न होकर 'महान्-पुरुष' होती, योगदर्शन प्रतिपादित 'पुरुष-विशेष' नही, मत-मतान्तरो मे जैसा पुरुष उसे कहा गया है वैसी होती, तो अवश्य आक्षेप का अवसर होता।

3. सृष्टि में क्रम तथा नियमबद्धता
(Order in the Universe)

हम पहले देख आए हैं कि सृष्टि मे सर्जन हो रहा है, विकास हो रहा है, गति हो रही है, वस्तु जैसी आज है कल वैसी नही रहती, परिवर्तन लगातार, हर समय होता रहता है। यह परिवर्तन, यह सर्जन, यह विकास, जड प्रकृति का गुण नही हो सकता, कही बाहर से आता है। जड प्रकृति मे, वनस्पति तथा वृक्ष मे, प्राणी-जगत् मे—सब जगह परिवर्तन हो रहा है, हर वस्तु कार्य है, बनी है—इस सर्जन को, विकास को, परिवर्तन को लाने वाली कोई चेतन-सत्ता होनी चाहिए, उसी चेतन-शक्ति को ईश्वर कहते है। इसके अलावा हम यह भी देखते हैं कि प्रकृति मे विकास और गति ही नही हो रही, इस विकास मे, गति मे, क्रम तथा नियमबद्धता है—ये सब किन्ही नियमो मे बँधे हुए हैं। जहाँ नियम हो वहाँ नियामक होना ही चाहिए, बिना नियामक के नियम नही हो सकता। जड़ मे, वनस्पति तथा वृक्ष मे, एव प्राणी-जगत् मे सर्वत्र नियम काम कर रहे हैं, इसीलिए उस चेतन-शक्ति को नियन्ता भी कहा जाता है। ससार को नियमो मे बाँधने वाले कुछ दृष्टान्त निम्न हैं :

(क) जड़-जगत् में क्रम तथा नियम-बद्धता—पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह इस प्रकार अपनी परिधि पर घूम रहे है कि आज से हज़ार साल पहले उनकी क्या स्थिति थी, हजार साल बाद क्या स्थिति होगी—इस बात को निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। सूर्य-ग्रहण तथा चन्द्र-ग्रहण किस दिन होगा, किस घड़ी होगा—इस बात की भविष्यत्-वाणी की जा सकती है। ऐसा क्यो

किया जा सकता है ? ऐसा इसलिए किया जा सकता है क्योंकि जगत् की रचना नियमवद्ध है। इन नियमो का पता लगाना ही ज्योतिष्-शास्त्र है। असल मे, भिन्न-भिन्न शास्त्रो का काम ही उन नियमो का पता लगाना है जिनके अनुसार सृष्टि का सचालन हो रहा है। ज्योतिष्-शास्त्र की तरह भू-विज्ञान का काम भी नदी, पर्वत की रचना के नियमो को ढूंढ निकालना है। नदी जिस स्रोत से निकली, वहाँ से वहती हुई जिन-जिन स्थानो मे से रास्ता वनाती हुई गई उसका कारण है। पानी उधर वहता है जिधर ढलाव हो, ऊँचाई की तरफ नही चढ जाता। यह नियम ही तो है जिसके आधार पर नदी का मार्ग वन जाता है। पर्वत कैसे वन गए ? शुरू-शुरू मे तो वे थे ही नही। पृथ्वी गर्म थी, वह धीरे-धीरे ठण्डी होती गई, ठण्डी होते-होते नियमानुसार उसकी सतह सिकुडी जिससे कही पहाड, कही खाई, कही समुद्र, कही टापू वन गए—इन सव घटनाओ के नियमो का पता लगाने से ही भू-विज्ञान वन गया। समुद्र मे ज्वार-भाटा आता है, इसके विषय मे भविष्य-वाणी की जा सकती है। कव समुद्र का पानी चढेगा, कव उतरेगा, इसी विद्या के सहारे समुद्र मे नाव, जहाज चलते है। क्या ये नियम, यह-सव व्यवस्था अपने-आप हो गई। जहाँ व्यवस्था होती है वहाँ व्यवस्था को करने वाला भी होता है, उसी व्यवस्थापिका चेतन-शक्ति का नाम 'ईश्वर' है।

(ख) **वनस्पति तथा वृक्ष जगत् में क्रम तथा नियम-वद्धता**—वनस्पतियो तथा वृक्षो की वृद्धि के भी नियम हैं। वीज वोते हैं, अकुर फूटता है, तना वनता है, वडा होता है, फूल खिलते हैं, फल निकलता है, पकता है, फिर उसमे से वीज उसी चक्कर मे चल देता है। कही यह नियम नही टूटता, ऐसा नही होता कि पहले फल निकले, फिर फूल वने, फिर अंकुर दिखलाई दे। गेंदे के वीज मे गुलाव नही निकलता, गुलाव के वीज से गेंदे का पौधा नही उगता। वनस्पति-शास्त्र अपने नियमो से वँधा हुआ है। वडे-वडे वृक्षो को आरे से चीर दें, तो उनके सम-धरातल स्तरो मे गोल-गोल चक्र वने दीखते हैं। एक-एक चक्र वृक्ष की आयु का सूचक है। इन चक्रो को गिनकर उसकी आयु का पता लगाया जा सकता है। इतना ही नही, इन चक्रो के अन्तर को देख कर यह पता लगाया जा सकता है कि इस वर्ष कितनी वर्षा हुई थी, एक चक्र मे दूसरे चक्र से फासला अधिक हो तो अधिक वर्षा, कम हो तो सूखा पडा था। यह-सव जान सकना क्या सिद्ध करता है ? यह-सव यह सिद्ध करता है कि वृक्ष तथा वनस्पति जगत् मे अव्यवस्था नही है। उसी व्यवस्थापिका चेतन-शक्ति का नाम 'ईश्वर' है। वैज्ञानिक उसे नेचर (Nature) कह देते है, कोई उसे कुदरत कह देते हैं, नेचर या कुदरत कह देने मे कोई फर्क नही पडता, असल वात यह है कि कोई चेतन-शक्ति है जो ससार मे क्रम, नियम तथा व्यवस्था को कायम रखे हुए है।

(ग) **प्राणी-जगत् में क्रम तथा नियम-बद्धता**—जैसे जड-जगत् नियमों के आधार पर चल रहा है वैसे ही प्राणी-जगत् के भी अपने नियम हैं। रज-वीर्य के संयोग से प्राणी उत्पन्न होता है, बिना इनके सयोग के नही होता। वीर्य मे 24 'वाहकाणु'—'जीन'—(Genes) होते है जिनमे से एक-एक—जीन—वाहकाणु—मे प्राणी की ऊँचाई, लम्बाई, गोरापन, कालापन, नीली आँख, भूरी आँख आदि भिन्न-भिन्न गुण सिमटे रहते है। इन्ही वाहकाणुओ के कारण प्राणी के शरीर का निर्धारण होता है। जिस प्राणी के वीर्य के वाहकाणुओ मे जिस प्रकार के वाहकाणु होगे वह वैसा ही बनेगा। इसी विद्या के आधार पर आनुवंशिकता (Heredity) के नियम बनते है। इसी विद्या की खोज मे ससार के वैज्ञानिक दिन-रात लगे हुए है ताकि ऐसे उपाय ढूँढ निकाले जिनसे प्राणी के दोषपूर्ण 'वाहकाणु' — जीन—(Gene) हटा कर उसमे उच्च-गुणो के वाहकाणु निविष्ट कर दिए जाएँ। इस बात की सभावना के स्वप्न लिए जा रहे है जिससे वाहकाणुओ के परिवर्तन द्वारा नवीन-मानव का निर्माण हो सके। भारतोत्पन्न प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री खुराना अमरीका मे इसी खोज मे लगे हुए है। क्या ये स्वप्न लिए जा सकते थे अगर प्राणी-जगत् मे नियम-बद्धता न होती? बच्चा पैदा होता है, धीरे-धीरे बढ कर युवा हो जाता है, फिर वृद्ध हो जाता है, पहले वृद्ध हो, फिर युवा हो, फिर बच्चा हो जाए—ऐसा नही होता। मनुष्य के रज-वीर्य से मनुष्य ही पैदा होता है, गाय-घोडा-बकरी नही हो जाता, गाय-घोडा-बकरी के वीर्य से गाय-घोडा-बकरी ही पैदा होते है, मनुष्य नही पैदा हो जाता। प्राणी-जगत् के ये नियम, यह व्यवस्था अपने-आप हो रही है, इस व्यवस्था को करने वाली कोई चेतना-सत्ता नही है—इस बात को मान लेना क्लिष्ट कल्पना है।

4 सृष्टि में प्रयोजन या उद्देश्य

(Teleology or Purpose in the Universe)

(क) **जड़-जगत् में प्रयोजन या उद्देश्य**—सृष्टि मे हर वस्तु का प्रयोजन है, किसी उद्देश्य से उसका निर्माण हुआ है। प्रयोजन का होना सिद्ध करता है कि उसके निर्माण के पीछे कोई चेतन-शक्ति है, जो उस वस्तु का निर्माण करती है। सूर्य अपनी किरणो से समुद्र से पानी को खीचता है। समुद्र के पानी मे नमक भी तो घुला हुआ है, परन्तु नही, सूर्य की किरणें उसमे से शुद्ध पानी को नितार लेती है। उस पानी से बादल बनते हैं, पानी बरसता है, इतना बरसता है कि बरसात नाम की एक मौसम बन जाती है। धरातल के समुद्र के बराबर ही आकाश का समुद्र बादलो के रूप मे उमड आता है। आसमान से पानी न बरसे तो खेती न हो, त्राहि-त्राहि मच जाए, खाने को न मिले। दिन होता है, रात

होती है, दिन-ही-दिन रहे, तो मुसीवत, रात-ही-रात रहे तो मुसीवत, दिन को काम किया जा सकता है, रात को विश्राम किया जा सकता है। ससार मे सूखा न पड जाए इसलिए सूर्य समुद्र मे से पानी खीच लेता है, परन्तु पानी खीचते-खीचते समुद्र ही न सूख जाए, इसलिए उसी पानी से ससार का काम हो जाने पर वही पानी नदियो के रूप मे फिर समुद्र मे जा पडता है। ऐसा चक्र चला हुआ है कि वह चक्र न चले तो समुद्र खाली हो जाए। पानी वरसता है, खेती होती है, एक ऋतु के वाद दूसरी ऋतु आती है, सव घटनाएँ एक-दूसरे के साथ निश्चित प्रयोजन से वँधी हुई है। क्या इतना भारी प्रयोजन, इतना भारी प्लैनिंग विना प्लैनर के हो सकता है, अपने-आप हो सकता है, विना चेतन-शक्ति के ही हो सकता है ?

(ख) वनस्पति तथा वृक्ष-जगत् मे प्रयोजन या उद्देश्य—प्राणी साँस से जीता है, परन्तु प्राण-वायु मे जो ऑक्सीजन है वही उसके जीवन को धारण करती है। सृष्टि की रचना इस प्रकार हुई है कि वृक्ष कार्वन से जीता है, प्राणी ऑक्सीजन से जीता है। प्राणी के जीवन के लिए वृक्ष ऑक्सीजन को वाहर फेंकता है, कार्वन को अपने भीतर ग्रहण करता है, इससे प्राणी तथा वृक्ष-वनस्पति का जीवन वना रहता है। दीखने को कैसी उल्टी वात है, परन्तु इस उल्टेपन का प्रयोजन है। वन मे अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ हैं जिनका उद्देश्य रोगो को दूर करना है—इसी से चिकित्सा-शास्त्र का जन्म हुआ है। वैज्ञानिक का काम वृक्ष तथा वनस्पतियो के उन नियमो का पता लगाना है जिनसे रोगो को दूर किया जा सके। पृथ्वी मे घास कितनी भरी पडी है, इतनी घास न हो तो शाकाहारी प्राणियो के भोजन की समस्या वनी रहे।

(ग) प्राणी-जगत् में प्रयोजन या उद्देश्य—प्राणी के अंगो की रचना का जितना अध्ययन किया जाए उतना ही उनकी रचना का प्रयोजन समझ मे आने लगता है। अगर जहाँ हाथ हैं वहाँ पाँव होते, जहाँ पाँव हैं वहाँ हाथ होते, तो क्या अजीव समस्याएँ उत्पन्न हो जाती। आँखें सामने हैं, अगर पीठ की तरफ होती तो प्राणी शत्रु का शिकार वना रहता। जो अग जहाँ जडा हुआ है वही फिट वैठता है क्योकि वही होने से उसका प्रयोजन सिद्ध होता है। मशीन मे जैसे एक-एक पुर्ज़े का प्रयोजन है, पुर्ज़ा जहाँ लगा होता है वही उसका प्रयोजन सिद्ध होता है, वह पुर्ज़ा न हो तो भीमकाय मशीन खड़ी-की-खडी रह जाती है, वैसे ही प्राणी के शरीर मे एक-एक अग का अपना-अपना काम है। मुंह कितना चिकना-चुपडा है, परन्तु होठो पर मूँछें तथा ठोडी पर दाढी आ जाती है। मूँछो का काम सांस लेते हुए वायु मे दूषित धूल-गर्द को छान देना है, सर्द हवा को फॅफडो मे जाने से पहले गर्म कर देना है ताकि जुकाम न हो सके, दाढी का काम छाती तक वढ कर छाती को ठण्ड लगने से वचाना है ताकि न्युमोनिया न

हो सके। बच्चे मे जीवनी-शक्ति ज्यादा होती है, इसलिए उसे इनकी जरूरत नही होती, वयस्क तथा वृद्ध को इनकी जरूरत होती है। जो आवश्यक अंग है, वे दो-दो दे दिए है ताकि एक निकम्मा हो जाए तो दूसरे से काम चलता रहे। कई लोग हैं जो दो मे से एक के रुग्ण हो जाने पर एक ही फेफडे पर जीते हैं, एक ही गुर्दे, एक ही आँख से जीवन-निर्वाह करते है। अगर प्राणी के अगो के प्लैनर ने ये अग दो-दो की जगह एक-एक ही दिए होते, तो ऐसे व्यक्तियो का जीवन असम्भव हो जाता। प्राणी की माँसपेशियो की सवलता के द्वारा वे भारी-से-भारी काम को करते है। इन माँसपेशियो मे वल-संचार 'केशिकाओं' (Capillaries) द्वारा होता है जो प्रतिक्षण हर माँसपेशी तक रुधिर पहुँचाती रहती है। मनुष्य के शरीर मे इनकी लम्बाई 95,000 किलोमीटर (59,375 मील) है। शरीर के माँस-पिंड मे एक पौड रुधिर पहुँचाने के लिए एक मील लम्बी केशिका की जरूरत पडती है। मनुष्य के इस छोटे-से शरीर के भीतर इतना विशाल आयोजन क्या अपने-आप हो गया है? और, आश्चर्य यह है कि यह सब-कुछ और बहुत-कुछ, क्षुद्रवीक्षण-यन्त्र से ही दीखने वाले एक शुक्राणु मे सिमिटा पड़ा है। स्वय 'हृदय' क्या किसी चमत्कार से कम है? यह एक तरह का पम्प है जो रात-दिन अपने-आप 70-80 वर्ष तक विना रुके चलता रहता है। क्या मनुष्य की प्रतिभा इसकी एक अणु भर तुलना का भी कोई पम्प वना सकी है? मुट्ठीभर का यह पम्प एक मिनट मे पाँच लिटर रुधिर को पम्प करता रहता है, आवश्यकता पडने पर एक मिनट मे पच्चीस लिटर तक पम्प कर सकता है। दिन-रात चलता हुआ यह सत्तर वर्ष तक 2,800,000,000 वार गति करता है जिसमे यह 400,000,000 लिटर रुधिर को पम्प करता है। इतना अद्भुत् यन्त्र जो बिना चलाए सौ साल तक भी चलता रहे अदृश्य 'शुक्राणु' मे मौजूद हो—यह बिना किसी नियन्ता के कैसे सम्भव है? हृदय स्वय सृष्टि के नियन्ता का पेसमेकर (Pacemaker) है।

जिस प्रकरण मे हम 'हृदय' की चर्चा कर रहे है उसमे तो यह वात नही सगत बैठती, परन्तु फिर भी इस बात का वर्णन कर देने का हम प्रलोभन संवरण नही कर सकते कि 'हृदय'-शब्द के निर्माण मे प्राचीन ऋषियों का शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) का गहरा ज्ञान निहित है। निरुक्त मे 'हृदय' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है: **'हृदयम् कस्मात्—हरति, ददाति, याति इति'**—हृदय को हृदय इसलिए कहते है क्योकि यह रुधिर का हरण करता है, दान करता है, यान करता है। हृ, द, य इन तीन अक्षरो को इसलिए चुना गया है क्योकि हृदय रुधिर को लेता है, देता है, सारे शरीर मे चलाता है। शरीर क्रिया-विज्ञान का भी यही कहना है कि हृदय शरीर के अशुद्ध रुधिर को लेकर, फिर उस अशुद्ध रुधिर को, ऑक्सीजन द्वारा शुद्ध करने के लिए फेफड़ो को देकर शरीर

मे गति करने के लिए दे देता है। इस दृष्टि से 'हृदय'-शब्द के अर्थ मे रुधिर की गति (Circulation of blood) का भाव आ जाता है। हृदय द्वारा रुधिर गति करता है—यह पता युरोप मे हार्वे (1578-1657) ने 17वी शताब्दी मे लगाया था, परन्तु उससे सदियो पहले निरुक्तकार यास्क को इस बात का ज्ञान था क्योकि उन्होंने 'हृदय'-शब्द का अर्थ ही रुधिर को गति देने वाला (Circulation of blood) अग दिया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (पचम अध्याय, तृतीय ब्राह्मण) मे भी 'हृदय'—शब्द की यही व्याख्या की गई है। वहाँ लिखा है—"तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति, 'हृ' इत्येकमक्षरम् अभिहरन्ति अस्मै···'द' 'इत्येकमक्षरं ददाति अस्मै ···'यम्' इत्येकमक्षरं एति"।

इतना ही नही कि प्राणी के शरीर के एक-एक अग का प्लैनिंग है, परन्तु प्राणी के शरीर की रचना भी ऐसी की गई है कि अपनी टूट-फूट की मरम्मत भी यह स्वयं कर लेती है। ऐसी मशीन दुनिया मे कोई नही बनी जिसकी अपने-आप मरम्मत होती रहती है। सात साल मे शरीर के सब परमाणु बदल जाते हैं, नया शरीर हो जाता है। इस शरीर की ऐसी विलक्षण रचना की गई है कि अगर हम ही हस्तक्षेप न करते रहे, तो इसकी जो टूट-फूट होती रहती है उसका भीतर से ही अपने-आप इलाज भी होता रहता है। चिकित्सक का काम इस मशीन के भीतर से चल रही मरम्मत को सिर्फ सहारा देना होता है, या रोगी को स्वास्थ्य के नियम समझा कर अपने-आप चल रही मरम्मत मे हस्तक्षेप न करने के लिए तैयार करना होता है।

5 सृष्टि की विविधता में एक-सूत्रता
(Unity in Diversity)

(क) **जड़-जगत् मे एक-सूत्रता**—सृष्टि मे इतनी विविधता है कि उसे देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि सब वस्तुएँ अलग-अलग पडी है, परन्तु अन्दर प्रविष्ट होकर दीखने लगता है कि यह विविधता एक सूत्र मे पिरोई हुई है। प्रत्येक वस्तु का दूसरी से ताल-मेल है। जैसे मकान की एक-एक ईंट का दूसरी ईंट से सम्बन्ध जुडा हुआ होता है, वैसे सूर्य का चन्द्र से, चन्द्र का पृथ्वी से, पृथिवी का वनस्पति तथा वृक्षो से, वनस्पतियो का जीव-जन्तुओ से, जीव-जन्तुओ का मनुष्यो से, सूर्य-चन्द्र से लेकर सृष्टि के कीट-पतग तक सब एक ही माला के मनके हैं। जो नियम बडी-से-बडी वस्तु मे काम कर रहे है वे ही छोटी-से-छोटी मे काम कर रहे हैं। सौर-मण्डल मे जो प्रक्रिया चल रही है वह अणु-परमाणु मे चल रही है। वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि परमाणु एक छोटा-सा सौर-मण्डल है। यह एक-सूत्रता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस विशाल-विश्व की रचना मे एक ही शक्ति का हाथ है। ये नियम किसी अन्ध-शक्ति के

नही, चेतन-शक्ति के हैं क्योंकि इनमे बुद्धि काम कर रही है, प्रयोजन काम कर रहा है। नेचर, कुदरत, प्रकृति आदि शब्दो का प्रयोग करते हुए नेचर को, कुदरत को, प्रकृति को चेतन मान लिया जाय, बुद्धिपूर्वक काम करने वाला मान लिया जाय, तो आस्तिकवाद या नास्तिकवाद का विवाद वाग्-विलास मात्र रह जाता है क्योकि ईश्वर से अभिप्राय किसी व्यक्ति-विशेष से नही, शक्ति-विशेप से है, फिर उसका नाम भले ही कुछ रख लिया जाय।

(ख) **वनस्पति तथा वृक्ष जगत् में एक-सूत्रता**—वैज्ञानिक एक शब्द का प्रयोग करते है—'एम्पैथी' (Empathy)—जिसका अर्थ है 'सदनुभूति'—ऐसी अनुभूति जो सूर्य से लेकर वृक्ष-वनस्पति तथा मनुष्य तक सब मे एक-समान मौजूद है। अमरीका मे वृक्षो पर गवेषणा करने का एक केन्द्र है जिसका नाम है—'दि रिंग रिसर्च सेंटर'। इसके संचालक हैं प्रो० डगलस। उनका कहना है कि वृक्ष के तने को अगर आरी से काटे तो तने पर कुछ गोलाकार चिह्न दिखलाई देते है। हमारे फर्नीचर मे जो रिंग दिखलाई देते हैं वे तने के यही वर्तुल है। इन वर्तुलो को देखकर वृक्ष की आयु का पता लगाया जाता है। हर ग्यारहवें वर्ष यह रिंग पहले वर्षों के वर्तुलो से बडा होता है। क्यो बडा होता है? हर ग्यारहवे वर्प सूर्य की रेडियो-एक्टिविटि तीव्र हो जाती है जिससे वृक्ष का वर्तुल बडा बन जाता है। यह बात किसी एक ही जगल मे नही, सृष्टि-भर के सभी जगलो मे अपनी जाति के वृक्षो पर यही प्रभाव पडता है। सृष्टि के सब वृक्ष अलग-अलग हैं, परन्तु प्रत्येक वृक्ष का अपनी जाति के दूसरे वृक्ष से, भले ही वह हजारो मील दूर हो, तारतम्य, एक-सूत्रता बनी हुई है। अपनी जाति के वृक्ष के साथ ही नही, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी के साथ भी वह एक-सूत्र मे बँधा हुआ है, तभी तो सूर्य की रेडियो-एक्टिव लहरो से अपनी जाति के हर वृक्ष मे ये वर्तुल पड जाते है। क्या यह एक-सूत्रता इस बात का प्रमाण नही है कि सृष्टि की एक-एक वस्तु को किसी चेतन कारीगर ने अपने हाथ से—हाथ का अभिप्राय यहाँ भौतिक हाथ नही है—माला मे मनको की तरह पिरो दिया है।

(ग) **प्राणी-जगत् में एक-सूत्रता**—उपनिपदो में पिंड तथा ब्रह्माण्ड की एक-सूत्रता का जगह-जगह उल्लेख मिलता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'**यत्पिंडे तत् ब्रह्माण्डे**'—जो पिंड मे है वही ब्रह्माण्ड मे है। सारा-का-सारा विश्व, जड-जगत् का एक-एक अणु, वनस्पति-जगत् का एक-एक पत्ता, प्राणी-जगत् का एक-एक रोया—एक-दूसरे से बँधा हुआ है। सूर्य से पृथिवी जन्मी है, पृथिवी से वनस्पति-वृक्ष जन्मे हैं, वनस्पति-वृक्ष से, भोजन मे लिये गए इनके रस से प्राणी जन्मा है—यह एक-सूत्रता शुरू से अन्त तक लगातार बनी हुई है। जिस 'एम्पैथी'—'सदनुभूति'—का हमने ऊपर उल्लेख किया, वह सम्पूर्ण-जगत् मे

व्याप रही है। सूर्य मे ज़रा से परिवर्तन का वनस्पति तथा प्राणी-जगत् पर प्रभाव पडता है। हमारा शरीर हमी तक समाप्त नही हो जाता, वह वृक्ष-वनस्पति, सूर्य, चन्द्र, तारे—सभी से जुडा हुआ है। सूर्य हम से 10 करोड मील दूर है, परन्तु उसकी गर्मी से हमारा जीवन बना हुआ है। चाँद का मन पर प्रभाव पडता है, पूर्णमासी आने पर समुद्र मे तूफान आ जाता है, पागल ज्यादा पागल हो जाता है। ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड की एक-सूत्रता को वैदिक ऋषियो ने इतना समझा था कि चन्द्र का मन से, चक्षु का सूर्य से, प्राण का वायु से उन्होने 'सदनुभूति' का सम्बन्ध जोड दिया था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के नव्वे सूक्त के चौदहवे मन्त्र मे इस बात को स्पष्ट किया गया है। वहाँ उल्लेख है—

चन्द्रमा मनसो जात चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च प्राणात् वायुः अजायत। १३।

उस चेतन-सत्ता की अगर पुरुप-रूप मे कल्पना की जाय, तो उसके मन से चन्द्र, चक्षु से सूर्य, प्राण से वायु की कल्पना की गई है। इतना ही नही, समाज की कल्पना भी उस शक्ति को पुरुप मान कर करते हुए वहाँ उल्लेख है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्य. पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। १२। यजुर्वेद

उस चेतन-सत्ता को अगर पुरुप-रूप मे कल्पित कर लिया जाय, तो उसके मुख से ब्राह्मण, बाहुओ से क्षत्रिय, जाँघो से वैश्य तथा पाँवो से शूद्र—इस प्रकार का समाज उत्पन्न हुआ। यह स्थल वर्ण-विभाग के विवेचन करने का नही है, परन्तु इतना तो स्वय-सिद्ध है कि हर-किसी समाज मे ये चार वर्ग तो होते-ही-होते है, भले ही वह कम्युनिस्ट समाज ही क्यो न हो।

ये वर्णन अक्षरश उक्त-विकास के द्योतक नही है, इनसे सिर्फ ईश्वरीय-सत्ता के साथ जागतिक-सत्ता की एक-सूत्रता प्रतिपादित की गई है। जैसे ईश्वरीय पुरुप की आँख से सूर्य हुआ, वैसे सूर्य से प्राणी-जगत् की आँख उत्पन्न हुई, अन्त्येष्टि-सस्कार के समय कहा जाता है—'सूर्यं ते चक्षुः गच्छतु'—मरने के बाद तेरी आँख सूर्य मे चली जाय क्योकि सूर्य तथा प्राणी की आँख का वैसा ही एक-सूत्री-सम्बन्ध है जैसा एक-सूत्री सम्बन्ध सूर्य का चेतन-स्वरूप कल्पित 'पुरुप-विशेप'—ईश्वर की आँख से है। वेद के ये सारे वर्णन सृष्टि मे एक-सूत्रता को ध्यान मे रख कर कहे गये हैं, अन्य किसी प्रयोजन से नही।

जड, वनस्पति, प्राणी-जगत् मे उक्त एक-सूत्रता को देख कर यही अनुमान हो सकता है कि इस विश्व का सचालन किसी चेतन-शक्ति द्वारा ही हो रहा है, तभी अणु-अणु मे जड-चेतन सभी मे उसके ही निशान दिखलाई पडते है।

6. सृष्टि में विशालता

पृथ्वी की परिधि 25 हज़ार मील है। इस 25 हजार मील की परिधि से 13 लाख गुणा बडी परिधि सूर्य की है। परिमाण मे सूर्य पृथिवी से 60 हज़ार गुणा बडा है। सूर्य की किरण प्रति सैकेण्ड 1 लाख 86 हज़ार मील की रफतार से चलती है। यह किरण इस रफतार से चलती हुई 7 मिनट मे पृथ्वी पर पहुँचती हैं। इसी से अन्दाज लगाया जा सकता है कि सूर्य पृथिवी से कितनी दूर तथा कितना बडा है। आसमान मे रात को टिमटिमाते तारे दीखते है। ब्रह्माण्ड में इन तारो की सख्या इतनी है जितने सभी समुद्र-तटों पर बिखरे रेता के कण हैं। इनमे से एक-एक तारा इतना बडा है जिसमे अगर दस लाख को दस लाख से गुणा किया जाय, तो पृथिवी के परिमाण मे उतने गुणा वडे वे तारे है। इनमे से कुछ तारे हमारे सौर-मण्डल की तरह समूह-रूप से अन्तरिक्ष मे भ्रमण कर रहे हैं, कुछ इकले ही घूम रहे है। घूमते हुए ये महाकाय तारे इस प्रकार भ्रमण कर रहे हैं कि करोडो-करोड वर्ष हो गये कोई तारा किसी दूसरे तारे से टकराता नही। इन भीमकाय तारो मे से प्रत्येक तारा अपने निकटतम दूसरे तारे से कम-से-कम 10 लाख मील की दूरी पर भ्रमण कर रहा है। अन्तरिक्ष मे एक ऐसे 'नेव्युला' का पता चला है जो प्रति सैकेण्ड 15 हजार मील की गति से पृथ्वी से दूर भागा जा रहा है। एक ऐसा 'नेब्युला' है जिसका प्रकाश पृथिवी तक आने मे 1 अरव वर्ष लग जाते है। यह पृथिवी से कितनी दूर होगा इसका अन्दाज़ इसी वात से लग जाता है जब हम इस बात को सोचे कि प्रकाश की गति 1 सेकेण्ड मे 1 लाख 86 हज़ार मील है। अन्तरिक्ष-विद्या के जानने वालो का कहना है कि 10 लाख को अगर 2 हज़ार से गुणा किया जाय, तो इतना समय हो गया जब सृष्टि की रचना मे एक अभूतपूर्व-घटना घटी। वह घटना यह थी कि सृष्टि मे भ्रमण करता हुआ एक भीमकाय, विशाल तारा सूर्य के इतने निकट से गुज़रा कि उसका सूर्य पर वैसा ही प्रभाव पडा जैसा सूर्य तथा चन्द्र का पृथिवी पर प्रभाव पडता है। सूर्य तथा चन्द्र से पृथिवी मे लहरें उठने लगती है, चन्द्र के प्रभाव से समुद्र मे उफान आ जाता है। उस तारे के सूर्य के निकट आने से सूर्य मे लहरें उत्पन्न हो गईं। ये लहरे उस प्रकार की साधारण लहरे नही थी जैसी चाँद के प्रभाव से समुद्र मे उठा करती है। इन लहरो का प्रभाव सूर्य की सतह पर ऐसा हुआ कि एक विशालकाय पर्वत की ऊँचाई जैसा सूर्य-खण्ड उठ खडा हुआ जो जितना वह तारा सूर्य के निकट आता गया उतना ही वह सूर्य-खण्ड भयकर रूप से विशाल होता गया। उस तारे के सूर्य से परे हटने से पहले ही उसका सूर्य पर प्रभाव इतना ज़बर्दस्त हो गया कि पर्वतो-के-पर्वत-नुमा यह सूर्य-खण्ड टुकडे-टुकडे होकर छितर गया, और इसके टुकड़े वैसे ही खण्ड-खण्ड हो

गये जैसे समुद्र की विशाल लहर टूट कर छिटिया जाती है। तव से सूर्य-खण्ड के ये टुकडे ग्रहो के रूप मे सूर्य के गिर्द चक्कर काट रहे हैं, उन्ही टुकडो मे से हमारी पृथिवी भी एक ग्रह है। सूर्य तथा अन्य तारागण अत्यन्त गर्म हैं, ये टुकडे भी आग के शोले थे, पृथिवी पर जीवन थोडे ही रह सकता था। धीरे-धीरे इनकी गर्मी जाती रही, ये ठण्डे हो गये और आज हम उसी सूर्य-खण्ड पर जीवन विता रहे हैं। क्या इतना विशाल-जगत् जिसकी कल्पना करते हुए भी सिर चकरा जाता है अपने-आप हो गया है ?

7. सृष्टि में अस्थायित्व में स्थायित्व
(Permanence in Transience)

सृष्टि का यह नियम है कि कोई अस्थायी-वस्तु स्थायी आधार के विना नही टिक सकती। चक्की का चाक चलता है, परन्तु उसकी कील स्थिर रहती है, अगर कील भी घूमने लगे तो चक्की चल नही सकती। अस्थिर का आधार स्थिर ही होता है, नही तो अस्थिर टिक नही सकता। ईशोपनिपद् मे कहा है—**'अनेजत् एकं मनसो जवीयः'**—वह गति नही करता इसलिए ससार मे मन से भी अधिक गति दिखलाई देती है, **'तदेजति तन्नैजति'**—वह गति नही करता इसलिए जो गतिशील है वह गति कर सक रहा है। उपनिषद् की यह काव्यमयी भाषा है, परन्तु इसमे सृष्टि का एक गूढ रहस्य छिपा है। सृष्टि गतिशील है, अणु-अणु मे गति है, यह गतिशीलता हो नही सकती, अगर इसके मूल मे कोई गति-रहित स्थिर-सत्ता न हो। गतिशीलता गतिराहित्य के विना, विनाश अविनाशी के विना हो नही सकता, इसलिए कोई स्थायी, अविनाशी सत्ता होनी चाहिए जिसके आधार पर यह अस्थायी-जगत् टिक सके, वही 'ईश्वर' है।

8 भारतीय-दर्शनों में ईश्वर-सिद्धि के प्रमाण

(क) **ईश्वर-सिद्धि मे वैशेषिक-दर्शन की युक्ति**—इस दर्शन के रचयिता कणाद है। वैशेषिक-दर्शन का मुख्य ध्येय ईश्वर-सिद्धि नही है, फिर भी ईश्वर को सिद्ध करने के लिए कणाद ऋषि ने निम्न सूत्र की रचना की है—**'संज्ञा कर्म तु अस्मत्-विशिष्टानाम् लिंगम्'**—अर्थात्, ससार की वस्तुओ का शुरू-शुरू मे 'नाम' तथा हर वस्तु का 'काम' निश्चित करने वाली, हम साधारण लोगो से कोई विशिष्ट-सत्ता होनी चाहिए। वह सत्ता कौन है ? इसमे सन्देह नही कि सृष्टि के प्रारम्भ होने के वाद वस्तु-जात की 'सज्ञा' (नाम) तथा उनका 'कर्म' (काम) ऋषियो ने निश्चित किया, परन्तु सर्गादि-काल मे ससार की वस्तुओ को नाम किसने दिया, उनका इस्तेमाल करने की शिक्षा किसने दी ? यह युक्ति कुछ अटपटी-सी लगती है, परन्तु इसका भाव यह प्रतीत होता है कि मनुष्य

को शुरू-शुरू मे ज्ञान किस से प्राप्त हुआ। हमे ज्ञान अपने माता-पिता, गुरुओ से मिलता है, उन्हे अपने माता-पिता तथा गुरुओ से मिलता है। इस प्रकार पीछे-पीछे चलते चले जाएँ, तो सृष्टि का प्रारम्भ-काल आ जाता है। उस समय ज्ञान किसने दिया ? बृहदारण्यक उपनिषद् (प्रथम अध्याय 7) मे भी सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—'**तत् ह इदं अव्याकृतम् आसीत् तत् नाम रूपाभ्याम् एव व्याक्रियत**'—सृष्टि के शुरू मे सब अव्यक्त था, नाम-रूप रहित था, जिसने उसे व्यक्त कर दिया, व्यक्त करने का अर्थ है—सृष्टि के पदार्थों को नाम और रूप देना—जिसने यह ज्ञान दिया, वही ईश्वर है। सृष्टि मे ज्ञान का प्रारम्भ कैसे हुआ—इस समस्या को लेकर बहुत अटकल लडाई जाती है। जैसे नास्तिको के सामने जड़ से चेतन कैसे हो गया—यह समस्या है, वैसे ही उनके सामने ज्ञान का श्रीगणेश कैसे हुआ—यह भी समस्या है। यह कह देना कि ऐसे ही हो गया, यूँ ही हो गया, कोई हल नही है। योग-दर्शन मे भी ईश्वर की सिद्धि मे इस युक्ति का भी प्रयोग किया गया है। वहाँ लिखा है—'**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्**'—(योग-दर्शन 25)—सम्पूर्ण-ज्ञान का जो भडार है, जो निरतिशय-स्रोत है, वह ईश्वर है। युक्ति यह है कि हमारा ज्ञान किसी दूसरे से आता है, इस ज्ञान मे हम घटा-वढी कर सकते हैं, परन्तु जन्म से ज्ञान लेकर कोई नही पैदा होता। मैंने किसी से ज्ञान लिया, उसने भी किसी दूसरे से लिया। इस प्रकार ज्ञान के आदि-स्रोत की खोज चल पडती है। उसी को कहा है—'**सः सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**' (योग-दर्शन, 1-26)। वह परमात्मा ही गुरुओ का भी गुरु है, सबका वह आदि-गुरु है, क्योकि काल-क्रम मे पीछे की तरफ चलते-चलते वही एक गुरु शेष रह जाता है जिसे ज्ञान का आदि-स्रोत कहा जा सके।

(ख) **ईश्वर-सिद्धि में न्याय-दर्शन की युक्ति**—इस दर्शन के रचयिता गौतम है। वैशेषिक की तरह न्याय-दर्शन भी ईश्वर की सत्ता को मानता है, परन्तु वैशेषिक-दर्शन की तुलना मे ईश्वर-सिद्धि के लिए न्याय-दर्शन का विशेष आग्रह है। वैशेषिक तथा न्याय का मत है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष नही हो सकता, वह अनुमान तथा वेद-वाक्यो के प्रमाणो से ही सिद्ध होता है। न्याय-दर्शन कारण-कार्य के सिद्धान्त (Law of causation) पर विशेष वल देता है। जहाँ कार्य होगा उसका कारण अवश्य होगा, विना कारण के कार्य नही हो सकता। घडा कार्य है, उसका कारण मट्टी है, कपड़ा कार्य है उसका कारण सूत है। कार्य को देख कर कारण का अनुमान करना ही पडता है, कर्त्ता न हो तो कार्य हो नही सकता। यह जड-चेतनमय ससार कार्य है, इसका कर्त्ता होना ही चाहिए, वह कर्त्ता ही ईश्वर है। यह युक्ति वही है जो हम इस प्रकरण मे सख्या (2) मे दे आये हैं। इस युक्ति के उत्तर मे कहा जा सकता है कि सूर्य, चन्द्र, पृथिवी की

उत्पत्ति किसी ने देखी नही, इसलिए इन्हे कार्य मानने का क्या प्रमाण है ? न्याय-दर्शन का उत्तर यह है कि यद्यपि इनकी उत्पत्ति किसी ने नही देखी, तो भी ये सब अवयवो से बने हैं, जो वस्तु अवयवो से बनी है, जिसका विश्लेषण किया जा सकता है, वह कार्य ही होता है भले ही हमने उसे बनते न देखा हो। अगर बनी है, तो कार्य है, अगर कार्य है, तो इसका कर्ता होना चाहिए ।

इसके अलावा न्याय ने ईश्वर की सिद्धि के लिए एक दूसरी युक्ति भी दी है । न्याय कुसुमाजलि के रचयिता उदयनाचार्य का कथन है कि 'अदृष्ट'—जो दीखता नही परन्तु जो होना चाहिए—सबका अलग-अलग है । जीवन का प्रारम्भ सबका अलग-अलग है । किसी मे किसी योग्यता की प्रधानता है, किसी मे किसी दूसरी शक्ति की प्रधानता है । शक्तियो की इस विविधता के कारण सबका इस लोक का जीवन पृथक्-पृथक् है । जीवन की यह विषमता जिसे लेकर प्राणी उत्पन्न होता है उसे ऊँचा या नीचा बना देती है । पिछले जन्म के जिन कर्मों के कारण सबके जीवन मे यह विषमता पायी जाती है, वे कर्म दीखते नही, वे ही 'अदृष्ट' कहलाते हैं । यह 'अदृष्ट', जो ससार के प्राणी-प्राणी मे विविधता तथा विषमता का कारण है, जड है, चेतन नही है, वह स्वय फल नही दे सकता, परन्तु फल तो हर-किसी को मिलता है । इस 'अदृष्ट' को फलित करने का काम जो शक्ति करती है वही 'ईश्वर' है । सरल भाषा मे इस युक्ति का यह अर्थ है कि कर्म अपने-आप फल नही ला सकते, कर्म-फल देने वाला जो है—वह 'ईश्वर' है ।

अनुमान के उक्त दो प्रमाणो के अलावा ईश्वर-सिद्धि मे न्याय-प्रतिपादित तीसरा प्रमाण वेद तथा उपनिषद् वाक्य है । ईशावास्योपनिषद् मे लिखा है—**'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंचित् जगत्यां जगत्'**—जगत् मे जो-कुछ बसा हुआ है, ईश्वर द्वारा बसाया हुआ है ।

(ग) **ईश्वर-सिद्धि मे सांख्य-दर्शन की युक्ति**—प्रचलित विचार यह है कि साख्य के रचयिता कपिल मुनि ईश्वर को नही मानते थे, योग-दर्शन के रचयिता पतजलि मुनि ईश्वर को मानते थे । योग-दर्शन क्योकि अन्य बातो मे साख्य के बहुत निकट है इसलिए योग-दर्शन को 'सेश्वर-साख्य' भी कहा जाता है । परन्तु साख्य को निरीश्वरवादी कहना गलत है । साख्य ईश्वर को सृष्टि का 'उपादान-कारण' (Material cause) नहीं मानता, सृष्टि का 'निमित्त-कारण' (Efficient cause) या सृष्टि का अधिष्ठाता अवश्य मानता है । 'उपादान-कारण' तथा 'निमित्त-कारण' मे क्या भेद है ? मट्टी से घडा बनता है, सोने के ज़ेवर बनते हैं , मट्टी घडे का और सोना ज़ेवर का 'उपादान-कारण' है । घडा कुम्हार बनाता है, ज़ेवर सुनार बनाता है; कुम्हार घडे का, सुनार ज़ेवर का 'निमित्त-कारण' है । साख्य जब ईश्वर को नही मानता प्रतीत होता है तब

उसका अभिप्राय यह है कि जैसे वेदान्ती ब्रह्म को सृष्टि का 'उपादान-कारण' मानते हैं वैसा सांख्य नही मानता, परन्तु वह ईश्वर के सृष्टि का 'निमित्त-कारण' होने से इन्कार नही करता। झगड़ा सांख्य और वेदान्त के बीच का है; साख्य, न्याय, वैशेषिक या योग दर्शन के बीच का नही। वेदान्त ब्रह्म को सृष्टि का 'उपादान-कारण' मानता है 'निमित्त-कारण' नही, साख्य ईश्वर को सृष्टि का 'निमित्त-कारण' मानता है, 'उपादान-कारण' नही। साख्य-दर्शन मे 61वें सूत्र मे लिखा है—**'तत्सन्निधानात् अधिष्ठातृत्वम् मणिवत्'**—जैसे मणि के सम्मुख जपा-कुसुम के रखने से मणि मे जपा-कुसुम का रग झलकने लगता है, वैसे ही प्रकृति के साथ चेतन ईश्वर-सत्ता के सम्पर्क से जड-प्रकृति मे क्रियाशीलता आ जाती है। आगे कहा है—**'ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा'**—इस प्रकार के ईश्वर की जो अधिष्ठाता के रूप में सृष्टि का नियामक है सत्ता सिद्ध हो जाती है। साख्यकार प्रकृति को अनादि-अनन्त मानता है, उसे जड मानता है जैसी वह है ही। उसमे गति कहाँ से आई ? इसी का उत्तर देते हुए साख्यकार का कथन है कि ईश्वर प्रकृति से भिन्न है, उसका 'उपादान-कारण' नही है, 'निमित्त-कारण' है, और जैसे कुम्हार 'निमित्त-कारण' होता हुआ मट्टी से घडा वना देता है वैसे ईश्वर प्रकृति का 'निमित्त-कारण' होता हुआ उसमे गति करके उससे भिन्न-भिन्न पदार्थ बना देता है। अग्रेजी मे उपादान-कारण को 'Material cause' कहते है, निमित्त-कारण को 'Efficient cause' कहते है। परमात्मा सृष्टि का 'उपादान-कारण' नही है, 'निमित्त-कारण' है, इसलिए 'निमित्त-कारण' है क्योकि सृष्टि एक 'कार्य' है।

(घ) **ईश्वर-सिद्धि में योग-दर्शन की युक्ति**—इस दर्शन के रचयिता पतजलि हैं। ईश्वर की सिद्धि के लिए योग-दर्शन ने तीन युक्तियाँ दी है, जो निम्न है—

(i) **श्रुति का प्रमाण**—छहो दर्शन—वेदो तथा उपनिषदो को स्वत सिद्ध प्रमाण मानते है, उनमे जो लिखा है उस पर उनकी अकाट्य-श्रद्धा है। क्योकि श्रुति मे—वेदों तथा उपनिषदो मे—ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन है इसलिए योग दर्शन के रचयिता पतंजलि मुनि के लिए ईश्वर-सत्ता का यह सबसे प्रवल प्रमाण है।

(ii) **निरतिशयता का प्रमाण**—ईश्वर की सत्ता मे योग-शास्त्र की दूसरी युक्ति यह है कि सृष्टि मे हर क्षेत्र मे विकास हो रहा है। विकास-सिद्धान्त के अनुसार हर वस्तु की छोटी-से-छोटी तथा बडी-से-वड़ी सीमा होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रकृति मे छोटे-से-छोटा परिणाम 'परमाणु' (Atom) का है, वडे-से-बडा परिमाण 'आकाश'—'अन्तराल' (Space) का है। अर्थात्, 'प्रकृति' (Matter) का परिमाण छोटे-से-छोटा तथा वडे-से-बडा मौजूद है। इसी प्रकार 'ज्ञान' (Knowledge) और शक्ति (Energy) का भी छोटे-से-छोटा रूप तथा

वडे-से-वडा रूप भी होना चाहिए—इनकी श्रेणियाँ होनी चाहिए। ज्ञान मे तथा शक्ति मे जो वडे-से-वडा है वही ईश्वर है। उसका यह ज्ञान तथा शक्ति—वल—उसी के भीतर होने चाहिएँ, वाहर से नही आने चाहिएँ, क्योकि अगर वाहर से, किसी दूसरे से उसे ये प्राप्त होंगे, तो वह वाहर वाला ज्ञान तथा वल मे उससे वडा हो जायगा। इसी को श्रुति मे **'स्वाभाविकी ज्ञान वल क्रिया च'** कहा है। योग-दर्शन का सूत्र है—**'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ वीजम्'** (1-25)—जिसमे 'ज्ञान' तथा 'वल' निरतिशय है—इतना है कि उससे अधिक किसी मे नही है—वही 'ईश्वर' है। इसी वात को योग-दर्शन के 25वें सूत्र मे कहा है—**'सः सर्वेपाम् अपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**—वह ईश्वर गुरुओ का गुरु है, ज्ञान का आदि-स्रोत है, क्योकि काल की कोई सीमा नही। जितना भी ज्ञान है, किसी काल मे, किसी दूसरे से आता है। इस प्रकार ज्ञान को गुरुओ से लेते-लेते हम गुरुओं-के-गुरु तक जहाँ से सृष्टि के काल का प्रारम्भ हुआ पहुँच जाते हैं। काल-से-काल मे पीछे-पीछे जाते हुए ज्ञान का जो आदि-स्रोत है वही 'ईश्वर' है।

ईश्वर-सिद्धि के प्रमाणो की इस शृंखला मे निरतिशयता को 'सापेक्षता-निरपेक्षता' का प्रमाण भी कह सकते हैं। सृष्टि मे प्रत्येक वस्तु दूसरे की अपेक्षा 'सापेक्ष' (Relative) है। अगर उसे छोटा कहा जाय तो किसी की अपेक्षा छोटी है, किसी दूसरे की अपेक्षा वडी है। इस सापेक्षता की सीढी पर चढते-चढते जहाँ सापेक्षता नही रहती, वह 'निरपेक्ष' (Absolute) है। सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनो एक दूसरे से जुडे हुए है, अगर सापेक्ष है, तो निरपेक्ष भी होना ही चाहिए, नही तो सापेक्ष हो नही सकता। इसी प्रकार 'निरपेक्ष' (Absolute) का ज्ञान हमारे अनजाने हमे होना चाहिए, इसलिए होना चाहिए क्योकि 'सापेक्ष' (Relative) का ज्ञान हमे है। सापेक्ष का ज्ञान हमे है—इसमे सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु सापेक्ष तभी सापेक्ष है जव उसका निरपेक्ष से जोड हो, इसलिए जव हम कहते है कि हमे सापेक्ष का ज्ञान हैं तव यह वात स्वय-सिद्ध हो जाती है कि हमे निरपेक्ष का ज्ञान पहले से है। जव हम आधे की वात करते हैं तव हमें पूरे का ज्ञान होना-ही-होना है, जव हम चौथाई की वात करते हैं तव हमे आधे का ज्ञान होना-ही-होना है। इसी निरपेक्ष को 'ईश्वर' कहा जाता है जिसे योगशास्त्र ने 'निरतिशय' (Absolute) कहा है।

(iii) **क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से जो मुक्त है वह ईश्वर है**—ईश्वर की सत्ता मे योग-दर्शन की तीसरी युक्ति यह है कि आत्मा तो सृष्टि मे कर्म-फल भोग रहा है, क्लेश मे पडा हुआ है। कैसे क्लेश ? 'क्लेश' पाँच प्रकार के माने गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। 'कर्म' दो प्रकार के हैं—अच्छे तथा बुरे। कर्म का फल तीन प्रकार का है—जाति, आयु तथा भोग। कर्म-फल को शास्त्रो मे 'विपाक' कहा है। इनके अतिरिक्त, चित्त मे 'आशय' रहता है,

आशय—अर्थात्, वासना। जीव इन चारो बन्धनो से बँधा हुआ है जिसे योग-शास्त्र ने क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय कहा है। जो बँधा है वह वन्धन से मुक्त भी हो सकता है। बन्धन से मुक्त वही तो करा सकता है जो स्वय वन्धन से मुक्त हो। इसलिए कोई ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से स्वय मुक्त हो, वही सत्ता ईश्वर है 'जिसे योग-शास्त्र मे 'क्लेश कर्म विपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः (1—24) कहा है।

(ङ) **ईश्वर के विषय में पूर्व-मीमांसा (मीमांसा) का मत**—वेद को दो भागो मे बाँटा गया है—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। वेद के कर्मकाण्ड का वर्णन मीमासा-शास्त्र मे है, वेद के ज्ञानकाण्ड का वर्णन वेदान्त-शास्त्र मे है। दोनो शास्त्रो को मीमासा-शास्त्र भी कहा जाता है; कर्मकाण्ड-प्रधान-शास्त्र को पूर्व-मीमासा तथा ज्ञानकाण्ड-प्रधान-शास्त्र—वेदान्त-दर्शन को—उत्तर-मीमासा भी कहते है। पूर्वमीमांसा-शास्त्र (मीमासा) के दो काम है—कर्मकाण्ड के सिद्धान्तो को तर्क द्वारा पुष्ट करना तथा कर्मकाण्ड की विधियो मे जहाँ विरोध जान पडे उनका समाधान करना। कर्मकाण्डियो का कथन है कि यज्ञो के अनुष्ठान से 'अपूर्व'-नामक एक नवीन-पदार्थ उत्पन्न हो जाता है जो स्वर्ग को ले जाता है। मीमासक 'कर्म' को ही ईश्वर के समान मानते है। मीमासा के सूत्रकार जैमिनी मुनि है। कुमारिल भट्ट मीमासा के मुख्य व्याख्याकार हुए है जिनके साथ शकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ था। मीमासक जगत् को प्रवाह के रूप से अनादि तथा नित्य मानते है, ईश्वर की सत्ता की उन्हे जरूरत नही दीखती। वेद मन्त्रो पर उनकी आस्था है, परन्तु उनका कहना है कि वेद-ज्ञान सृष्टि के प्रवाह की तरह नित्य है, उसके लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नही। कर्मो का फल देने के लिए जो ईश्वर को मानते है उनके लिए भी मीमासा का यही उत्तर है कि कर्मो का फल कर्मो द्वारा ही हो जाता है। यज्ञादि द्वारा कर्म मे जो 'अपूर्व' पैदा हो जाता है वही कर्म का फल देने मे सशक्त है। कुमारिल ने 'श्लोक वार्तिक' मे सर्वज्ञ ईश्वर का खण्डन किया है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय अपने ग्रन्थ 'भारतीय-दर्शन' के पृष्ठ 333 मे लिखते है—"आचार्य बादरायण व्यास ईश्वर को कर्म-फल का दाता मानते है, पर जैमिनी के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत् फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नही। प्राचीन मीमासा ग्रन्थो के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नही मानी जाती, पर पीछे के मीमासको को यह त्रुटि बेतरह खटकी और इसके मार्जनार्थ उन लोगो ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप मे स्वीकार किया। वेदान्त-देशिका ने उसी उद्देश्य से 'सेश्वरमीमासा'-नामक ग्रन्थ की रचना की। ईश्वर के विषय मे प्रभाकर तथा उनके अनुयायी मीमासक लोग ईश्वर की सत्ता मानते है। कर्मकाण्ड की उपादेयता मीमासा मत मे इतनी अधिक मान्य है कि वे ईश्वर को मानने के

लिए तैयार नही है। प्राचीन मीमासा-मत निरीश्वरवादी ही प्रतीत होता है। पिछले मीमासको को यह त्रुटि खटकी और उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल के दाता के रूप मे स्वीकार किया।"

(च) **ईश्वर के विषय में उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) का मत**—इस दर्शन का निर्माण बादरायण व्यास ने किया है। वेदान्त के कई सम्प्रदाय हैं—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत। वेदान्त-दर्शन की व्याख्या अद्वैत-परक भी है, द्वैतपरक भी है। अद्वैत-परक व्याख्या मे शकराचार्य मुख्य है, द्वैत-परक व्याख्या मे मध्वाचार्य मुख्य हैं।

(i) **शंकराचार्य का मत**—ससार मे कारण से कार्य उत्पन्न होता है, दूध दही बनता है। दूध कारण है, दही कार्य है। प्रश्न यह है कि कार्य, अपने कारण मे सत् है, मौजूद है, या मौजूद नही है? साख्य 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त को मानता है। साख्य का कहना है कि कारण मे कार्य मौजूद रहता है, यह बात दूसरी है कि अव्यक्त रूप मे रहता है; न रहता होता तो दूध से दही ही क्यो बनता, तेल ही क्यो न बन जाता। इसे 'परिणामवाद' कहा जाता है। ससार की जितनी वस्तुएँ है वे सब प्रकृति का विकार, प्रकृति के परिणाम हैं—'कारण गुणपूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः'—कारण मे जो गुण है वे कार्य मे आ जाते हैं—यह साख्य का सिद्धान्त है। प्रकृति जड़ है, इसलिए इसके कार्य भी जड हैं; ठीक इसी प्रकार, क्योकि कार्य जड़ हैं, इसलिये प्रकृति भी जड है। शंकराचार्य का वेदान्त इस बात को नही मानता। शाकर-वेदान्त साख्य के 'परिणामवाद' के स्थान मे 'विवर्तवाद' को मानता है। 'विवर्तवाद' क्या है? इस वाद का कहना है कि जो कार्य दिखलाई देता है वह वास्तव मे कार्य नही है, सिर्फ कार्य का आभास है, केवल कार्य की प्रतीति होती है, कार्य कल्पनामात्र है। उदाहरणार्थ, अँधेरे मे पडी हुई रस्सी को साँप समझ कर हम डर जाते हैं। क्यों डर जाते हैं? क्योकि रज्जु मे हमे साँप की प्रतीति, उसका आभास, उसकी कल्पना, उसकी भ्राति होने लगती है। यही 'विवर्तवाद' कहलाता है। दीया जलाने से यह भ्रान्ति टूट जाती है। इसी प्रकार वास्तविक, एक-मात्र सत्ता तो ब्रह्म की है, परन्तु अविद्या के अन्धकार के कारण रज्जु मे साँप की प्रतीति की तरह हमे अवास्तविक-जगत् वास्तविक प्रतीत होने लगता है—अर्थात्, जो इस जगत् का कारण है, ब्रह्म, उसके सत्ता आदि गुण इस जगत् मे सत्य रूप मे न होते हुए भी सत्य दिखलाई देने लगते है। अगर सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को माना जाय, तो कारण के गुण कार्य मे आने चाहिएँ, जैसा सांख्य-सिद्धान्त मे माना जाता है। साख्यवादी प्रकृति को जड मानते हैं और इसीलिए प्रकृति की जडता का गुण सासारिक-पदार्थो मे मानते हैं जिसे 'परिणामवाद' कहा जाता है, शकराचार्य ऐसा नहीं मानते। वे ब्रह्म को चेतन मानते हैं, उसी एक-मात्र ब्रह्म से सृष्टि

की रचना मानते है, परन्तु सृष्टि मे, जो ब्रह्म का ही कार्य है, ब्रह्म के गुण परिणत होना नही मानते, इसलिए उनका सिद्धान्त 'विवर्तवाद' कहा जाता है। जगत् ब्रह्म का परिणाम नही, विवर्त है; जैसे अँधेरे मे सर्प रज्जु का परिणाम नही, विवर्त है। इस दृष्टि से, जैसे रज्जु मे दीखने वाला सर्प मिथ्या है, इसी प्रकार सृष्टि मे दीखने वाली प्रकृति मिथ्या है। इसी को शकराचार्य ने 'माया' का नाम दिया है। यथार्थ-सत्ता ब्रह्म की ही है, अन्य सब-कुछ यथार्थ रूप मे ब्रह्म से अभिन्न हैं, भिन्न दीखना 'विवर्त' है। उदाहरणार्थ, घडा, सकोरा आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ दीखते है परन्तु यथार्थ-सत्ता मट्टी की है, भिन्न-भिन्न ज़ेवर सोने से बने है परन्तु यथार्थ-सत्ता सोने की है, इसी प्रकार जगत् मे नाना प्रकार की भिन्नता दीख पडती है, यथार्थ-सत्ता ब्रह्म की है। वेदान्त-दर्शन आस्तिक दर्शन है, परन्तु उसकी आस्तिकता का स्वरूप अन्य आस्तिक दर्शनो से भिन्न है—वह ब्रह्म को ही मानता है, जीव तथा प्रकृति को स्वतन्त्र रूप मे नही मानता।

(ii) **मध्वाचार्य का मत**—जैसे शकराचार्य अद्वैतवादी हैं, वैसे मध्वाचार्य द्वैतवादी है। दोनो की व्याख्याओ का आधार उपनिषद् ही है। मध्वाचार्य पाँच प्रकार का भेद मानते है—(क) पहला भेद यह है कि जीव तथा ब्रह्म का भेद बिल्कुल वास्तविक है, (ख) दूसरा भेद यह है कि जीव तथा जड प्रकृति का भेद वास्तविक है, (ग) तीसरा भेद यह है कि एक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा से भिन्न है, (घ) चौथा भेद यह है कि परमात्मा जड प्रकृति से भिन्न है, (ङ) पाँचवाँ भेद यह है कि एक जड पदार्थ दूसरे जड पदार्थ से भिन्न है।

इस प्रकार हमने देखा कि वेदान्त-दर्शन के दोनो मुख्य सम्प्रदाय—अद्वैत-वादी शंकराचार्य तथा द्वैतवादी मध्वाचार्य—आस्तिक है, यद्यपि इन दोनो की आस्तिकता भिन्न प्रकार की है। आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द मध्वाचार्य की दृष्टि के पृष्ठ-पोषक थे, द्वैतवादी थे। अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद के सम्बन्ध मे विशेष विचार हम अगले अध्याय मे करेंगे।

9. ईश्वर के दर्शन

(क) **ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते**—ईश्वर के क्या दर्शन हो सकते हैं? ईश्वर वह चेतन-सत्ता है जो सर्वव्यापी है। सर्वव्यापी है, तो मेरे-आपके भीतर भी है। जिसको देखना हो वह दृश्य होना चाहिए, देखने वाला द्रष्टा होना चाहिए, दृश्य तथा द्रष्टा मे दूरी होनी चाहिए। जब विश्व की चेतन-सत्ता को हम सर्वव्यापी कहते हैं, तब उससे दूरी नही हो सकती, देखने के लिए दूरी आवश्यक शर्त है। जिन्होने ईश्वर के दर्शन की बात कही है उन्होंने ईश्वर को एक-देशीय बना दिया है, मन्दिर मे, गिर्जे मे ला बैठाया है। ईश्वर क्या, हमें तो अपने आत्मा के भी दर्शन नही हो सकते। हम क्या हैं? हम सृष्टि की चेतन-सत्ता

की तरह एक चेतन-सत्ता हैं। अगर हम अपना दर्शन करना चाहे, तो हमे अपने से दूर होना होगा। द्रष्टा बनने के लिये दूरी आवश्यक है। क्या हम अपने से दूर हो सकते हैं? अपने से दूर हुए कि अपना ही न रहे। बृहदारण्यक उपनिषद (2 अध्याय, 14) मे याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को कहते हैं—**'येन इद सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्'**—अरे, जो जानने वाला हैं, द्रष्टा है, उसे किससे जान सकते है? द्रष्टा—दूसरी, बाह्य-वस्तुओ को तो देख सकता है, अपने को तो नही देख सकता, क्योंकि द्रष्टा की अपने से दूरी नहीं हो सकती, न सर्वव्यापी परमेश्वर से जो मेरे भीतर भी वर्तमान है मेरी दूरी हो सकती है। दर्शन की आवश्यक शर्त द्रष्टा और दृश्य मे दूरी का होना है जो आत्मा तथा परमात्मा मे नहीं है।

(ख) **तो क्या ईश्वर के दर्शन हो ही नहीं सकते?—ऐसी बात नहीं है, उसे अनुभव किया जा सकता है, देखा नहीं जा सकता**—जो दावा करते है कि उन्हे ईश्वर का प्रत्यक्ष हुआ है उनसे हमे कोई झगड़ा नही, परन्तु अगर ईश्वर सर्वव्यापी है, तो उसे देखा नहीं जा सकता, उसका अनुभव जरूर किया जा सकता है। हम जब किसी को देखते है तो उसका बाहर का शरीर ही तो देखते है, उसके अन्दर क्या है—यह हमे नही दीखता। हाँ, क्योंकि हमे अपने शरीर मे इन्द्रियो को छोड कर किसी अतिरिक्त-सत्ता की प्रतीति होती है, अनुभव होता है, इसलिये हम दूसरो मे भी उसी प्रकार की सत्ता का अनुमान कर लेते हैं जो हमे अपने मे अनुभव होती है। अपने मे हमे अनुभव होता है कि हम शरीर से भिन्न हैं, इसलिये दूसरे मे भी ऐसा ही होगा। जब वह मर जाता है, तब शरीर वैसे-का-वैसा रहता है, परन्तु यह बात सहज अनुभव मे आती है कि उसके शरीर मे से कुछ निकल गया जो पहले उसमे था, जो शरीर नही था, जो इन्द्रियो की पकड मे नही आता था, वह शरीर को छोड गया। जैसे अपने शरीर मे शरीर से अतिरिक्त न दीखने वाली सत्ता का हम अनुभव करते हैं, वैसे ही इस विश्व मे न दीखने वाली चेतन-सत्ता को देखा तो नही जा सकता, अनुभव किया जा सकता है।

जो पूछता है कि आत्मा कैसा है, परमात्मा कैसा है, न आत्मा दीखता है, न परमात्मा दीखता है, इसलिए ये दोनो कल्पनामात्र हैं, उससे पूछो कि तुम्हारा मुँह कैसा है, तुम्हारी पीठ कैसी है, है भी या नही, क्योंकि न किसी को अपना मुँह दीखता है, न पीठ दीखती है। अगर कहो कि दर्पण मे तो दीखता है, तो चलो ऐसे ससार की कल्पना करो जिसमे मुँह देखने का दर्पण न हो, अपना प्रतिबिम्ब देखने का कोई साधन न हो, ससार मे तुम्हारे सिवाय कोई व्यक्ति न हो जो तुम्हे बतला सके कि तुम्हारा मुँह कैसा है—काला है, गोरा है, चितकबरा है, तो क्या तुम कह दोगे कि तुम्हारा मुँह नही है, तुम्हारी पीठ नही

है। अपने मुँह के विषय मे भी हम दूसरे के कहे से जानते हैं कि मुँह गोरा है या काला है, वह मुँह जो भौतिक है, जिसका रग-रूप है। जव वह वस्तु जो आँख का विषय है उसे भी हम अपनी आँखो से नही देख सकते, तव आत्मा-परमात्मा जो अभौतिक है, जिनका रग-रूप नही, जो आँख के विषय नही, उन्हें हम न देख सकें, तो आश्चर्य क्या है ? हम अपना चेहरा नही देख सकते तो क्या चेहरा नही है, अपनी आँखो मे अपनी आँखे नही देख सकते तो क्या आँखे नही है, अपनी पीठ नही देख सकते तो क्या पीठ नही है ? ठीक इसी तरह अगर हम आत्मा-परमात्मा को नही देख सकते तो क्या आत्मा-परमात्मा नही हैं ?

देखने, सुनने, अनुभव करने की एक सीमा होती है। एक खास सीमा के भीतर के शब्द को हम सुन सकते है, उससे ऊपर या नीचे की सीमा के शब्द को हम इन कानो से नही सुन सकते। पृथ्वी 31 किलोमीटर प्रति सेकण्ड की रफ्तार से सूर्य के गिर्द घूम रही है, उस गति से जो भयकर घोप उठ रहा है वह कान फाड देने के लिये काफी है, परन्तु हमारे कान उस घोष की तरगो को ग्रहण ही नही करते। हमारे सुनने की सीमा से ऊपर-नीचे दोनो प्रकार के शब्द हो रहे हैं, परन्तु वे हमे सुनाई नही पडते। एक सेकण्ड मे 31 किलोमीटर की चाल से उड रही यह पृथ्वी ठहरी हुई मालूम पडती है, उसमे किसी प्रकार की गति का अनुभव नही होता। इसका यह मतलब नही कि पृथ्वी की रफ्तार का घोष नही है या पृथ्वी मे गति नही है। घोष भी विकट है, गति भी कल्पनातीत है, परन्तु हमारी इन्द्रिया उस घोष, उस गति को पकडने के लिए बनी ही नही है। किसी वस्तु का होना तथा उसका इन्द्रियो से पता लगना—ये दोनो वाते अलग-अलग है। क्योकि वस्तु दीखती नही, इन्द्रियो से पता नही लगती, इसलिये वह है ही नही—यह युक्ति-सगत वात नही है। 'अस्तित्व' (Existence) तथा 'अभिव्यक्ति' (Manifestation) दोनो मे भेद है। आत्मा तथा परमात्मा का अस्तित्व है, अभिव्यक्ति न होने पर भी इनकी 'अनुभूति' (Realization) हैं, इस अनुभूति के कारण अभिव्यक्त न होने पर भी आत्मा तथा परमात्मा—इन दोनो का अस्तित्व है।

भौतिकवादी का कहना है कि 'प्रकृति' ही है, वही दीखती है; अध्यात्मवादी का कहना है कि प्रकृति तो है, परन्तु प्रकृति ही नही है, 'आत्मा' तथा 'ईश्वर' भी हैं—यद्यपि वे दीखते नही। जिस वस्तु का अस्तित्व हो, वह न दीखे या अन्यथा दीखे—इसके अनेक उदाहरण हैं—

हम एक वृत्त' को देखते हैं। वृत्त की रेखा गोल है या सीधी ? वृत्त के एक छोटे-से-छोटे टुकडे को लें। यद्यपि वृत्त गोल होता है, तथापि वृत्त का क्षुद्रतम वक्र-खण्ड गोल न होकर सीधा लगता है। वृत्त का यह छोटा-सा खण्ड लगता सीधा है, होता गोल है, इसमे गोलार्ध न हो, तो इन प्रकार के अन्य

खण्डो के जोड से वृत्त न वने। वृत्त के खण्डो मे गोलाई है, परन्तु देखने में सीधाई लगती है।

विश्व मे प्राकृतिक-पदार्थों की रचना को तोडते-तोडते हम परमाणुओ तक पहुँच जाते हैं, परन्तु परमाणुओ से जव हम आगे वढते हैं, तव हमारे आश्चर्य का ठिकाना नही रहता क्योकि परमाणु हमारे सामने से विलीन हो जाते हैं, और उनके अन्तस्तल मे विद्यमान 'शक्ति' (Energy) हमे दीखने लगती है। परमाणुओ के विलय के वाद उनका 'शक्ति' रूप न हो जाय, तो हम परमाणुओ को ही सव-कुछ समझ वैठें।

एक और उदाहरण से यह वात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। स्टूडियो का सिने-कैमरा क्या करता है? स्टूडियो मे अभिनय के शूटिंग की जो चहल-पहल हो रही होती है—नाचना, गाना, सव प्रकार की घटनाएँ—सिने-कैमरा इस गतिशील चहल-पहल को ग्रहण नही करता। यह क्या करता है? यह इस सजीव चहल-पहल का, उसके टुकडो-टुकडो के रूप मे, उसके 'स्थिर-चित्र' (Still-pictures) खीच लेता है। इन 'स्थिर-चित्रों' को अगर वेग की गति न दी जाय, तो ये चित्र अलग-अलग 'स्थिर-चित्र' ही दिखलाई देंगे, इनसे सिनेमा जैसा सजीव-चित्र नही दिखलाई देगा। अगर कोई इन 'स्थिर-चित्रो' को देखकर कहे कि इनके पीछे कोई सजीव-अभिनय नही था, तो यह कहना गलत होगा क्योकि इन स्थिर-चित्रो मे वेग—गति—का सचार करके देखें, तो चित्रो के ये टुकडे मिलकर सजीव-सिनेमा का रूप धारण कर लेंगे, जो एक नई ही दुनिया होगी।

'शरीर' तथा 'जगत्' के सम्वन्ध मे हमारी भौतिकवादी-वुद्धि क्या करती है? हम इस 'शरीर' का, जगत् मे इस 'प्रकृति' का भौतिकवादी-वुद्धि के सिने-कैमरा द्वारा टुकडे-टुकडे करके 'स्थिर-चित्र' (Still picture) खीच लेते हैं, परन्तु जगत् के इस स्टूडियो मे जिन पात्रो द्वारा अभिनय किया जा रहा है, उनके अभिनय को देखना चूक जाते हैं क्योकि 'स्थिर-चित्रों' मे अभिनय नही है, अभिनय इन चित्रो की गति के भीतर निहित है। भौतिकवादी का यह कहना कि शरीर ही है, 'आत्मा' नही है, प्रकृति ही है, 'परमात्मा' नही है, यह कहने के समान है कि सिनेमा के अभिनय मे अलग-अलग 'स्थिर-चित्र' (Still pictures) ही अन्तिम सत्ता हैं, इन चित्रो के पीछे खेल खेलने वाले कोई पात्र नही हैं।

वृत्त के वक्र-खण्ड मे गोलाई की जगह सीधाई दीखती है, प्रकृति के परमाणुओ के भेदन से परमाणु विलीन हो जाते हैं, जो शक्ति दीख नही रही थी वह प्रकट हो जाती है, सिने-कैमरा के खण्ड-चित्रो मे स्थिरता दीखती है परन्तु होता उनमे अभिनय का पूर्ण चमत्कार है; ऐसे ही दीखता यह शरीर है, इस पर्दे को हटा दें तो इसके पीछे विद्यमान 'आत्मा' है, दीखती यह प्रकृति है, परन्तु प्रकृति के पर्दे को हटा दें तो इसके पीछे मौजूद 'परमात्मा' है। तभी वेद

(यजु०, 40-15) ने कहा है—**'तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'**—हे पूषन् ! सचाई का साक्षात्कार करने के लिए उस पर पडे पर्दे को हटा दो ताकि मैं देखूं, सचाई क्या है ?

(ग) **ईश्वर का अनुभव ध्यान से किया जा सकता है जो तीसरी आँख है—** ध्यान से जो अनुभव मे आता है वह कल्पना नहीं है। ईश्वर का अनुभव कल्पना नही है। मन किसी ऐसी वात को सोच ही नहीं सकता जिसका आधार अनुभव न हो। ईश्वर के विषय मे हमारा सोच सकना ही सिद्ध करता है कि इसके अनुभव का कोई आधार हमारी चेतना मे कही छिपा पडा है। हमारी इन्द्रियो के जो विषय होते है उन्ही को तो हम सोच सकते है। रूप को हम देखते हैं, इसीलिए आँख के विषय को हम सोच सकते हैं; शब्द को हम सुन सकते है, इसीलिए कान के विपय को हम सोच सकते है। इसी प्रक्रिया को अगर उलट कर रखा जाय, तो कहना होगा कि जिस वात को हम सोच सकते हैं, उसका कोई विषय होता है, उसकी कोई इन्द्रिय भी होती है। रूप को हम सोच सकते हैं, इसलिए उसका विषय यह स्थूल-जगत् है, आँख उसकी इन्द्रिय है; शब्द को हम सोच सकते है इसलिए सगीत उसका विषय है, कान उसकी इन्द्रिय है; इसी तरह अनादि-अनन्त सत्ता के विचार को हम सोच सकते हैं, इसलिए आत्मा तथा परमात्मा उसके विषय हैं, ध्यान उसकी इन्द्रिय है। इस दृष्टि से ध्यान भी आँख, कान की तरह एक इन्द्रिय है जिससे आत्मा तथा ईश्वर का प्रत्यक्ष की तरह वोध होता है। ध्यान से जिस ईश्वर का पता चलता है वह कैसा है ? जिन्होने ध्यान से ईश्वर को जाना, उन्होंने उसका वर्णन करते हुए कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।

श्वेताश्वतर, 3–19।

उसके न हाथ है, न पाँव है, फिर भी अत्यन्त वेग से वह गति करता है, विना आँख के देखता है, विना कान के सुनता है, जो-कुछ जानने योग्य है उसे वह जानता है, उसे कोई नही जान पाता। सृष्टि का वही महान् आदि-पुरुष—'ईश्वर'—है।

ईश्वर के इस स्वरूप की अनुभूति जिन्हे हुई वह कैसे हुई है ? कौन-सी इन्द्रिय है जिससे उन्हे इस प्रकार की चैतन्य-सत्ता का वोध हुआ ? किस इन्द्रिय के अभाव से उस चेतन-सत्ता का वोध नही होगा ? कल्पना करो कि एक प्राणी है जिसके 5 इन्द्रियो की जगह 4 इन्द्रियाँ हैं, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा हैं—आँख नही। उसके लिए आँख का ससार शून्य होगा, कितना ही समझाएं वह मानेगा नही। फिर कल्पना करो कि एक दूसरा प्राणी है जिसके कुल 3 इन्द्रियाँ

है, आँख तथा कान नही हैं। उसके लिए प्रकाशमय-जगत् तथा संगीत का अस्तित्व नही होगा। इसी तरह ध्यान भी एक इन्द्रिय है—छटी इन्द्रिय। आँख से देखा जाता है, कान से सुना जाता है, कान देख नही सकता, आँख सुन नही सकती। ठीक इसी तरह ध्यान ऐसी इन्द्रिय है जिससे देखा तो नही जा सकता, अनुभव किया जा सकता है—किन्ही के यह इन्द्रिय होती है, किन्ही के नही होती, जिनके होती है वे ही आत्मा तथा ईश्वर का अनुभव कर सकते हैं, दूसरो के लिए इनकी सत्ता होते हुए भी नही होती। ध्यान से ईश्वर का अनुभव करना ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन है क्योकि प्रत्यक्ष का अर्थ सिर्फ आँख से देखना ही नही है। अथर्व० (19-9-5) मे कहा है—**'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्राह्मण संशितानि'**—ध्यान के साधन मन को यहाँ छठी इन्द्रिय कहा है।

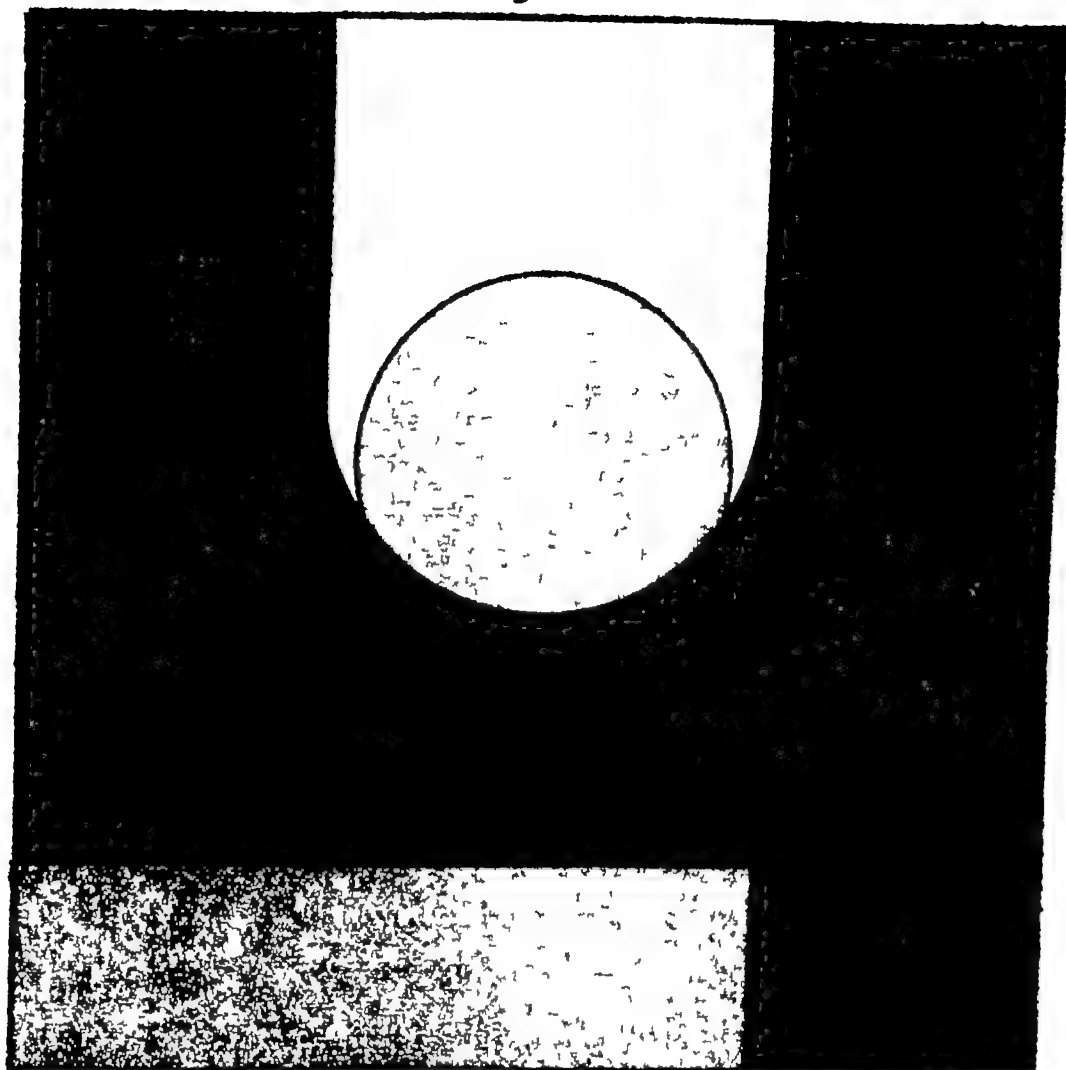
(घ) **योग-दर्शन के अनुसार ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन पर विवेचन**—योग-दर्शन के विभूतिपाद मे ऐसा वर्णन आया है जिसे हम योगमतानुसार ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन की सम्भावना कह सकते हैं। 47वें सूत्र मे 'इन्द्रियजय'-शब्द का प्रयोग हुआ है। **'इन्द्रियजय'**-शब्द का अर्थ है—इन्द्रियो पर जय प्राप्त कर लेना। इन्द्रियो पर जय प्राप्त कर लेने पर क्या होता है ? इसका विवरण देते हुए 48वें सूत्र मे लिखा है—**'ततो मनोजवित्व विकरणभावः प्रधानजयश्च'**—अर्थात्, 'इन्द्रियजय' के बाद **'मनोजवित्व'** प्राप्त हो जाता है, मन अत्यन्त शक्तिशाली हो जाता है, इसके साथ ही **'विकरणभाव'** प्राप्त हो जाता है—'करण' का अर्थ है—साधन, 'इन्द्रिया' 'वि', का अर्थ है—विना, 'वि+करणभाव', अर्थात् इन्द्रियजयी इन्द्रियो के विना सिर्फ मन द्वारा प्रत्यक्षादि सब कार्य करता है, इन्द्रियजय से **'प्रधानजय'** प्राप्त हो जाता है—'प्रधान' का अर्थ है—प्रकृति, 'जय' का अर्थ है—जीत जाना, प्रकृति पर वह जय प्राप्त कर लेता है। आज विज्ञान यन्त्रादि उपकरणो द्वारा जो-कुछ कर रहा है, इन्द्रियजयी-योगी विना उपकरणो के—'वि+करण' होकर—**मानसिक-जवित्व** से, मानसिक-शक्ति से वह सब-कुछ प्राप्त कर सकता है। सक्षेप मे, इन्द्रियजयी इन्द्रियो से काम न लेकर मन से वही काम ले लेता है, इन्द्रियो से काम लेने की उसे आवश्यकता नही रहती।

योग-दर्शन का कहना यह है कि आँख नही देखती, हम आँख से देखते हैं; कान नही सुनते, हम कान से सुनते हैं। इन्द्रियाँ सिर्फ ज्ञान ग्रहण करने के रास्ते हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रियो को नही होता, इन्द्रियो द्वारा होता है, देखने वाला भीतर बैठा है। मस्तिष्क भी तो इन्द्रियो की तरह एक रास्ता ही है, इन्द्रियाँ मस्तिष्क तक जो बात पहुँचाती हैं, मस्तिष्क उसी को आगे द्रष्टा तक पहुँचा देता है। योग-दर्शन का कहना है कि इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क जिस द्रष्टा तक अपनी बात पहुँचाते हैं, उस द्रष्टा मे ऐसी शक्ति भी है जिससे वह इन्द्रियो के विना भी सब-कुछ जान जाता है। 'इन्द्रियजय'-अवस्था के बाद जो अवस्था आ जाती

है उसी को '**विकरणभाव**' की अवस्था कहा गया है—ऐसी अवस्था जिसमे इन्द्रियो के बिना ज्ञान होता है। तभी मनु (३ य अध्याय) मे मन को ग्यारहवी इन्द्रिय कहा है—'**एकादश मनोज्ञेयम् इन्द्रियम् उभयात्मकम्**'—मन ग्यारहवी इन्द्रिय है जो ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का काम करती है। स्वप्न मे मन विना आँख के देखता, विना कान के सुनता है। इसी प्रकार विना किसी वाह्य-उपकरण के, मन द्वारा योगियो को ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है, और इस प्रकार ईश्वर का प्रत्यक्ष करने वाले योगियो का कहना है कि उन्होने ईश्वर का मन द्वारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार करके जान लिया है कि वह ज्योतियो की ज्योति—महाज्योति है—'**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**' (यजु:, 31-18)—यह मानस्-प्रत्यक्ष है।

(घ) **ध्यान तथा अनुभूति से ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन का स्वरूप**—गीता मे ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन का स्वरूप वर्णित किया गया है। प्रत्यक्ष-दर्शन के लिए ईश्वर को शरीर धारण करके खडा होना चाहिए, निर्गुण से सगुण होना चाहिए। ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन की इसी माँग को तृप्त करने के लिए आज अपने देश मे 'भगवानो' की बाढ-सी आ गई है। हर कोई भगवान् वना जा रहा है, परन्तु गीता ने निर्गुण ईश्वर का सगुण रूप मे, अशरीरी का शरीरी के रूप मे बडी कवितामयी, ललित भाषा मे सातवे अध्याय मे वर्णन किया है। गीता कहती है—हे अर्जुन ! देख मुझ अशरीरी का, निर्गुण का शरीर। पानी मे रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्र मे तेज मैं हूँ, वेदो मे ओंकार मैं हूँ, आकाश मे ध्वनि मैं हूँ, पुरुषो मे पराक्रम मैं हूँ, पृथ्वी मे गंध मैं हूँ, अग्नि मे प्रकाश मैं हूँ, प्राणीमात्र मे जीवन मैं हूँ, तपस्वी मे तप मैं हूँ, बुद्धिमान् मे बुद्धि मैं हूँ, बलवान् मे वल मैं हूँ। आश्चर्य यही है कि सव मे मैं हूँ, मेरे आश्रय से सव टिके हैं, फिर भी मन्दमति लोग मेरी जगह इन्ही को देखते, इन्ही की उपासना करते है। मैं सव जगह प्रकृति के इन पर्दों के पीछे से झाँक रहा हूँ, जो प्रकृति के पर्दे को उघाड पाता है वह मेरे प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है—'**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्**'। क्या मैं पानी के रस मे प्रत्यक्ष नही दीख पड़ता, क्या मैं सूर्य-चन्द्र के तेज मे, वेदो की ओंकार-ध्वनि मे, आकाश के गुंजायमान शब्द मे, पुरुष के पराक्रम मे, प्राणियो के जीवन मे, तपस्वियो के तप मे प्रत्यक्ष नही दीख जाता ? जो इन सव जगह मुझे देखता है वह मेरे प्रत्यक्ष दर्शन करता है। यह विशाल पृथ्वी, ये अनवरत वहने वाले नदी-नाले, यह अथाह-समुद्र, ये गगनभेदी पर्वतो के शिखर, ये शस्यश्यामला योजनो लम्बी घाटियाँ, ये सूर्य-चन्द्र-तारे—ये सव क्या है, अगर ईश्वर के शरीर नही हैं ? जो इस जड-सृष्टि मे उसकी प्राणभूत-सत्ता के दर्शन कर लेता है वह ईश्वर को मानो अपने सामने खड़ा हुआ देखता है, न दीखनेवाला भी उसे मानो दीख जाता है।

सृष्टि मे ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन करना—यह विचार पाश्चात्य-विचारक ऑगस्ट कौम्टे (1798-1857) के विचार से मिलता-जुलता विचार है। उसने 'मानव-धर्म' (Religion of Humanity) की स्थापना की थी। उसका कहना था कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो हमसे वाहर है, हमसे ऊपर है, हमसे परे है, जिसके सम्मुख हमे वरवस सिर झुकाना पडता है, जिसे हमे सर्वोपरि मानना पडता है। वह शक्ति क्या है? धर्मवादी उस शक्ति को ईश्वर, परमेश्वर कहते हैं, परन्तु कोम्टे तो ईश्वरवादी नही था, भौतिकवादी था, प्रत्यक्षवादी था, वह ईश्वर जैसी शक्ति को कैसे मानता? उसका कहना था कि 'मानवता' (Humanity) ही वह महती-सत्ता है, जो हमसे ऊपर है, हमसे परे है, जिसके सामने हमे वरवस सिर झुकाना पडता है, परन्तु साथ ही जो प्रत्यक्ष भी है। 'मानवता' को उसने 'प्रत्यक्ष-ईश्वर' कहा, 'मानवता' का मन्दिर वनाने, उसकी पूजा करने का उपक्रम किया। गीता का सृष्टि को प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहना, कोम्टे के 'मानवता' को ही ईश्वर कहने के समान है—तैत्तिरीय (1-1) मे भी कहा है—**'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षम् ब्रह्म वदिष्यामि'**। वेद (अथर्व, 10-8-32) ने इस सृष्टि मे ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन किए हैं। वहाँ कहा है—**'अन्ति सन्त न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति'**—यह सृष्टि के रचियता का काव्य है, जो जरा-मृत्यु से मुक्त है, न वुढाता है, न मरता है—सृष्टि रूपी काव्य मे उसका प्रत्यक्ष-दर्शन हो रहा है।



द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यो अभि चाकशीति ।

(ऋग्वेद, मंडल 1, सूक्त 164, मन्त्र 20)

'सृष्टि' मे मूल-तत्त्व कौन-कौन-से, और कितने है ? 'लाघव-न्याय' (Law of Parsimony) के अनुसार अगर सृष्टि का काम एक मूल-तत्त्व से चल सके, तो दो मूल-तत्त्व मानना निरर्थक है, दो से काम चल सके तो तीन या तीन से अधिक मानना निरर्थक है। जहाँ तक भौतिक-पदार्थों का प्रश्न है, रसायन-शास्त्र ने कभी 106, फिर 102 'मूल-तत्त्व' (Elements) स्वीकार किये थे, 'मूल-तत्त्व'—अर्थात्, द्रव्य का ऐसा प्रकार जो दो या दो से अधिक तत्त्वों में विच्छिन्न न हो सके। परन्तु अब विज्ञान ने 102 मूल-तत्त्वों के सिद्धान्त को तिरस्कृत कर दिया है। अब कहा जाने लगा है कि ये सब तथाकथित मूल-तत्त्व अविभेद्य नही है। इनकी रचना 'इलेक्ट्रोन' (Electron), 'प्रोटोन' (Proton) तथा 'न्यूट्रोन' (Neutron) के संघटन द्वारा होती है। इस प्रकार भौतिक-तत्त्व पहले 106, फिर 102, और अब केवल 3 रह गये हैं। सांख्य ने भी [illegible]

की खोज करते-करते 'सत्त्व', 'रजस्', 'तमस्'—'**सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**'—ऐसा कहा है। साख्य ने वर्तमान-विज्ञान की तरह 3 मूल-तत्त्व माने है, गौतम मुनि ने सृष्टि की रचना पृथ्वी, अप्, तेज, वायु—इन 4 मूल-तत्त्वो से मानी है। विज्ञान अब कहने लगा है कि इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन भी भौतिक-तत्त्व न होकर सिर्फ विद्युत्-कण है, मैटर न होकर एनर्जी मात्र है। यह सब सूचित करता है कि विज्ञान मूल-तत्त्वो की गणना मे लाघव-न्याय का भरपूर प्रयोग कर रहा है। अन्त मे हम इस दिशा मे जा रहे है कि भौतिक-पदार्थों का मूल-तत्त्व एक ही है, उसे विज्ञान भले ही एनर्जी का नाम दे, साख्य ने उसे 'साम्यावस्था प्रकृति' का नाम दिया है, 'प्रकृति' से जो भौतिक-पदार्थ बने हैं उन्हे 'विकृति' कहा है। यहाँ तक भौतिकवाद तथा साख्यवाद एक ही दिशा मे जाते हैं।

परन्तु यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठ खडा होता है। इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन को अगर विद्युत्-कण ही मान लिया जाय, तो भी उनमे चैतन्य-गुण तो नही है, न साख्य की प्रकृति मे चैतन्य-गुण है। ऐसी हालत मे, सृष्टि के निर्माण मे हमे कम-से-कम दो मूल-तत्त्व तो मानने ही पडेंगे—'जड' तथा 'चेतन'। प्रश्न उठता है कि क्या एक ही मूल-तत्त्व मानने से काम नही चल सकता। ऐसे विचारक है जो एक ही मूल-तत्त्व मानने का आग्रह करते हैं। भौतिकवादी 'जड'-प्रकृति को, अध्यात्मवादी 'चेतन'-ब्रह्म को एकमात्र मूल-तत्त्व मानते हैं। इसे 'एक-तत्त्व-वाद' (Monism) कहा जाता है। भौतिकवादियो का कहना है कि 'जड' से 'चेतन' बन गया, ब्रह्मवादियो का कहना है कि चेतन-'ब्रह्म' से जड-'प्रकृति' का निर्माण हो गया। हमने इन दोनो वादो का विवेचन कर के इन दोनो को नही माना, 'जड' तथा 'चेतन'—इन दोनो को स्वतन्त्र मूल-तत्त्व माना है। प्रश्न यह रह जाता है कि क्या चेतन एक है—परब्रह्म परमेश्वर; या चेतन दो हैं—जीव तथा ब्रह्म। इस समस्या का हमने यथास्थान विवेचन करते हुए ऋग्वेद के त्रैतपरक '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**'—इस मन्त्र द्वारा प्रतिपादित त्रैतवाद का युक्ति तथा शास्त्र के आधार पर समर्थन किया है। इन दो का प्रतिपादन करते हुए वहाँ कहा है—'**अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति**'—इन दो के सिवाय एक तीसरा है, जो प्रकृति तथा पुरुष—इन दोनो के नियमन को देखता रहता है।

'जड' तथा 'चेतन'—ये दो तो बरबस मानने ही पडते हैं क्योकि सृष्टि मे ये दोनो हैं ही, न जड से चेतन पैदा हो सकता है, न चेतन से जड पैदा हो सकता है।

षष्ठ अध्याय

सृष्ट्युत्पत्ति—एकत्व, द्वैत, त्रैत या बहुत्ववाद

(CREATION—MONISM, DUALISM, TRIADISM OR PLURALISM)

1. तीन वाद

आत्मा तथा ईश्वर के विषय मे हम लिख आए है; इन दो तत्त्वो के अतिरिक्त 'भौतिक-द्रव्य'—Matter—एक तीसरा तत्त्व है, इसलिए वैज्ञानिक-दृष्टि से यह विचार करना आवश्यक है कि सृष्टि की उत्पत्ति मे मूलभूत-तत्त्व कितने हैं। मूलभूत-तत्त्वो के विषय मे वैज्ञानिक-दृष्टि से मुख्य तौर पर निम्न विचार-धाराओ पर विचार किया जा सकता है—

(क) **एकत्ववाद** (Monism)—एकत्ववादी वह सिद्धान्त है जो कहता है कि या तो जड से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है, या चेतन से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है। अगर जड से सृष्टि का निर्माण मानें तो मानना पड़ता है कि भौतिक-द्रव्य (प्रकृति) से ही जीवन की उत्पत्ति हुई है—ये लोग जड़ से जीवन की उत्पत्ति तो मानते है, आत्मा-परमात्मा जैसे तत्त्व को मानते ही नही। यह धारणा प्राचीन-युग के चार्वाको की है, वर्तमान-युग के जडवादियो—भौतिकवादियो (Materialists) की है। अगर चेतन से सृष्टि का निर्माण मानें तो मानना पडता है कि चेतन-तत्त्व से ही भौतिक-द्रव्य (प्रकृति) की उत्पत्ति हुई है—ये लोग भौतिक-द्रव्य—Matter—तथा जीवात्मा—Soul—की पृथक्, स्वतन्त्र, अनादि सत्ता नही मानते। यह धारणा भारतीय दार्शनिको मे मुख्य तौर पर शंकराचार्य (788-820) के वेदान्त-सिद्धान्त की, पाश्चात्य दार्शनिको मे मुख्य तौर पर स्पाइनोज़ा (1632-1677) तथा बर्कले (1685-1753) की और मतवादियो मे यहूदी, ईसाई एव मुसलमानो की है। यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान मानते हैं कि ईश्वर एक है, उसी ने अभाव से, नेस्ति से, जगत् तथा जीव को उत्पन्न कर दिया है।

(ख) **द्वैतवाद** (Dualism)—द्वैतवादी वह सिद्धान्त है जो कहता है कि मूलभूत-सत्ताएँ दो हैं—जीव (Soul) तथा भौतिक-द्रव्य—(Matter)—अर्थात्

प्रकृति। यह धारणा भारतीय-विचारकों में सांख्य-दर्शन की कही जाती है, पाश्चात्य-विचारकों में सिर्फ इन दो तत्त्वों को मानने वाले कोई विशेष चिन्तक नहीं हुए। सांख्य-शास्त्र को 'निरीश्वर-सांख्य' कहा जाता है। सांख्य-शास्त्र के रचयिता महर्षि कपिल थे, वे इतने विद्वान् थे कि उन्हें प्राचीन-ग्रन्थों में 'आदि-विद्वान्' का नाम दिया है। शंकर ने उनके तथाकथित निरीश्वरवादी विचार का खण्डन करते हुए उन्हें प्रधान-मल्ल कहा है। सांख्य-दर्शन तथा योग-दर्शन एक-दूसरे के इतना निकट हैं कि योग-दर्शन को 'सेश्वर सांख्य' तथा सांख्य-दर्शन को 'निरीश्वर सांख्य' कहा जाता है। सांख्य के निरीश्वरवादी होने में विद्वानों में मतभेद हैं। ऋषि दयानन्द ने सांख्य को सेश्वरवादी ही माना है। सांख्य का मुख्य विषय 'प्रकृति' तथा 'पुरुष'—जड तथा चेतन—इन दो तत्त्वों पर विचार करना है, इसलिए हमने विचार करने के लिए इसे द्वैतवाद (Dualism) के विभाग में रखा है।

(ग) **त्रैतवाद या बहुत्ववाद** (Triadism or Pluralism)—त्रैतवादी या बहुत्ववादी वह सिद्धान्त है जो कहता है कि मूलभूत-सत्ताएँ तीन हैं—एक या दो से ज्यादा हैं। ये मूलभूत-सत्ताएँ हैं—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति (भौतिक-द्रव्य)। वेदों में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है। रामानुजाचार्य (जन्म 1017) तथा मध्वाचार्य (जन्म 1119) भी ईश्वर तथा जीव की अलग-अलग सत्ता मानते थे। वर्तमान-युग में त्रैतवाद का प्रतिपादन महर्षि दयानन्द (1824-1883) ने किया और अनेक पण्डितों ने सांख्य-दर्शन के सूत्रों का भाष्य त्रैतवादपरक ही किया है। तीन मूलभूत-सत्ताओं—ईश्वर, जीव, प्रकृति—के सिद्धान्त को हमने त्रैतवाद या बहुत्ववाद की श्रेणी में रखा है।

अब हम उक्त तीनों विचारधाराओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक-दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

2 चार्वाक का एकत्ववाद—भौतिक-द्रव्य (प्रकृति) की ही एकमात्र सत्ता है

(क) **चार्वाकवाद**—भारत में इस मत के प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं। 'चार्वाक'-शब्द का अर्थ है—'चारु वाक्'—मीठी वाणी बोलने वाला, सांसारिक बातों का धनी। चार्वाक-लोग सिर्फ दार्शनिक-दृष्टि से ही विचार नहीं करते थे, आचार में भी वे ऐसे ही जीवन की बात करते थे जो ईश्वर-जीव आदि आध्यात्मिक-तत्त्वों को न मानने पर होना चाहिए। जब यही जन्म है, दूसरा कोई है ही नहीं तब खाना-पीना, मौज उड़ाना—इसके सिवाय जीवन का लक्ष्य ही क्या हो सकता है? उनका कहना था कि न कोई ईश्वर है, न जीव है, यह देह ही सभी-कुछ है, यह देह नष्ट हुआ तो सब-कुछ समाप्त हो गया—मानव में यह देह तथा विश्व में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु—ये चार तत्त्व जिनसे

देह तथा संसार बना यही-कुछ है, और कुछ नही। उनके जीवन का लक्ष्य था—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

चार्वाकों के सामने दो प्रश्न थे जिनका हल जरूरी था। पहला प्रश्न तो यह था कि अगर जीवात्मा नही है तो जड़-पदार्थों से चेतना अर्थात् जीवन कैसे बना, दूसरा प्रश्न यह था कि अगर परमात्मा नही है, तो इस सृष्टि-चक्र को चलाता कौन है ? इन दो प्रश्नो के अलावा चार्वाक अपने पक्ष की पुष्टि मे कुछ युक्तियाँ भी देता है। इन तीनो बिन्दुओ पर हम यहाँ विचार करेगे।

(i) **जड़ से 'चेतना' अर्थात् जीवन कैसे उत्पन्न हुआ**— पहला प्रश्न यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये चारो तत्त्व जड परमाणुओ के मिश्रण से बने है, इन जड-पदार्थों के मिश्रण से चेतन-तत्त्व कैसे उत्पन्न हुआ ? चार्वाक इसका उत्तर यह देता है कि जिस प्रकार दही और गोबर मिला देने से छोटे-छोटे कीडे उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के परमाणुओ के सयोग से जीवन उत्पन्न हो जाता है। दही और गोवर तो भौतिक-तत्त्व ही है, इन भौतिक-तत्त्वो के एक विशेष प्रकार तथा एक विशेष मात्रा मे मिलने से कीडे उत्पन्न हो जाते है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न परमाणुओ के एक विशेष प्रकार तथा विशेष मात्रा मे मिलने से आत्मा उत्पन्न हो जाता है। एक दूसरा उदाहरण लो। मदिरा को बनाने वाले तत्त्वो मे कोई मादक-पदार्थ नही होता। परन्तु कुछ पदार्थों को एक विशेष प्रकार से मिला देने पर उनमे मादकता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार जड परमाणुओ मे अलग-अलग से जीवन या चैतन्य नही होता, परन्तु उनके एक विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से चेतना नाम का एक नवीन-तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। वर्तमान-विज्ञान का उदाहरण लिया जाय तो कहा जा सकता है कि जैसे हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन दोनो अदृश्य तत्त्व है, इन दोनो के एक विशेष मात्रा मे सम्मिश्रण से जल नामक दृश्य-तत्त्व उत्पन्न हो जाता है जो उन दोनो से भिन्न है, वैसे ही भिन्न-भिन्न जड परमाणुओ के विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से उनसे भिन्न चेतन-तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। उक्त दृष्टान्तो के आधार पर चार्वाक का कहना है कि जड परमाणुओ से भिन्न जीवन-तत्त्व या आत्म-तत्त्व को मानने की कोई जरूरत नही है। चार्वाक लोग इसे 'भूत-चैतन्य-वाद' कहते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये 'महाभूत' ही चैतन्य उत्पन्न कर देते हैं।

(ii) **सृष्टि-चक्र कौन चलाता है**—दूसरा प्रश्न यह है कि चार्वाक के पास इस बात का क्या उत्तर है कि दही और गोवर को, मदिरा के घटक-तत्त्वों को, हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन को तो मिलाने वाली कोई दूसरी चेतन हस्ती होती

है, वही तो इन्हे मिलाती है, सृष्टि-चक्र मे मिलाने वाले के विना सृष्टि का निर्माण करने वाले परमाणु आप-से-आप कैसे मिल जाते हैं ?

इसका उत्तर चार्वाक के पास यह है कि परमाणुओ का सयोग-वियोग, मिलना और अलग हो जाना—यह परमाणुओ का अपना स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव जलाना है, जल का स्वभाव शीतलता है, परमाणुओ का आपस मे मिल कर जीवन उत्पन्न कर देना उनका स्वभाव है। चार्वाको के इस सिद्धान्त को 'स्वभाववाद' कहा जाता है। उनका कहना है कि परमाणुओ के सयोग से सृष्टि की उत्पत्ति तथा उनके वियोग से सृष्टि का विनाश—यह सव परमाणुओ के स्वभाव मे निहित है। परमाणुओ का सयोग तथा वियोग किसी कारण-कार्य के नियम के अधीन नही होता, यह सव अपने-आप, स्वभाव से ही होता है। चार्वाक प्रत्यक्ष के सिवाय किसी प्रमाण को नही मानता, न ही कारण-कार्य के नियम को मानता है। जो दीखता है वस उसी को मानता है, जड़ को ही मानता है, चेतन को—परमात्मा तथा आत्मा को—नही मानता। परमात्मा की तो वात ही दूसरी है, वह तो न दीखता है, न चार्वाक को अनुभव होता है; आत्मा की प्रतीति तो सव-किसी को होती है, 'मैं हूँ'—इस प्रतीति से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता, इसीलिये जड-तत्त्वो से जीवन कैसे उत्पन्न हो गया—इस विषय मे उसने ऊपर के दृष्टान्त दिए है।

हमने देखा कि चार्वाक के सिद्धान्त के ऊपर जड से चेतना की उत्पत्ति कैसे हुई—इस सम्वन्ध मे जो शका थी उसका उत्तर उसने 'भूतचैतन्यवाद' के सिद्धान्त से तथा परमात्मा के विना सृष्टि-चक्र के न चल सकने के सम्वन्ध मे जो शका थी उसका उत्तर उसने 'स्वभाववाद' के सिद्धान्त से दिया। इन दोनो वातो के अलावा चार्वाक अपने सिद्धान्त की पुष्टि मे कुछ युक्तियाँ भी देता है जो निम्न हैं

(iii) **चार्वाक की अपने मत के समर्थन में युक्तियाँ**—यह सिद्ध करने के लिए कि देह के अतिरिक्त 'आत्मा' नाम की कोई वस्तु नही है चार्वाक का कथन है कि (क) ज्यो-ज्यो हम खाना छोडते जाते है, उपवास करते हैं, त्यो-त्यो चेतना क्षीण होती जाती है, चेतना के क्षीण होने पर ज्यो-ज्यो हम अन्न खाने लगते हैं, त्यो-त्यो चेतना लौटने लगती है—इससे सिद्ध होता है कि शरीर ही चेतना है, आत्मा कुछ नही है, (ख) अनुभव मे भी हम यही देखते हैं कि जव शरीर दुर्वल होने लगता है, तव हम कहते हैं—'मैं दुर्वल हो रहा हूँ', जव शरीर स्वस्थ होने लगता है, तव हम कहते हैं—'मैं स्वस्थ हो रहा हूँ'—इससे सिद्ध होता है कि शरीर ही आत्मा है जिसके लिए हम 'मैं'—इस शब्द का व्यवहार करते हैं, (ग) चेतना के अतिरिक्त वुद्धि तथा मानसिक-विकास के सम्वन्ध मे भी यही देखा जाता है कि ब्राह्मी-घृतादि औषधियो के सेवन से वुद्धि वढती है,

मानसिक-विकास होता है जिससे सिद्ध होता है कि बुद्धि, मन आदि शक्तियाँ जो आत्मा की कही जाती है, वे वास्तव मे शरीर की है, नही तो औषधि के सेवन से शरीर का विकास तो होता, बुद्धि का विकास न हो सकता।

चार्वाक के एकत्ववाद की समीक्षा

(i) **जड़ से चेतना का उत्पन्न होना (भूत-चैतन्यवाद)**—चार्वाक का कहना है कि देह ही आत्मा है, देह के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नही है जिस स्थापना को सिद्ध करने के लिए दही तथा गोवर एवं मदिरा आदि के दृष्टान्त दिए जाते है। परन्तु ये दृष्टान्त प्रकृत-प्रकरण मे ठीक नही उतरते। दूरवीक्षण-यन्त्र से अगर देखा जाय, तो दही तथा गोबर एव अन्य दृष्टान्तो मे जीवन-तत्त्व पहले से मौजूद रहता है। इसके अतिरिक्त आत्मा की सत्ता मानने वालो का कहना यह है कि जहाँ आत्मा को अनुकूल शरीर मिलेगा वहाँ वह अपना स्थान वना लेता है, उसे उत्पन्न होने की जरूरत नही, अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर सिर्फ प्रकट होने की स्थिति मे आना पडता है, जीवन—चेतना उत्पन्न नही होती, सिर्फ प्रकट होती है। अब तक आधुनिक भौतिक-विज्ञान जड से चेतना को उत्पन्न नही कर सका। चार्वाक का 'भूत-चैतन्य-वाद' इस आधार पर खडा किया गया है कि गोवर तथा दही मे पहले से चेतन-तत्त्व नही है। यह आधार ही गलत है क्योकि इन सब दृष्टान्तो मे—जीवन—चेतना पहले से वहाँ होती है।

(ii) **सृष्टि-चक्र का स्वभाव से चलना (स्वभाववाद)**—चार्वाको का कहना है कि जैसे शरीर मे आत्मा के मानने की जरूरत नही, वैसे सृष्टि-रचना के लिए परमात्मा के भी मानने की जरूरत नही क्योकि परमाणुओ मे सृष्टि के निर्माण तथा सहार की स्वाभाविक शक्ति है। परन्तु यह स्थापना भी युक्ति की कसौटी पर ठीक नही उतरती। भौतिक-विज्ञान का न्यूटन-प्रतिपादित अभिप्रेरणा का यह नियम (Law of Motion) है कि जड-पदार्थ (Inert substance) को यदि गति दे दी जाय, और उस गति मे वाधा डालने वाला कोई व्यक्ति या पदार्थ न हो, तो वह निरन्तर उसी गति मे सीधी रेखा मे चलता रहेगा, इसी प्रकार यदि जड-पदार्थ स्थिति की अवस्था मे हो और उसे कोई गति न दे, तो वह निरन्तर स्थिति की अवस्था मे ही वना रहेगा। अगर सृष्टि-रचना के समय भौतिक परमाणु स्थिति की अवस्था मे थे, तो वे अपने-आप गति की अवस्था मे नही आ सकते, अगर गति की अवस्था मे थे तो वे अपने-आप स्थिति की अवस्था मे नही आ सकते, और निरन्तर एक सीधी गति मे चलते रहते। ये परमाणु स्वय अपनी गति की दिशा बदल कर, अपना स्थान परिवर्तन करके विश्व के विविध पदार्थो का निर्माण नही कर सकते। उनकी गतियो की दिशा को चेतन ही वदल सकता है, जड पदार्थ के परमाणुओ मे भिन्न-भिन्न पदार्थो को उत्पन्न करने के लिए

सयोग-वियोग नाम की परस्पर-विरोधी-प्रक्रिया चेतन-शक्ति के बिना नहीं हो सकती। परमाणु जगत् का निर्माण नही कर सकते, उनमे गति होना, उनका स्थान परिवर्तन करना अपने-आप, स्वभाव-जन्य होना मिथ्या-कल्पना है क्योंकि जड-पदार्थ को गति देने वाला सदा चेतन होता है। फुटवाल, मोटर कार, रेल गाडी का एंजिन, विमान—ये स्वय गति मे नही आ सकते, आ जाएँ तो स्वय रुक नही सकते, चेतन द्वारा ही इनमे गति आती है, चेतन ही इस गति को रोक सकता है। वही चेतन विश्व मे ईश्वर है, और शरीर मे आत्मा है।

(iii) **चार्वाक की अपने मत के समर्थन मे युक्तियो की समीक्षा**—चार्वाक ने अपने मत के समर्थन मे जो युक्तियाँ दी है उनका सार यह है कि अन्न तथा औषधि खाने या छोडने से चेतना बढती या घटती है इसलिए अन्न तथा औषधि खाने या छोडने वाला शरीर ही आत्मा है। परन्तु शरीर तो आत्मा का साधन है, उपकरण है, अगर साधन न होने पर उसका इस्तेमाल करने वाले को अनुभव हो कि साधनहीन होने के कारण वह अशक्त हो गया है, तो इससे साधनहीन होने वाले का वाध नही हो जाता। अगर वढई का रदा तेज़ न हो, उसे शान पर न चढाया गया हो, तो क्या उससे वढई रदा वन जाता है, अगर मकान मे तरेड आ जाय, वह कही से टूट जाए, तो क्या मकान मनुष्य हो जाता है ?

अत स्पष्ट है कि चार्वाक का यह कहना है कि सिर्फ परमाणुओ के सयोग-वियोग से सृष्टि-रचना अपने-आप होती रहती है, आत्मा तथा परमात्मा की आवश्यकता नही है, केवल भौतिक-द्रव्य—Matter—से काम चल जाता है, युक्ति की कसौटी पर कसने से ठीक नही ठहरता। ईश्वर, जीव, प्रकृति—तीनो को मानना पडता है।

3. वर्तमान-विज्ञान का एकत्ववाद—भौतिक-द्रव्य (Matter) की ही एकमात्र सत्ता है

(क) **परमाणुवाद तथा वैद्युतिक-तरंग का सिद्धान्त**—भारत के चार्वाक सम्प्रदाय की तरह वर्तमान-विज्ञान का यह कथन है कि भौतिक-द्रव्य (Matter) से ही सम्पूर्ण-सृष्टि का निर्माण हुआ है, जड-चेतन सभी मैटर का ही परिणाम है। कोई समय था जव विज्ञान के जगत् मे हर भौतिक-पदार्थ की पृथक् सत्ता मानी जाती थी, परन्तु रावर्ट व्वायल (1627-1691) ने यह सिद्ध किया कि भौतिक-पदार्थों मे मूलभूत भौतिक-तत्त्व 92 हैं जिनका आगे विभाग नही हो सकता। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन है, ऑक्सीजन है, कार्वन है, सोना है—ये सव मूल-तत्त्व हैं, इनका विच्छेदन होगा तो ये अपने ही परमाणुओ मे विभक्त हो जाएगे। एक तत्त्व के परमाणु एक ही प्रकार के होते है, इसीलिए उसने इन्हे भौतिक-

द्रव्य—Matter—के मूल-तत्त्व कहा। अब इन मूल-तत्त्वो की संख्या 105 तक पहुंच गई है, कुछ वढ भी सकती है। हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक के 92 तत्त्व स्थायी तत्त्व है। उसके वाद आने वाले तत्त्व स्थायी नही हैं। ये कृत्रिम रूप से प्रयोगशाला मे निर्मित किए गये है जो शीघ्र ही खण्डित हो जाते है।

ब्वायल की मूल-तत्त्व की परिभाषा यह थी कि वह ऐसा पदार्थ है जिसे दो या दो से अधिक पदार्थों—तत्त्वो—मे विभक्त न किया जा सके। डेढ सौ साल पहले तक जिन पदार्थों को ब्वायल की परिभाषा के अनुसार मूल-तत्त्व माना जाता रहा, अब पिछले 30-40 साल से उन्हे मूल-तत्त्व नही माना जाता। अव स्थिति यह है कि जो 92 मूल-तत्त्व माने जाते थे, जिनकी सख्या वढ कर 105 हो गई है, वे भी मूल-तत्त्व नही हैं, वे भी अन्य कणो के समूहो से वने हैं, कणो की मात्रा बदल देने से पदार्थ बदल दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, रेडियम को मूल-तत्त्व माना जाता रहा, परन्तु यह देखा गया कि इसके परमाणु समय के बीतने के साथ झडते-झडते लेड तथा हीलियम मे परिवर्तित हो जाते है जिन दोनो को भी मूल-तत्त्व माना जाता है। एक मूल-तत्त्व दूसरे मूल-तत्त्व मे कैसे बदल सकता है? अगर बदल जाता है, तो वह मूल-तत्त्व नही है, किन्ही अन्य तत्त्वो का सम्मिश्रण है। जैसा ऊपर कहा गया, पिछले 30-40 वर्ष से मूल-तत्त्वो के विषय मे नई खोज हो चुकी है इस खोज मे उक्त 105 मूल-तत्त्वो का तीन प्रकार के कणो मे विभाजन कर दिया है। ये तीन कण है—इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन। इस 'परमाणुक-सिद्धान्त' का यह अर्थ हैं कि अव तक हम जिन 105 तत्त्वो को मूल-तत्त्व समझे हुए थे वे मूल-तत्त्व नही थे, उन्हे भी कणो मे विभक्त किया जा सकता है, जिन कणो मे विभक्त किया जा सकता है उन्ही का नाम इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन है। शुरू-शुरू मे यह समझा जाता था कि किसी भी तत्त्व की रचना मे केन्द्र मे प्रोटोन तथा एक न्यूट्रोन होते हैं, और इनके चारो ओर इलेक्ट्रोन तीव्र गति से चक्कर लगा रहे होते हैं। विज्ञान अपनी प्रगति मे जहाँ पहले 105 मूलतत्त्वो पर रुका, इसके वाद मूल-तत्त्वो (Elements) को छोड कर तीन कणो (Particles) तक पहुँचा, अव यह वहाँ से और आगे बढ गया है और इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन को मानने के स्थान मे भौतिक-द्रव्य—Matter—को 'ऊर्जा की तरगें' (Waves of energy) मानने लगा है। विज्ञान की खोज के अनुसार इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन मे भौतिक-कण नही हैं, परन्तु इलेक्ट्रोन भी वैद्युतिक-शक्ति की तरगो के पुज हैं, प्रोटोन भी वैद्युतिक-शक्ति की तरगो के पुज है, न्यूट्रोन भी वैद्युतिक-शक्ति की तरगो के पुज हैं। इलेक्ट्रोन 'ऋणात्मक' (Negative) तथा प्रोटोन 'धनात्मक' (Positive) विद्युत-तरंगो के पुज हैं, न्यूट्रोन न ऋणात्मक है, न धनात्मक। इस दृष्टि से विज्ञान के क्रमिक-विकास मे पहले 'मूल-पदार्थों का

सिद्धान्त' (Elemental Theory) आया, उसके वाद 'परमाणु-सिद्धान्त' (Atomic Theory) आया, और अब 'वैद्युतिक-तरग का सिद्धान्त' (Electronic Wave Theory) आया। पार्थिव-जगत् क्या है ? वर्तमान-विज्ञान के अनुसार यह सम्पूर्ण पार्थिव-जगत् वैद्युतिक-तरगमय है, ऊर्जामय है।

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे सिद्ध होता है कि वर्तमान-विज्ञान एकत्ववाद का पोपक है, एक ही तत्त्व को मानता है, और वह तत्त्व है—'वैद्युतिक-तरग'। 'वैद्युतिक-तरग' ऊर्जा (Energy) का रूप है—इसलिए वर्तमान-विज्ञान सृष्टि-रचना मे मैटर मे अन्तर्निहित 'ऊर्जा' को मूल-तत्त्व मानता है, इसमे उसे परमात्मा की सत्ता को मानने की आवश्यकता नही जान पडती।

(ख) **प्रोटोप्लाज्म से जीवन के उत्पन्न होने का विकासवादी-सिद्धान्त**—ऊपर के प्रकरण मे हम जो लिख आए हैं, उसका अभिप्राय यह है कि 'भौतिक-वाद'—जडवाद (Materialism)—की दृष्टि मे 'परमात्मा' की सत्ता के स्थान मे भौतिक-द्रव्य-निहित वैद्युतिक-तरग की ही सत्ता है। अब प्रश्न यह है कि जीवन के सम्वन्ध मे भौतिकवाद का क्या दृष्टिकोण है ? भौतिकवाद का कथन है कि 'जीवात्मा' जैसी कोई सत्ता नही है, जड से चेतन का अविर्भाव हो जाता है। भौतिकवाद तथा ब्रह्मवाद मे यह अन्तर है कि भौतिकवाद जड से चेतन की उत्पत्ति मानता है, ब्रह्मवाद (वेदान्त) चेतन से जड की उत्पत्ति मानता है—हैं दोनो 'एकत्ववादी-सिद्धान्त'। आधुनिक-विज्ञान का कथन है कि 'प्रोटोप्लाज्म' (Protoplasm–'जीव-द्रव्य') के विश्लेपण से पाया गया है कि उसमे निम्न द्रव्यो का एक निश्चित मात्रा मे मिश्रण है जिससे जीवन की उत्पत्ति होती है। यही जीवन की इकाई है, यही से जीवन का प्रारम्भ होता है। वे द्रव्य निम्न हैं—

कार्वन	55 भाग
ऑक्सीजन	23 भाग
नाइट्रोजन	14 भाग
हाइड्रोजन	7 भाग
गन्धक, पोटाशियम, सोडियम, आदि	1 भाग
	100 कुल

विकासवाद का यह कथन है कि 'प्रोटोप्लाज्म' उक्त द्रव्यो के निश्चित मात्रा मे सम्मिश्रण से उत्पन्न हो जाता है। करोडो, अरवो वरस हो गए जव पार्थिव-तत्त्वों के सम्मिश्रण से अचानक इसकी उत्पत्ति हुई। इसमे अगो का विभाजन नहीं पाया जाता। अपने सम्पूर्ण-शरीर से यह सव शारीरिक क्रियाएँ करता है। शरीर के उसी भाग से खाता, उसी से पीता, उसी से साँस लेता है, उसी से मल त्यागता है। इसे चर्म-चक्षुओ से नही देख सकते, सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र से ही

यह दीख पडता है। यही 'प्रोटोप्लाज्म' विकसित होते-होते भिन्न-भिन्न प्राणियों की शक्ल धारण कर लेता है—जीवन के विकास की यही दिशा है। जैसा-जैसा पर्यावरण उत्पन्न होता है वैसा-वैसा परिवर्तन प्राणी के शरीर मे होता जाता है, और इस विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप क्षुद्र 'प्रोटोप्लाज्म' से विकसित प्राणी-जगत् लाखो-करोडों सालो मे विविध योनियो का रूप धारण कर लेता है।

जड से चेतन की उत्पत्ति हो सकती है या नही—इस सम्बन्ध मे रूस मे एक परीक्षण किया गया। यह परीक्षण रूस की विज्ञान-पण्डिता एक महिला ने किया जिसका नाम लपेशिन्स्काया था। उन्होंने हाइड्रा नामक एक सूक्ष्म प्राणी को खरल मे पीस लिया। अब इस खरल किये हुए प्राणी का शरीर जीवन-रहित हो गया। इस जीवन-रहित मैटर को एक परखनली मे भर लिया गया। परखनली मे कुछ पोषण-तत्त्व डाल दिए गये। कुछ देर बाद देखा गया कि हाइड्रा के पिसे-पिसाये अजीवित-शरीर से जीवित-हाइड्रा के चिह्न प्रकट होने लगे। वैज्ञानिक लोग कहते है कि रूसी महिला के इस परीक्षण से सिद्ध होता है कि जड मे चेतन को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है इसलिए आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नही है।

वर्तमान-विज्ञान के एकत्ववाद की समीक्षा

(क) परमाणुवाद तथा वैद्युतिक-तरंग के सिद्धान्त की समीक्षा—'भौतिक-वाद'—'जडवाद'—Materialism—का कहना है कि सृष्टि की अन्तिम-सत्ता न आत्मा है, न परमात्मा है, यह सत्ता विद्युत् की तरंगो का अविरल प्रवाह है। ये तरगे तीन प्रकार के विद्युत्-कणो से बनती है जिन्हे इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन कहा जाता है। इस प्रवाह की गति विच्छेदयुक्त है, यह प्रवाह सर्प-गति से न चलकर मेंडक की कुदान की तरह मण्डूक-प्लुति न्याय से प्रवाहित हो रहा हैं। इस प्रकरण मे तीन बाते ध्यान देने योग्य है.

(1) गति गति देने वाले के बिना नहीं हो सकती— एक बात तो यह है कि विद्युत्-तरगो का प्रवाह विच्छेदयुक्त है, निरन्तर नही बह रहा, प्रवाहित तरग के बीच व्यवधान पड जाता है*। अगर यह बात ठीक है तो जब प्रवाह का विच्छेद हो जाता है तब प्रवाह फिर कैसे चल पडता है? सब से पहले तो विद्युत् की तरंगो का प्रवाह शुरू ही क्योकर होता है, फिर विच्छेद पड जाने पर वह गतिमान् कैसे होता है? कोई गति बिना गति देने वाले के नहीं हो सकती। भौतिकी (Physics) का यह नियम है कि जड़-पदार्थ (Inert substance) को यदि गति दे दी जाए, और उसे बाधा देने वाला कोई पदार्थ या व्यक्ति न हो, तो वह

* तरगो के विच्छेदयुक्त-प्रवाह पर हमने 'कर्म' के अध्याय मे विस्तार से लिखा है, वहाँ देखें।

निरन्तर गति मे सीधी रेखा मे चलता रहेगा, और शुरू मे ही अगर कोई उसे गति देने वाला न हो, तो वह सदा स्थिति की अवस्था मे ही बना रहेगा। ससार तो है ही गति, तभी तो इसे सस्कृत मे 'ससार'—**ससरति इति संसारः**—'जगत्'—**गच्छति इति जगत्**—यह कहा है। यहाँ तो सृष्टि के प्रारम्भ मे भी गति है, यह गति विच्छिन्न भी हो जाती है, विच्छिन्न हो कर फिर गति प्रारम्भ हो जाती है। यह सब-कुछ गति देने वाले के विना कैसे सम्भव हो सकता है ? जो शुरू मे गति देता है, जो गति के विच्छिन्न हो जाने के वाद फिर उसे गति दे देता है—वह कौन है ? विज्ञान के पास इसका क्या उत्तर है ?

(ii) **परमाणुओ की रचना मे गणितज्ञ का हाथ है**—दूसरी वात देखिए। हम लिख आए हैं कि 105 मूलतत्त्वो (Elements) के परमाणुओ की रचना मे तीन प्रकार के कण हैं जिनकी लहरो से सृष्टि वनी हुई है—ये हैं इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन। इन परमाणुओ के निर्माण मे (न्यूट्रोन को छोड कर) जितने इलेक्ट्रोन होते है उतने ही प्रोटोन होते है। न्यूट्रोनो और प्रोटोनो की उस निश्चित सख्या के होने पर ही 105 मे से कोई मूल-तत्त्व (Element) वनता है। तीनो कणो—इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन—की निश्चित सख्या के अनुसार मूल-तत्त्वो की जिनकी सख्या अव तक 105 तक पहुँच गई है, रूस के प्रसिद्ध रसायनशास्त्री डी० एस० मेण्डिलिएफ ने एक क्रमवद्ध-तालिका तैयार की थी। क्रमवद्ध का अर्थ है कि यदि एक मूल-तत्त्व मे 79 इलेक्ट्रोन तथा 79 ही प्रोटोन है, तो तालिका के अगले मूलतत्त्व मे 80 इलेक्ट्रोन तथा 80 ही प्रोटोन होंगे—एक इलेक्ट्रोन तथा एक प्रोटोन के विद्युत्-कण के वढ जाने से मूल-तत्त्व वही नही रहता, वह दूसरा मूल-तत्त्व वन जाता है। मूल-तत्त्वो की रचना मे इलेक्ट्रोनो तथा प्रोटोनो के विद्युत्-कणो की एक-एक करके क्रमश प्रवर्धमान सख्या तथा एक-एक विद्युत् कण के वढ जाने से मूल-तत्त्वो का वदलते जाना स्पष्ट सूचना देता है कि किसी गणितज्ञ चेतन-शक्ति की ही इस सव पर छाप है। विद्युत्-कणो के क्रमश प्रवर्धमान-क्रमो की तालिका प्रो० जे० वी० राजम ने अपनी पुस्तक Atomic Physics मे इस प्रकार दी है :

मूल-तत्त्व की क्रम-सख्या	संकेत	प्रोटोन की संख्या	इलेक्ट्रोन की संख्या
1 हाइड्रोजन	1 (H)	1	1
2 हीलियम	2 (He)	2	2
3 लीथियम	3 (Li)	3	3
4 वैरीलियम	4 (Be)	4	4
5 वोरोन	5 (B)	5	5
6 कार्वन	6 (C)	6	6
7 नाइट्रोजन	7 (N)	7	7
8 ऑक्सीजन	8 (O)	8	8

इस प्रकार क्रमिक-प्रवर्धमान विद्युत्-कणों से पदार्थ का स्वरूप वदलता जाता है। पदार्थ के निर्माण मे यह क्रमिक-प्रवर्धमान-संख्या सिद्ध करती है कि इसमे किसी चेतन-शक्ति का हाथ है। भौतिक-द्रव्यों के निर्माण मे इस क्रमिक-प्रवर्धमान विद्युत्-कणो की सख्या के होने का विज्ञान के पास क्या समाधान है ? कौन गणितज्ञ यह क्रम बाँध रहा है ? क्या यह सव अपने-आप हो जाता है ?

(iii) **सौर-मण्डल की निश्चित-गति**—इस सम्वन्ध मे तीसरी वात सौर-मण्डल की निश्चित गति है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तथा सौर-मण्डल की गतियाँ इतनी नियमित और गणित-शुद्ध हैं कि ज्योतिषी लोग सौ-सौ साल पहले और सौ-सौ साल पीछे का हिसाब लगा कर वतला सकते है कि सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण किस तारीख़ को होगा या हुआ था, धरती के किस प्रदेश मे दिखलाई देगा या दिखलाई दिया था। इन पिण्डो को इतनी नियमित तथा गणित-शुद्ध गतियो को देने का काम बिना बुद्धि या विना चेतना के नही हो सकता।

(ख) **प्रोटोप्लाज़्म के अपने-आप उत्पन्न होने के सिद्धान्त की समीक्षा**—'जड' के अतिरिक्त 'चेतन' की सत्ता न होने के सम्बन्ध मे भौतिकवाद का कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे जड से चेतन उत्पन्न हो गया जिसे वे 'प्रोटोप्लाज़्म' का नाम देते हैं, और कहते हैं कि विकास की प्रक्रिया मे से गुजरते-गुज़रते वनस्पति तथा प्राणी-जगत् की सृष्टि उत्पन्न हो गई। इस सम्वन्ध मे निम्न वातें विचारणीय है—

(i) यह ठीक है कि वैज्ञानिकों ने प्रोटोप्लाज़्म का विश्लेषण करके यह जान लिया है कि इसके निर्माण मे कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि पदार्थ हैं, उन्होंने यह भी जान लिया है कि इनकी कितनी-कितनी मात्रा 'प्रोटोप्लाज़्म' मे पाई जाती है, परन्तु प्रश्न यह है कि इनके सम्मिश्रण से वे अब तक जीवन को उत्पन्न क्यो नही कर सके। यह तो ऐसी वात है जैसे कोई कहे कि मकान सिर्फ ईंटो से बनता है, या कालीदास का काव्य सिर्फ अक्षरो से बनता है, या विज्ञान की पुस्तक सिर्फ टाइपो से बनती है। मकान को मज़दूर सिर्फ ढा सकता है, बना उसे इजीनियर ही सकता है; अक्षरो को वच्चा सिर्फ अलग-अलग से जान सकता है, उनसे काव्य का निर्माण कवि ही कर सकता है, कम्पोज़ीटर टाइपो को सिर्फ उठा या धर सकता है, विज्ञान की पुस्तक का निर्माण वैज्ञानिक ही कर सकता है। ठीक इसी तरह 'प्रोटोप्लाज़्म' का प्रयोगशाला मे सिर्फ विश्लेषण हो सकता है, उन विश्लिष्ट-तत्त्वो से जीवन का निर्माण न अव तक हुआ, न जीवन-शक्ति के बिना आगे कभी हो सकता है।

(ii) वैज्ञानिक कहा करते है कि अगर अव तक प्रयोगशाला मे जीवन का निर्माण नहीं हुआ, तो कौन कह सकता है कि आगे कभी भी यह नहीं हो सकेगा ? मान भी लें कि आगे कभी जड़ मे जीवन का आविर्भाव होता

दीख जाए, तब भी प्रश्न यही रहेगा कि क्या वहाँ जीवन का निर्माण हुआ, जड से जीवन को उत्पन्न कर लिया गया, अथवा उस तत्त्व मे जीवन प्रकट हो गया, या चेतना बाहर से प्रविष्ट हो गई। जो कहते हैं कि बच्चा माँ के गर्भाशय मे ही उत्पन्न हो सकता है, उन्हे वैज्ञानिक उत्तर दिया करते हैं कि वे कभी परखनली मे भी बच्चे का निर्माण (Test-tube babies) कर सकेंगे, भौतिक-तत्त्वो से भी जीवन का निर्माण कर सकेंगे। इसका उत्तर यही है कि गर्भाशय भी तो प्रकृति की बनाई हुई परखनली (Test-tube) ही है, यह प्राणी के शरीर के भीतर हो या बाहर हो—इसमे भेद नही पडता; भीतर रहने से माँ का बच्चे के प्रति स्नेह बना रहता है, परखनली मे बच्चे के उत्पन्न हो जाने से वह विज्ञान का एक चमत्कारमात्र रह जाता है, उसमे सौहार्द्र उत्पन्न नही हो सकता। जहाँ तक भौतिक-तत्त्वो से जीवन के निर्माण की सम्भावना है उसका उत्तर यह है कि आत्मा के प्रकाश मे आने के लिए तो उपयुक्त परिस्थिति की आवश्यकता है। अगर ऐसी परिस्थिति माँ के गर्भाशय मे उपस्थित कर दी जाए, तो आत्मा वहाँ प्रवेश कर जाएगी, अगर परखनली मे उपस्थित न कर दी जाए, तो आत्मा वहाँ प्रवेश कर जाएगी। अबतक वैज्ञानिक आत्मा के प्रवेश के लिए कार्बन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि के सम्मिश्रण से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नही कर सके जिसमे आत्मा प्रवेश कर सके, जब ऐसा कर लेंगे तब आत्मा भी उस परिस्थिति मे अगर प्रविष्ट हो जाए, तो आश्चर्य की कोई बात नही होगी, न यही कहा जा सकेगा कि विज्ञान ने जड से चेतन को उत्पन्न कर लिया।

(iii) जड मे चेतन की उत्पत्ति के प्रयोग का हमने ऊपर उल्लेख किया है जिसमे एक रूसी महिला ने 'हाइड्रा' (Hydra)-नामक प्राणी को खरल मे पीस कर, उसके जीवन को नष्ट कर, फिर उसमे जीवन के लक्षणो को प्रकट होते देखा। यह प्रयोग लगभग वैसा ही है जैसा चार्वाक लोग दही-गोबर या मदिरा में कीटाणुओ के प्रकट हो जाने के दृष्टान्त से दिया करते है। विज्ञान के क्षेत्र मे यह विचार सदा से चला आ रहा है—क्या जड से जीवन हो सकता है, या जीवन से ही जीवन का निर्माण होता है ? जड से जीवन होने को वैज्ञानिक लोग 'अजीवनात्-जनन' (Abiogenesis) कहते हैं, जीवन से ही जीवन हो सकने को वे 'जीवनात्-जनन' (Biogenesis) कहते हैं। अगर जड़वाद कोई वाद है, तो उसके लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि जड से जीवन हो सकता है। जैसा हमने ऊपर कहा, अब तक विज्ञान जड से चेतना उत्पन्न नही कर सका, जहाँ भी जीवन दिखलाई देता है वह पहले किसी विद्यमान जीवन से आया है। दही-गोबर, मदिरा या हाइड्रा के परीक्षणो मे भी विज्ञान ही यह कहता है कि स्थूल-दृष्टि से तो उनमे जीवन नही दिखलाई देता, परन्तु सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र से उनमे भी पहले से ही जर्म्स के चिह्न होते हैं। 'हाइड्रा' को खरल से पीस लिया तो क्या

इससे सिद्ध हो गया कि उसमे जीवन समाप्त हो गया। जीवन के अपने स्तर हैं। मनुष्य मर जाता है, परन्तु अगर मृत-देह को पड़े रहने दिया जाय, तो उसके नख तथा बाल बढते दिखलाई देते है, उसमे निम्न-स्तर का जीवन बना रहता है जो व्यावहारिक-जीवन के लिए बेकार है। 'हाइड्रा' को कूट-पीस कर उसके जीवन को नष्ट कर दिया परन्तु उस कुटे-पिसे पदार्थ से फिर 'हाइड्रा' ही की 'कोशिकाएँ' (Cells) बनती हैं, किसी और प्राणी की नही बनती—ऐसा क्यो है ? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि देखने को तो 'हाइड्रा' मर गया, उसमे से जीवन नष्ट हो गया, परन्तु फिर भी उसमे सूक्ष्म-रूप मे जीवन बना रहा। फलत, यही मानना पडता है कि जैसे भौतिक-द्रव्य के अतिरिक्त विश्व मे कोई चेतन-सत्ता है जिसे 'ईश्वर' कहा जाता है, वैसे प्राणी मे भी देह के अतिरिक्त कोई जीवन-जैसी सत्ता है जिसे 'आत्मा' कहा जाता है।

उक्त कारणो से स्पष्ट है कि जडवाद का यह कहना कि सृष्टि सिर्फ विद्युत्-तरगो तक समाप्त हो जाती है, इसमे विश्व-चेतना के रूप मे 'ईश्वर' का कोई स्थान नही है, प्राणी की रचना 'प्रोटोप्लाज्म' से हो जाती है, इसमे 'आत्मा' जैसी किसी चेतन-शक्ति का कोई स्थान नही है, युक्ति की कसौटी पर कसने से ठीक नही उतरता। ईश्वर, जीव, प्रकृति—तीनो को मानना पड़ता है।

4. एकत्ववाद—'भौतिक-द्रव्य' की नहीं, अपितु 'चेतन' की ही एकमात्र सत्ता है।

'एकत्ववाद' (Monism) के दो दृष्टान्त हमने देखे—भारत का चार्वाक-सिद्धान्त तथा पश्चिम का विज्ञान का सिद्धान्त। ये दोनो एकत्ववाद सिर्फ 'जड़' को सृष्टि का मूल-तत्त्व मानते है। इन दोनो के विरुद्ध ऐसे भी एकत्ववादी है जो सिर्फ 'चेतन' को सृष्टि का मूल-तत्त्व मानते हैं। इस 'चेतन-एकत्ववाद' के भी तीन दृष्टान्त हैं। इसका पहला दृष्टान्त शकर का वेदान्त या 'सर्वेश्वरवाद'—'अद्वैतवाद' (Pantheism) है, दूसरा दृष्टान्त पश्चिम मे बर्कले (Berkley) का प्रत्ययवाद—'आइडियलिज्म' (Idealism) है; तीसरा दृष्टान्त यहूदी, ईसाई, मुसलमानो का सिर्फ परमात्मा का विचार है—ऐसा परमात्मा जो एक होता हुआ अभाव से जड़-सृष्टि तथा चेतन-जीव को उत्पन्न कर देता है।

शंकर का एकत्ववाद (अद्वैतवाद—सर्वेश्वरवाद)—Pantheism.

(क) **ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है (सत्कार्यवाद)**—शाकर-मत के अनुसार सृष्टि की मूल-सत्ता 'चेतन' है जिसे 'ब्रह्म' का नाम दिया जाता है। इस सिद्धान्त को प्रकट करने के लिए '**एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति**'—'**एकमेवाद्वितीयम्**'—ये उक्तियाँ प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए वेदान्तियो की युक्ति

इस प्रकार है—कारण-कार्य के नियम पर विचार करने से प्रतीत होता है कि कार्य के उत्पन्न होने से पहले उसमे कार्य विद्यमान रहता है, इसलिए कार्य तथा कारण मे भेद नही है। उदाहरणार्थ, मट्टी से घडा उत्पन्न होता है, सुवर्ण से कुडल बनता है, यथार्थ-सत्ता तो मट्टी की ही है—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्', यथार्थ-सत्ता तो सुवर्ण की ही है—'सुवर्णमित्येव सत्यम्'। जब मट्टी मे घडा मौजूद है, सुवर्ण मे कुडल मौजूद है, तब यह समझना भूल है कि कारण तथा कार्य मे भेद है। अगर भेद है तो सिर्फ इतना कि कारण मे कार्य मौजूद तो है, परन्तु व्यक्त न होकर अव्यक्त रूप मे मौजूद है। इस सिद्धान्त को दर्शन-शास्त्र मे 'सत्कार्यवाद' कहा गया है—'कार्य' पहले से ही कारण मे सत् है, तभी कारण-विशेष से कार्य-विशेष उत्पन्न होता है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शन इस बात को नही मानते। उनका कथन है कि उत्पन्न होने से पहले घडा मट्टी मे या कुडल सुवर्ण मे विद्यमान नही था, अर्थात् कार्य की कारण मे सत्ता नही थी, कुम्हार ने सामग्री की सहायता से घडा तथा सुनार ने सामग्री की सहायता से कुडल का निर्माण कर दिया, घडा एव कुडल क्रमश मट्टी तथा सुवर्ण ही नही हैं, प्रत्युत् एकदम नवीन वस्तु हैं। यदि कार्य कारण मे पहले से ही मौजूद होता, तो नई-नई वस्तुएँ बनाने के लिए किसी को हाथ-पाँव हिलाने की ज़रूरत ही क्यो होती। अगर मान लिया जाय कि मट्टी तथा घडे एव सुवर्ण तथा कुडल मे सिर्फ आकार का भेद है, वैसे दोनो एक ही हैं, तो न्याय तथा वैशेषिक का कहना है कि नही, दोनो के व्यवहार मे भी भेद है—मट्टी मे पानी नही भरा जा सकता, घडे मे भरा जा सकता है। तब तो मानना पडेगा कि मट्टी दूसरी वस्तु है, घडा दूसरी वस्तु है। नैय्यायिको तथा वैशेषिको का यह सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' कहलाता है।

'सत्कार्यवाद' वेदान्त तथा साख्य का सिद्धान्त है, 'असत्कार्यवाद' न्याय तथा वैशेषिक का सिद्धान्त है। इस विवाद मे सत्कार्यवादियो का कथन है कि अगर कार्य की कारण मे पहले से सत्ता न होती, तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी होगी जो असम्भव बात है, कितना भी प्रयत्न करने पर अभाव से भाव उत्पन्न नही हो सकता। इसके अतिरिक्त क्या कारण है कि किसी विशिष्ट-वस्तु को बनाने के लिए केवल विशिष्ट-साधन का ही उपयोग किया जाता है, जिस-किसी साधन का उपयोग नही किया जाता। उदाहरणार्थ, दही बनाने के लिए दूध, कपडे बनाने के लिए सूत, तेल निकालने के लिए तिल का प्रयोग किया जाता है, कपडे से ही तेल क्यो नही निकाला जाता। इसका कारण यही हो सकता है कि तिलो मे तेल पहले से ही मौजूद है, सूत मे कपडा पहले से ही मौजूद है, मट्टी मे घडा, सुवर्ण मे कुडल पहले से ही मौजूद है। अगर कारण मे कार्य पहले से ही मौजूद न होता, तो हर वस्तु से हर वस्तु उत्पन्न की जा सकती।

शंकर का अद्वैतवाद कहता है कि जैसे घटादि पदार्थों की अन्तिम-सत्ता मृत्तिका है, पटादि पदार्थों की अन्तिम-सत्ता रूई है, स्वर्णादि अलकारो की अन्तिम-सत्ता सुवर्ण है, वैसे इन सब पदार्थों मे जो 'सत्ता' का गुण वर्तमान है उसकी अन्तिम-सत्ता क्या है ? घड़ा स्थायी पदार्थ नही है, घडे की अपेक्षा मृत्तिका अधिक स्थायी पदार्थ है; पट स्थायी पदार्थ नही है, पट की अपेक्षा रूई अधिक स्थायी पदार्थ है, अलकार स्थायी पदार्थ नही है, अलंकारों की अपेक्षा सुवर्ण जिससे अलकार बनते हैं अधिक स्थायी पदार्थ है। ये स्थायी-पदार्थ भी स्थायी नही है क्योकि इनमे वर्तमान, इनमे अनुस्यूत-'सत्ता' इनसे अधिक स्थायी तत्त्व है। यह 'सत्ता' मृत्तिका मे, रूई मे, सुवर्ण मे—इन सबमें समान रूप से वर्तमान है, भौतिक ही नही अभौतिक तत्त्वो मे भी 'सत्ता' की एकरूपता है। यह शुद्ध-सत्ता जो ससार के हर तत्त्व मे वर्तमान है—यही 'ब्रह्म' है। कार्य-रूप समग्र-जगत् उस कारण-रूप चेतन ब्रह्म की सत्ता से प्रवाहित हो रहा है। शकर के अद्वैतवाद को समझने के लिए '**सत्कार्यवाद**' के सहारे 'ब्रह्म' की एकमात्र सत्ता को समझ लेना अद्वैत के सिद्धान्त की पहली सीढी है, यह उसका प्रथम स्तम्भ है।

(ख) **सत्कार्यवाद के दो रूप—परिणामवाद तथा विवर्तवाद**—शाकर अद्वैतवाद के अनुसार जगत् कार्य है, इसका कारण ब्रह्म है, और वही सत्य है, यह नाम-रूप वाला जगत् असत्य है, एकमात्र-सत्ता ब्रह्म की है, जगत् की सत्ता नही है, सत्ता न होने पर भी इसकी सिर्फ प्रतीति होती है। अगर एकमात्र-सत्ता ब्रह्म की है, वह ब्रह्म ही जगत् का कारण है, तो यह जगत् ब्रह्म का परिणाम होना चाहिए। अगर जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो यह असत्य नही हो सकता, इसे सत्य होना चाहिए। अगर जगत् सत्य है तो एकत्ववाद नही ठहरता। शाकर के सर्वेश्वरवाद—अद्वैतवाद—एकत्ववाद—का तो दूसरा स्तम्भ ही यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है—'**ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या**'। इस स्थल पर शाकर-वेदान्त तथा साख्य मे भेद आ जाता है। साख्य का कहना है कि कारण से जब कार्य बनता है तब कार्य 'परिणाम' होता है कारण का। उदाहरणार्थ, दूध से दही बना। दूध कारण है, दही कार्य है—दूसरे शब्दो मे, दही दूध का परिणाम है। जब कोई वस्तु किसी का परिणाम होती है तब वह पहली वस्तु की तरह सत्य होती है, मिथ्या नही होती, दही दूध का 'परिणाम' है, दूध भी सत्य है, दही भी सत्य है। साख्य-शास्त्र अद्वैत-प्रतिपादक नही है, द्वैत-प्रतिपादक है, इसलिए 'परिणामवाद' को मानता है। शाकर-मत द्वैत-प्रतिपादक नही है, अद्वैत-प्रतिपादक है, इसलिए 'परिणामवाद' को मानने के स्थान मे 'विवर्तवाद' को मानता है। 'विवर्तवाद' क्या है ? 'विवर्तवाद' का कहना है कि हमें जो कार्य-रूप जगत् दिखलाई पड़ता है वह ब्रह्म का परिणाम नही है, परिणाम हो तो दूध-दही की

तरह द्वैत हो गया। द्वैत मानने को शकर राज़ी नही हैं। शाकर-मत के अनुसार जो जगत् दिखलाई पडता है वह भ्रम है, मिथ्या है। प्रश्न यह है कि अगर जगत् भ्रम है, मिथ्या है, तो यह दिखलाई क्यो पडता है? इसका उत्तर शकर यह देते हैं कि जैसे अधेरे मे रस्सी को देख कर हम डर जाते हैं, उसे यथार्थ समझ कर भाग खडे होते है, जैसे सीप को देख कर यथार्थ न होने पर भी हमे उसमे चादी होने की मिथ्या-भ्रान्ति हो जाती है, वैसे ही असत्य तथा मिथ्या जगत् को देख कर हमे उसकी यथार्थ-प्रतीति होने लगती है। इसी को वे 'विवर्त-वाद' का नाम देते है। जगत् ब्रह्म का 'परिणाम' नही, उसका 'विवर्त', उसका गोल-माल है। अगर जगत् ब्रह्म का 'परिणाम' होता, तो सिद्धान्त के रूप मे द्वैतवाद ठहरता, क्योकि जगत् है ही नही, जो-कुछ दीखता है वह वास्तविक न होकर आभासमात्र है—रज्जु मे साप की तरह, सीप मे चाँदी की तरह—इसी तरह शाकर-वेदान्त की दृष्टि से सिद्धान्त के रूप मे अद्वैतवाद ठहरता है। शकर के अद्वैतवाद को समझने के लिए **'विवर्तवाद'** दूसरा स्तम्भ है।

(ग) **कार्य को कारण का 'परिणाम' न मान कर 'विवर्त' क्यों मानें**—साख्य-शास्त्रियो की तरह कार्य को कारण का 'परिणाम' न मान कर उसे 'विवर्त' क्यो मानें—इसमे शंकराचार्य की क्या युक्ति है? शकराचार्य का कहना है कि कार्य मे कारण की अपेक्षा एक नया रूप दीखता है इससे इनकार नही किया जा सकता, परन्तु अगर गहराई से विचार किया जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि जिसे हम नया रूप कहते हैं वह सिर्फ कहने भर को है, मूल-द्रव्य से वह भिन्न नही है, आकार के भेद को देख कर वस्तु मे ही भिन्नता आ गई—यह कहना ठीक नही है, आकार भिन्न हो जाने पर भी वस्तु वही रहती है। मनुष्य जागता-सोता, चलता-फिरता, खाता-पीता, पढता-लिखता, भिन्न-भिन्न रूपो को धारण करता है, परन्तु रहता वही-का-वही है, उसके व्यक्तित्व मे भेद नही आता। जो भिन्नता दिखलाई देती है वह हमारे मन का उस वस्तु पर आरोप है जिसे शकराचार्य ने **'अध्यास'** कहा है—'अध्यास'—अर्थात्, 'आरोपण'। विवर्त मे वास्तविकता नही होती, रज्जु मे सर्प का, शुक्ति मे रजत का अध्यास—अर्थात्, मानसिक-आरोपण हो जाता है, जो यथार्थ-ज्ञान होने पर मिट जाता है। यह मिथ्या-आरोपण ही 'विवर्त' है। शकर के अद्वैतवाद को समझने के लिए **'अध्यास'** तथा 'विवर्तवाद' द्वारा जगत् को भ्रम तथा मिथ्या जान लेना तीसरा स्तम्भ है।

(घ) **ब्रह्म की शक्ति माया या अविद्या**—शकर के मत मे ब्रह्म मे एकत्व है। प्रश्न उपस्थित होता है कि एकत्व से नानात्व कैसे उत्पन्न होता है? इस के उत्तर मे शकर ने माया की कल्पना की है। माया तथा अविद्या का एक ही अर्थ है। माया ब्रह्म की शक्ति है। जैसे अग्नि मे दाह की शक्ति उसके साथ

रहती है, वैसे ही ब्रह्म के साथ माया उसकी शक्ति के रूप मे उसके साथ रहती है। फिर प्रश्न उठता है कि 'माया' क्या सद्वस्तु है, अर्थात्—क्या इसकी ब्रह्म से पृथक् सत्ता है ? इसके उत्तर मे शाकर-वेदान्त का कथन है कि माया सत् नही है। 'सत्' उसे कहते हैं जिसका निराकरण न हो सके। माया का तो ज्ञान अथवा विद्या से निराकरण हो जाता है। तो क्या माया 'असत्' है ? 'असत्' उसे कहते है जिसकी प्रतीति न हो सके। माया की तो प्रतीति होती है क्योकि इसी प्रतीति के कारण हमे ससार के पदार्थों का बोध होता है। तो फिर माया का स्वरूप क्या है ? शाकर-वेदान्त का कथन है कि माया न सत् है न असत् है, सत्-असत् दोनो न होने के कारण माया 'अनिर्वचनीय' है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए माया के विषय मे कहा गया है—**'सत् चेत् न बाध्येत, असत् चेत् न प्रतीयेत'**—अगर वह 'सत्' हो, तो उसका निराकरण नही हो सकता, अगर वह 'असत्' हो तो उसकी प्रतीति नही हो सकती—इसलिये वह न सत् है, न असत् है, माया इन दोनो से भिन्न है—**'अनिर्वचनीय'** है। माया ब्रह्म की शक्ति-विशेष है। यह शाकर-अद्वैतवाद का चौथा स्तम्भ है।

माया का क्या काम है ? माया मे दो शक्तियाँ हैं जिन्हे 'आवरण' तथा 'विक्षेप' कहा जाता है। इन दोनो का क्या काम है ?

(ङ) **माया की दो शक्तियां—आवरण तथा विक्षेप**—'आवरण' का अर्थ है वस्तु के अपने रूप पर आवरण डाल देना, पर्दा डाल देना, उसे ढक देना; 'विक्षेप' का अर्थ है उस वस्तु की जगह दूसरी ही कोई वस्तु दीखने लगना। उदाहरणार्थ, एक जादूगर पत्थर को उछालता है और उसकी जगह सोने का कडा गिरता है। पत्थर को उछालने पर वह पत्थर के असली रूप पर पर्दा डाल देता है—यह 'आवरण' है; पर इतने से काम नही चलता, पत्थर की जगह देखने वाले को सोने का कडा दीखने लगता है—यह 'विक्षेप' है। इस प्रक्रिया मे जादूगर को तो पत्थर-का-पत्थर ही दीखता है, उसके देखने मे कोई फर्क नही पड़ता। इसी तरह ब्रह्म की माया की शक्ति का पहला काम तो यह है कि वह ब्रह्म के वास्तविक रूप को छिपा देती है, उस पर 'आवरण' डाल देती है; माया का दूसरा काम यह है कि ब्रह्म के वास्तविक रूप की जगह यह प्रपचात्मक-जगत् दीखने लगता है। यह बात ध्यान मे रखने की है कि जैसे जादूगर को मिथ्या-भ्रम नही होता, इसी तरह माया तो ब्रह्म के असली रूप को ढक लेती है, ढकने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु दीखने लगते है, परन्तु जादूगर की तरह ब्रह्म ज्यो-का-त्यो निर्विकार बना रहता है, भ्रम देखने वाले जीव को होता है, ब्रह्म को नही। **'आवरण' तथा 'विक्षेप'** अद्वैतवाद का पाँचवां स्तम्भ है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वेदान्त मे 'जीव' की भी सत्ता मानी जाती है, क्या ब्रह्म तथा माया के अतिरिक्त 'ईश्वर' की भी सत्ता मानी जाती है ?

(च) **शांकर-वेदान्त मे ब्रह्म तथा माया के अतिरिक्त 'जीव' तथा 'ईश्वर' का स्वरूप**—वेदान्त के अनुसार ब्रह्म जब माया से आवृत होकर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रवृत्त होता है, तब उसकी 'ईश्वर' सज्ञा हो जाती है। 'ब्रह्म' तथा 'ईश्वर' मे यही भेद है। माया मे आवृत ब्रह्म ईश्वर है, और वह अपने मे से ही सृष्टि की रचना करने लगता है जैसे मकडी अपने भीतर से जाला निकाल कर जाल तान लेती है। इस दृष्टि से न्याय-शास्त्र के ईश्वर मे और वेदान्त-शास्त्र के ईश्वर मे यह भेद है कि न्याय-शास्त्र के ईश्वर के पास प्रकृति मौजूद है, शकर के ब्रह्म के पास प्रकृति मौजूद नही है, न्याय ईश्वर को सृष्टि का निमित्त-कारण (Efficient Cause) मानता है, शकर ब्रह्म को सृष्टि का उपादान-कारण (Material cause) मानता है। जीव के विषय मे वेदान्तियो की यह धारणा है कि उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म ही जीव कहलाता है। उपाधि-विशिष्ट का क्या अर्थ है? जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु घडे की उपाधि होने के कारण घडे के भीतर के आकाश को घटाकाश कह देते हैं, वैसे ही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु अन्त करण की उपाधि मे प्रतिविम्बित होने के कारण ब्रह्म को ही जीव कह देते है—तभी कहा है—'**श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्त ग्रन्थ कोटिभि ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:**'—ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नही है। ब्रह्म कर्त्ता, भोक्ता नही है, उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म ही जीव के रूप मे यह-सब लीला कर रहा है। यह शाकर-अद्वैतवाद का छटा स्तम्भ है।

(छ) **ब्रह्म यह सब लीला क्यों कर रहा है?**—अगर शाकर-वेदान्तियो से पूछा जाय कि ब्रह्म माया के सहारे ईश्वर वन कर और उपाधि-विशिष्ट होकर जीव वन कर यह-सव खेल क्यो रच रहा है, तो इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यह-सव केवल लीला के लिए, विना किसी प्रयोजन के हो रहा है। उदाहरणार्थ, जैसे कोई राजा केवल लीला के लिए क्रीडा करता है, वैसे ही यह सारा जगड्-वाल निष्प्रयोजन, लीलावश हो रहा है। यह शाकर-अद्वैत का सातवाँ स्तम्भ है।

(ज) **अगर सब मिथ्या है, भ्रम है, तो सब यथार्थ क्यो प्रतीत होता है?**—शाकर-वेदान्त की सव वात सुन कर, जान कर, यह प्रश्न उठ खडा होता है कि अगर सव मिथ्या है, भ्रम है, तो ससार विल्कुल यथार्थ क्यो प्रतीत होता है? इसका उत्तर वेदान्ती यह देते हैं कि 'सत्ता' तीन तरह की होती है—पारमार्थिकी-सत्ता, प्रातिभासिकी-सत्ता तथा व्यावहारिकी-सत्ता। जो वस्तु त्रिकालावाधित हो, उसकी पारमार्थिकी-सत्ता होती है—ऐसी सत्ता एकमात्र 'ब्रह्म' की है। जो वस्तु पीछे जाकर किसी प्रमाण से वाधित, खण्डित हो जाय, उसकी सत्ता प्रातिभासिकी-सत्ता होती हैं। उदाहरणार्थ, रज्जु मे सर्प भासना, शुक्ति मे रज्जु भासना—ऐसी सत्ता प्रातिभासिकी है क्योकि दीपक के प्रकाश से इस भासने का खण्डन

हो जाता है। तीसरी सत्ता व्यावहारिकी है—ऐसी सत्ता जो वास्तव मे असत् है, परन्तु व्यवहार के लिए उसे सत् मान लिया जाता है क्योकि उसे माने बिना व्यवहार नही चल सकता। ऐसी सत्ता इस ससार की है क्योकि अगर ससार को मिथ्या ही समझ लिया जाय, तो ससार का कारोबार नही चल सकता। उदाहरणार्थ, बिन्दु वह है जिस की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई न हो—परन्तु ऐसा बिन्दु तो मिल नही सकता, इसलिए लम्बाई, चौडाई, मोटाई वाले चिह्न को बिन्दु मान कर व्यवहार चला लिया जाता है। यह शाकर-अद्वैतवाद का आठवाँ स्तम्भ है—'**एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति**' (शाकर-भाष्य)।

शंकर के एकत्ववाद (अद्वैत) की समीक्षा

(क) **एक से अनेक कैसे हो गए ?**—एकत्ववाद की सबसे बडी कमजोरी यह है कि वह यह नही बतला सकता कि एक से दो कैसे हो गये। 'जड-एकत्व-वादी' (चार्वाक तथा आधुनिक-विज्ञान) सृष्टि के मूल-तत्त्व की खोज करते-करते जड-परमाणु तक पहुँच जाते है, परमाणु से भी आगे चल कर परमाणु की गति तक पहुँच जाते है, परन्तु परमाणु की गति के विषय मे यह नही समझा सकते कि यह गति दी किस ने ? अगर यह गति किसी ने दी तो गति देने वाला मानना पडता है, अगर किसी ने नही दी, तो जड मे गति आ ही नही सकती। 'चेतन-एकत्ववादी' (शकर का अद्वैतवाद) सृष्टि के मूल-तत्त्व की खोज करते-करते चेतन-सत्ता तक पहुँच जाते है, परन्तु अद्वैत-चैतन्य तक पहुँच कर यह नही समझा सकते कि उस इकले चेतन से यह जड ससार कैसे उत्पन्न हो गया ? दो से तीन तो हो सकते हैं, एक से दो नही हो सकते। कह देने भर को ठीक है—'**एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायै**'—ब्रह्म ने सोचा मै एक हूँ, मैं अनेक हो जाऊँ, परन्तु अनेक होने के लिए एक कठोर शर्त है। वह शर्त यह है कि पहले एक से दो होना पडेगा। एक दो तभी हो सकता है जब उसके भीतर ही द्वित्व हो। अगर उसके भीतर ही द्वित्व है, तो वह एक न रहा। क्योकि ससार मे द्वैत, त्रैत, बहुत्व दिखलाई देता है इसलिए इस गुत्थी को सुलझाने के लिए शकर ने ब्रह्म के साथ माया को—उसके विरोधी तत्त्व को—ब्रह्म की सहचारिणी-शक्ति मान लिया है। अगर माया ब्रह्म की सहचारिणी-शक्ति है, तो न तो ब्रह्म एक रहा, न माया नित्य-ब्रह्म की सहचारिणी-शक्ति होने के कारण अनित्य रही।

(ख) **माया के सदसत्-विलक्षण होने का कुछ अर्थ नहीं**—जैसा हमने कहा, अगर ब्रह्म के साथ माया जुडी हुई है, तो ब्रह्म की तरह उसे भी 'सत्' होना चाहिए; परन्तु अगर उसे 'सत्' मान लिया जाय, तो एकत्ववाद—अद्वैत—नही टिकता, अद्वैत को बनाए रखने के लिए अगर उसे 'असत्' मान लिया जाय, तो उसकी प्रतीति क्यो होती है—इसका कोई उत्तर नही बनता। अगर उसे

सत्-असत् मान लिया जाय, तो परस्पर-विरोध आ खडा होता है। इन सब उलझनो से बचने के लिये शाकर-वेदान्त ने उसे सत्-असत्-विलक्षण माना है, उसे 'अनिर्वचनीय' माना है, जो एक निरर्थक शब्द है।

(ग) **अद्वैतवाद के सब दृष्टान्त द्वैत-परक हैं**—अद्वैतवाद का कहना है कि जैसे रज्जु मे सर्प की, शुक्ति मे रजत की भ्रान्ति होती है, वैसे मिथ्या-जगत् मे सत्य की भ्रान्ति होती है। ये दृष्टान्त युक्तियुक्त नही है क्योकि रज्जु तथा सर्प की, शुक्ति तथा रजत की अलग-अलग सत्ता पाई जाती है, तभी रज्जु में सर्प या शुक्ति मे रजत की भ्रान्ति होती है, अगर इनकी अलग-अलग सत्ता न होती, तो ये भ्रान्तियाँ भी न होती। यह कहना कि जिस प्रकार रज्जु मे अन्धेरे के कारण साप की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार मायारूपी अज्ञान के कारण ब्रह्म मे जगत् के प्रपच की भ्रान्ति होती है युक्तियुक्त नही ठहरता क्योकि भ्रान्ति उन्ही दो वस्तुओ की हो सकती है जिनकी अलग-अलग सत्ता भी हो, जैसे रज्जु तथा साप की अलग-अलग सत्ता है। अद्वैतवादी तो ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की सत्ता को मानते ही नही।

(घ) **घटाकाश, मठाकाश के दृष्टान्त भी कुछ सिद्ध नहीं करते**—यह कहना कि जैसे आकाश सर्वव्यापक है, परन्तु घडे मे वही आकाश छोटे, बद्ध-रूप मे आ जाता है, वही सर्वव्याप्त आकाश मठ मे भी सक्षिप्त रूप मे पाया जाता है, जैसे समुद्र मे जल असीम है, परन्तु ताल-तलय्यो मे छोटे-से गढे मे पाया जाता है, इसी प्रकार ब्रह्म अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक है, परन्तु मायावश मनुष्य के अन्त करण मे वह बद्ध पाया जाता है—इसी को 'जीव' कहते है—युक्तियुक्त नही है। इस आधार पर तो ब्रह्म छिद्रमय हो जाएगा, जहाँ-तहाँ उसमे अणु-परिमाण-'जीव' भरे रहेगे जिनसे उसमे छेद-ही-छेद हो जायेंगे। यह दृष्टान्त भी कुछ सिद्ध नही करता।

(ङ) **स्वप्न के बाधित हो जाने की तरह जाग्रत् मे जगत् बाधित नहीं होता** -- जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिए प्राय यह युक्ति दी जाती है कि जैसे स्वप्न मे भिक्षुक, हाथी-घोडे-पालकी पर चढता है, परन्तु जागने पर सब हवा हो जाता है, वह दरिद्र-का-दरिद्र ही रह जाता है, वैसे ही जाग्रतावस्था मे यह जगत् सत्य प्रतीत होता है, परन्तु ज्ञान के नेत्र खुल जाने पर यह मिथ्या हो जाता है। यह युक्ति भी निस्सार है क्योकि जागने पर स्वप्न तो भग हो जाता है, जागते रहने पर जगत् भग नही होता, वैसे-का-वैसा बना रहता है।

(च) **जगत् का ब्रह्म की लीला होना भी उपहासास्पद है**—यह कहना कि जगत् ब्रह्म की लीला है अत्यन्त उपहासास्पद बात है। उसे क्या जरूरत पडी थी कि ऐसी लीला करने लगे जिसमे कुछ लोग आनन्द-मौज के गुलछर्रे उड़ाएँ, कुछ भूख ने तडप-तडप कर प्राण गँवाएँ। ऐसा ब्रह्म भी क्या जो **'स्वान्तः**

सुखाय' असंख्य-प्राणियो को दु ख सागर मे डुबो दे। उसे क्या जरूरत पड गई थी कि बैठे-बिठाये यह सारा जगड्वाल खडा कर दिया। यदि प्रारम्भ मे ब्रह्म ही था, और प्रकृति तथा जीव नही थे, तो ब्रह्म को क्या गर्ज पडी थी कि वह जगत् की व्यावहारिक-रचना कर अपने-आप अपनी मायारूपिणी शक्ति के सहारे जीवो को रच कर किसी को रोगी, किसी को स्वस्थ, किसी को सुखी, किसी को दु खी, किसी को धनी, किसी को निर्धन बना कर जगत् मे विषमता उत्पन्न कर एक प्रकार का खिलवाड करता। ब्रह्म को तो आप्तकाम कहा गया है, उसमे तो कोई कामना है ही नही, फिर वह इतनी कामनाओ का ढेर सिर पर लाद कर क्यो बैठा ?

(छ) जगत् की व्यावहारिक-सत्ता मानना अद्वैतवाद पर अद्वैतवाद का ही प्रहार है—शकराचार्य (2.1 14) का कहना है कि सृष्टि परमार्थ मे तो असत् है, व्यवहार मे सत् है। सृष्टि के परमार्थ मे असत् होने का परिणाम तो यह होना चाहिए था कि हमारा सम्पूर्ण व्यवहार सृष्टि को असत् समझ कर ही चलता, अगर सृष्टि को व्यवहार मे सत् समझ कर ही चलना है, तब इसे परमार्थ मे असत् कहने की बात करना सिर्फ वाग्विलास के लिए तो हो सकता है, इसकी जीवन के लिए कोई व्यावहारिक-उपयोगिता नही रहती—**'वाचो विग्लापनं हि तत्'**।

बर्कले का एकत्ववाद—(प्रत्ययवाद)—Idealism.

जैसे भारत मे श्री शकराचार्य (788-820) अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक हुए, वैसे पाश्चात्य-जगत् मे श्री बर्कले (Berkley—1685-1753) ने अद्वैतवादी-विचारधारा का प्रबल समर्थन किया। बर्कले से पहले हॉब्स, डेकार्ट तथा लॉक ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उनका कहना था कि रग की अपने-आप मे स्वतन्त्र-रूप से कोई सत्ता नही है, देखने वाला हो तभी रग की सत्ता है, शब्द की अपने-आप मे स्वतन्त्र-रूप से कोई सत्ता नही है, सुनने वाला हो तभी शब्द की सत्ता है, इसी प्रकार रस, गध आदि की स्वतन्त्र-सत्ता नही है, रस लेने वाले, गंध सूंघने वाले के कारण ही इनकी सत्ता है। रग-रूप, शब्द, स्पर्श, गध आदि पदार्थ के गुण नही है, देखने वाले, सुनने वाले, स्पर्श करने वाले, गध सूंघने वाले के गुण है। बर्कले ने भी इसी सिद्धान्त को विशेष रूप से पुष्ट किया। उसने कहा कि जगत् के पदार्थो की अपने-आप मे सत्ता नही है, वे मन की ही उपज हैं। अगर द्रष्टा न रहे तो द्रश्य नही रहता, द्रष्टा के कारण ही दृश्य-पदार्थ की सत्ता है। किसी पदार्थ की सत्ता का क्या अर्थ है ? 'सत्ता' का यही तो अर्थ है कि कोई देखने वाला उसे देखता है, और वह देखने वाले को दीखती है। इस युक्ति के अनुसार जिसे कोई देखने वाला नही, जो किसी के ज्ञान मे नही, उसकी सत्ता भी नही हो सकती। 'विषय'—'कर्म'—(Object)—की सत्ता

'विषयी'—'कर्ता'—(Subject)—देखने वाले की सत्ता के आधार पर खडी है। साधारण-दृष्टि से विचार करें तो मकान, पहाड, नदी-नाले—इन सब की यथार्थ सत्ता मानी जाती है, दृश्य को द्रष्टा से भिन्न माना जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि जगत् के इन पदार्थों की द्रष्टा से भिन्न दृश्य रूप मे स्वतन्त्र-सत्ता है या नही ? अगर इनकी दृश्य-रूप मे स्वतन्त्र-सत्ता मानें, तो जैसा पहले कहा जा चुका है, क्योकि ये इन्द्रियो से देखे जाते है और देखे जाने पर ही इनकी सत्ता निर्भर करती है, इन्द्रियाँ इन्हे न देखें तो नही देखे जाते, इसलिए इनकी स्वतन्त्र-सत्ता नही ठहरती, अगर इनकी द्रष्टा के विना स्वतन्त्र सत्ता नही है तो वर्कले कहता है कि यही तो मैं सिद्ध करना चाहता हूँ।

वर्कले ने इसी वात को कारण-कार्य के सिद्धान्त के आधार पर भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वह कहता है कि एक तरफ 'द्रष्टा' है—मन से देखने वाला मनुष्य, दूसरी तरफ सूर्य तक फैला हुआ 'दृश्य'-जगत् है। सूर्य की किरणें नभोमण्डल से चलती हुई मेरी आँख पर पडती है, आँख से भीतर रैटिना पर पड कर मस्तिष्क तक पहुँचती हैं, जिनका 'मन' द्वारा ग्रहण होता है और द्रष्टा सूर्यादि जगत् को देखता है। इस देखने मे मन का सूर्य तक सम्वन्ध जुड जाता है। अगर मन न देखे तो सूर्य तक सारा जगत् दृश्य की कोटि मे न आए। इसलिए मन से सूर्य तक जितना जगत् है उसे दृश्य-कोटि मे मन ही लाता है, मन न हो तो जगत् का अस्तित्व नेस्ति हो जाता है। यही कारण है कि वर्कले जगत् को अपने मन की उपज मानता है क्योकि कारण-कार्य के नियम के अनुसार मन आँख को, आँख किरण को, आगे-आगे सत्ता का प्रदान करती जाती है। क्योकि यह सारी सत्ता तभी सत्तावान् है जव मन इसे दृश्य-कोटि मे लाकर इसे अस्तित्व देता है इसलिए दृश्य-जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है, यह मन की ही उपज है।

इस वात को यूँ भी समझाया जाता है कि जैसे अन्धे को प्रकाश का ज्ञान नही होता, वहरे को शव्द का ज्ञान नही होता, अन्धे के लिए प्रकाश का अस्तित्व नही है, वहरे के लिए शव्द का अस्तित्व नही है, ऐसे ही अगर कल्पना करें कि सृष्टि मे कोई प्राणी नही है जो देखता हो, जो सुनता हो, तव जगत् का अस्तित्व कहाँ रहा ? देखने वाले होंगे तभी तो दृश्य-जगत् होगा, सुनने वाले होंगे तभी तो सगीत का जगत् होगा, अर्थापत्ति यह निकलती है कि हम नही होंगे तो जगत् नही होगा। जो देखने, सुनने वालो के न रहने से नही रहता, उसका अस्तित्व कैसे माना जाए ? इन सव युक्तियो के आधार पर वर्कले का कहना है कि हमारा सव ज्ञान 'प्रत्यय'-मात्र (Idea) का ज्ञान है, इसलिए ससार 'आइडिया' है, ठोस-जगत् नही है।

बर्कले के प्रत्ययवाद की समीक्षा

बर्कले की इन-सब युक्तियो का शब्दकोशकार जॉनसन (1709-1784)ने बडा मनोरंजक उत्तर दिया। बर्कले के इस सिद्धान्त को सुन कर कि दृश्य-जगत् की स्वतन्त्र-सत्ता नही है उसने पत्थर के ऊपर अपना पैर जोर से पटका और कहा : 'No sir, I disprove it'—अर्थात् जगत् की अपने-आप मे कोई स्वतन्त्र-सत्ता नही है, तो देखो यह पत्थर पर मैं अपना पैर पटकता हूँ, मुझे चोट क्यो लगती है ?

बर्कले से पहले डेकार्ट (1596-1650) ने भी कहा था कि जगत् की सत्ता मन पर ही आश्रित है, हम देखते हैं तो ससार दीखता है, नही देखते तो नही दीखता। जो-कुछ सत्ता है वह द्रष्टा पर आश्रित है। सारा दृश्य-जगत् मेरे 'प्रत्ययो' (Ideas) पर निर्भर है। परन्तु क्या सचमुच मेरे 'प्रत्यय' ही जगत् है, जगत् की स्वतन्त्र-सत्ता नही है ? अनुभव के आधार पर ही तो कहा जा सकता है कि जगत् है या नही है। हमे सारा जगत् स्थूल-रूप मे दीखता है। यह ठीक है कि जब सृष्टि मे कोई प्राणी नही होगा तब जगत् भी नही होना चाहिए, परन्तु होता तो यह है ही। अगर मेरे द्रष्टा-रूप होकर देखने के कारण जगत् की सत्ता है—और जगत् की सत्ता है इससे इन्कार नही किया जा सकता—तो जब कोई प्राणी द्रष्टा रूप मे नही रहता, तब भी जगत् का बने रहना सिद्ध करता है कि जिसके ज्ञान मे यह जगत् सत्ता-रूप मे विद्यमान रहता है वह 'ईश्वर' है। इस प्रकार डेकार्ट प्रत्ययवाद के आधार पर ही ईश्वर, जीव तथा जगत्—इन तीन की स्वत्तन्त्र-सत्ता मानता है। मैं सन्देह करता हूँ—इसलिए 'मैं' हूँ, जगत् सब-किसी के अनुभव मे आता है—इसलिए 'जगत्' है; मेरे न रहने पर भी जगत् की सत्ता बनी रहती है—इसलिए जिसके ज्ञान मे यह जगत् सत्ता-रूप मे विद्यमान रहता है—वह 'ईश्वर' भी है।

यहूदी, ईसाई, मुसलमानों का एकेश्वरवाद

यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान—इन तीनो का एकत्ववाद एक ही तरह का है। इन तीनो का कथन है कि ईश्वर ने कहा और हो गया—'एकोऽहं बहुस्याम्'। 'हो गया' का अर्थ है—अभाव से यह सृष्टि पैदा हो गई, 'नास्ति' से 'अस्ति' हो गया। अभाव से भाव का होना असम्भव बात है, चाहे मनुष्य के विषय मे कहा जाए, चाहे परमात्मा के विषय मे कहा जाए। सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नही है कि असम्भव को भी सम्भव कर दे, अभाव से भाव पैदा कर दे। सर्वशक्तिमान् का अगर यह अर्थ लिया जाए कि परमात्मा असम्भव को भी सम्भव कर सकता है तो ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश मे यह बडा उपयुक्त प्रश्न उठाया है कि क्या वह अपने जैसे दूसरे परमात्मा को उत्पन्न कर सकता है, क्या वह आत्मघात

कर सकता है ? जो असम्भव है वह असम्भव है, अभाव से भाव उत्पन्न कर सकना असम्भव है, इसलिए यह कहना कि उसने कहा और अभाव से भाव—अर्थात् उसके कहने मात्र से जड-जगत् तथा चेतन-आत्मा उत्पन्न हो गया—युक्तियुक्त बात नही है।

कारण-कार्य का नियम यह सिद्ध करता है कि कोई कार्य विना उसके उपादान-कारण (Material cause) के उत्पन्न नही हो सकता। मट्टी न हो तो घडा नही वन सकता, सुवर्ण न हो तो कुंडल नही वन सकता, इसी तरह सृष्टि को वनाने वाली प्रकृति तथा सृष्टि का कारोवार चलाने वाला आत्मा न हो, तो परमात्मा भी सृष्टि का सचालन नही कर सकता। इसी वात को साख्य-दर्शन ने 'सत्कार्यवाद' का नाम दिया है जिसका अर्थ ही यह है कि कार्य उत्पन्न होने से पहले उसका कारण मौजूद होना चाहिए, अन्यथा कार्य उत्पन्न नही हो सकता। श्री वाल गगाधर तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' मे इस वात को और विशद करते हुए पृ० 156 पर लिखा है कि साख्य-दर्शन ने जिस 'सत्कार्य-वाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, गीता की उसके सम्वन्ध मे कुछ अधिक और जोरदार उक्ति है—**'नासतो विद्यते भावः'**—जो है ही नही उसका कभी भी अस्तित्व नही हो सकता। उनका कहना है कि साख्य का सिद्धान्त तो सिर्फ 'कार्य-कारणात्मक सत्कार्यवाद' है, परन्तु गीता इस विषय मे और आगे निकल गई है। गीता कहती है कि अभाव से भाव हो ही नही सकता—**'नासतो विद्यते भाव.'**। यह सिद्धान्त अर्वाचीन-विज्ञान के सिद्धान्त के साथ अधिक मेल खाता है। **'सत्कार्यवाद'** का सिद्धान्त तो 'कारण-कार्य' का सिद्धान्त ही है, अर्थात् कार्य का कारण होना चाहिए, गीता का 'असत् से सत् नही हो सकता'—यह सिद्धान्त वर्तमान-विज्ञान का सिद्धान्त है, **'सत्कार्यवाद'** से अधिक व्यापक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का व्यापक-आशय यह है कि 'कार्य' का कोई भी गुण 'कारण' से वाहर के गुणो से उत्पन्न नही हो सकता। इतना ही नही, किन्तु जव कारण को कार्य का स्वरूप प्राप्त होता है तव उस कार्य मे रहने वाले द्रव्याश (Matter) और कर्म-शक्ति (Energy) का कुछ भी नाश नही होता, पदार्थ की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ के द्रव्याश और कर्म-शक्ति के जोड का वजन भी सदैव एक-सा ही रहता है—न तो वह घटता है, न वढता है। यह वात प्रत्यक्ष-प्रयोग से गणित के द्वारा सिद्ध कर दी गई है। साख्य के **'सत्कार्यवाद'** (कारण-कार्यवाद) तथा गीता के **'नासतो विद्यते भाव.'** के सिद्धान्त में भिन्नता है, और गीता के सिद्धान्त को वर्तमान-विज्ञान ने माना है। ऐसी अवस्था मे अभाव से भाव के सिद्धान्त को, जिसे यहूदी, ईसाई तथा मुस्लिम जगत् मे माना जाता है, वैज्ञानिक नही कहा जा सकता, परन्तु अवैज्ञानिक होते हुए भी सृष्टि के सचालन के लिए वे भी तीन सत्ताओ को वना कर ही आगे काम चलाते है।

हमने इस प्रकरण मे यहूदी, ईसाई तथा मुसलमानों के मत को इसलिए सम्मिलित कर लिया है क्योकि अन्य एकत्ववादियो की तरह ये भी एकत्ववादी है। चार्वाक-मत तथा भौतिक-विज्ञान—ये दोनो 'जड'-एकत्ववाद को मानते है; शकर, बर्कले तथा यहूदी, ईसाई, मुसलमान—ये सब 'चेतन'-एकत्ववाद को मानते हैं, इसलिए इन दो वर्गों मे हमने उक्त वादो का विभाग कर दिया है। ईश्वर ने जगत् तथा जीव को रचा, रचने के बाद इन तीन से सृष्टि का चक्र चला—यह त्रिक की बात ये मतवादी लोग भी मानते है।

5. द्वैतवाद

भारतीय दर्शन-शास्त्र मे एकत्ववाद के विरुद्ध सबसे पहले तथा प्रबल आवाज़ साख्यकार महर्षि कपिल ने उठाई। उनका कथन था कि सृष्टि मे अन्तिम-सत्ता के रूप मे एक तत्त्व मानने से काम नही चल सकता—न जड के एक-तत्त्व के रूप मे, न चेतन के एक-तत्त्व के रूप मे सृष्टि की जटिल समस्या का हल हो सकता है। जड तथा चेतन दो सत्ताओ को तो मानना ही पडेगा, तभी सृष्ट्युत्पत्ति की समस्या का समाधान हो सकता है। इस विचार को साख्य-दर्शन का प्रकृति-पुरुष का सिद्धान्त कहा जाता है। शास्त्रो मे इस सिद्धान्त को भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न नामो से अभिव्यक्त किया गया है। बृहदा-रण्यक उपनिषद् (प्रथम अध्याय, 8) मे इसे 'क्षर-अक्षर-विचार', गीता (13-1, 2, 3) मे इसे 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' कहा गया है। ब्रह्माण्ड की दृष्टि से उपनिषद् ने दो मूल सत्ताओ को माना है—'क्षर' तथा 'अक्षर'। 'क्षर' वह है जो खर जाती है, एक रूप मे नही रहती, जिसे 'प्रकृति' या Matter कहा जाता है, 'अक्षर' वह है, जो खरती नही, एक रूप मे रहती है, जिसे 'चेतन' या Consciousness कहा जाता है। पिंड की दृष्टि से गीता ने जिन दो सत्ताओ को माना, है वे है—'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ'। 'क्षेत्र' खेत को कहते हैं। यह शरीर एक खेत है। जैसे किसान खेत का मालिक होता है, उससे लाभ उठाता है, वैसे इस शरीर रूपी खेत का मालिक, इससे लाभ उठाने वाला 'क्षेत्रज्ञ' है, क्षेत्रज्ञ—अर्थात्, 'आत्मा'। इसी भाव को कठ उपनिषद् (तृतीय वल्ली, 3, 4) मे 'रथ तथा रथी' के अलकार के रूप मे वर्णित किया है। शरीर 'रथ' है, आत्मा उसका इस्तेमाल करने वाला—'रथी' है। वैदिक-संस्कृति के भोक्ता-भोग्य, द्रष्टा-दृश्य आदि सिद्धान्तो का श्रीगणेश इसी द्वैतवाद के सिद्धान्त से हुआ है। सृष्टि की रचना के सम्बन्ध मे यह द्वित्व का सिद्धान्त इतना हृदयग्राही तथा मनोरंजक है कि ग्रीक-विद्वान् प्लेटो ने अपने ग्रन्थ फीड्स के पृष्ठ 246 मे इसी रूपक का प्रयोग किया है। उपनिषद् के 'क्षर', 'दृश्य', 'भोग्य', 'रथ', साख्य के 'प्रकृति' तथा गीता के 'क्षेत्र' शब्दो का एक-समान अर्थ है। इसी प्रकार उपनिषद् के

'अक्षर', 'द्रष्टा', 'भोक्ता', 'रथी', साख्य के 'पुरुष' तथा गीता के 'क्षेत्रज्ञ' शब्दो का भी एक-समान अर्थ है। 'क्षर-अक्षर', 'दृश्य-द्रष्टा', 'भोग्य-भोक्ता', 'रथ-रथी', 'प्रकृति-पुरुष' तथा 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' का एक-एक का जोडा है जिस जोडे—द्वित्व—की नीव पर ये शास्त्र खडे हैं। यह बात ध्यान मे रखने की है कि इन शब्दो को 'जड' तथा 'चेतन'—इन दो के वर्गीकरण मे भी सम्मिलित किया जा सकता है। इन सब शब्दो का यही अर्थ है कि ये शास्त्र एकत्व पर नही ठहरते, द्वित्व पर ठहरते है। कैसा द्वित्व ? एक सत्ता जड है, दूसरी चेतन—इनका कहना यह है कि सृष्टि की समस्या को समझने के लिए इन दो को तो मानना ही पडेगा, यह बात दूसरी है कि चेतन भी एक की जगह दो हो—एक 'आत्मा' तथा दूसरा 'परमात्मा'। इस स्थान पर हम जड की मूल-सत्ता तथा चेतन की मूल-सत्ता—इस सम्बन्ध मे साख्यकार की दी गई युक्तियो पर विचार करेंगे—यही विचार 'जड-चेतन', 'प्रकृति-पुरुष', 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' तथा 'क्षर-अक्षर' का विचार है।

(क) **'जड़-प्रकृति', 'क्षेत्र' एवं 'क्षर' की मूल-सत्ता है**—श्री तिलक ने इस सम्बन्ध मे गीता-रहस्य मे जो लिखा है उससे अच्छे शब्दो का हम प्रयोग नही कर सकते। 'गीता-रहस्य' पृष्ठ 156 मे वे लिखते हैं. "साख्य मतानुसार जब 'सत्कार्यवाद' सिद्ध हो जाता है, तब यह मत आप ही गिर जाता है कि दृश्य-सृष्टि की उत्पत्ति शून्य मे हुई है, क्योकि शून्य से, अर्थात् जो कुछ है ही नही, उससे 'जो अस्तित्व मे है' वह उत्पन्न नही हो सकता। इस बात से यह साफ सिद्ध होता है कि सृष्टि किसी-न-किसी पदार्थ से उत्पन्न हुई है, और इस समय सृष्टि मे जो गुण हमे दीख पडते है वे ही इस मूल-पदार्थ मे होने चाहिएँ। अब यदि हम सृष्टि की ओर देखें, तो हमे वृक्ष, पशु, मनुष्य, पत्थर, सोना-चाँदी, हीरा, जल, वायु इत्यादि अनेक पदार्थ दीख पडते हैं, और इन सबके रूप तथा गुण भिन्न-भिन्न हैं। सांख्यवादियो का सिद्धान्त है कि यह भिन्नता तथा नानात्व, आदि मे, अर्थात् मूल-पदार्थ मे तो नही दीखता, किन्तु मूल मे सब वस्तुओ का द्रव्य एक ही है। अर्वाचीन-रसायन-शास्त्रज्ञो ने भी भिन्न-भिन्न द्रव्यो का पृथक्करण करके पहले 62 मूल-तत्त्व (फिर 92 और अब 105) ढूंढ निकाले थे, परन्तु अब पश्चिमी-विज्ञान वेत्ताओ ने भी यह निश्चय कर लिया है कि ये मूल-तत्त्व स्वतन्त्र या स्वयसिद्ध नही है, किन्तु इन सबकी जड मे कोई-न-कोई एक ही पदार्थ है, और उस पदार्थ से ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण की सृष्टि उत्पन्न हुई है।" जगत् के सब पदार्थों का जो यह मूल-द्रव्य है, उसे ही साख्य-शास्त्र मे 'प्रकृति' कहते हैं, प्रकृति का अर्थ ही 'मूल' है, इस 'प्रकृति' के आगे जो पदार्थ बनते है, उन्हे 'विकृति'—अर्थात्, मूल-पदार्थ के विकार कहते हैं। परन्तु यद्यपि सब पदार्थो मे मूल-द्रव्य एक ही है तथापि इस जगत् मे पत्थर, मट्टी, पानी, सोना

आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ पाये जाते है—इसका क्या कारण है ? साख्यवादियो ने सब पदार्थो का निरीक्षण करके पदार्थों मे तीन गुणों को पाया है—सत्व, रज तथा तम—इसलिये उस मूल-द्रव्य मे—'प्रकृति' मे—भी वे इन तीनो गुणो मानते हैं जिसके कारण प्रकृति मे नानात्व पाया जाता है, एक प्रकृति से इन तीन गुणो के कारण अनेक पदार्थ उत्पन्न हो जाते है। साख्य का कथन है कि सासारिक जड़-पदार्थो की मूल-सत्ता 'प्रकृति' है, उपनिषदो के शब्दो मे वह 'रथ' या 'क्षर' है, गीता के शब्दो मे वह 'क्षेत्र' है। जैसे पाश्चात्य-जगत् मे रसायन-शास्त्री सृष्टि-रचना मे पहले डाल्टन (1766-1844) के परमाणुवाद को मानते थे, परमाणु अनन्त है, वैसे ही भारतीय न्याय-दर्शन मे भी सृष्टि की रचना परमाणुओ से मानी गई है। न्याय तथा वैशेषिक के अनुसार एक परमाणु से सृष्टि नही बनती, दो परमाणु मिल कर द्व्यणुक बनाते हैं, तीन द्व्यणुक मिलकर त्रसरेणु बनाते हैं। परमाणु अतीन्द्रिय है, त्रसरेणु इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। जैसे डाल्टन के परमाणुवाद के बाद वैज्ञानिको ने कहना शुरू किया कि सृष्टि के आरम्भ मे, जड-जगत् मे मैटर-ही-मैटर था, 'नेब्युला' (Nebula) था, प्राणी-जगत् मे डार्विन के अनुसार जीव-द्रव्य 'प्रोटोप्लाज्म' (Protoplasm) था—इसी से इस नाना प्रकार की जड-चेतन सृष्टि का विकास हुआ, परिणामस्वरूप 19वी शताब्दी मे विज्ञान के जगत् मे 'विकासवाद' (Theory of Evolution) का सिद्धान्त सर्वव्यापी हो गया, वैसे ही साँख्य-सिद्धान्त मे भी जड-सृष्टि का विकास एक मूल-द्रव्य से माना जाता है जिसे 'प्रकृति' का नाम दिया गया है। इस दृष्टि से साख्य का प्रकृति से विकृति का सिद्धान्त डार्विन (1809-1882) तथा हर्बर्ट स्पेन्सर (1820-1903) आदि के विकासवाद के सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण की आध्यात्मिकता तथा भौतिकता इन दोनो की विषय-प्रतिपादन शैली मे अलग-अलग प्रतिबिम्बित दिखलाई देती है।

(ख) **चेतन-पुरुष, क्षेत्रज्ञ एवं अक्षर की मूल-सत्ता**—जिस प्रकार साख्य जड-प्रकृति की मूल-सत्ता मानता है, उसी प्रकार चेतन की भी मूल-सत्ता मानता है। इसी चेतन को 'पुरुष', 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'अक्षर' कहा गया है। गीता ने मानव-शरीर को 'क्षेत्र' कहा है—यह खेत है, कारखाना है। प्रश्न उठता है कि यह किस का खेत है, किसका कारखाना है ? इस खेत का, इस कारखाने का कोई स्वामी है या नही ? शरीर रूपी खेत मे खेती हो रही है, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ हल चलाती रहती है, शरीर का यह कारखाना धडाधड चलता रहता है—क्या यह-सब अपने-आप हो रहा है ? कोई हल खेत मे अपने-आप खेती नही करता, हल को किसान चलाता है, कोई कारखाना अपने-आप नही चलता, कारखाने का कोई मालिक होता है जो मजदूरो को काम करने का हुक्म देता है। वह कौन है ? इसके अलावा 'स्मृति' कहाँ रहती है ? शरीर तो हर सातवे साल बदलता

रहता है, पुराने तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, नये आ जाते हैं, सात साल के बाद शरीर ही नया हो जाता है, किन्तु मुझे पिछले 50 साल की बातें याद रहती हैं। जब शरीर के सब परमाणु बदल गये, तो 50 साल पहले की बात को लगातार सभाल रखने वाला, इस एकीकरण की प्रक्रिया को जारी रखने वाला कौन है ? फिर 'मैं' की अनुभूति तो हर-किसी को होती है, कोई व्यक्ति ऐसा नही जिसे 'मैं नही हूँ' की अनुभूति होती हो। यह अनुभव कौन करता है ? वेदान्त-दर्शन (3 3—53, 54) मे कहा है कि 'मैं हूँ'—इस प्रतीति का प्रत्येक मनुष्य को होना आत्मा के शरीर से अतिरिक्त-अस्तित्व होने का एक पुष्टतम प्रमाण है। इसी बात को पाश्चात्य-दार्शनिक डेकार्ट (Decartes—1596-1650) ने यूँ कहा है—"प्रश्न यह है कि क्या मेरी स्वतन्त्र सत्ता है ? यह निस्सन्दिग्ध है कि यह प्रश्न करते हुए मैं अपनी सत्ता के विषय मे सन्देह कर रहा हूँ। परन्तु 'सन्देह करना' सिद्ध करता है कि मैं 'विचार' कर रहा हूँ। अगर मैं विचार कर रहा हूँ तो यह निस्सन्दिग्ध है कि 'मैं हूँ', अगर 'मैं नही हूँ', तो मैं विचार कैसे कर सकता हूँ—Cognito, ergo sum (I think, therefore I am)". श्री शकराचार्य की युक्ति तथा डेकार्ट की युक्ति का एक ही अर्थ है। आत्मा की मूल-सत्ता को सिद्ध करने के लिये साख्य-शास्त्र की युक्तियो का हम 'आत्मा' के प्रकरण मे पहले उल्लेख कर आये हैं। इन सब युक्तियो का एक जगह सग्रह निम्न साख्यकारिका मे किया गया है

सघात् परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययात् अधिष्ठानात्
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। साख्यकारिका, 17।

इसका अर्थ है—(१) **'संघात परार्थत्वात्'**—जो भौतिक-पदार्थ है वे अपने लिए नही किसी दूसरे के लिए होते हैं, बिस्तर बिस्तर पर नही सोता, दूसरा कोई बिस्तर पर सोता है। ससार सघातमय है, जिसके लिए यह सघात है, वही आत्मा है, (२) **'त्रिगुणादि विपर्ययात्'**—प्रकृति मे सत्व, रज, तम—ये तीन गुण हैं। इन तीन गुणो के कारण प्रकृति दृश्य है, अविवेकी है। अगर प्रकृति दृश्य है, अविवेकी है, तो किस की अपेक्षा से यह दृश्य है, अविवेकी है ? अपेक्षा का अर्थ है—इससे विपरीत-सत्ता जिसकी अपेक्षा से यह दृश्य तथा अविवेकी कही जा सके—वही अदृश्य, चेतन, विवेकी सत्ता आत्मा है, (३) **'अधिष्ठानात्'**—रथ तभी चलता है जब उसके चलाने वाला हो, शरीर भी तो रथ है—चलता-फिरता है—इसका अधिष्ठाता, इसे जो चलाता है वह कोई चेतन है, वही आत्मा है, (४) **'भोक्तृभावात्'**—ससार के सब विषय भोग्य हैं, इनका जो भोक्ता है वह आत्मा है, (५) **'कैवल्यार्थं प्रवृत्ते.'**—मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के बधनो से बँधा पडा है, दुःखो से सब कराह रहे हैं, उनसे मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील हैं। कौन दुःख से मुक्त होना चाहता है ? अगर आत्मा है ही नही, तो दुःख से

छुटकारा कौन पाना चाहता है ? जो सब दु खो से छूटने के लिए छटपटाता रहता है, वही आत्मा है। साख्यकार ने जहाँ जड-प्रकृति की सत्ता को माना है, वहाँ चेतन-आत्मा के जड-प्रकृति से भिन्न होने के लिए उक्त पाँच युक्तियाँ दी है जिनके द्वारा साख्यकार ने द्वित्व को सिद्ध किया है।

द्वित्ववाद की समीक्षा

हमने देखा कि भारतीय चिन्तको मे जहाँ एकत्ववादी थे, वहाँ द्वित्ववादी भी थे जिनका कहना था कि सृष्ट्युत्पत्ति की समस्या सिर्फ एक मूल-सत्ता को मानने से हल नही होती। चाहे जड को मूल-सत्ता माने, चाहे चेतन को, जड से चेतन उत्पन्न नही हो सकता, न चेतन से जड उत्पन्न हो सकता है क्योकि ये दोनो तत्त्व एक-दूसरे से भिन्न है, परन्तु ससार मे पाए दोनो जाते है। इस स्थिति को देख कर कुछ विचारको ने यही उचित समझा कि वे एक के स्थान मे दो मूल-सत्ताओ को मानें—'जड' तथा 'चेतन'। परन्तु 'चेतन' कैसा ? जैसे ससार मे जड-पदार्थ नाना दिखलाई देते है, उन सव मे जडता का समान-गुण पाया जाता है, इसलिए इन सव नाना जड-रूपो को एक मे समाविष्ट कर जड-प्रकृति का नाम दे दिया गया, क्या ऐसे ही चेतन अनेक नही दिखलाई देते, क्या इन सब चेतनों को एक चेतन-तत्त्व मे समाविष्ट नही किया जा सकता ? क्या ऐसा तो नही कि जैसे जगत् मे जड तथा चेतन—ये दो मूलतत्त्व दिखलाई देते हैं, वैसे ही चेतन मे—'अल्पज्ञ-चेतन' और 'सर्वज्ञ-चेतन'—ये दो मूलतत्त्व भी हो, और इस प्रकार मूल-सत्ताएँ दो न होकर तीन हो—'जड'-मूलसत्ता का नाम 'प्रकृति', अल्पज्ञ-'चेतन-सत्ता' का नाम 'आत्मा' और सर्वज्ञ-'चेतन-सत्ता' का नाम 'परमात्मा' हो। हमे तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि इसी दुविधा मे पड कर साख्य ने इस चेतन मूल-सत्ता का नाम 'पुरुष', उपनिषद् ने 'अक्षर' तथा गीता ने उसका नाम 'क्षेत्रज्ञ' रखा। ये तीनो शब्द पिण्ड मे आत्मा तथा ब्रह्माण्ड मे परमात्मा पर एक-समान घटित हो जाते है। पिण्ड मे 'पुरुष'-शब्द का अर्थ है—आत्मा, ब्रह्माण्ड मे 'पुरुष'-शब्द का अर्थ है—परमात्मा, क्योकि 'पुरुष'-शब्द 'पुरि शेते'—जो पिण्ड या ब्रह्माण्ड रूपी नगरी मे आराम कर रहा है—यह है। तभी पतजलि के योग-शास्त्र मे ईश्वर को पुरुष-विशेष कहा गया है—**'क्लेश कर्म विपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः'**। पिण्ड मे 'क्षेत्रज्ञ'-शब्द का अर्थ है—आत्मा, ब्रह्माण्ड मे 'क्षेत्रज्ञ'-शब्द का अर्थ है—परमात्मा, क्योकि शरीर-रूपी यह पिण्ड क्षेत्र है—आत्मा का, जगत्-रूपी ब्रह्माण्ड क्षेत्र है—परमात्मा का; आत्मा इस शरीर-रूपी कारखाने का 'क्षेत्रज्ञ' है, मालिक है, परमात्मा इस सृष्टि-रूपी कारखाने का 'क्षेत्रज्ञ' है, मालिक है। पिण्ड मे 'अक्षर'-शब्द का अर्थ है—शरीर-रूपी खर जाने वाले पिण्ड मे न खरने वाला आत्मा;

ब्रह्माण्ड मे 'अक्षर' शब्द का अर्थ है—इस क्षण-भंगुर पार्थिव-जगत् मे निवास करने वाला अनादि, अनन्त, अक्षरणशील परमात्मा। इस प्रकार सांख्य, उपनिषद् तथा गीता ने चेतन के लिए क्रमश जो पुरुष, अक्षर तथा क्षेत्रज्ञ शब्दो का प्रयोग किया है वह आत्मा तथा परमात्मा—इन चेतनो पर समान-रूप से घटित होता है। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो सांख्य, उपनिषद् तथा गीता—तीनो मूक-भाषा मे ईश्वर, जीव, प्रकृति—इन तीनो मूल-सत्ताओ को स्वीकार करते हैं।

6 त्रैतवाद

हमने इस प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए प्रश्न उठाया था कि क्या सृष्टि की मूल-सत्ता एक है, दो हैं, या तीन, क्या एक मूल-कारण से यह नाना-प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हो सकती है, या दो मूल-कारणो को मानना पडता है, या दो से भी काम नही चलता, तीन मूल-कारणो को मानना पडता है? इस सम्बन्ध मे हमने एकत्ववादियो तथा द्वित्ववादियो का वर्णन किया, अब त्रैतवादियो—अर्थात् बहुत्ववादियो के सिद्धान्त पर विचार करने का समय है।

त्रैतवादियो का कहना है कि किसी वस्तु के निर्माण मे तीन प्रकार के कारणो का होना आवश्यक है। वे है—उपादान-कारण, निमित्त-कारण तथा साधारण-कारण (आकारिक-कारण)। इन्हे क्रमश समवायी-कारण, निमित्त-कारण तथा असमवायी-कारण भी कहा जाता है। ग्रीस के विद्वान् अरस्तु (385-322, ई० पू०) ने कारणो की विवेचना करते हुए समवायी या उपादान-कारण को Causa Materialis (Material cause) कहा है, निमित्त-कारण को Causa Efficiens (Efficient cause) कहा है, असमवायी या साधारण-कारण (आकारिक-कारण) को Causa Formalis (Formal cause) कहा है। वह एक चौथा कारण भी मानता है जिसे उसने सोद्देश्यता—Causa Finalis (Final cause) का नाम दिया है।

उदाहरणार्थ, हम घडे का दृष्टान्त ले लेते हैं। उपादान या समवायी कारण वह है जिसके बिना घडा न बन सके, जो स्वय रूप बदल कर घडा बन जाए। इस परिभाषा से मट्टी घडे का उपादान-कारण या समवायी-कारण या Material cause हुआ। निमित्त-कारण वह है जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप बने नही, दूसरे को प्रकारान्तर से बना दे। इस परिभाषा से कुम्हार घडे का निमित्त-कारण या Efficient cause हुआ। असमवायी या साधारण कारण (आकारिक-कारण) वह है जो किसी वस्तु के बनाने मे साधन हो या साधारण निमित्त हो। इस परिभाषा से कुम्हार का गोल चाक आदि घडे के निर्माण मे साधारण-कारण (आकारिक-कारण) या Formal cause हुआ। अरस्तु ने कारणो को तीन की जगह चार माना है, वह चौथा कारण

उस वस्तु के निर्माण मे निर्माण-कर्त्ता का उद्देश्य है जिसे उसने 'सोद्देश्यता'—Final cause—कहा है। घडे, कुम्हार, चाक—इन सव का उद्देश्य इस उद्देश्य से घडा बनाना है ताकि उसमे पानी भरा जा सके, विना उद्देश्य के, सिर्फ लीला करने के लिए घडा नही बनाया जाता; वच्चे भले ही खेल-मात्र के लिए घडा वनाएँ या सीखने के लिए बनाएँ परन्तु मूलत घडा किसी उद्देश्य के लिए बनाया जाता है—अरस्तु के विचार मे वस्तु के निर्माण मे 'सोद्देश्यता' उसका चौथा कारण है।

अव इन चारो कारणो को सृष्टि पर घटा कर देखे। सृष्टि का उपादान-कारण प्रकृति है, परमाणु है। यह उपादान-कारण न हो तो सृष्टि वन नही सकती। वेदान्ती कहते है कि ब्रह्म स्वय सृष्टि का उपादान-कारण है जिसे वे सृष्टि का अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण कहते हैं—अर्थात्, वह सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण एक-साथ है। परन्तु ब्रह्म सृष्टि का उपादान-कारण नही हो सकता क्योकि यह नियम है कि कारण मे जो गुण होते हैं वे कार्य मे आते है—**'कारण गुण पूर्वक कार्य गुणो दृष्ट.'**। अगर ब्रह्म सृष्टि का उपादान-कारण होता, तो जैसे सृष्टि भगुर है, सविकार है, वैसे ब्रह्म भी भगुर होता, सविकार होता, या जैसे ब्रह्म चेतन है, वैसे ही सृष्टि भी चेतन होती, ब्रह्म तो न भगुर है, न सविकार है, न सृष्टि चेतन-स्वरूप है। इसलिए प्रकृति ही, सृष्टि का उपादान-कारण हो सकती है क्योकि वही घडे को वनाने मे मट्टी की तरह सृष्टि को बनाने मे रूप वदल कर स्वय सृष्टि वन जाती है। सृष्टि का उपादान-कारण प्रकृति, परन्तु निमित्त-कारण ब्रह्म या ईश्वर है। निमित्त-कारण वह होता है जिसके वनाने से कुछ वने, न वनाने से न वने, स्वय वने नही, दूसरे को वना दे। जैसे कुम्हार मिट्टी से घडा वनाता है, उसके वनाने से घडा बनता है, न बनाने से नही वनता, घडा तो वन जाता है, कुम्हार स्वय नही वनता, ठीक ऐसे ही ब्रह्म या ईश्वर प्रकृति से सृष्टि वनाता है, वह न वनाये तो सृष्टि न वने, वनाता है तो वन जाती है, स्वय नही वनता, सृष्टि को वनाता है, इसलिए वह सृष्टि का निमित्त-कारण है। जैसे घडा वनाने मे कुम्हार के चाक आदि साधारण-कारण हैं, वैसे सृष्टि मे प्रकृति के नाना प्रकार—ब्रह्माण्ड मे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि तथा पिण्ड मे ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ आदि—साधारण-कारण है। इन सव कारणो की शृखला मे अरस्तु का सोद्देश्यता भी एक कारण है। किस उद्देश्य से घडा वन रहा है, किस उद्देश्य से सृष्टि वन रही है। जैसे घडे का उद्देश्य पानी भरना है, वैसे सृष्टि का उद्देश्य जीवात्मा को कर्म-फल देना है, उसे विकास के मार्ग पर डाल देना है। प्रकृति, परमेश्वर के साथ जीवात्मा न हो तो सृष्टि का गोरखधन्धा एक लीलामात्र, खेलमात्र रह जाता है। इन सव कारणो से सृष्टि की

रचना मे न एकत्ववाद से काम चलता है, न द्वित्ववाद से काम चलता है, त्रित्ववाद से ही इस समस्या का समाधान हो सकता है। यही कारण है कि एकत्ववादी-वेदान्त ने भी सीधे तौर पर नही परन्तु टेढे तौर पर, द्वित्ववादी साख्य ने मूक-भाषा मे तथा वेदो ने सीधे तौर पर त्रैतवाद को स्वीकार किया है। इन्होंने किस प्रकार त्रैतवाद को स्वीकार किया है इसका सक्षिप्त निर्देश हम नीचे दे रहे हैं.

(क) **वेदान्त में त्रैतवाद**—शाकर-वेदान्त ने ब्रह्म के साथ माया को उसका अभिन्न अग माना है, ब्रह्म की शक्ति माना है, ससार को मिथ्या कहते हुए उसे परमार्थ-असत् कहने के साथ-साथ व्यवहार-सत् माना है, माया की उपाधि से विशिष्ट ब्रह्म को ईश्वर तथा जीव माना है। ब्रह्म ही अवस्था-विशेष मे 'प्रकृति' है, अवस्था-विशेष मे 'ईश्वर' है, अवस्था-विशेष मे 'जीव' है। एक होने पर अवस्था-विशेषो का द्वित्व या त्रित्व कैसे उत्पन्न हो गया ? इसका सिर्फ एक समाधान है—'लीला'—परन्तु यह समाधान यही कहने के समान है कि उसकी लीला वह जाने, हम सिर क्यो खपायें ? वेदान्त मे जो दृष्टान्त दिए जाते है उनमे त्रित्ववाद को माने बिना वे समझ नही पडते। उदाहरणार्थ, रज्जु मे सर्प की, शुक्ता मे रजत की भ्रान्ति होती है, परन्तु प्रकाश से यह दूर हो जाती है। विचार करने से मालूम होता है कि रज्जु की भी सत्ता है, सर्प की भी सत्ता है; शुक्ता की भी सत्ता है, रजत की भी सत्ता है। अगर ब्रह्म मे सृष्टि की रज्जु-सर्प-वत् या शुक्ति-रजत-वत् भ्रान्ति हो रही है, तो जिस सृष्टि की भ्रान्ति हो रही है वह सृष्टि कही तो होनी चाहिए, जैसे रज्जु तथा सर्प की एव शुक्ति तथा रजत की, इस भ्रान्तिमय-जगत् मे ही सही, अलग-अलग सत्ता है। प्रश्न यह है कि जिस सृष्टि की इस सृष्टि मे भ्रान्ति हो रही है वह सृष्टि कहाँ है, इस सृष्टि को तो शकर मिथ्या मानते हैं। ससार स्वप्नवत् है, जैसे स्वप्न मे आदमी के सीग दीख जाते है, जागने पर यह स्वप्न टूट जाता है, वैसे यह मिथ्या-जगत् एक स्वप्न है, जो आत्मबोध हो जाने पर भग हो जाता है—यह कहना भी युक्तियुक्त नही है। स्वप्न मे वही वस्तुएँ दीख पडती हैं जिन्हे हमने जाग्रत-अवस्था मे असली-रूप मे देखा है, या जाग्रत-अवस्था मे देखी चीजो का ही स्वप्न मे बेमेलपना दीखने लगता है। जाग्रत मे हमने आदमी को अलग-से देखा, सीग अलग-से देखे। स्वप्न मे पहले से इन्ही देखे हुए पदार्थों का ही तो मेल हुआ। फिर यह कहना कि यह जगत् हमे स्वप्न की तरह दीख रहा है, भ्रम है, इस प्रश्न का उत्तर चाहता है कि जिस मिथ्या-जगत् का हमे भ्रम हो रहा है उसकी असली-सत्ता कहाँ है क्योकि स्वप्न मे जो-कुछ दीखता है उसकी असली-सत्ता तो कही-न-कहीं होती ही है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारने की बात है कि जहाँ भ्रान्ति होती है वहाँ तीन सत्ताएँ अवश्य होती हैं। एक

वह व्यक्ति जिसे भ्रान्ति हो रही है, दूसरी वह वस्तु जिसमे भ्रान्ति हो रही है, तीसरी वह वस्तु जिसकी भ्रान्ति हो रही है। उदाहरणार्थ, सीपी मे चाँदी की भ्रान्ति—मिथ्या-प्रतीति—हो रही है। इसमे तीनो तत्त्व मौजूद हैं। एक-तत्त्व सीपी है जिसमे भ्रान्ति हो रही है; दूसरा-तत्त्व चाँदी है जिसकी भ्रान्ति हो रही है; तीसरा-तत्त्व वह व्यक्ति है जिसे भ्रान्ति हो रही है। इन तीनो के विना सीपी मे चाँदी की भ्रान्ति नहीं हो सकती। इसी को वेदान्त मे 'व्यवहार-सत्' का नाम दिया गया है। परमार्थ मे एक ही सत्ता है, व्यवहार मे देखा जाता है कि एक की जगह तीन मूलतत्त्व हैं। तभी हमने कहा कि वेदान्त मे सीधे तौर पर तो नही, 'माया', 'उपाधि', 'व्यवहार-सत्' आदि शब्दो के द्वारा यह मान लिया गया है कि तीन मूल-तत्त्वो को माने विना काम नही चलता। पाश्चात्य-जगत् मे डेकार्ट ने तीन मूल-सत्ताओ को माना है, वेदान्त के अनेक आचार्यों में से भारत मे मध्वाचार्य तथा रामानुजाचार्य ने भी त्रैत-सत्ता को माना है।

(ख) **उपनिषदों, गीता तथा सांख्य में त्रैतवाद**—जैसा हम पहले लिख आए हैं उपनिषद्, गीता तथा साख्य मे जिन मूल तत्त्वो का निर्देश है, वे हैं—'क्षर-अक्षर', 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' तथा 'प्रकृति-पुरुष'। इसका यह अर्थ है कि इन शास्त्रो मे 'क्षर', 'क्षेत्र', 'प्रकृति' के नाम से एक 'जड-मूलतत्त्व' को माना ही है, इसके अतिरिक्त 'अक्षर', 'क्षेत्रज्ञ', 'पुरुष' के नाम से एक 'चेतन-मूलतत्त्व' को भी माना है। 'चेतन-मूलतत्त्व' दो है—पिण्ड मे 'आत्मा', ब्रह्माण्ड मे 'परमात्मा'। इस प्रकार इन शास्त्रो मे भी तीन मूल-तत्त्वो का निर्देश है।

(ग) **वेदों मे त्रैतवाद**—वेदो का अध्ययन करने से भी यह ज्ञात होता है कि उनमे त्रैतवाद का बड़े मनोरजक रूप मे वर्णन किया गया है। इसमे ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के निम्न मन्त्र प्रमाण है·

(i) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अति अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति ॥

(ऋ०, मण्डल 1, सूक्त 164, मन्त्र 20; अथर्व 9, 9, 10)

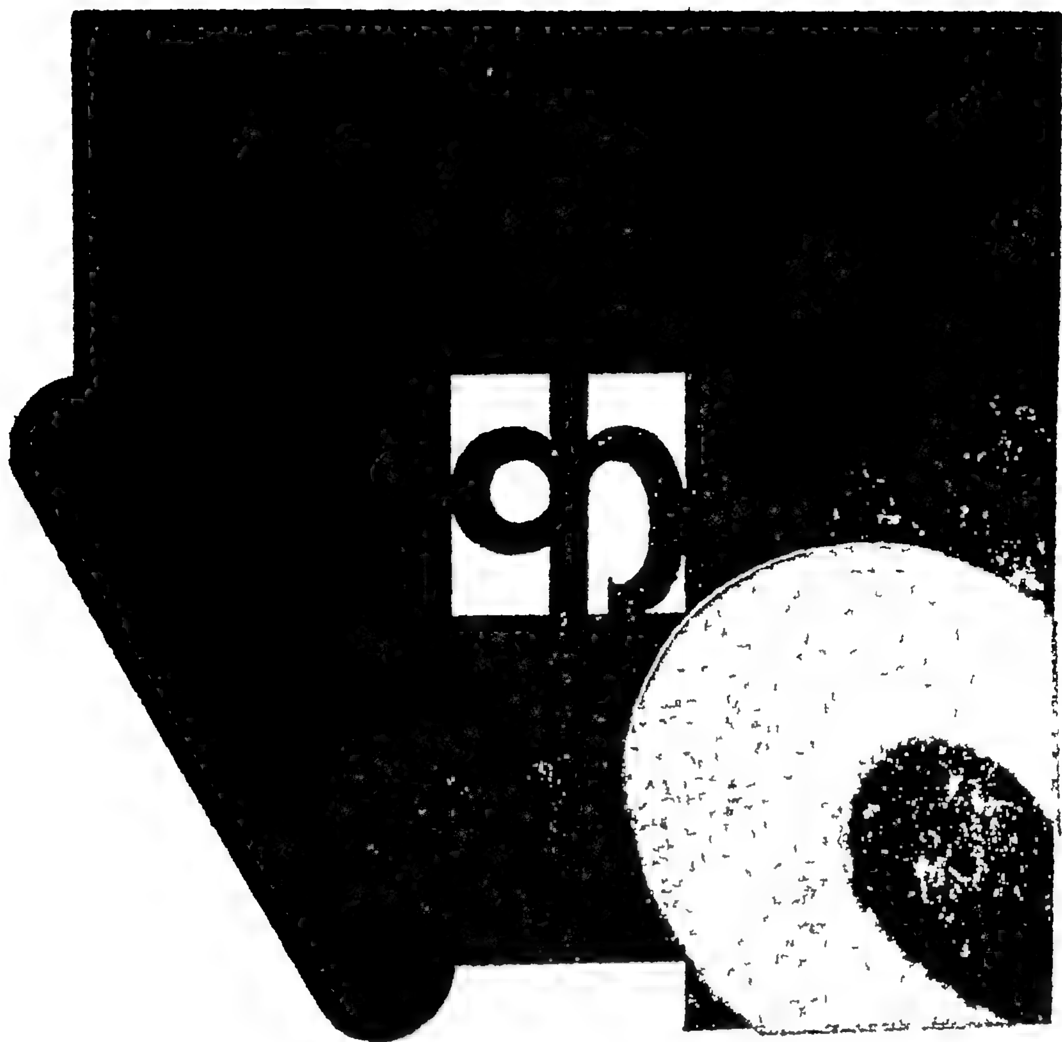
इस मन्त्र मे रूपक के तौर पर कहा गया है कि दो पक्षी हैं जो परस्पर साथ-साथ रहते हैं, दोनो एक ही वृक्ष का आलिगन किए वैठे हैं। इन दोनो मे से एक वृक्ष के फलो को खा-खा कर उनका स्वाद ले रहा है, दूसरा विना खाए पहले पक्षी की गति-विधि का सूक्ष्म-निरीक्षण कर रहा है। इस वर्णन मे स्पष्ट तौर पर पिण्ड मे इस शरीर को तथा ब्रह्माण्ड मे विशाल-जगत् को वृक्ष से उपमा दी गई है। पिण्ड-रूपी वृक्ष तथा ब्रह्माण्ड-रूपी वृक्ष मे यह जीव-रूपी पक्षी पिण्ड मे इन्द्रियो का तथा ब्रह्माण्ड मे सासारिक-विषयो का मीठा-मीठा लुभावना भोग ले रहा है। दूसरा परमेश्वर-रूपी पक्षी जीवात्मा द्वारा किये गए भोग-रूपी कर्मों का फल देने के लिए उसकी गति-विधि को देखता रहता है।

(ii) अथर्ववेद का निम्न मन्त्र भी त्रैतवाद का ही उल्लेख करता है :

वालात् एकम् अणीयस्कम् उत् एक नैव दृश्यते
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया (अथर्व, 10, 8, 25)

एक ऐसा तत्त्व है जो बाल से भी सूक्ष्म है, अणुतम है—इससे 'जीव' का वर्णन हुआ, दूसरा ऐसा तत्त्व है, जो इतना सूक्ष्म है कि दीखता ही नहीं—इससे सूक्ष्म, अदृश्य 'प्रकृति' का वर्णन हुआ ; तीसरा ऐसा तत्त्व है—देवता है—जिसने समग्र-जगत् का आलिंगन किया हुआ है, सर्वव्यापक है, वही देवता मेरा प्रिय है—इससे 'ईश्वर' का वर्णन हुआ। इस मन्त्र में भी अणुरूप जीव का, अदृश्य-रूप प्रकृति का तथा समग्र-जगत् का आलिंगन करने वाले सर्वव्यापक परमात्मा का वर्णन है।

इस प्रकार हमने देखा कि सृष्ट्युत्पत्ति में एकत्ववाद, द्वैतवाद तथा त्रैतवाद का अपना-अपना क्या स्थान है और इस सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनों की, पाश्चात्य-विद्वानों की तथा वेदों की विचारधारा क्या है।



कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (अथर्व, 7. 50 ८)

'कर्म' के सिद्धान्त को एक दार्शनिक-सिद्धान्त मान कर उस पर सिर्फ भारतीय-चिंतको ने विचार किया है, पाश्चात्य-चिंतको ने इसे एक दार्शनिक-सिद्धान्त मान कर विचार नही किया। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत मे पुनर्जन्म का सिद्धान्त यहाँ की विचारधारा का अभिन्न अग रहा है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त की ही उपज है। भारत के छ मुख्य-दर्शनो मे से एक दर्शन—'मीमासा'—सिर्फ 'कर्म' पर लिखा गया है। गीता का तो सारा लक्ष्य ही 'कर्मयोग' का प्रतिपादन करना है।

'कर्म' का सिद्धान्त क्या है ? यह भौतिक-जगत् मे विद्यमान कारण-कार्य के नियम का ही आध्यात्मिक-जगत् मे घटित होना है। कारण होगा तो उसका कार्य होगा, कार्य होगा तो उसका कारण होगा—अगर यह नियम ठीक है, अटल है, तो कर्म' भी तो एक कारण है, इसका कार्य होना ही चाहिये, यह बात अटल होनी चाहिये। कर्म का फल अटल है—इसी को 'कर्म का सिद्धान्त' कहते है।

'कर्म' की चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठ खडा होता है कि क्या मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है, या वह दैव से, भाग्य से वँधा हुआ है ? 'कर्म' का फल ही तो 'दैव' है, 'भाग्य' है, परन्तु क्या ऐसी हालत मे मनुष्य को कर्म करने मे स्वतन्त्र कहा जा सकता है ? यह प्रश्न 'पुरुपार्थ' तथा 'भाग्य' के सनातन द्वन्द्व का प्रश्न है। भाग्यवादी कहते हैं कि जव कर्म का फल निश्चित है, तव मनुष्य का जीवन भाग्य से वँधा हुआ है, पुरुपार्थवादी कहते है कि आज जिसे हम भाग्य कहते है विगत-काल मे वह पुरुपार्थ था, पुरुपार्थ के विना भाग्य का निर्माण हो ही नही सकता। अगर हम कहे कि इस जन्म मे जो फल हम भोग रहे है वह पिछले जन्म का फल है, तो प्रश्न उठ खडा होता है कि पिछले जन्म मे वह क्या था ? अगर पिछले जन्म मे भी वह भाग्य ही था, तो उमसे पिछले जन्म मे चले जाये, और इसी शंका को उठायें। पीछे-पीछे चलते जाने से समस्या हल नही होती, अनवस्था दोप आ जाता है, और यह मानना ही पडता है कि जिसे हम 'दैव' कहते है वह किसी समय 'पुरुपार्थ' था। अगर हम किसी जन्म मे 'पुरुपार्थ' कर सकते थे, कर्म करने मे स्वतन्त्र थे, तो इस जन्म मे स्वतन्त्र क्यो नही, इस जन्म में 'पुरुपार्थ' क्यो नही कर सकते ? वस्तुत वैदिक विचारधारा यही है कि जीवन मे पुरुपार्थ तथा दैव दोनो साथ-साथ चलते है। तभी अथर्ववेद मे कहा—'मेरा किया हुआ सव-कुछ मेरे दायें हाथ मे है, परन्तु उसके वावजूद विजय मेरे वायें हाथ का खेल है।'

यह हम देखते है कि प्रत्येक कर्म का फल नही मिलता। जव आत्मा इस चोले को छोड कर चल देता है, तव उन कर्मो का क्या होता है जिनका फल नही मिला ? इसका उत्तर यह है कि उन कर्मो को वीज-रूप संस्कारो के रूप मे सूक्ष्म-शरीर मे लेकर उसके साथ आत्मा अगले जन्मो मे जाता है और वहाँ वे वीज समय पाकर कर्म-फल के रूप मे फलित हो जाते है। सूक्ष्म-शरीर मे सस्कार ऐसे वने रहते है जैसे कटोरे मे से केसर फेंक देने पर भी उसकी वास कटोरे मे वनी रहती है। कर्म का तात्कालिक-फल भी मिलता है, वह फल कर्म करने वाले के मस्तिष्क मे अच्छे या वुरे कर्म की प्रवृत्ति वन जाना है। प्रथम वार पाप करने वाले को अगर तत्काल फल नही मिला तो क्या है, उसकी पाप करने की प्रवृत्ति तो वन गई जो धीरे-धीरे उसका जेल की तरफ मुँह कर देती है। इस प्रवृत्ति का वन जाना ही कर्म का तत्काल फल है। मनुष्य क्योकि कर्म करने मे स्वतन्त्र है, इसलिये कर्म के वन्धन को जव चाहे कर्म से ही काट सकता है।

सप्तम अध्याय

कर्म

(THE LAW OF KARMA)

1. भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी संस्कृति में 'कर्म' का विचार

(क) **'कर्म' पर भौतिकवादी विचार**—भौतिकवादी-सस्कृति मे 'कर्म' के सिद्धान्त पर दार्शनिक-दृष्टि से कोई विशेष विचार नही किया जाता, जो-कुछ किया जाता है उसका सिर्फ इस लोक से सम्बन्ध है। 'कर्म' के सिद्धान्त का सम्बन्ध मुख्यतः पुनर्जन्म से है। हमने पिछले जन्म मे जैसे कर्म किये थे वैसा यह जन्म मिला, जैसे कर्म इस जन्म मे करेंगे वैसा अगला जन्म मिलेगा। यह विचार भौतिकवादी-विचारधारा मे सर्वथा अमान्य है। भौतिकवादी-विचारधारा यह मानती है कि यही जन्म है, न पिछला है, न अगला है। भारतीय-दर्शनो मे चार्वाक-दर्शन इस विचार का प्रतिनिधि है। अध्यात्मशास्त्र मे मानव-जीवन के चार लक्ष्य हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। मनुष्य का जीवन इन्ही चार के लिए प्रयत्नशील रहता है। भौतिकवादी-चार्वाक का कथन है कि ये चार नही, अर्थ और काम—ये दो ही जीवन के लक्ष्य है—पैसा कमाओ और अपनी कामनाओ, वासनाओ को भोगो। इसमे सन्देह नही कि अगर हमारे कर्मो का विगत-जीवन तथा आने वाले जीवन से कोई सम्बन्ध नही, तो भौतिकवादी-दृष्टिकोण से 'धर्म' और 'मोक्ष' निरर्थक शब्द है, 'अर्थ' और 'काम' ही सार्थक हैं—चाहे यह विचार पश्चिम के विचारको का हो, चाहे पूर्व के विचारको का। इसी विचार-सरणी पर चलते हुए चार्वाक की फिलोसोफी का सार है—**'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत.'**—जब तक जीओ सुख से जीओ, देह का नाश हो गया तो फिर आना-जाना कहाँ ? 'कर्म' के सिद्धान्त का निरूपण करने की भौतिकवादी-विचारधारा मे कोई आवश्यकता नही, इसलिए पाश्चात्य-विचारको ने मन, आत्मा, चेतना, ईश्वर, प्रकृति आदि तत्त्वो पर तो विचार भी किया है, कर्म के सिद्धान्त पर तो विचार भी नही किया। 'कर्म' के सिद्धान्त को एक दार्शनिक-विषय नहीं माना

सिर्फ भारतीय-विचारधारा मे पाया जाता है, पाश्चात्य-विचारको ने दार्शनिक-सिद्धान्त के तौर पर 'कर्म' पर विचार नही किया।

(ख) **'कर्म' पर अध्यात्मवादी विचार**—अध्यात्मवादी दर्शनो मे 'कर्म' पर एक फिलोसोफी के रूप मे विचार किया गया है। आस्तिक दर्शन छ माने जाते है—वैशेपिक न्याय, साख्य-योग, मीमासा-वेदान्त— इन दो-दो का एक-एक जोडा है। इनमे से मीमामा-दर्शन को कर्म-मीमासा भी कहा जाता है। अध्यात्मशास्त्र मे कर्म का फिलोसोफी के तौर पर इतना महत्त्व है कि छ दर्शनो मे से एक मे कर्म पर पूरा-का-पूरा दर्शन लिखा गया है। गीता तो 'कर्म-योग' की ही विस्तृत व्याख्या है। मीमासा के 'कर्म' तथा गीता के 'कर्म' मे एक भेद है। मीमासा का 'कर्म' यज्ञ-यागादि पर आश्रित है, मीमासक इस जन्म के यज्ञ-यागादि कर्मों द्वारा अगले जन्म मे स्वर्ग-प्राप्ति के लिए कर्मों का अनुष्ठान करता है—सकाम-भाव से कर्म करता है, गीता कर्म को इस दृष्टि से करने की प्रेरणा देती है कि वह कर्त्तव्य है, अपने मे शुभ है, उसे करना है—निष्काम-भाव से करना है। मीमासा का कर्म 'कर्मवाद' कहलाता है, उसमे स्वार्थ की भावना है; गीता का कर्म 'कर्मयोग' कहलाता है, उसमे नि स्वार्थ की भावना है।

2. 'कर्म' तथा 'कारण-कार्य' का नियम [दोनों में समानता—'अटलपना']

(क) **भौतिक-जगत् मे कारण-कार्य का नियम** (Law of cause and effect) **काम करता है**—सर जेम्स जीन्स 'New World of Modern Physics' मे लिखते है कि कोई समय था जव मनुष्य को कारण-कार्य के नियम का पता नही था। वह समझता था कि जैसे वह जो चाहता है करता है, वैसे ही ससार मे कोई देवी-देवता है जो अपनी मर्जी के अनुसार मनचाही वात करते है। देवता प्रसन्न हुए तो वर्षा कर दी, नाराज़ हुए तो सूखा डाल दिया, प्रसन्न हुए तो वीमारी हटा दी, नाराज़ हुए तो रोग भेज दिया। वडी देखा-भाली के वाद मनुष्य ने यह खोज की कि ससार मे कारण-कार्य का नियम काम कर रहा है। कारण होगा तो कार्य होगा, कार्य होगा तो उसका कारण होगा। 17वी शताब्दी मे, जो गैलिलियो (1564-1542) तथा न्यूटन (1642-1727) का काल था, युरोप के भौतिक-विज्ञान के पडित इस परिणाम पर पहुँचे कि ससार देवी-देवताओ की मर्ज़ी पर नही चल रहा, इसमे कारण-कार्य का नियम काम कर रहा है। भौतिक-जगत् का कारण-कार्य का नियम ही अध्यात्मिक-जगत् मे 'कर्म' का नियम कहलाता है। अव तक सितारो की गति या स्थिति के साथ राजाओ के जन्म तथा मृत्यु का सम्वन्ध जोडा जाता था, अव मालूम हुआ कि सूर्य, चन्द्र, तारो का इस पृथ्वी के नाचीज व्यक्तियो से कोई सम्वन्ध

नही, उनका नियन्त्रण गुरुत्त्वाकर्षण-शक्ति के नियम से होता है जो कारण-कार्य जैसे अन्य भौतिक नियमों के समान है। ये भौतिक-नियम अटल है, इनमे किसी शक्ति की स्वतन्त्र-इच्छा काम नही करती। ऐसा नही है कि जब चाहा सूर्य का उदय कर दिया, जब चाहा अस्त कर दिया। पाश्चात्य-जगत् के सभी भौतिक-वादियो का कहना था कि भौतिक-जगत् के कारण-कार्य, गुरुत्वाकर्षण आदि जिन नियमो की खोज हुई है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि ससार इन नियमो से ही बँधा हुआ है, इतना बँधा हुआ है कि कारण के होने पर कार्य न हो या कार्य के होने पर उसका कारण न हो—यह असम्भव है, इतना असम्भव है कि कारण के उपस्थित होने पर हम निश्चयपूर्वक भविष्य-वाणी कर सकते हैं कि इस कारण का अमुक कार्य होगा, और कार्य सम्मुख होने पर हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि इसका अमुक कारण था। ज्यो-ज्यो कारण-कार्य के नियम के लागू होने का क्षेत्र बढता गया, त्यो-त्यो यह निश्चयपूर्वक कहा जाने लगा कि विश्व मे हर बात, हर घटना निश्चित है, इसलिए निश्चित है क्योकि संसार एक यन्त्र है, मशीन है, इसमे स्वतन्त्र रूप से, अपनी स्वतन्त्र-इच्छा से काम करने वाली कोई शक्ति नही है—न मनुष्य मे, न विश्व मे। मनुष्य का यह देह कारण-कार्य से चल रहा है, विश्व का यह ससार—सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारे—ये भी कारण-कार्य के नियम के अधीन चल रहे हैं, इस सचालन मे 'स्वतन्त्र-इच्छा-शक्ति'—'सकल्प-स्वातन्त्र्य'—(Free Will) का कोई स्थान नही है।

(ख) **आध्यात्मिक-जगत् में कारण-कार्य का नियम ही 'कर्म का सिद्धान्त' कहलाता है**—भौतिक-जगत् मे जिस नियम को कारण-कार्य का अटल नियम कहते हैं, आत्मा के जगत् मे भी वह नियम वैसा ही अटल है। आत्मिक-जगत् मे जब कारण-कार्य के इस नियम की हम खोज करते है, तब यह नियम 'कर्म का सिद्धान्त' कहलाता है। जैसे हम कर्म करते है वैसा फल मिलता है, 'कर्म' कारण है, 'फल' कार्य है। अगर हम आग मे हाथ डालेगे तो वह जल जायगा, आग यह नही देखेगी कि आग मे हाथ जान-बूझकर डाला गया है या अचानक पड गया है, युवा-व्यक्ति ने डाला है या अबोध-बालक ने डाला है जिसे आग के जलाने के गुण का पता ही न था। सर्दी मे बच्चा बिना कपडा ओढे नगा पडा रहा तो उस पर कोई दया नही होगी, उस पर प्रकृति तरस नही खायेगी कि छोड दो इसको—यह नादान बच्चा था। कारण-कार्य का नियम अनाद्य है, होकर ही रहेगा, आग मे जलने का कर्म किया है तो जलना पडेगा, सर्दी मे खाँसी, जुकाम, न्युमोनिया का शिकार होने का कर्म किया है तो वह भी होकर रहेगा। 'अनिवार्यता' कारण-कार्य का अटल नियम है, इसलिए 'कर्म' जो कि कारण-कार्य के नियम का ही आध्यात्मिक-क्षेत्र मे दूसरा नाम है, अच्छा होगा

तो उसका अच्छा, बुरा होगा तो उसका बुरा फल अवश्य होगा, उससे बचा नही जा सकता। यह नही होगा कि कर्म कर जाओ, उसका फल न मिले—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् मे 'कारण-कार्य' तथा 'कर्म' की आपस मे यह समानता है।

[दोनों मे असमानता—कारण-कार्य मे 'परतन्त्रता' है, कर्म मे 'स्वतन्त्रता' है]

भौतिक-जगत् के 'कारण-कार्य' के नियम तथा आध्यात्मिक-जगत् के 'कर्म' के नियम मे जो समानता है उसके सन्दर्भ मे यह जान लेना आवश्यक है कि दोनो मे असमानता भी है। हमने देखा कि 'कारण-कार्य' के नियम मे अटलपना है, परतन्त्रता है, उसके साथ चेतना न होने की वजह से अन्धापन भी है। अन्धेपन से हमारा अभिप्राय है—जड-वस्तु मे चेतना न होने के कारण 'स्वतन्त्र-इच्छा'—'सकल्प-स्वातन्त्र्य'—(Free Will) का न होना। 'कर्म' के नियम मे भी अटलपना है, परन्तु उसके साथ अन्धापन नही है, चेतना होने की वजह से स्वतन्त्र-इच्छा (सकल्प-स्वातन्त्र्य) का अभाव नही है। जो व्यक्ति कर्म करता है वह यह भी अनुभव करता है कि वह कारण-कार्य के नियम के अधीन होता हुआ भी कर्म करने मे स्वतन्त्र है, उसकी 'स्वतन्त्र-इच्छा' है, वह 'नियति' (Fate) का ही खेल नही है। कारण-कार्य का नियम क्योकि जड-प्रकृति का नियम है इसलिए अटल है, कर्म का नियम क्योकि चेतन-आत्मा का नियम है इसलिए इसमे कारण-कार्य की अटलता होते हुए स्वतन्त्रता भी है। उदाहरणार्थ, हम गेंद दीवार पर फेंकते हैं—गेंद और दीवार दोनो जड है, गेंद दीवार से टकरायेगी और वापस लौट आयगी, दीवार पर बैठ कर यह सोचने नही लगेगी कि वापस लौटूँ या न लौटूँ। मुझे अगर कोई पत्थर मारेगा, तो अगर मैं देख न रहा होऊँगा तब तो खडा रहूँगा—इसलिए खडा रहूँगा क्योकि अपने चेतनपन का प्रयोग नही कर रहा होऊँगा, जडवत् व्यवहार कर रहा होऊँगा, परन्तु अगर देख रहा होऊँगा तो परे हट जाऊँगा। यह परे हट जाना चेतन होने के कारण अपनी स्वतन्त्र-इच्छा (सकल्प-स्वातन्त्र्य—Free Will) का प्रयोग करना है।

जो लोग 'कारण-कार्य' के नियम तथा 'कर्म के सिद्धान्त' मे भेद नही करते, वे आपत्ति उठा सकते है कि जैसे कारण-कार्य के नियम के आधार पर आग्रह-पूर्वक कहा जा सकता है कि कारण उपस्थित होगा तो उससे बँधा हुआ फल अवश्य होगा, वैसे कर्म के विषय मे भी आग्रहपूर्वक कहा जा सकना चाहिए कि जो कर्म हम करते है वह क्योकि पहले किसी कर्म का फल है, इसलिए हर कर्म पूर्व-कर्म का फल होने के कारण हमे बाधित होकर, करना ही होगा, हम उसके करने मे स्वतन्त्र नही हो सकते। इसी को 'भाग्यवाद', 'नियतिवाद' या

'अवश्यंभाविता' (Fatalism or Determinism) कहा जाता है। परन्तु जैसा हमने पहले कहा 'कारण-कार्य' तथा 'कर्म के सिद्धान्त' मे समानता होते हुए भी यह भेद है कि 'कारण-कार्य' का नियम जड-जगत् मे काम करता है, 'कर्म' का सिद्धान्त चेतन-जगत् मे काम करता है। जड-जगत् मे कोई ऐसी सत्ता नही है जो कारण तथा कार्य के बीच मे आ सके, चेतन-जगत् मे चेतन-सत्ता ऐसी वस्तु है जो कारण तथा कार्य के बीच मे आ खडी होती है। जड-जगत् मे प्रवर्तमान कारण-कार्य मे चेतन-सत्ता के बीच मे न पडने से शुद्ध-यन्त्रात्मक-प्रतिक्रिया होती है, नियति-पूर्वक—अवश्यभावितापूर्वक (Determinism) प्रतिक्रिया होती है, चेतन-जगत् मे कर्म तथा प्रतिक्रिया मे चेतन-सत्ता के बीच मे पड जाने के कारण यन्त्रात्मक-प्रतिक्रिया होने के स्थान मे परतन्त्रता के साथ-साथ स्वतन्त्रता भी बनी रहती है। इसी कारण चेतन-जगत् मे कर्मों का बन्धन भी है, चेतन-आत्मा के बीच मे पड़ जाने के कारण बन्धन से मुक्ति भी है। इस सिलसिले मे 'भाग्यवाद' (Fatalism) तथा 'पुरुपार्थवाद' (Free Will) का जो पारस्परिक-समन्वय है उसकी हम आगे चर्चा करेंगे। इससे पहले कि हम 'भाग्यवाद' तथा 'पुरुषार्थवाद' के समन्वय पर लिखे, यह जान लेना आवश्यक है कि क्या कारण-कार्य का नियम ठीक वैसा ही अटल है जैसा इसे अब तक समझा जाता रहा है ?

3. क्या कारण-कार्य का नियम सर्वथा अटल है ?

(क) कारण-कार्य के सिद्धान्त के विषय मे विज्ञान की नवीन खोज—कारण-कार्य के पारस्परिक-सम्बन्ध के विपय मे भौतिक-विज्ञान जिस क्रम मे से गुजरा है उसका उल्लेख करते हुए सर जेम्स जीन्स ने लिखा है कि 19वी शताब्दी के प्रारम्भ तक समझा जाता था कि जीवित-प्राणी जड-जगत् से सर्वथा भिन्न है, दोनो मे कोई ताल-मेल नही है। उसके बाद जब प्राणी के शरीर तथा जड पदार्थों के घटक-तत्त्वो का विश्लेपण किया गया, तब यह पता चला कि दोनो के घटक-तत्त्व तो एक-से हैं, वही-के-वही है। जिन परमाणुओ से प्राणी का शरीर बना है, उन्ही से जड-वस्तु बनी है। इस खोज के परिणामस्वरूप यह माना जाने लगा कि अगर जड़-जगत् मे कारण-कार्य के नियमो के कारण सब-कुछ यन्त्रवत् चल रहा है, तो उन्ही परमाणुओ के बना शरीर भी यन्त्रवत् चलना चाहिये, उसमे चेतना जैसे तत्त्व को मानने की क्या आवश्यकता है ? यह कहा जाने लगा कि न्यूटन का मस्तिष्क उन्ही परमाणुओ से बना है जिनसे कोई भी जड-पदार्थ बना है या जिनसे किसी अन्य व्यक्ति का मस्तिष्क बना है, उनमे भेद सिर्फ परमाणुओ के मिश्रण की व्यवस्था पर आश्रित है। एक मे यह मिश्रण एक तरह बैठा है, दूसरे मे दूसरी तरह, जैसे एक मकान की ईंटें एक ढंग से लगाई गई, दूसरे की दूसरी तरह से; परन्तु नियम सब ईंटो पर एक ही

लगता है। अगर यह बात ठीक है तो न्यूटन का मस्तिष्क भी एक यन्त्र है, जो ठीक वैसे चलता है जैसे प्रिन्टिग प्रेस चलता है। प्रिन्टिग प्रेस मे पुर्जों का जैसा सयोजन है उससे उसे वैसा चलना ही है, उसके पास अपनी इच्छा से चलने का कोई उपाय नही है, उसके पास अपना 'चुनाव' (Choice) नही है, अपनी स्वतन्त्र-इच्छा (Free Will) नही है, वह कारण-कार्य के अटल-नियम से बंधा हुआ है, इसी तरह प्राणी का मस्तिष्क उन्ही परमाणुओ के द्वारा बना होने के कारण, जिनसे जड-वस्तु का निर्माण हुआ है, ऐसा व्यवहार करता है जैसा उसकी रचना के सयोजक-परमाणुओ से बाधित होकर उसे करना ही पडता है। इसमे प्राणी के पास भी कोई 'चुनाव' (Choice) नही, अपनी 'स्वतन्त्र-इच्छा'—'सकल्प-स्वातन्त्र्य' (Free Will) का कोई स्थान नही। जड तथा चेतन दोनो मे इसलिए 'चुनाव' तथा 'स्वतन्त्र-इच्छा' नही क्योकि एक-एक परमाणु कारण-कार्य के नियम से बंधा हुआ है। जहाँ बन्धन हो वहाँ चुनाव का प्रश्न ही कहाँ उठ सकता है ?

अब तक वैज्ञानिक लोग जिन जड-तत्त्वो का अनुशीलन कर रहे थे वे स्थूल-तत्त्व थे, सूक्ष्म होते हुए भी इतने स्थूल कि अतिसूक्ष्म-यन्त्रो के प्रयोग के बिना वह अनुशीलन चल रहा था। जिन तत्त्वो पर अनुशीलन चल रहा था उनमे लाखो-करोडो परमाणु थे। ये स्थूल-परमाणु मिल कर यान्त्रिक-रूप मे (In a mechanical way) ही काम करते थे। 19वी शताब्दी के अन्त मे एक नवीन खोज का सूत्रपात हुआ। वह खोज क्या थी ? इस समय जो नवीन-खोज हुई उसमे इस विचार ने जन्म लिया कि हो सकता है कि सब परमाणुओ के मिलकर स्थूल-रूप मे प्रतिक्रिया करने का तरीका दो चार परमाणुओ के प्रतिक्रिया करने के तरीके से भिन्न हो, ठीक ऐसे जैसे व्यक्ति भीड मे एक तरह से प्रतिक्रिया करता है, अलग-से, इकला होने पर वह दूसरी तरह से प्रतिक्रिया करता है, भीड मे वह पुलिस की गारद को देखकर दूसरो के साथ होने के कारण उस पर हमला कर देता है, इकला होने पर पुलिसमैन को देखकर ही वह भाग खडा होता है। कहा जा सकता है कि भीड़ मे व्यक्ति अपने को सुरक्षित समझ कर बहादुर बन जाता है, होता डरपोक ही है, परन्तु हमारी पहली बात एक दूसरे उदाहरण से जो जड-जगत् से लिया गया है, अधिक स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के तौर पर, अगर पाँच-सात पैसो को कई बार उछाला जाए तो कभी वे सिर के बल गिरेंगे कभी दुम के बल, परन्तु अगर पाँच-सात पैसो के स्थान मे हजार, दस हजार या टनो की सख्या मे पैसो को एक-साथ उछाला जाए, तो ठीक आधे सिर के बल और ठीक आधे दुम के बल गिरेंगे। इस प्रयोग को कितनी ही बार दोहराया गया, हर बार यही परिणाम निकला है। इसका अर्थ यह हुआ कि कारण-कार्य का जो नियम समूह मे दिखलाई देता है वह छोटी

इकाई मे टूट जाता है, या जो नियम छोटी इकाई मे दिखलाई देता है वह समूह में टूट जाता है। पैसो को उछालना एक 'कारण' है, सिर के या दुम के वल गिरना एक 'कार्य' है। कुछ पैसो के उछालने मे कारण-कार्य का जो सम्बन्ध है वही हज़ार पैसो के उछालने मे लागू होना चाहिये, परन्तु ऐसा नही होता, यह नियम इस परीक्षण मे टूट जाता है। यह अद्भुत् घटना है। इस प्रयोग ने जड़-जगत् के कारण-कार्य मे अटूटता, अटलपने के सिद्धान्त पर प्रहार किया जो 'कर्म' के सिद्धान्त को समझने के लिये महत्त्वपूर्ण है। इस प्रयोग के सिलसिले मे प्रो० मैक्स प्लान्क के क्वान्टम के सिद्धान्त (Quantum theory) तथा शक्ति के विकिरण (Theory of Radiation) के सिद्धान्त से विशेप प्रकाश पडता है।

'क्वान्टम' तथा 'शक्ति के विकिरण' का सिद्धान्त—यह कारण-कार्य के नियम पर एक प्रहार है

जैसा हमने अभी कहा, इस प्रकरण मे बर्लिन के प्रोफेसर मैक्स प्लान्क की खोज का ज़िक्र कर देने से यह विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रो० प्लान्क ने 1901 मे वैज्ञानिक-जगत् को यह विचार दिया कि किसी भी प्रकाश के पुज —सूर्य आदि—से 'ऊर्जा' (शक्ति—Energy) का प्रवाह 'निरन्तर'—एकसार—Continuous—न होकर, 'अनिरन्तर'—विच्छेदपूर्वक—Discontinuous—प्रवाहित होता है। 'ऊर्जा'—'शक्ति'—के प्रवाह की अल्पतम-इकाई को 'क्वान्टम' कहते हैं जो प्रो० प्लान्क का अपना गढा हुआ शब्द है। इस 'क्वान्टम' सिद्धान्त को आधार मान कर प्रो० हाइजनबर्ग ने एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो 'हाइजनबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धान्त' (Heisenberg's Principle of uncertainty) के नाम से विख्यात है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी 'कण' की 'गति' तथा 'स्थिति'—इन दोनो का एक-साथ ठीक-ठीक ज्ञात कर सकना असम्भव है। इस सिद्धान्त के विपय मे जो कहा जाता है वह यह है—"This principle states that the position and momentum of a particle cannot simultaneously be determined with perfect accuracy."—अर्थात्, विश्व मे किसी भी 'कण' की भावी-स्थिति निश्चित नही की जा सकती। कारण-कार्य के सिद्धान्त का मूल-आधार ही किसी वस्तु के विषय मे भावी-स्थिति को निश्चित रूप से वतला सकना है। अन्तरिक्ष के ऊपरी-स्तर से किरणो का 'विकिरण' (Radiation) प्रभूत-मात्रा मे हो रहा है जिसे 'कौस्मिक-रैडियेशन' (Cosmic Radiation) कहते हैं। वैसे तो कारण-कार्य के नियम के अनुसार पृथ्वी पर पड रहे 'विकिरण' (Radiation) की गति अबाध रूप से, बीच में व्यवधान—विच्छेद—पड़े विना निरन्तर चलती आनी चाहिये क्योकि कारण-कार्य की शृखला मे पहला कदम (कारण) अगले कदम

(कार्य) को उत्पन्न करेगा, वह कार्य फिर कारण बन कर अगले कार्य को उत्पन्न करेगा—यह शृंखला आगे-आगे बढती चली जाएगी, परन्तु ऐसा होता नही है। 'रैडियेशन' के प्रवाह की गति एकतान चलने के स्थान मे बीच मे व्यवधान डाल कर चलती है—जहाँ व्यवधान होता है वहाँ रैडियेशन के प्रवाह का कोई निशान नही होता, वहाँ शून्य होता है, कुछ नही होता। रैडियेशन कूद-कूद कर चलता है, बीच मे टूट जाता है, व्यवधान पड जाता है, फिर चल पडता है, कारण-कार्य के नियम के अनुसार बीच मे जो आवश्यक लगातार गति बनी रहनी चाहिये वह टूट जाती है। यह आश्चर्य का विषय है कि विश्व मे प्रकाश-पुंज से जो शक्ति का प्रवाह चलता है वह निरन्तर न होकर विच्छेद-युक्त—व्यवधानयुक्त—टूट-टूट कर होता है। एक शब्द मे कह सकते है विश्व की रचना ही विच्छेद-युक्त-शक्ति का प्रवाह है। इस बात को ऐसे समझें। साप की गति हर स्थान को छूती हुई चलती है, उसकी गति मे निरन्तरता है, मेंढक की कुदान एक भिन्न प्रकार की गति है, जिसमे मेंढक हर स्थान को छूता हुआ नही चलता, कूद कर बीच मे चार-पाँच हाथ के स्थान मे कोई सम्पर्क स्थापित किए बिना नये स्थान पर पहुँच जाता है। इसे संस्कृत मे 'मण्डूक-प्लुति' कहते हैं। क्वान्टम के सिद्धान्त पर आधारित 'रैडियेशन' मे ऐसी ही गति होती है जिसे विच्छेद-युक्त-प्रवाह कहा जा सकता है। प्रश्न यह है कि जब शक्ति (ऊर्जा—Energy) के प्रवाह मे विच्छेद आ गया, पीछे का सम्बन्ध टूट गया, शून्य अवस्था आ गई, तब आगे का प्रवाह कैसे चल पडता है? अगर प्रकृति मे कारण-कार्य का नियम अटूट है, कारण के पीछे कार्य को आना ही चाहिए, तो 'रैडियेशन' (शक्ति-प्रवाह—विकिरण) की प्रक्रिया मे कारण तथा कार्य के बीच व्यवधान—विच्छेद—क्यो पड जाता है? इस व्यवधान से तो कारण का कार्य के साथ सम्बन्ध टूट जाता है, टूट-टूट कर फिर नया विकिरण कैसे जारी हो जाता है? प्रो० प्लांक के सिद्धान्त के आधार पर जो नई खोज हुई है उसके अनुसार 'रैडियेशन' मे अगर 'क' को हम 'ख' का कारण कहे, तो 'रैडियेशन' के प्रयोगो से ज्ञात हुआ कि 'क' के पीछे 'ख' आता तो है, परन्तु यह बात निश्चित नही है, 'क' के पीछे 'ग' भी आ सकता है, 'घ' भी आ सकता है—ज्यादा-से-ज्यादा इतना ही कहा जा सकता है कि 'क' के पीछे 'ख' के आने की ज्यादा सम्भावना है, 'प्रायिकता' (Probability) है, 'अनिवार्यता' (Inevitability) नहीं है। इस दृष्टि से अगर 'क' के पीछे 'ख' का आना अनिवार्य या अटूट नही है, तो कारण-कार्य का नियम उतना अटूट नही रहता जितना इसे समझा जाता है। इसी दृष्टि से आइन्स्टीन (1879-1955) आदि का मत है कि प्लैंक के क्वान्टम के सिद्धान्त ने रैडियेशन (विकिरण) के प्रयोगो द्वारा कारण-कार्य के सिद्धान्त मे कुछ बाधा उपस्थित कर दी है, जिसे हम निश्चित समझे

बैठे थे उसमे अनिश्चितता का अश डाल दिया है। तभी हमने कहा कि 'क्वान्टम के सिद्धान्त' पर आधारित 'रैडियेशर्न' के सम्बन्ध मे हाइज़नवर्ग की यह खोज कारण-कार्य के प्राचीन- सिद्धान्त पर गहरा प्रहार करती है जिसने वैज्ञानिको को यह सोचने पर विवश किया है कि भौतिक-जगत् मे कही-न-कही कारण-कार्य का यान्त्रिक नियम टूट जाता है, टूट जाता है इसलिए भौतिक-जगत् की व्यवस्था मे किसी-न-किसी रूप मे स्वतन्त्र-इच्छा-शक्ति (Free Will) को मान लेना ही उचित है। इस सम्बन्ध मे भौनिक-विज्ञान के महा-विद्वान् सर जेम्स जीन्स 'The New World of Modern Physics' मे लिखते हैं . "Just because we have to speak in terms of probabilities, we cannot predict with certainty which state will follow which, this is a matter which lies on the knees of gods—whatever gods there be." अर्थात्, कारण-कार्य के नियम के स्थान पर अनिश्चितता के सिद्धान्त के कारण हम नही कह सकते कि किस कारण के पीछे कौन-सा कार्य अवश्यम्भावी रूप मे आयेगा। यह बात शायद परमात्मा के ही हाथ मे हो, भले ही वह किसी भी तरह का परमात्मा हो। 'कारण-कार्य' तथा 'अनिश्चितता' के पारस्परिक-सम्बन्ध के विषय मे सर जेम्स जीन्स 'Modern Scientific Thought' के पृष्ठ 93 पर लिखते हैं : "a sequence of events which follows the laws of probability instead of the law of causation"—अर्थात्, घटना-चक्र ऐसा भी चलता है जिसमे कारण-कार्य के नियम की जगह अनिश्चितता भी दीख पडती है। कारण-कार्य के नियम के टूटने का यह मतलब नही कि यह नियम सर्वथा भग हो जाता है, इसका इतना ही मतलब है कि जिनको हम कारण तथा कार्य समझे बैंठे थे उन दो के बीच कोई ऐसा कारण आ बैठता है, जो हमारे माने हुए कारण से भिन्न हो सकता है, अचेतन कारण की जगह चेतन कारण हो सकता है।

विकासवाद मे भी यह समस्या है कि अगर जीवन का प्रारम्भ अमीबा से था, तो इतनी सहस्रों, लाखो योनियाँ कैसे वन गई ? कुछ हद तक तो विकासवादी यह समाधान देने का प्रयत्न करते है कि प्राणी पर्यावरण के अनुसार अपने को वदलता रहता है, परन्तु उनके सामनें जव यह समस्या आ खडी होती है कि विकास मे ज़मीन-आसमान की-सी वदलाहट कैसे हो जाती है तो वे कहने लगते है कि कभी-कभी यह परिवर्तन एक योनि से दूसरी योनि मे एकाएक हो जाता है, अकारण हो जाता है। इसे वे 'उत्परिवर्तन-परिवर्तन' या 'असातत्य-परिवर्तन' (Mutation or Discontinuous variation) का नाम देते है। 'निरन्तर-परिवर्तन' (Continous variation) का अभिप्राय तो यह है कि वह धीरे-धीरे लगातार होता गया, कुछ इस सन्तति मे हुआ, कुछ अगली मे हुआ,

होता-होता युगान्तर मे बहुत बढ गया, 'उत्परिवर्तन' योनियो मे उस परिवर्तन का नाम है, जो एकदम ऊर्ध्वगामी हो जाता है, कोई क्रम नही रहता, कारण-कार्य का सम्बन्ध टूट जाता है, आकस्मिक हो जाता है। विकासवादियो मे से कुछ का कहना है कि जिस कौस्मिक-रैडियेशन (Cosmic radiation) का हमने ऊपर ज़िक्र किया उसी के कारण बन्दर के रज-वीर्य—'जीव-द्रव्य'—(Germ-plasm)—मे ऐसा आकस्मिक आणविक-उत्परिवर्तन हो गया जिसमे बन्दर से अकस्मात् मनुष्य बन गया। हमे बन्दर से मनुष्य तो नही बनाना, सिर्फ इतना स्पष्ट करना है कि विकासवाद के अनुसार भी भौतिक, जड-जगत् की तरह प्राणी-जगत् मे भी ऐसे दृष्टान्त मिलते है जहाँ कारण तथा कार्य के बीच मे कोई अन्य शक्ति बैठी प्रतीत होती है जो भौतिक न होकर अभौतिक है, अभौतिक है तो स्पष्ट है कि जड न होकर चेतन है, जो कारण-कार्य के जड, अन्धे नियम को तोड देती है।

(ख) **विज्ञान की इस नवीन-खोज का 'कर्म' के सिद्धान्त पर क्या प्रभाव है**—विज्ञान के जिस 'क्वान्टम-सिद्धान्त' तथा 'रैडियेशन' का हमने उल्लेख किया उसका यह तो अभिप्राय नही है कि कारण-कार्य का नियम काम ही नही करता, उसका इतना ही अभिप्राय है कि जिस प्रकार हम प्रकृति को यन्त्र मानने लगते हैं, शरीर को भी यन्त्र सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वह गलत धारणा है। यन्त्र तो एक ही दिशा मे चलेगा, उसकी गति अविरुद्ध-गति होगी, चलता-ही-चला जायगा, रुकेगा नही। हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'First Principles' मे लिखा है कि प्रकृति के विकास के बुनियादी-नियमो मे एक नियम है—'गति की निरन्तरता' (Law of Continuity of Motion)। जड-प्रकृति मे अपनी गति होगी तो निरन्तर रहेगी, रहे भी, न भी रहे—यह नही चलेगा। विज्ञान की नवीन-खोज यह है कि जड-सृष्टि मे कारण-कार्य का नियम भी है, कारण तथा कार्य के बीच मे व्यवधान भी पड जाता है। अगर सृष्टि सिर्फ यन्त्र होती, तो यह व्यवधान नही पड सकता था। इसी प्रकार प्राणी-जगत् मे मनुष्य को यन्त्र समझने से काम नही चलता। जड-सृष्टि मे कारण-कार्य के नियम के कारण—'अवश्यभाविता'—'नियति' (Determinism) है—यह मानना पडेगा, कारण-कार्य का सूत्र टूट भी जाता है—इसमे 'स्वतन्त्रता' (Freedom) भी माननी पडेगी भले ही इस स्वतन्त्रता का कारण परमात्म-शक्ति हो, ठीक इसी तरह मानव-जगत् मे कर्म का सिद्धान्त कारण-कार्य का प्रतिबिम्ब है इसलिए मानव मे 'भाग्यवाद' (Fatalism) मानना पडेगा, साथ ही मानव-जगत् मे कारण-कार्य का सूत्र टूट भी जाता है, मनुष्य चाहे तो स्वतन्त्र रूप मे भी कार्य कर सकता है, इसलिए 'पुरुषार्थवाद' (Free-willism) भी मानना पडेगा, भले ही इस स्वतन्त्रता का कारण आत्म-शक्ति हो।

4. भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद का समन्वय

(क) **भाग्यवाद तथा कारण-कार्य का नियम**—प्लेक के क्वान्टम के तथा हाइज़नबर्ग के रैडियेशन के सिद्धान्त के बावजूद वैज्ञानिक-जगत् यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि कारण-कार्य का नियम खण्डित हो गया है। उनके कहने का अर्थ इतना ही है कि जैसे कभी यह समझा जाता था कि सृष्टि का चक्र देवी-देवताओ की इच्छा पर चल रहा है, खोज-बीन के पश्चात् पता चला कि देवी-देवताओ की इच्छा पर नही, कारण-कार्य के नियम के अधीन सब-कुछ है, वैसे ही कारण-कार्य का नियम जो खण्डित होता-सा प्रतीत होता है वह हमारे ज्ञान के सीमित होने के कारण है। ज्यो-ज्यो विज्ञान आगे बढेगा कारण-कार्य के नियम का अखण्डित होना अवश्य सिद्ध होगा। रैडियेशन की बात को छोड दिया जाय, जो सृष्टि हम सब के सामने दीखती है उसमे कारण-कार्य का नियम अखण्ड तथा अवश्यभावी दीखता है, कारण उपस्थित होने पर कार्य होता-ही-होता है, न हो तो ससार का व्यवहार चल ही नही सकता। अगर आम की गुठली बोने पर कीकर के पेड़ के उग आने की सम्भावना हो तो आम कौन बोयेगा—यही 'अवश्यभाविता' (Determinism) है। जड-सृष्टि मे चल रहे इस भौतिकवादी नियम को आधार बना कर अध्यात्मवादी का कथन है कि यही कारण-कार्य का नियम चेतन-सृष्टि मे चल रहा है, कर्म करोगे तो उसका फल अवश्य मिलेगा, अच्छा कर्म करोगे तो अच्छा फल, बुरा कर्म करोगे तो बुरा फल—'**कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा**'—'**नाभुक्तं क्षीयते कर्म**'—यह जैसे जड-सृष्टि का नियम है वैसे चेतन-सृष्टि का भी नियम है, जड मे इसे 'कारण-कार्य' का नियम, चेतन मे 'कर्म' का नियम कह देते हैं, जड मे इसे 'अवश्यभाविता' कह देते हैं, चेतन मे इसे 'भाग्यवाद' कह देते है। इस दृष्टि से हमारा जीवन हमारे हाथ मे नही, हमारे भाग्य के हाथ मे है—'**यल्लिखितं विधिना ललाट पट्टले तन्मार्जितु कः क्षमः**'—विधि ने, भाग्य मे जो लिख दिया उसे भोगे बिना कोई गति नही।

(ख) **पुरुषार्थवाद तथा कारण-कार्य का नियम**—अगर कारण-कार्य का नियम अटल है, तो कर्म का नियम भी अटल होना चाहिए, 'कर्म' के बन्धन से बच निकलने का कोई रास्ता नही होना चाहिए। तब तो जो-कुछ हो रहा है—ठीक हो, गलत हो—ऐसा होना ही है, कुछ टल नहीं सकता, हमारे हाथ मे कुछ नही है। इसी को आम बोल-चाल की भाषा मे 'कर्मों का लेखा', 'प्रारब्ध', 'भाग्य', 'दैव', 'माथे की लकीर' कहा जाता है। इस सिद्धान्त को मानने का परिणाम बड़ा भयकर है। हमे हाथ-पर-हाथ रख कर बैठे रहना होगा, अपने को होनी पर छोड़ देना होगा। आत्मा की स्वतन्त्रता जिसके लिए हम क्षण-क्षण

तरसते हैं, जिसके लिए जातियाँ और देश सदियो तक जीवन-मरण के युद्ध में जूझते रहते हैं—वह स्वतन्त्रता एक मरु-मरीचिका की तरह कभी हाथ में न आने वाली वस्तु हो जायगी। पुरुषार्थ को परास्त करने के लिए उसके सामने भाग्य एक लम्बा-चौडा लेखा लेकर आ खडा होगा। इस भयकर स्थिति का क्या समाधान है ?

इसका समाधान यह है कि पहले तो जैसा पहले दिखलाया जा चुका है विज्ञान की नवीन-खोज के अनुसार यह बात ही गलत सिद्ध हो रही है कि कारण-कार्य का नियम अटल है, परन्तु अगर व्यवहार मे उसे अटल ही पाया गया है, तो भी जड-सृष्टि के 'कारण-कार्य' के नियम तथा चेतन-सृष्टि के 'कर्म' के नियम मे समानता के बावजूद असमानता भी है। 'कारण-कार्य' का नियम भौतिक-सृष्टि का नियम है, आग-पानी-हवा का नियम है, 'कर्म' का नियम उस सृष्टि का नियम है जहाँ 'चेतना' नाम की पाँच तत्त्वो से भिन्न एक सत्ता काम करती दिखलाई पडती है। भौतिक-जगत् कारण-कार्य के विश्वव्यापी महान् नियम के अधीन है, इधर-से-उधर नही हो सकता, चेतन-जगत् मे 'चेतना' (Consciousness) नाम की एक स्वतन्त्र-सत्ता काम करने लगती है। इस 'चेतना' की अनुभूति हर-किसी को होती है। इस मे सन्देह नही कि मैं चारो तरफ से बँधा हुआ हूँ, परन्तु इसमे भी सन्देह नही कि मैं अनुभव करता हूँ कि मैं इन बन्धनो से मुक्त भी हो सकता हूँ। कौन नही अनुभव करता कि ये बन्धन मेरे स्वाभाविक-बन्धन नही है। जब हम किसी रोगी को देखते हैं, तब पूछते हैं—'तुम रोगी क्यो हो, तुम्हे क्या हो गया ?' स्वस्थ-व्यक्ति को देख कर तो कोई नही पूछता—'तुम स्वस्थ क्यो हो, तुम्हे क्या हो गया ?' अस्वस्थ-व्यक्ति हर समय स्वस्थ बनने का प्रयत्न करता ही रहता है, भले ही स्वास्थ्य के पीछे भागता-भागता वह मर ही जाय। बन्धनो को तोडने के लिए, रुग्णता से मुक्त होने के लिए, दुखो की उलझनो को काट कर सुख के लिए 'चेतना' की यह भाग-दौड क्या सिद्ध करती है ? क्या यह यह सिद्ध करती है कि हम बन्धनो से निकल ही नही सकते, या यह सिद्ध करती है कि बन्धनो से मुक्त होने के लिए ही हम पैदा हुए हैं ? हर प्राणी बन्धनो को तोडने के लिए हर समय झटके दिया करता है—वही झटके जिनका हम रैडियेशन के प्रकरण मे इशारा कर आये हैं—स्वतन्त्र होना चाहता है, बन्धनो से मुक्त होना चाहता है, बधे रहना नही चाहता, बन्धनो को देखकर जिस-किसी उपाय से हो—सफल हो, असफल हो—उन्हे काटा करता है। इसमे क्या यह पता नही चलता कि बधनो मे बधे रहना नही, कारण-कार्य की रस्सियो मे जकडे रहना नही, इस उलझन मे से निकल जाना मनुष्य का स्वभाव है। पानी गर्म कर दें तो पडे-पडे वह ठण्डा हो जाता है। क्यो हो जाता है ? क्योंकि पानी का स्वभाव ही शीत है। महान्-से-

महान् दु ख मे पडा व्यक्ति भी, स्त्री-पुत्र के वियोग मे पागल हो जाने वाला भी कुछ देर बाद फिर हंसने-खेलने लगता है। ऐसा क्यो होता है ? ऐसा इसलिए होता है क्योकि 'आत्मा'—चेतना—सदा बंधन से मुक्त होने की दिशा मे जा रही है, वह बध नही रही, मुक्त हो रही है—धीरे-धीरे, परन्तु कितने ही धीरे हो—यह कर्मो का अनन्तकाल का रास्ता उसे मोक्ष की तरफ, सच्चिदानन्द की तरफ ले जा रहा है। मनुष्य मे ही नही, पशु-पक्षी तक मे वन्धन से मुक्त होने की एक अमिट भावना, अमिट चाह है। आग-पानी-हवा मे, भौतिक-जगत् के किसी तत्त्व मे तो ऐसा नही। वे तो कारण-कार्य के नियम से ऐसे जकडे हुए हैं कि करोडो वर्षों से इधर-से-उधर नही हिले, उनकी विशेषता ही उनका कारण-कार्य के नियम से बधे रहना है। परन्तु मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतग ? ये जब से सृष्टि मे आये तभी से उस अनन्त सच्चिदानन्द की तरफ मुँह उठाये आगे-ही-आगे वढे चले जा रहे हैं, उसकी खोज कर रहे हैं, हर वन्धन से विद्रोह कर रहे हैं, इनके गले मे कर्मों के बडे-बडे मज़बूत रस्से पडे है, परन्तु उन रस्सो को तोडने के लिए ये लगातार झटके-पर-झटके दिए जाते है, इस सबका कारण क्या है ? इस सबका कारण यही है कि यद्यपि 'चेतना' बन्धन मे आ पडी है, तो भी इसका स्वभाव बन्धन मे पड़े रहना नही है। 'कारण-कार्य' की थपेड खाकर आत्मा बन्धन मे आ पडा है, 'कर्म' के चाकू से उन बन्धनो को काटने के लिए, 'कर्म' की अगुली से कारण-कार्य की गाँठ को खोल कर स्वतन्त्र होने के लिए, काँटे-से-काँटे को निकालने के लिए ही उसे यह मानव-देह मिला है।

'कारण-कार्य' तथा 'कर्म' के नियम मे यही भेद है। 'कर्म'—इसमे सन्देह नही 'कारण-कार्य' का ही नियम है, परन्तु इन दोनो मे भेद यह है कि कारण-कार्य, जड-जगत् का, 'कर्म' चेतन-जगत् का नियम है, 'कारण-कार्य' अन्धा नियम है, 'कर्म' सुजाखा नियम है; 'कारण-कार्य' प्रकृति का नियम है, 'कर्म' आत्मा का—चेतना का—नियम है; प्रकृति का स्वभाव ही कारण-कार्य के अटल नियम मे जकड़े रहने का है, आत्मा का स्वभाव ही बन्धन से निकलने का, कर्मो की भारी-भारी वेडियो और हथकडियो को काट देने का है। अगर आत्मा—चेतना—एक स्वतन्त्र तत्त्व न होता, अगर यह पाँच महाभूतो की ही उपज होता, तब प्रकृति की तरह यह भी कारण-कार्य की वेडियो मे जकडा रहता, तब जो हो रहा है वह अवश्यभावी होता। आत्मा कर्मो से बधा है—यह बात ठीक है, परन्तु यह बात भी उतनी ही ठीक है कि इसमे कर्मो को झटका देकर स्वतन्त्र काम करने की भी शक्ति है। जैसे आत्मा का वन्धन मे वधा होना सबके अनुभव की बात है, वैसे ही आत्मा का स्वतन्त्र-कर्तृत्व भी सबके अनुभव की बात है—इसे युक्ति से सिद्ध करने की आवश्यकता नही रहती। अपने को कर्म करने मे स्वतन्त्र अनुभव करना ही 'पुरुषार्थवाद' है।

हमने कहा कि हम वधे है परन्तु वन्धन काट सकते हैं, उलझे हैं परन्तु उलझन मे से निकल सकते हैं, कर्म के चक्र मे आ फँसे है परन्तु इस चक्र मे से वाहर निकल सकते हैं, हम परतन्त्र है, कर्म के अधीन हैं, परन्तु स्वतन्त्र भी हैं, कर्म के स्वामी भी हैं, हम भाग्य के शिकार है परन्तु हमारे स्वभाव मे पुरुषार्थ का पुट हर समय रहता भी है। पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त की सत्यता के सम्वन्ध मे कर्म के वन्धन मे से निकलने की तडपन का होना—यह एक प्रवल युक्ति है। इसके सम्वन्ध मे एक दूसरी युक्ति भी है। जो लोग भाग्यवाद की वात करते है उनका कहना है कि हमारे इस जन्म मे जो-कुछ हो रहा है वह पिछले जन्म का परिणाम है, हम इस जन्म मे स्वतन्त्र नही है। अगर यह वात ठीक हो, तो चलिये पिछले जन्म मे चले जाते हैं, वहाँ हम फिर पूछते है कि उस जन्म मे जो-कुछ दीखता है वह उसी जन्म का फल है या वह उससे पिछले जन्म का फल है। अगर कहा जाय कि वह तो उसी जन्म के कर्म का फल है, तो उस जन्म मे पुरुषार्थ सिद्ध हो गया, अगर कहा जाय कि वह फल उससे पिछले जन्म के कर्मों से वधा है तव अनवस्था दोप आ जाता है, हमे पीछे-पीछे ही जाते रहना पडेगा, अन्त मे हम वहाँ पहुँच जाएँगे जहाँ से जन्म का प्रारम्भ हुआ। तव तो सव जन्मो मे सिर्फ एक ही जन्म का फल मिल रहा है, जो असम्भव है। इस दृष्टि से भी आत्मा के स्वतन्त्र कर्म करने—'स्वतन्त्र. कर्त्ता'—के सिद्धान्त को मानना पडता है।

(ग) **भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद का समन्वय**—विलियम जेम्स (1842-1910) अमरीका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हुए है। उन्होंने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे 'अर्थ-क्रियावाद' (Pragmatism) कहा जाता है। उनका कहना यह था कि किसी सिद्धान्त की सत्यता या उपयोगिता को परखने के लिए यह देखना जरूरी है कि वह क्रियात्मक रूप मे जीवन को कैसे प्रभावित करता है। अगर उस सिद्धान्त को स्वीकार करने से जीवन को क्रियात्मक लाभ होता है, तो वह स्वीकार्य होना चाहिये, अगर नही होता, तो वह कैसा ही रुचिकर क्यो न लगे, वेकार है। हमारे विचार मे किसी सिद्धान्त की परख के लिये यह वहुत उपयोगी माप-दण्ड है। भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद की हमारे क्रियात्मक-जीवन के सम्वन्ध मे परख की जाय, तो दोनो सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते है। अलग-अलग से इन दोनों से परेशानियाँ उठ खडी होती हैं, दोनो पर समन्वय रूप मे विचार करे, तो एक की परेशानी दूसरे से दूर हो जाती है। जीवन मे हम देखते है कि वहुत अधिक वातो मे हम पराधीन हैं, अनेक वातें हमारे वश की नही, किसी वात मे हम जी-तोड प्रयत्न करते है परन्तु असफल रह जाते है, कभी ऐसा भी होता है कि हम प्रयत्न विल्कुल नही करते परन्तु फल अनायास हमारी झोली मे आ टपकता है—यह एक तस्वीर है। इसके

विपरीत दूसरी तस्वीर यह है हमारे मार्ग मे भीषण बाधाएँ ग्रा खडी होती है, हर सम्भव परिस्थितियो मे हमारी पराजय निश्चित है, परन्तु हम डटे रहते हैं, प्रयत्न मे शिथिलता नही ग्राने देते, ग्रौर ग्रन्त मे हम सब बाधाग्रो को लाघ जाते हैं। वैदिक-विचारधारा यथार्थवादी (Realistic) विचारधारा है—जो हमारे ग्रनुभव मे ग्राता है वही ठीक है, उसको वैसा ही मान लेने से जीवन की समस्या हल हो जाती है। जीवन मे भाग्य भी दीखता है, पुरुपार्थ भी दीखता है, इसलिये यही मान लेना उपयुक्त है कि जीवन मे दोनो का स्थान है, दोनो का समन्वय है। किसी बात मे कर्मो के बन्धनो से विवश होकर हम ग्रपने को उनसे जकडा हुग्रा ग्रनुभव करते हैं, किसी बात मे ग्रपने पुरुपार्थ से हम उस जकडन को काट डालने मे भी ग्रपने को समर्थ पाते हैं। तो, प्रश्न उठ खडा होता है कि क्या कर्म के बन्धनो को काटा जा सकता है ?

इस प्रश्न पर विचार करने से पहले कि कर्म के बन्धनो को काटा कैसे जा सकता है, यह विचार करना ग्रावश्यक है कि कर्म का बन्धन पडता कैसे है ?

5. कर्म का बन्धन कैसे पड़ता है ?

(क) **इस जन्म के कर्म से बन्धन पडना**—कर्म के बन्धन पडने का प्रत्यक्ष कारण इस जन्म का कर्म है। एक व्यक्ति ने चोरी की, दूसरे ने किसी की हत्या कर दी, तीसरे ने किसी की स्त्री का ग्रपहरण कर लिया। ये सब इस जन्म के कर्म हैं। कर्म एक कारण है, इसका फल मिलना चाहिये—इस जन्म मे मिले, नही मिला तो ग्रगले जन्म मे मिले। जबतक इस कर्म का फल नही मिलता तबतक यह कर्म तुम्हारे जीवन के वही-खाते मे दर्ज रहेगा, जब इसका फल मिल जायेगा तभी वही-खाते मे से इसे काटा जा सकेगा। इस जन्म मे पहली वार तुमने जो कर्म किया उसे 'पुरुपार्थ' की श्रेणी मे गिना जायगा, तुमने पहली बार वह कर्म किया—चोरी की, कत्ल किया, पर-स्त्री का ग्रपहरण किया। इस जन्म मे इन कर्मों को पहली बार करने के कारण कर्मों की रस्सी तुम्हारे गले मे पड गई जिसका इसी जन्म मे या ग्रगले जन्म मे तुम्हे फल भोगना पडेगा।

(ख) **पिछले जन्म के कर्म से बन्धन पड़ना**—'भाग्यवादी' यह कह सकता है कि तुमने जिस व्यक्ति की चोरी की उसने पिछले जन्म मे तुम्हारी चोरी की थी, जिस व्यक्ति का तुमने कत्ल किया पिछले जन्म मे उसने तुम्हारा कत्ल किया था, जिस व्यक्ति की स्त्री का तुमने ग्रपहरण किया पिछले जन्म मे उसने तुम्हारी स्त्री का ग्रपहरण किया था। दूसरे शब्दो मे, इस जन्म के ये कर्म नवीन-कर्म नही हैं, पिछले जन्मो के कर्मो के फल है, इनका फन्दा तुम्हारे गले मे इस जन्म मे नही पडा, पिछले जन्म मे पडा था।

इस जन्म तथा पिछले अनेक जन्मो के कर्मों का भल सही-सही देने के लिये कोई दफ्तर होना चाहिये ताकि फल देने मे कोई गलती न हो—इसकी क्या व्यवस्था है ?

6. लाखों-करोड़ों कर्मो का लेखा-जोखा कैसे रहता है ?

(क) **कर्मों का लेखा-जोखा संस्कारों के रूप मे रहता है**—कितने ही कर्म हम इस जन्म मे करते हैं, कितने ही पिछले जन्मो मे किये होते हैं, इनका हिसाव कैसे रह सकता है ? जिनका तत्काल फल मिल गया उनका तो कोई प्रश्न ही नही उठता, परन्तु इतने जन्मो के इतने कर्म—उन सवका फल थोडे ही मिल गया होता है, उनका हिसाव कैसे होता है ? कर्मों के सम्वन्ध मे धारणा है—**'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'**—जवतक कर्म का फल नही मिला, अच्छा या वुरा, तवतक वह वना रहता है, परन्तु यह व्यवस्था कैसे होती है कि यह कर्म रहा, यह फल रहा, इतने कर्मों की भीड मे कोई कर्म फलने से छूट भी सकता है ।

परन्तु नही, कर्मों के फल का यह अभिप्राय नही है कि एक-एक कर्म को चुन कर उसका अलग-अलग फल निर्धारित किया जाता है । जो-जो कर्म हम करते हैं उनके सस्कार वनते जाते है, ये सस्कार प्रत्येक कर्म के तात्कालिक फल है । उदाहरणार्थ, फर्श पर पानी लुढक गया । जिस मार्ग पर पानी लुढका वहाँ थोडी-थोडी धूल थी, वहाँ पर पानी ने रास्ता वना लिया । धूप पडने पर पानी तो सूख गया परन्तु जव दोवारा वहाँ पानी पडा तो वह उसी रास्ते पर वहा, इसलिए वहाँ वहा क्योकि वहाँ सस्कार पड चुका था, पानी के वहने की लकीर पड चुकी थी । प्रत्येक वस्तु कम-से-कम वाधा—न्यूनतम-प्रतिरोध—(Least resistance) के मार्ग को चुनती है, इसलिये जिस मार्ग पर एक वार कर्म चल चुका हो वह मार्ग उसके लिये वाधा-रहित हो जाता है, अगली वार उस मार्ग से चलना सहज हो जाता है, होते-होते वह मार्ग ही स्वाभाविक हो जाता है । यह स्वभाव क्या है ? स्वभाव प्रत्येक कर्म का जोड है । इस जोड का क्या नतीजा निकलता है ? उदाहरणार्थ, पहली वार चोर ने डरते-डरते चोरी की थी, चोरी के मार्ग पर पहली वार चला था इसलिये भय तो लगा था परन्तु चोरी कर ली थी, इसलिये चोरी करने का सस्कार पड गया था, दूसरी वार भय कम लगा, तीसरी वार दिलेरी से चोरी की, चौथी वार पकडा गया और सस्कारो के पडते-पड़ते नतीजा यह हुआ कि जेल की काल-कोठरी मे जा पहुँचा । पहली वार चोरी कर चुकने के वाद न पकडे जाने पर यह समझना कि चोरी कर ली, फल से वच गये, गलत धारणा है, क्योकि अन्त मे जाकर जो काल-कोठरी मे जा वैठे वह शुरू मे की गई चोरी का ही सस्कार-पर-सस्कार पडते रहने पर जो जोड जमा हो गया उसी का यह प्रत्यक्ष फल हुआ ।

'कर्म' क्या करते हैं ? कर्म 'सस्कार' डाल देते हैं। सारा वृक्ष, उसकी जड, तना, टहनियाँ, पत्ते, फूल, फल सब वीज मे सिमटे रहते हैं, सारे कर्म—एक-एक कर्म—'सस्कार' रूपी वीज मे निहित रहते हैं। उदाहरणार्थ 100 पैसे एक रुपये मे हैं, 100 रुपये एक नोट मे, 100 नोट वैंक के एक ड्राफ्ट मे वैठ जाते हैं। परमात्मा की व्यवस्था यह नही है कि एक हज़ार रुपयो की जगह उसके पैसो का ढेर थैली मे भर कर रखा जाय, व्यवस्था यह है कि ज्यो-ज्यो राशि बढती जाती है त्यो-त्यो उसका स्थूल की जगह सूक्ष्म रूप सँभाल लिया जाता है। हाथी कितना बडा जानवर है, उसका फोटो खीच लिया जाय, तो छोटे-से चित्र में उसकी नस-नाडी तक समा जाती है। एक कटोरी मे केसर रख दिया जाय, तो केसर हटा लेने पर भी उस कटोरी मे केसर की वास समाये रहती है। यही संस्कारो का हाल है। जो-जो कर्म हम करते है उनके सस्कार वनते जाते हैं, इन सस्कारो का जोड लगता रहता है, और ठीक अवसर पर ठीक-से उनका भडाफोड हो जाता है, उस समय सस्कारो के रूप मे ये सचित-कर्म एकदम भोगे जाते हैं, इनका एक-एक का फल मिल जाता हैं, कोई कर्म विना फल मिले बच कर निकल नही सकता। जो लोग पुनर्जन्म को मानते है उनके लिये तो यह समाधान जच ही जाता है, जो नही भी मानते उनके लिये भी कर्म के सस्कारो का इस जीवन मे, वर्तमान समय मे मस्तिष्क मे संस्कार पडते जाना उनकी शकाओ का उत्तर दे देता है क्योकि सचित-सस्कार ही अन्त मे फलते हैं।

(ख) ये संस्कार 'सूक्ष्म-शरीर' मे रहते है—भारतीय-दर्शन ने इस स्थूल-शरीर के भीतर एक सूक्ष्म-शरीर को माना है। आत्मा अभौतिक है, उसका भौतिक स्थूल-शरीर से सीधा सम्वन्ध स्थापित नही हो सकता। माध्यम के तौर पर सूक्ष्म-शरीर बीच मे आता है। यह इतना सूक्ष्म है कि अभौतिक के समान है, और क्योकि यह प्रकृति के सूक्ष्म-तत्वो से वना है इसलिए यह भौतिक के समान भी है। अभौतिक होने के कारण इसका आत्मा से सम्वन्ध है, भौतिक होने के कारण इसका स्थूल-शरीर से भी सम्वन्ध है। स्थूल-शरीर के साथ इसका सम्बन्ध नाभि-प्रवेश से होता है। तभी जव अचानक कोई दुर्घटना होने लगती है तब पहले एकदम नाभि स्थल पर घवराहट महसूस होती है। योग मे जो सात चक्रो का वर्णन आता है वे चक्र सूक्ष्म-शरीर तथा स्थूल-शरीर के सम्पर्क के स्थल हैं। सूक्ष्म-शरीर आत्मा का शरीर को इस्तेमाल करने का साधन है। जैसे मोटर को चलाने के लिए पेट्रोल की टकी को चावी दी जाती है, वैसे शरीर को चलाने के लिए आत्मा सूक्ष्म-शरीर को कपन (Vibrations) देता है। सूक्ष्म-शरीर की रचना **'महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्'**—साख्यकारिका की इस उक्ति के अनुसार 13 करणों तथा 5 सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्रो से हुई है—ऐसा साख्य-शास्त्र (ईश्वर-कृष्णाकृत साख्यकारिका, 40) मे कहा है। 13 करण अर्थात्, साधन हैं—5 सूक्ष्म

ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ, 'अहंकार' 'मन', तथा 'बुद्धि'—ये तीन। 'करण' का अर्थ है—'साधन', 'उपकरण'। इन 13 करणो के अलावा 5 सूक्ष्मभूत—इस प्रकार इन 18 तत्त्वो (13+5) से सूक्ष्म-शरीर बना है। इन 18 तत्त्वो मे से 5 सूक्ष्मभूत आश्रयरूप हैं, 13 करण आश्रित हैं क्योकि महाभूतो को आधार बना कर ही ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि काम कर सकती हैं। सूक्ष्म-शरीर जन्म के साथ आता है, मृत्यु स्थूल-शरीर की होती है, सूक्ष्म-शरीर की नही। सूक्ष्म-शरीर सदा आत्मा के साथ बना रहता है, तबतक आत्मा के साथ बना रहता है जबतक मुक्ति नही हो जाती। हमारे विचार, हमारे अनुभव, हमारे संस्कार—इन सबका संगृहीत रूप, सिमिटा हुआ रूप, बीज रूप मे, इस सूक्ष्म-शरीर मे रहता है। कर्मों के फल की जो समस्या थी—यह समस्या कि एक-एक कर्म का फल कैसे मिलता है, ये कर्म जबतक उनका फल नही मिलता किस बही-खाते मे लिखे पडे रहते हैं, इस समस्या का उत्तर सूक्ष्म-शरीर है। बीज मे वृक्ष की तरह इसी सूक्ष्म-शरीर मे सब-कुछ समाया रहता है, और कर्मों के ढेर को संस्कारो की शक्ल मे लेकर आत्मा का यह सेवक जन्म-जन्मान्तरो तक आत्मा के लिये इन्हे ढोये फिरता है।

सूक्ष्म-शरीर की सत्ता का शास्त्रो मे जो प्रमाण मिलता है उसके अलावा यह सबके अनुभव मे भी आता है। जब हम सो जाते हैं तब स्वप्न मे बिना इस स्थूल-शरीर के हम देखते हैं, सुनते हैं, डरते हैं, भागते हैं। यह बिना आँख के देखने वाला, बिना कान के सुनने वाला, बिना पाँव के भागने वाला सूक्ष्म-शरीर ही तो है। जाग्रत-अवस्था मे भी कभी-कभी आँख से देखते हुए भी हम नही देखते, कान से सुनते हुए भी हम नही सुनते—क्यो नही देखते जब आँख खुली है, क्यो नही सुनते जब कान खुले हैं। यह भी इसलिये क्योकि सूक्ष्म-शरीर कही और लगा है। यह तो अनिच्छा-पूर्वक सूक्ष्म-शरीर का अन्यत्र लगना है, इच्छा-पूर्वक भी हम सूक्ष्म-शरीर का स्थूल-शरीर से सम्बन्ध तोड सकते हैं। उदाहरणार्थ, नाक के सामने फूल लाया जाय और हम सूँघने की इन्द्रिय का प्रतिरोध करके न सूँघे, कान के पास विषय लाया जाय और हम सुनने की इन्द्रिय का प्रतिरोध करके न सुनें, आँख के पास विषय लाया जाय और हम इच्छा-शक्ति का प्रयोग करके आँख खुली रहने पर भी वस्तु को न देखे—ऐसा हो सकता है। योगी लोग सूक्ष्म-शरीर को स्थूल-शरीर से जुदा कर अन्यत्र जा सकते हैं। शंकराचार्य ने इस सूक्ष्म-शरीर से ही पर-काया-प्रवेश किया था। मर जाने पर आँखें वही रहती हैं, कान वही रहते हैं, सब इन्द्रियाँ स्थूल-शरीर-सहित वही-की-वही रहती हैं, परन्तु उनसे काम नही चलता क्योकि आत्मा सूक्ष्म-शरीर सहित वहाँ से विदा हो चुका होता है। क्लोरोफार्म देकर जब आदमी की चीरा-फाडी की जाती है तब सास चलता है, हृदय धडकता है, परन्तु जीवन बना रहता है क्योकि मृत-समान होने पर भी उस शरीर मे आत्मा सहित सूक्ष्म-शरीर बना रहता है।

7. स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर तथा कारण-शरीर में भेद

वैसे तो हम तृतीय अध्याय मे लिख आए है कि साख्य मतानुसार 'सूक्ष्म-शरीर' और 'कारण-शरीर' एक ही हैं, परन्तु कुछ शास्त्रो मे 'स्थूल-शरीर', 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'कारण-शरीर'—ये तीन शरीर अलग-अलग भी माने गये है। जो इन तीनो को अलग-अलग मानते हैं, वे इन तीनो का आपस मे जो सम्बन्ध बतलाते है उसे निम्न उदाहरण से समझ सकते है। कुम्हार मट्टी से अनेक प्रकार के बर्तन बनाता है—घडा, सुराही, सकोरा आदि। मट्टी इन सबका 'कारण-शरीर' है जो इन सब मे व्यापक है, एक-समान है। इसके बाद कुम्हार के मस्तिष्क मे इन सब बर्तनो के भिन्न-भिन्न नक्शे मौजूद होते हैं, भिन्न-भिन्न तस्वीरे होती है, भिन्न-भिन्न आकृतियाँ होती है। कुम्हार के मस्तिष्क मे वर्तमान इन बर्तनो की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ अदृश्य है, सूक्ष्म हैं, वे सब इन बर्तनो के 'सूक्ष्म-शरीर' है, जो व्यापक न होकर सीमित है, एक-समान न होकर एक-दूसरे से भिन्न है। तीसरी अवस्था तब आती है जब इन सूक्ष्म आकृतियो के अनुसार स्थूल पदार्थ बन जाते हैं, कुम्हार छोटे-बडे, लाल-काले घडे, सुराहियाँ, सकोरे बना डालता है। यह बर्तनो का 'स्थूल-शरीर' है। मट्टी 'कारण-शरीर' है, आकृतियाँ 'सूक्ष्म-शरीर' हैं, घडा, सुराही, सकोरे 'स्थूल-शरीर' हैं। 'कारण-शरीर' सबका एक है, 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'स्थूल-शरीर' सबके भिन्न-भिन्न हैं, 'कारण-शरीर' तथा 'सूक्ष्म-शरीर' अदृश्य है, 'स्थूल-शरीर' दृश्य है। सूक्ष्म-शरीर को लिंग-शरीर तथा आतिवाहिक-शरीर भी कहते है—आतिवाहिक इसलिये क्योंकि यह आत्मा को जन्म-जन्मान्तर मे वहन का ले जाने का कार्य करता है।

ठीक मट्टी के उदाहरण को सामने रख कर प्राणी के तीन शरीरो को भी समझा जा सकता है। इसमे तो सन्देह नही कि ये तीनो शरीर भौतिक हैं, प्रकृति से बने है। ससार के जितने पदार्थ है वे साख्य-शास्त्रीय परिभाषा मे 'प्रकृति' नही कहलाते, 'विकृति' कहलाते हैं—'विकृति' इसलिए क्योंकि वे 'प्रकृति' के 'विकार' है। इन सब 'विकारो'—'विकृति'—का मूल-कारण 'प्रकृति' है जो व्यापक है, अदृश्य है। जैसे घडे, सुराही, सकोरे आदि का 'कारण-शरीर' मट्टी है, वैसे ही प्राणी के 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'स्थूल-शरीर' का 'कारण-शरीर' प्रकृति है। इस दृष्टि से सब प्राणियो के 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'स्थूल-शरीर' का यह व्यापक तथा अदृश्य सत्व, रज, तम की साम्यावस्था-स्वरूप—'सत्व रजस्तमसा **साम्यावस्था प्रकृतिः**'—'प्रकृति' ही कारण होने की वजह से 'कारण-शरीर' है। 'कारण-शरीर' से जो 'प्रकृति' से निर्मित होने के कारण सब प्राणियो का एक-**समान है**, 'सूक्ष्म-शरीर' का निर्माण होता है। यह 'सूक्ष्म-शरीर' सबका भिन्न-**भिन्न है**। साख्य कारिका (कारिका, 40) के अनुसार 5 तन्मात्र (पृथ्वी, अप्,

तेज, वायु, आकाश के सूक्ष्म रूप), 5 सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ तथा अहकार, मन और बुद्धि—ये 3—कुल मिला कर 18 तत्वो से 'सूक्ष्म-शरीर' बनता है। इसे सांख्य-दर्शन मे 'लिंग-शरीर' कहा है। सांख्य-दर्शन ने अहकार को बुद्धि के अन्तर्गत गिन कर सूक्ष्म-शरीर (लिंग-शरीर) के 18 घटक-तत्त्व मानने के स्थान मे 17 घटक-तत्त्व माने हैं—'सप्त दशकं लिंगम्' (सांख्य-सूत्र, 3-9)। इसी सूक्ष्म-शरीर मे संस्कार संचित रहते हैं। जैसे मट्टी से बने भिन्न-भिन्न बर्तनो की कुम्हार के मस्तिष्क मे बनी आकृतियाँ सूक्ष्म होती हैं, अदृश्य होती है, और साथ ही भिन्न-भिन्न भी होती हैं, वैसे ही सब प्राणियों के 'सूक्ष्म-शरीर' प्रकृति से बने होते है, सूक्ष्म होते हैं, अदृश्य होते हैं और एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इसके बाद जैसे कुम्हार के मस्तिष्क मे वर्तमान मट्टी के बर्तनो की अदृश्य आकृतियो से दृश्य घडा, सुराही, सकोरा आदि बन जाते है, वैसे ही 'सूक्ष्म-शरीर' मे उसमे अन्तर्निहित बीज-रूप-संस्कारो के परिणामस्वरूप 'स्थूल-शरीर' का निर्माण होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'कारण-शरीर' सबका एक है, 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'स्थूल-शरीर' सबके भिन्न-भिन्न हैं, 'कारण-शरीर' तथा 'सूक्ष्म-शरीर' अदृश्य हैं, 'स्थूल-शरीर' दृश्य है; नाश 'स्थूल-शरीर' का होता है, 'सूक्ष्म-शरीर' का नहीं, 'सूक्ष्म-शरीर' जीवन भर के संचित-संस्कारो की छाप लेकर अगले जन्म के लिए चल देता है, आत्मा तथा शरीर के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का साधन यह 'सूक्ष्म-शरीर' ही है क्योकि यह भौतिक होते हुए भी आत्मा के समान अदृश्य भी है, और अदृश्य होते हुए भी शरीर के समान भौतिक भी है।

तैत्तिरीयोपनिषद (ब्रह्मानन्द वल्ली, द्वितीय अनुवाक्) मे इन तीन शरीरो का पंचकोशो के रूप मे वर्णन पाया जाता है। वे पाँच कोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। यह 'स्थूल-शरीर' अन्नमय कोश है, 'सूक्ष्म-शरीर' प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोश हैं; 'कारण-शरीर' आनन्दमय कोश है। 'कारण-शरीर' को आनन्दमय इसलिए कह सकते हैं क्योकि प्रकृति की कारणावस्था मे और सूक्ष्म-शरीर की कारणावस्था मे जाकर सब विकार शान्त हो जाते है, विकृति की अवस्था न रह कर 'प्रकृति' की अवस्था आ जाती है, साम्यावस्था की प्राप्ति हो जाती है। साम्यावस्था की प्राप्ति ही आनन्दमयता है।

किसी शास्त्रकार ने 'कारण'-'सूक्ष्म'-'स्थूल'—इन तीन शरीरो का वर्णन कर दिया, किसी ने 'अन्नमय', 'प्राणमय', 'मनोमय', 'विज्ञानमय', 'आनन्दमय'—इन पाँच कोशो का वर्णन कर दिया, इन सब मे भेद कोई नही है। इन वर्णनों का अभिप्राय यही है कि 'स्थूल-शरीर' या 'अन्नमय-कोश' ही सब-कुछ नहीं है, इसकी सत्ता है, यथार्थ-सत्ता है, परन्तु इसके पीछे, इसका स्रोत, इसका कारण

दूसरा-कुछ है जिसको आँखों से ओझल नही करना होगा। वैदिक विचारधारा का मूल आधार ही यह है कि 'यह भी है'—'वह भी है'—इन दोनो के समन्वय को देख कर ही सृष्टि की गुत्थी को सुलझाया जा सकता है, एकागी दृष्टिकोण से यह गुत्थी गुत्थी ही बनी रहती है।

8. कर्म-विपाक

कर्म का फल कैसे मिलता है, शास्त्रीय-परिभाषा मे 'कर्म-विपाक' कैसे होता है—इस सम्बन्ध मे श्री प० सन्तराम बी० ए० ने अपनी पुस्तक 'जन्म-मरण की पहेली' मे श्रीयुत् हीरेन्द्रनाथ दत्त की बगला-पुस्तक 'कर्मवाद और जन्मान्तर' का उद्धरण देते हुए जो-कुछ लिखा है वह इतना मार्मिक है कि उनकी पुस्तक से निम्न उद्धरण देने का हम प्रलोभन सवरण नही कर सकते। वे लिखते हैं—

कर्म का सिद्धान्त जटिल होते हुए भी बडा सरल है। यह सिद्धान्त कहता है कि मनुष्य जैसा भी अच्छा या बुरा कर्म करता है वह वैसा ही अच्छा या बुरा फल पाता है। जैसे कोई मनुष्य बबूल का बीज बो कर आम का फल नही खा सकता, उसी प्रकार कोई मनुष्य कुकर्म करके सुखी होने की आशा नही रख सकता। मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है। वह अपनी इच्छा से अच्छे या बुरे कर्म कर सकता है, परन्तु इन कर्मों का फल भोगने मे वह स्वतन्त्र नही है। अपने कर्मों का फल भोगना उसके लिए अनिवार्य है। कई कर्म ऐसे होते है जिनका फल भोगने के लिए उसे कुछ देर ठहरना पडता है। इतना ही नही, जिन कर्मों का पुरस्कार या दण्ड वह इस जन्म मे नही पा सकता उनका फल उसे अगले जन्म मे मिलता है। कर्म-विपाक की इस रीति को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण सुनिए—

कई वर्ष हुए 'थियोसोफिस्ट'-पत्र मे एक सच्ची कहानी छपी थी। वह कहानी श्रीयुत् हीरेन्द्रनाथ दत्त, एम० ए०, 'वेदान्तरत्न' ने अपनी बगला-पुस्तक 'कर्मवाद और जन्मान्तर' मे भी दी है। इससे कर्म की विपाक-रीति का पता चलता है। यदि कोई एक जन्म मे समीप के आत्मीय की, जिस पर उसका सस्नेह-व्यवहार करना कर्त्तव्य है, अवज्ञा और अनादर करता है, तो यह असम्भव नही कि अगले जन्म मे वही अवज्ञात-आत्मीय उसका विशेष आदर-पात्र होकर जन्म लेगा और उसके दुलार को आकर्षित करके वह उसकी आँखो का तारा होगा। फिर अकाल मे उसके सभी स्नेह-बन्धनो को तोड-ताड कर उसे अपार शोक-सागर मे बहा कर धोखा दे जाएगा। वह कहानी इस प्रकार है—

महाराष्ट्र के पहाडी प्रदेश मे एक डाकू रहता था। लूट-खसोट करना उसका व्यवसाय था। दैवयोग की बात है कि एक दिन एक बनिया बहुत-सी सम्पदा साथ लिए उस पहाड़ी मार्ग से अपने देश को जा रहा था। वह डाकू के पंजे मे

पड गया। उसने डाकू से गिडगिडा कर कहा कि मेरी धन-सम्पदा बेशक ले लो, परन्तु मेरे प्राण छोड दो। किन्तु, निर्दय डाकू ने उसकी प्रार्थना अनसुनी कर दी और धन-दौलत लूटने के साथ उसकी हत्या भी कर डाली। बहुत-सा धन और माल हाथ लग जाने के कारण अब उस डाकू ने डकैती करना छोड दिया, और वह एक धनी मनुष्य की भाँति रहने लगा। उसके कोई सन्तान नही थी। बुढापे मे उसके यहाँ एक सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ। वह बेटा वृद्ध पिता को प्राणो से भी अधिक प्रिय था। बुड्ढे ने इस बेटे को पालने-पोसने और लिखाने-पढाने में बहुत धन व्यय किया। विवाह योग्य हो जाने पर उसने एक सुन्दरी कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। बुड्ढे की मानो सभी कामनाएँ पूर्ण हो गई। उसके हृदय मे आशा का फव्वारा फूटने लगा। इसके कुछ काल उपरान्त उस लडके को एकाएक ऐसा रोग हो गया कि उसे खटिया पकडनी पडी। पिता ने बहुत धन खर्च करके बडे-बडे प्रसिद्ध वैद्यो से उसकी चिकित्सा कराई और चतुर पण्डितो से पूजा-पाठ करा कर उसे बचाने के लिए भरसक यत्न किया, परन्तु उसका कोई भी उपाय सफल नही हुआ। धीरे-धीरे सभी ने उसके जीने की आशा छोड दी।

इसी बीच एक दिन रोगी को कुछ आराम-सा मालूम हुआ। प्रसन्नता से उसके पिता का मुख-मण्डल खिल उठा। वह बेटे के पलंग पर एक ओर जा बैठा। पुत्र ने संकेत से बताया कि मैं पिता से कुछ गुप्त बात करना चाहता हूँ। तब नौकर-चाकरो और वैद्यो को दूसरे कमरे मे भेज दिया गया। एकान्त पा कर पुत्र ने पिता से कहा—"बाबू जी, आपने मुझे पहचाना भी ?" पिता ने समझा, लडका बेहोशी मे बक रहा है। उसने उसे दिलासा देकर कहा, "बेटा, यह क्या कहते हो ? भला मैं तुम्हे पहचानूँगा नही ? तुम तो मेरे प्राण हो।"

बेटे ने कहा, "मैं यह नही पूछता। आपको उस दिन की याद हैं जिस दिन आपने अमुक पहाडी रास्ते मे अमुक बनिए को जान से मार कर उसका सर्वस्व लूट लिया था ?" बुड्ढे के सिर पर मानो गाज गिरी। उसने अचकचा कर सोचा कि उससे यह बात किसने कह दी। उसने पूछा—"यह सब क्या कहते हो ? वैद्य को बुलाऊँ ?"

बेटे ने कहा, "देखिए, मुझे अब समय नही है। मरने से पहले मैं अन्तिम बात कह देना चाहता हूँ। मैं वही बनिया हूँ जिसे आपने बुरी तरह से मार डाला था। मैं इस जन्म मे आपका बेटा हूँ। मैं जब से जन्मा हूँ, तब से लेकर आज तक मेरे लिए जितना रुपया-पैसा खर्च किया गया है उसका हिसाब करने मे आपको यह मालूम हो जाएगा कि उस बनिए का जितना धन आपने लूटा था उतना ही यह खर्च हुआ है। अब मैं जाता हूँ। उस रुपये का ब्याज प्राप्त

करने के लिए मै अपनी छोटी आयु की स्त्री को छोड जाता हूँ। इसका पालन आपको जीवन भर करना है।"

बस, बेटे की आँखे सदा के लिए बन्द हो गई।

कोई-कोई मनुष्य जन्म से ही अन्धा, लूला, लगडा या पागल उत्पन्न होता है। इसका कारण बताते हुए श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त लिखते है—"कर्मतत्व का पता लगाने से मालूम होता है कि आत्मापराध-रूपी वृक्ष का ही यह विषमय फल है। जो पाप-प्रवृत्ति से, प्रवचना से, प्राकृतिक विधि का उल्लघन करते है, अथवा व्याधित, पीडित, आर्त्त, भीत या शरणागत पर अमानुषिक अत्याचार करते है, अगले जन्म मे उनकी ऐसी ही दुर्दशा होती है। कर्म-देवता उन्हे ऐसे वश मे ले जाते है, उन्हे ऐसी कोख मे पहुँचा देते हैं, ऐसे वीज से जन्म दिलाते है जहाँ ऐसी व्याधि उत्तराधिकार-सूत्र से सन्तान मे सक्रमित हो सकती है। इसके फलस्वरूप वह जन्म से ही अन्धा, बहरा, लगडा, जड या उन्मत्त प्रकृति का होता है और जन्म-भर उस पुराने पाप के निशान को लादे रहता है।"

9. कर्म के बन्धन से कैसे बचा जा सकता है ?

'भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद' के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए हमने प्रश्न उठाया था कि क्या कर्म के बन्धन को काटा जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर का स्थल अब आया है।

(क) **हमारा अनुभव साक्षी है कि हम कर्म के बन्धनो को काटने के लिए स्वतन्त्र हैं**—हम कर्म के बन्धन मे क्यो, कैसे और कब पडते हैं ? हमने किसी की कोई चीज़ चुरा ली, उसने हमे पकड लिया, उसे क्रोध आया, उसने हमे थप्पड मारा, हमने बदले मे मारा, उसे और क्रोध आया, कर्म का चक्र चल पडा, चलता चला गया। प्रश्न यह है कि क्या हम कर्म के चक्र की इस 'अवश्य-भाविता' (Determinism) को कही काट सकते थे या नही ? वैदिक-विचार-धारा यह है कि हम इसे शुरू मे भी काट सकते थे, बीच मे भी काट सकते थे, अन्त मे भी काट सकते थे, जब चाहते इस चक्र मे से निकल सकते थे क्योंकि हम ईंट-पत्थर नही हैं; प्रकृति-तत्त्व नही हैं, आत्म-तत्त्व हैं; स्वतन्त्रता आत्म-तत्त्व का जन्म-सिद्ध गुण है। यह चक्र चला कैसे ? हमने किसी की चीज़ चुराई थी। अगर हम लोभ मे न फँसते, दूसरे की चीज़ न चुराते, तो यह चक्र कैसे चलता ? चुरा लेने पर जब उसने हमे मारा तब हम क्रोध मे आकर प्रतिक्रिया न करते, अपने अपराध को स्वीकार कर लेते, तो यह चक्र कैसे चलता ? चलते-चलते किसी भी क्षण हम क्रोध को छोड सकते थे। इसका अर्थ यही है कि किसी भी क्षण हम कर्म की 'अवश्यभाविता' मे से निकल सकते थे, कर्म के पड जाने वाले बन्धन को काट सकते थे। यह कहना कि जिस समय हमने पहले-पहल चीज़

चुराई थी उस समय ही हम चोरी करने-न-करने मे स्वतन्त्र नही थे, कर्मों के लेखे के अनुसार हमे चोरी करनी ही थी, यह विधि का विधान था, टल नही सकता था, इस या किन्ही पिछले जन्मो के कर्मों का यह आवश्यक परिणाम था—यह कहने के समान है कि 'आत्म-तत्त्व' आत्म-तत्त्व नही है, चेतन-तत्त्व नही है, ईंट-पत्थर के समान जड-तत्त्व है। 'चेतना' का तो अर्थ ही स्वतन्त्रता है। यह तो हम सभी देखते ही हैं, अनुभव करते है कि क्रोध हमे आता है, हम चाहे तो क्रोध को टाल भी सकते हैं, लालच हमे पराभूत कर देता है, हम चाहे तो लालच को जीत भी सकते है, वदले की भावना हमारे सिर पर सवार हो जाती है, हम चाहे तो उस भावना से ऊपर भी उठ सकते हैं, क्षमा कर सकते है, काम-वासना मे आदमी पागल हो जाता है, सोच-समझ से चले तो काम की वासना को शान्त भी कर सकता है। इस वात को अच्छी तरह समझ लेने की जरूरत है कि कर्म के वन्धन के पड जाने का कारण भौतिक नही, आध्यात्मिक है। काम-क्रोध-लोभ-मोह—इन भौतिक नही, किन्तु आध्यात्मिक कारणो से हम कर्म के वन्धन मे फँसते है। असख्य-प्राणियो का कितना ही कर्म का वन्धन है जो सिर्फ काम-वासना को कावू मे न रखने से उन्हे वाँधे हुए है, लाखो-करोडो प्राणियो के कर्म-वन्धन के पीछे क्रोध है, लोभ है, मोह है। कर्म-चक्र के चलने मे ये आध्यात्मिक—अर्थात्, शरीर से नही अपितु मन तथा आत्मा से सम्वन्ध रखने वाले—कारण हैं, इसलिए कर्म के वन्धनो को काटने का उपाय आध्यात्मिक ही है। क्योकि आत्मा मे ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व—ये तीन गुण स्वभाव से निहित हैं, क्योकि चेतना के ये तीन गुण इसे जड-जगत् से पृथक् करते हैं, क्योकि आत्मा कर्म करने मे स्वतन्त्र है, क्योकि आत्मा मानसिक-विकारो पर विजय पा सकता है, इसलिये आत्मा जव चाहे, जिस क्षण चाहे, मानसिक-विकारो को काट कर कर्म के पड जाने वाले वन्धन को काट कर गिरा सकता है।

(ख) **मानसिक-सवेगो का विश्लेषण करने से सवेग नष्ट हो जाता है, और सवेग के नष्ट हो जाने से दुष्कर्म नहीं होने पाता इसलिए कर्म का बन्धन नहीं पड़ता**—संवेगो (Emotions) पर जिन मनोवैज्ञानिको ने गहरा विचार किया है उनका कहना है कि सवेग को देख कर सवेग वढता। उदाहरणार्थ, क्रोध को देख कर क्रोध वढता है, भय को देख कर भय वढता है, काम को देख कर काम वढता है, लालच को देख कर लालच वढता है। सवेग का आधारभूत-कारण यह है कि कोई भी 'सवेग' क्यो न हो, मनुष्य उसमे अन्धा हो जाता है, 'सवेग' विचार-शक्ति को पीछे धकेल देता है। गीता मे ठीक कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुसः संगस्तेषूपजायते,
संगात् संजायते काम कामात् क्रोधोऽभिजायते।

क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः,
स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।

गीता, 2—62, 63

—संसार के विषयो को सोचते-सोचते मनुष्य का उनके प्रति संग, आकर्षण हो जाता है, आकर्षण हो जाने पर उन्हे प्राप्त करने की तीव्र-इच्छा उत्पन्न हो जाती है, इच्छा पूर्ण न होने, उसमे रुकावट आने पर क्रोध आने लगता है, क्रोध मे आदमी अपने को भूल बैठता है, जो वस्तु प्राप्त नही हो रही उसके प्रति 'मोह' हो जाता है, अपने को भूल बैठने पर वह आगा-पीछा कुछ नही देखता, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, बुद्धि भ्रष्ट हुई नही कि आदमी आदमी नही रहता। कैसा मार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन है। बन्धन मे डालने वाला वही कर्म होता है जिसमे काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि मानसिक-सवेग हो। इन सवेगो को काट दिया, तो कर्म का बन्धन अपने-आप कट गया। इन्हे काटने का मार्ग भी शास्त्रो ने बतला दिया है। वह मार्ग क्या है? महाभारत मे विदुर ने कहा है—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधु साधुना जयेत्,
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ।

महाभारत, उद्योग-पर्व, 38—73, 74

—सवेगो तथा आवेगो से कर्म का बन्धन चलता है, सवेग तथा आवेग ही कर्म के चक्र के चलने मे मूल-स्रोत हैं। क्रोध को अक्रोध से, बुराई को भलाई से, कृपणता को उदारता से, झूठ को सत्य से जीता जा सकता है। क्रोधी के साथ क्रोध करने से क्रोध शान्त नही होता, बढता है, बुरे के साथ बुराई करने से बुराई समाप्त नही होती, बढती है। इसीलिए शास्त्रो ने कहा है कि क्रोध का मुकाबिला अक्रोध से करो, बुराई का मुकाबिला भलाई से करो, झूठ का मुकाबिला सचाई से करो—इस प्रकार कर्म का चक्र चलने नही पाता, कर्म का बन्धन पडने नही पाता। कर्म-चक्र मे से निकल जाने का रास्ता सवेगों तथा आवेगो मे से निकल जाना है। सवेग मनुष्य को अन्धा बना देता है, यह सवेग का स्वभाव है, यह मनुष्य के स्वतन्त्र-कर्तृत्व पर प्रहार करता है। परन्तु आत्मा का भी तो अपना स्वतन्त्र-कर्तृत्व का स्वभाव है। मनुष्य जब सवेग से अन्धा हो रहा हो, तब आत्मा का स्वतन्त्र-कर्तृत्व उभर आना चाहिए। कोई भी संवेग ऐसी बला नही है जिससे हम छुटकारा न पा सके। मनोविश्लेपण के पंडितो का कहना है कि जब कोई 'सवेग' आक्रमण करे, तब उसके विश्लेषण मे जुट जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, क्रोध के समय हम क्रोध का विश्लेपण करने लगे—क्रोध क्यो आया, क्या इसका आना ठीक था या गलत था, कही मेरी ही गलती तो नही थी—इन बातो के विश्लेषण मे लग जाने पर क्रोध अपने-आप

काफ़ूर हो जाता है, और कर्म का जो वन्धन क्रोध के वशीभूत होकर पडने वाला होता है वह नही पडता। प्रत्येक मानसिक-सवेग की यही अवस्था है। मानसिक-विकार के वादल जो कर्मों की घनघोर घटा हम पर फैला देते हैं आत्मा-तत्त्व पर तभी तक छाये रहते हैं जवतक हम वुद्धि के प्रकाश से उन्हे छिन्न-भिन्न नही कर देते। जहाँ वुद्धि की आँख से देखा, वही सवेग समाप्त हो जाता है। काम-क्रोध आदि मे अन्धापन उनका सहचारी गुण है, और अन्धापन तभी तक रहता है जबतक हम वुद्धि द्वारा सवेग का विश्लेषण करने मे नही लग जाते।

ऊपर गीता के जिन दो श्लोको का हमने उल्लेख किया है वे वडे मार्मिक है। इनमे 'कर्म' के विषय मे जो मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है वह ससार की किसी भी अध्यात्मपरक मनोवैज्ञानिक पुस्तक मे नही मिलता। इसमे वर्णित 'सग', 'काम', 'क्रोध', 'समोह', 'स्मृति-विभ्रम', 'वुद्धिनाश' तथा 'प्रणाश'—मनुष्य के विनाश की इस क्रमिक-शृंखला को समझ लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कर्म का वन्धन' कैसे पड़ता है, और इस शृखला को काट देने से 'कर्म का वन्धन' कैसे कट जाता है।

(क) **संग तथा काम (सगात् संजायते कामः)**—'सग' का अर्थ है किसी वस्तु या व्यक्ति के सम्पर्क मे आना। हम रास्ते चलते किसी का मकान देखते हैं, पास से निकल गई किसी की मोटर गाडी को देखते है, किसी सुन्दर स्त्री को देखते हैं। इस प्रकार किसी वस्तु या व्यक्ति को देखना उनके सपर्क मे आना है—यही 'सग' है। 'सग' मे आने से दो वातें हो सकती हैं। या तो हमने देखा और समाप्त हो गया, देख कर अपने भीतर कोई चाह उत्पन्न नही हुई, तव तो 'कर्म' की शृखला वही कट गई, आगे नही वढी। या, देखने पर हमारे भीतर भी उस वस्तु या उस व्यक्ति के प्रति कामना उत्पन्न हो गई। कैसा अच्छा मकान है—मेरा भी ऐसा हो, कैसी वहुमूल्य मोटर है—मेरे पास भी ऐसी हो, कैसी सुन्दर स्त्री है—मेरे पास भी ऐसी हो। 'कामना' का अर्थ सेक्स नही, इच्छा है, चाह है, वासना है। सेक्स तो चाह या इच्छा का एक रूप है। 'कामना' एक व्यापक शब्द है, 'सेक्स' उसका सीमित रूप है। कामना 'सेक्स' ही का आधार नही, हर इच्छा का, हर चाह का आधार 'कामना' है। गीता का मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण यह है कि किसी वस्तु या व्यक्ति के सग मे आकर जो दो प्रतिक्रियाएँ हो सकती है, उनमे एक प्रतिक्रिया है—देखना और निस्संग हो जाना, दूसरी प्रतिक्रिया है—देखना और उसके प्रति कामना, इच्छा, चाह उत्पन्न हो जाना, उसमें डूव जाना। निस्सग हो जाने से कर्म की शृखला आगे नही चलती, देख कर सग हो जाने से, कामना उत्पन्न हो जाने से कर्म की शृखला आगे चल देती है। इसी को गीता मे कहा है—**'सगात् संजायते काम'**।

संग होने पर—किसी सुन्दर मकान को देखने पर, किसी की बहुमूल्य मोटर गाडी को देख कर, किसी सुन्दर स्त्री को देख कर, उसके प्रति कामना उत्पन्न न हो, मनुष्य निस्संग बना रहे—यह कैसे हो सकता है ! अगर गहराई से देखा जाय, तो अपने-आप मे सुन्दर-असुन्दर, बहुमूल्य-मूल्यहीन कोई वस्तु नही होती, हमारी कामना का पुट ही उसे सुन्दर या असुन्दर बना देता है, हमारी कामना का पुट ही उसे बहुमूल्य या मूल्यहीन बना देता है। जिसका मन काला हो उसे सब काले दिखलाई देते है। जिस कलाकार की चित्र-कला को हम ऊटपटाग रेखाएँ कह कर टाल देते हैं उसी को दूसरा व्यक्ति चित्र-कला का आदर्श घोषित करता है, जिस व्याख्याता के पीछे उसकी पार्टी के लोग पागल होकर फिरते हैं, उसके व्याख्यान को दूसरी पार्टी के लोग पागल का बकवास कहते है। सचाई यह है कि अपने-आप मे न कोई वस्तु सुन्दर है, न असुन्दर है, न बहुमूल्यवान् है, न निकम्मी है—हमारी कामना से ही वह सुन्दर है या असुन्दर है, बहुमूल्यवान् है, या निकम्मी है। हमारा उसके प्रति सग, हमारी उसके प्रति कामना ही उसमे प्राण-प्रतिष्ठा करती है। हम उसमे प्राण-प्रतिष्ठा न करे, उसमे कामना—वासना—का जाग न डाले, तो कर्म की शृखला वही टूट जाती है। क्योकि हम उसमे जान डाल देते हैं इसलिए यह शृखला मनुष्य के विनाश के लिए आगे-आगे चलती चली जाती है। यह शृखला आगे कैसे चलती है ?

(ख) **काम तथा क्रोध (कामात्क्रोधोऽभिजायते)**—जब हम सग हो जाने के बाद किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति कामना करते है, तब क्या कामना का पूर्ण हो जाना अवश्यभावी है ? जैसे सग होने के बाद हमारे सामने दो रास्ते खुले थे—निस्सग हो जाना, या कामनाग्रस्त हो जाना, वैसे ही कामना के रास्ते पर चल पडने के बाद भी हमारे सामने दो रास्ते आ जाते है। पहला रास्ता तो यह है कि हमने कामना की, और कामना पूर्ण हो गई। ऐसे व्यक्ति विरले होते हैं जिनकी कामना पूर्ण हो जाती है, परन्तु अगर कामना पूर्ण हो गई, तब भी कर्म की शृखला टूट गई, आगे-आगे न बढी। परन्तु कितने लोग हैं जिनकी कामना पूर्ण हो जाती है ? जिस कामना को हम करते है उसी को करने वाले हजारो नही, करोडो है। उनकी कामनाएँ हमारे रास्ते मे रुकावट बनकर खडी हो जाती हैं। कामना के रास्ते पर चल पडने का यह दूसरा पक्ष है। कामना जगी और उसके सामने रुकावट आकर खड़ी हो गई। अधिकाश व्यक्तियो के जीवन की यही कहानी है। जब कामना के सामने रुकावट आ जाती है, तब क्रोध आ जाना स्वाभाविक है—**'कामात् क्रोधोऽभिजायते'**—कामना के बाद रुकावट आती है और रुकावट से क्रोध जग जाता है। जहाँ भी रुकावट आती है वहाँ क्रोध होता ही है। नदी का सरस प्रवाह शान्त गति से बहता चला आ रहा है, रास्ते मे चट्टान आ गई, एकदम सरसता टूट जाती है, पानी चट्टान से

टकराता है, झाग उठने लगती है, जल का आक्रोश सुनाई देने लगता है। क्रोध मे भी तो मनुष्य अनाप-सनाप वकने लगता है, मुँह से झाग भी निकलने लगती है। जैसे व्यक्ति के जीवन मे कामना पूरी न होने से वह क्रुद्ध हो जाता है, वैसे समाज भी अपने आदर्शों को क्रियान्वित होता हुआ न देख कर रोष से भर जाता है, क्रांतियाँ हो जाती हैं, शाहन्शाहो के तख्ते पलट जाते हैं। क्रोध के बाद कर्म-शृंखला की तीसरी कड़ी आती है जिसे गीता ने 'समोह' कहा है—**'क्रोधात् भवति संमोहः'**।

(ग) **क्रोध तथा संमोह (क्रोधात् भवति संमोहः)**—क्रोध जब बढ़-चढ़ जाता है, तब 'समोह' पैदा हो जाता है। 'मोह' का अर्थ है—किसी वस्तु पर जम जाना, अटक जाना, उसे पकड कर बैठ जाना। 'मोह' जब उग्र हो जाता है तब उसी को 'समोह' कहते है। क्रोध का अर्थ है कि जिस बात को हम चाहते है वह नही हो रही, इसलिये हमे गुस्सा आ जाता है। गुस्से मे हम आगा-पीछा भूल जाते हैं, और अपनी बात को और ज़ोर से पकड बैठते हैं। ठीक हो, गलत हो—हम अड जाते हैं। यह अड जाना, अपनी बात को पकड़ बैठना, कुछ भी हो जाय उसे न छोडना ही 'समोह' है। 'समोह' क्रोध के बाद आता है। हम किसी समाज के मत्री, प्रधान बनना चाहते हैं। हमारी इस कामना मे अनेक रुकावटे आती हैं। इन रुकावटो को सामने खडा देख कर हमे क्रोध आता है। क्रोध का परिणाम यह होता है कि हमारा अपनी बात पर आग्रह दृढ हो जाता है। अब हम कहते हैं—कुछ भी हो जाय, ठीक हो, गलत हो, मैं मन्त्री बन कर ही रहूँगा, प्रधान बन कर ही रहूँगा। रुकावट मोह को पैदा करती है। कर्म की शृंखला के बन्धन मे जकड़े जाने की यह तीसरी कड़ी है। अब तक हम कर्म के जिस मार्ग पर चल रहे थे, उसमे हर घड़ी हमारे सामने दो रास्ते खुले थे। सग का मार्ग, निस्सग का मार्ग; क्रोध का मार्ग, अक्रोध का मार्ग; हर समय हम कर्म के बन्धन को काट सकते थे; परन्तु जहाँ हम 'समोह' के क्षेत्र मे पहुंचे, फिर कर्म का बन्धन काटने का हथियार हाथ से गिर जाता है। क्यो गिर जाता है? क्योंकि इससे पहले हम सोच-समझ से काम ले सकते थे, संग के समय, कामना के समय, क्रोध के समय तक हम आगा-पीछा सोच कर आगे कदम रख सकते थे—**'अक्रोधात् जयेत् क्रोधं'** के रास्ते पर चल सकते थे, परन्तु जहाँ हमने 'समोह' मे प्रवेश किया वही सोच-समझ का हथियार हमारे हाथ से गिर गया। 'समोह' के समय मनुष्य की जो मानसिक-अवस्था होती है उसे गीता ने 'स्मृति-विभ्रम' कहा है—**'संमोहात् स्मृति विभ्रम:'**। 'समोह' कर्म-बन्धन की शृखला मे चौथी कडी है।

(घ) **समोह तथा स्मृति-विभ्रम (समोहात् स्मृति विभ्रमः)**—गीता का कथन है कि 'समोह' मे 'स्मृति-विभ्रम' हो जाता है। 'स्मृति' का काम क्या है?

जो वस्तु जैसी है उसे मस्तिष्क मे वैसा अंकित कर देना 'स्मृति' का काम है। अगर यथार्थ मे कुछ और है, और स्मृति मे कुछ और है, तो वह 'यथार्थ' न होकर 'भ्रम' है। 'भ्रम' कहते ही उसे हैं जो यथार्थ न हो। 'मोह' का क्या काम है ? 'मोह' मे हम वस्तु के यथार्थ रूप को नही देखते, अपने भीतर उसका जो कल्पित रूप है उसे देखते है। एक स्त्री ने शिष्टाचार मे किसी से दो वात कर दी। स्त्री के मन मे कुछ नही, परन्तु जिससे वात की वह व्यक्ति उन दो-चार शब्दों को सुनकर उसके मोह मे फँस कर पागल हो गया। स्मृति यथार्थ को अंकित करती है, मोह अयथार्थ को अंकित कर लेता है। स्मृति तथा मोह का रास्ता उल्टा है। स्मृति एक तरफ ले जाती है, मोह उससे दूसरी तरफ ले जाता है—इसी को गीता ने स्मृति-विभ्रम कहा है। 'स्मृति' का काम वाह्य-वस्तु मे जो यथार्थता है उसे देख कर स्मृति-पटल पर अंकित करना है, 'मोह' का काम देखने वाले के मानसिक-क्षितिज मे जो चल-चित्र वन रहे हैं उन्हे वाह्यवस्तु मे प्रक्षिप्त करना है जिसे गीता ने मनोवैज्ञानिक विश्लेपण करते हुए यथार्थ के स्थान में अयथार्थ, अथवा भ्रम को देखने के कारण 'स्मृति-विभ्रम' कहा है। कर्म-बन्धन की शृंखला मे 'स्मृति-विभ्रम' पाँचवी कड़ी है। इसके बाद बुद्धिनाश की स्थिति आ जाती है।

(ङ) **स्मृति-विभ्रम तथा बुद्धिनाश (स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः)**—कर्म-बन्धन की शृंखला की छटी तथा अन्तिम कडी बुद्धिनाश है। स्मृति के आधार पर ही तो बुद्धि का भवन खडा होता है। बच्चे को पहले रटाया जाता है, विना सोचे-समझे अक्षर याद कराये जाते हैं, पहाडे रटाये जाते हैं, फिर इन्ही के जोड-तोड से बुद्धि का सारा काम चलता है। जैसे पहले ईटे इकट्ठी की जाती हैं, चूना-बजरी जमा किया जाता है, तव कही नक्शे के अनुसार मकान वनने लगता है, वैसे पहले स्मृति से वह माल जमा कर लिया जाता है जिसके जोड-तोड़ से बुद्धि काम करने लगती है। परन्तु अगर स्मृति का ही नाश हो जाय, तो बुद्धि का भवन कैसे खड़ा हो सकता है ? सग मे इच्छा का पुट देने से काम, काम मे बाधा पड़ने से क्रोध; क्रोध के उग्र हो जाने पर जो वस्तु नही मिल रही उसके लिए आग्रह—मोह; मोह से स्मृति-विभ्रम; स्मृति-विभ्रम से बुद्धिनाश—और बुद्धिनाश के वाद 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'—बुद्धि ही न रही, तो मनुष्य का सर्वनाश—यह है कर्म की शृखला का वन्धन।

मनुष्य किस प्रकार 'कर्म' की साँकल मे वँध कर मूलत स्वतन्त्र होता हुआ परतन्त्र की तरह व्यवहार करता है—इसका यह अत्यन्त मर्मभेदी वर्णन है, परन्तु कर्म के विषय मे हमे यह वात गाँठ वाँध लेनी चाहिये कि आत्मा एक स्वतन्त्र शक्ति है, इसलिये मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र है इसलिये चाहे तो कर्म की गाँठ पडने ही न दे, परन्तु अगर कर्म करने को प्राणी

स्वाभाविक-स्वतन्त्रता का उसने उपयोग नही किया, तब जगत् के सर्वव्यापी-सिद्धान्त कारण-कार्य के नियम के अनुसार उसे कर्म का फल भोगना ही पडेगा, उससे मिन्नत-खुशामद करने से भी छुटकारे की कोई सम्भावना नही। कर्मों के सम्बन्ध मे सर्वोत्तम सिद्धान्त यह है—मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है, फल भोगने मे परतन्त्र है। उपहासास्पद बात यह है कि लोग अपने को कर्म करने मे परतन्त्र होने की तरह व्यवहार करते हैं, परन्तु फल भोगने मे स्वतन्त्र होना चाहते हैं। इसी गलत आधार पर ससार के अनेक मत-मतान्तरो की दीवारें खडी हैं, और यही कारण है कि इस विश्व मे मिथ्याचार दिनोदिन बढता जा रहा है।

10 संसार में विषमता का कारण क्या कर्म है ?

'कर्म' के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे दो बडे विकट प्रश्न किये जाते हैं। पहला प्रश्न अध्यात्मवादियो की तरफ से भौतिकवादियो के प्रति और दूसरा प्रश्न भौतिकवादियो की तरफ से अध्यात्मवादियो के प्रति है जिसका उत्तर अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिये प्रत्येक को देना आवश्यक है। अगर वे, अपने प्रति किये गये प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नही दे सकते, तो उन्हे अपने सिद्धान्त की युक्तियुक्तता पर विचार करना होगा। वे प्रश्न निम्न हैं

(क) **अध्यात्मवादी-प्रश्न**—ससार मे कोई प्राणी स्वस्थ उत्पन्न होता है, कोई जन्म का रोगी। किसी को आँखें है, कोई अन्धा ही जन्मता है, किसी को कोई कष्ट नही, कोई कष्ट मे ही जीवन प्रारम्भ करता है। क्योकि भौतिकवादी इसी जीवन को आदि तथा अन्त मानता है, इसलिये उसे इस बात का उत्तर देना चाहिए कि जन्म के प्रारम्भ मे ही यह विषमता क्यो है ? जो बच्चा अभी जन्मा उसका क्या दोष था कि वह अन्धा जन्मा। इस उलझन मे से निकलने का भौतिकवादी के पास क्या रास्ता है ? यदि कहा जाय कि सन्तान माता-पिता के रज-वीर्य के द्वारा उनके तथा 'आनुवंशिकता' (Heredity) द्वारा प्राप्त स्वस्थ अथवा अस्वस्थ जनन-द्रव्यो (Germplasm) को लेकर पैदा होती है, उसके बाद जैसे पर्यावरण (Environment) मे रहती है उसी के अनुसार बनती-बिगडती है, तो प्रश्न वही-का-वही रहता है। सन्तान ने क्या किया था जो उसे रोगी माता-पिता के यहाँ जन्म मिला, माता-पिता अपने किये का दण्ड भुगतें, एक निर्दोष बच्चा क्यो दण्ड भुगतने के लिये उनके घर पैदा होता हैं ? इसका उत्तर अध्यात्मवादी तो पिछले जन्म तथा अगले जन्म की बात करके दे देता है, भौतिकवादी तो यही कह सकता है कि इसमे न पिछला सिलसिला है, न अगला सिलसिला है, यही की कहानी यही समाप्त हो जाती है। परन्तु क्या ऐसा हो सकता है ? क्या भौतिकवादी-विज्ञान कारण-कार्य के नियम को छोड़ सकता है ? जो विज्ञान अभाव से भाव का होना और भाव से अभाव का हो

जाना नही मानता, वह इस जन्म मे 'चेतना' के एकाएक, अकारण कष्टो का बोझ सिर पर लाद कर उत्पन्न होने तथा इस जन्म मे किये अच्छे-बुरे कर्मों को यूँ ही पटक कर अन्तर्धान हो जाने की बेतुकी बात को कैसे मान सकता है ? विज्ञान जिसका आधार ही कारण-कार्य का नियम है, अपने को विज्ञान कहता हुआ 'कर्म' के उस सिद्धान्त से कैसे इन्कार कर सकता है, जो अगर कुछ है तो 'कारण-कार्य' का ही रूपान्तर है। यह कैसे हो सकता है कि 'चेतना'-जैसी एक महान्, अद्वितीय, विलक्षण सत्ता कुछ कष्टो को जन्म से ही अपने सिर पर लाद कर प्रकट हो जाय और कुछ देर अपनी झलक दिखा कर एकाएक आँखों से ओझल हो जाय, और जो उत्पात उसने इस जीवन मे मचाये है उनका न यहाँ फल भोगे, न आगे भोगे। यही होना, यही समाप्त हो जाना असम्भव है, तभी सम्भव है अगर कारण-कार्य का नियम दिल बहलाने की बात हो।

(ख) **भौतिकवादी-प्रश्न**—जो अध्यात्मवादी कहते हैं कि संसार मे मनुष्य-मनुष्य के बीच विषमताओ का कारण पिछले जन्म के कर्म हैं उनसे भौतिकवादी का प्रश्न है कि क्या अमीर-गरीब के बीच जो विषमता पायी जाती है वह पिछले जन्म के कर्मों के कारण है ? अगर यह पिछले जन्मो के कारण है तब तो यह आर्थिक-विषमता अनिवार्य है, कर्म का फल है, आज अमीरी-गरीबी को दूर करने के 'समाजवाद' (Socialism) तथा 'साम्यवाद' (Communism) के जो प्रयत्न हो रहे हैं, वे सब बेकार है। अगर समाज की आर्थिक-विषमता अनिवार्य है, कर्मों का लेखा है, तब तो कर्मों का विचार पूँजीवाद विचार (Capitalistic idea) हुआ। हम देखते हैं कि आर्थिक-विषमता दूर हो जाती है, दूर हो रही है, फिर कर्मो का सिद्धान्त कहाँ ठहरता है ? कर्मों के सिद्धान्त से तो आर्थिक-विषमता एक युक्तियुक्त स्थिति है।

11. विषमता का अध्यात्मवादी समाधान

अध्यात्मवादी के पास इस प्रश्न का उत्तर है। जब हम कहते हैं कि अमीर अमीर है अपने कर्मों के कारण, गरीब गरीब है अपने कर्मों के कारण—तब हम एक सचाई का प्रतिपादन कर रहे होते हैं। यह ठीक है कि धन की अमीरी-गरीबी समाज की व्यवस्था की बनाई हुई है। ऐसा समाज था जिसमे समाज की पूँजीवादी रचना थी, बच्चा पैदा ही मुँह मे सोने का चम्मच लेकर होता था, आज हम ऐसे समाज का निर्माण कर रहे है जिसमे न कोई अमीर रहेगा, न गरीब रहेगा। परन्तु अमीरी-गरीबी आर्थिक ही नही होती। अमीरी-गरीबी का माप-दण्ड 'धन' समझा जाता है, परन्तु असली अमीरी-गरीबी 'धन' की नहीं, 'गुण' की है। धन से अमीर होता हुआ भी व्यक्ति गुण से गरीब हो सकता है, धन से गरीब होता हुआ भी व्यक्ति गुण से अमीर हो सकता है। अध्यात्मवादी

का कथन है कि गुण, स्वभाव, संस्कार जन्म से आते हैं, ये पिछले जन्म के कर्मों के परिणाम होते हैं। कुछ लोग दरिद्र होने के संस्कार लेकर पैदा होते हैं, कुछ लोग समृद्ध होने के संस्कार लेकर पैदा होते हैं। जो समृद्ध होने के संस्कार लेकर पैदा हुआ है—और यह संस्कार पिछले जन्म का ही सूक्ष्म-शरीर मे निहित संस्कार हो सकता है—उसे सामाजिक-कुव्यवस्था के कारण भीख भी क्यो न माँगनी पड़े, वह सम्राट् की तरह वरतेगा, जो दरिद्र होने के संस्कार लेकर पैदा हुआ है, वह राजा के घर मे ही क्यो न जन्म ले, वह भिखमगो की तरह वरतेगा। यह ठीक है कि अमीरी-गरीवी सामाजिक-व्यवस्था का परिणाम है, यह मिट रही है, इसमे 'कर्म के सिद्धान्त' को घसीट लाना वेकार है, उसे घसीटने से मनुष्यकृत आर्थिक-विपमता को वल मिलता है, परन्तु इस वात से इन्कार नही किया जा सकता कि आर्थिक-विपमता के मिट जाने पर भी जन्म-जात विपमता तो वनी ही रहेगी—कोई प्रतिभाशाली जन्मेगा, कोई निपट मूर्ख जन्मेगा। ये विषमताएँ स्वभाव की हैं, पिछले जन्म के सचित संस्कारो की हैं—ये विपमताएँ ऐसी है जिनका समाज की व्यवस्था से सम्वन्ध नही होता, जो आत्मा के साथ जन्म से ही आती है, जन्म से आने के कारण इनका वीज पिछले जन्म के कर्म मे निहित होता है।

12 सुकर्मी दु:खी और कुकर्मी सुखी क्यों दीखते हैं ?

कर्मों पर विचार करते हुए भौतिकवादी का एक वडा ज़वर्दस्त प्रश्न रह जाता है जिसका अध्यात्मवादी को उत्तर देना होगा। प्रश्न यह है कि अगर कर्मों का फल मिलता है, अच्छे कर्मो का अच्छा, वुरे कर्मों का वुरा, तो क्या कारण है कि सत्कर्मी लोग ससार मे दु खी पाये जाते हैं, कुकर्मी लोग सुखी पाये जाते है ? होना तो यह चाहिए था कि सत्कर्मी, सदाचारी—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करने वाले सुखी दिखलाई देते , झूठे, अनाचारी, दुराचारी लोग दु खी दिखलाई देते। अगर कर्म का सिद्धान्त सही सिद्धान्त है, तो यह उल्टी गगा क्यो वह रही है ? इसका क्या उत्तर है ?

(क) सुकर्मी दु:खी तथा कुकर्मी सुखी हैं—यह धारणा ही ग़लत है—सवसे पहली वात तो यह है कि यह समझना कि सत्कर्मी दु खी होते हैं, कुकर्मी सुखी होते हैं—यह धारणा ही ग़लत है। कभी-कभी जो वाहर से दीखता है वह भीतर से नही होता। अपने को दु खी दीखनेवाला भीतर से सुखी तथा मस्त होता है, अपने को सुखी दीखनेवाला वह ही जानता है कि भीतर से वह क्या है ? इसके अतिरिक्त सव सुकर्मी दु खी हो, सव कुकर्मी सुखी हो—ऐसा भी नही होता। यह कहना ठीक होगा कि कुछ सुकर्मी दु खी दीखते है, कुछ कुकर्मी सुखी दीखते हैं—प्रश्न का यही रूप ठीक होगा। साधारण तौर पर यह शका

क्यो की जाती है कि सत्कर्मी दु खी पाये जाते है, कुकर्मी सुखी पाये जाते हैं ? इसका एक कारण है । वह कारण क्या है ? वह कारण एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा । छीक तो सबको आती है, परन्तु अगर कोई जुलूस मे हाथी पर बैठा छीक रहा हो, तो सभी कहने लगते हैं—देखो, वह छीक रहा है । छीकता कौन नही, परन्तु जो हाथी पर बैठा है उसकी छीक की सब लोग चर्चा करने लगते हैं । इसी तरह कुछ सत्कर्मी, सदाचारी दु.खी होते है, कुछ कुकर्मी, दुराचारी सुखी भी होते हैं—सब नही, कुछ—परन्तु क्योकि हमारी सुकर्म तथा कुकर्म की सकल्पना के साथ उनका दु.खी अथवा सुखी होना मेल नही खाता, इसलिए मानो वे हाथी पर बैठे सबको दीख रहे होते हैं, इसलिए उनके दु.ख-सुख की अनावश्यक तौर पर चर्चा होने लगती है । उस चर्चा मे कोई ऐसा तथ्य नही होता जिसके आधार पर एक नियम कल्पित कर लिया जाय या एक परिणाम निकाल लिया जाय ।

(ख) **कर्मों का फल शनैः-शनैः पकता है**—भौतिकवादी का कहना है कि अगर 'कर्मों' का नियम 'कारण-कार्य' का ही आध्यात्मिक-जगत् मे चल रहा नियम है, तो यह तो होना चाहिए कि अच्छे कर्मों का अच्छा फल हो, बुरे कर्मों का बुरा फल हो । अच्छे-बुरे से हमारा अभिप्राय सामाजिक अच्छे-बुरे से नही है । आज के सामाजिक-नियमो की पृष्ठ-भूमि मे आज एक काम अच्छा हो सकता है, सामाजिक-नियमो मे परिवर्तन हो जाने पर वही काम बुरा हो सकता है । किसी समय बाल-विवाह, सती हो जाना सत्कर्म था, आज ये असत्कर्म हैं । सामाजिक अच्छाई-बुराई को जो परिवर्तनशील है छोड भी दिया जाय, तो भी निरपेक्ष अच्छाई-बुराई भी रह जाती है । ईमानदारी, सचाई, दूसरे को दु ख न देना आदि निरपेक्ष-सत्कर्म है, बेईमानी, ठगी, धोखा देना, पर-पीडा आदि निरपेक्ष-कुकर्म है । भौतिकवादी का प्रश्न यह है कि जो लोग ईमानदार हैं, सच्चे है, दूसरो की सेवा मे रत है, वे दु ख क्यो भोगते हैं, जो बेईमान हैं, झूठे हैं, दूसरो पर अत्याचार करते हैं, वे सुख क्यो भोगते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्म-व्यवस्था के व्याख्याकार मनु महाराज अपनी मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय के 174 वें श्लोक मे लिखते हैं—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ।

मनु महाराज का कहना है कि दुष्कर्म करने वाला पहले फलता-फूलता दीखता है, जीवन मे आगे-ही-आगे बढता जाता दीखता है (अधर्मेणैधते तावत्), उसके बाद उसे दुनिया के सब सुख प्राप्त हो गये हैं—ऐसा लगने लगता है (**ततो भद्राणि पश्यति**), इतने अच्छे दिन आ जाते हैं कि उसके शत्रु भी उससे परास्त हो जाते हैं (**ततः सपत्नान् जयति**), परन्तु अन्त मे वह दिन आ जाता

जव उसका जड-मूल से विनाश हो जाता है (**समूलस्तु विनश्यति**)। मनु महाराज ने अपने अनुभव की वात लिखी है, दुनिया मे जो-कुछ हो रहा है उसे देखकर यह लिखा है। मनु महाराज का कहना है कि कुकर्मी का फूलना-फलना कुछ ही दिनो का होता है, ऊपर से ऐसा दिखलाई देता है, भीतर से उसकी जड़ खोखली हो रही होती है। प्रत्येक कुकर्मी अपने दामन के भीतर झाँक कर मनु महाराज के इस फतवे की गवाही दे सकता है।

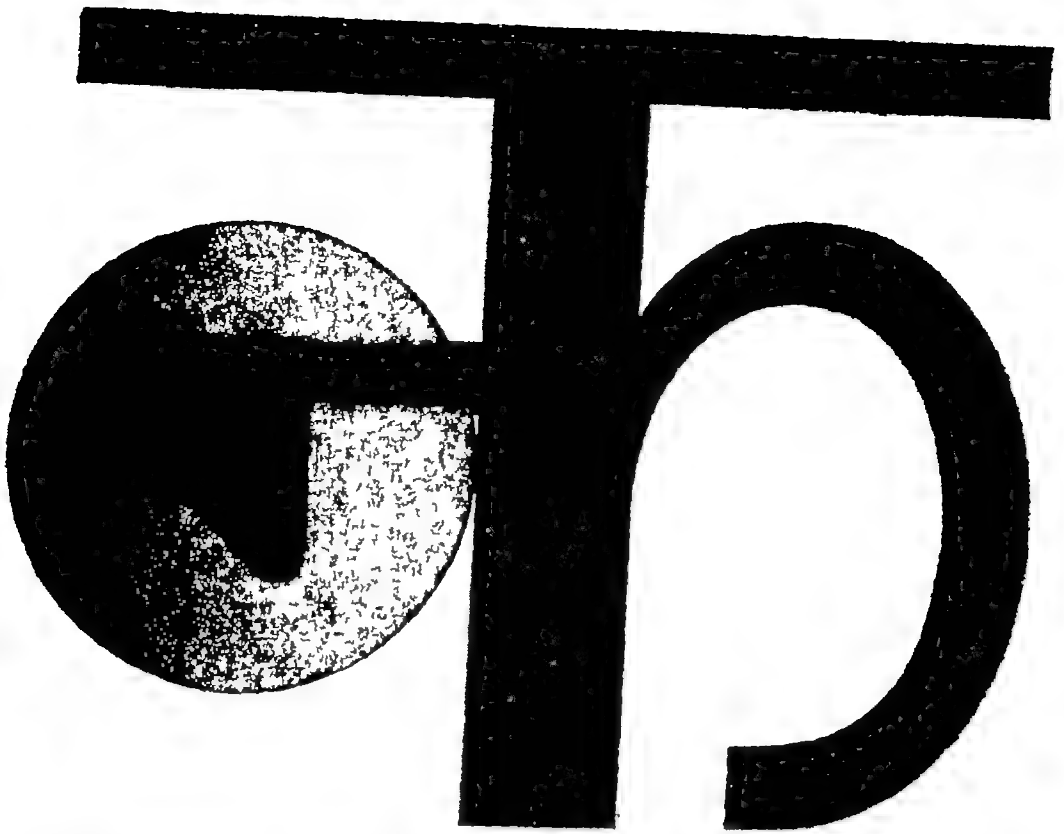
इसी अनुभव को मनुस्मृति के एक दूसरे श्लोक मे वडे मनोरजक-रूप मे कहा गया है। चतुर्थ अध्याय के 172-173 वें श्लोको मे लिखा है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव
शनैराकृन्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु
न त्वेव तु कृतोऽधर्मःकर्तुर्भवति निष्फलः।

धर्म-अधर्म, सत्कर्म-असत्कर्म, अच्छाई-वुराई एक वीज के समान है। ज्यो ही इन वीजो को जीवन की भूमि मे हम वोते हैं, त्यो ही अधर्म, असत्कर्म, वुराई के वीज के साथ उसकी जड को काटने वाला एक कीडा उसके साथ-साथ ऊपर आने लगता है। जैसे जमीन मे गाडा हुआ वीज एकदम पौधा नही वन जाता, वह अकुरित होता है, जमीन को काट कर उभरता है, तना वनता है, वैसे ही उस वीज के भीतर पडा हुआ उसकी जड को काटने वाला अधर्म, असत्कर्म, वुराई का कीडा एकदम नही, परन्तु शनै-शनै—धीरे-धीरे—जड को काटता जाता है, और अन्त मे वह समय भी आ जाता है जव दुष्कर्मो के जीवन-वृक्ष की सव जडें कट जाती हैं, और वह धडाम से भूमिसात् हो जाता है। यदि देखने को लगता भी है कि उसे कुकर्म का फल नही मिला, तो यह भ्रम है क्योकि कुकर्म की पुत्रो तक मार जाती है, पुत्र भी उस मार से वचे दीखते हो, तो पौत्र-प्रपौत्र उस का फल भोगते दीखते हैं। कुकर्म करने के वाद यह समझ वैठना कि इसका फल नहीं होगा—नासमझी है। मनु तो कर्म-फल के सम्वन्ध मे इतने दृढ-निश्चयी थे कि उन्होने कुकर्मी के पुत्र-पौत्रो तक को नही छोड़ा।

यह समझ लेने की वात है कि जैसे कोई कुकर्म तत्काल नही किया जाता, वहुत समय पहले से उसकी नीव पड चुकी होती है, उसका प्लैनिंग हो चुका होता है, वैसे उसकी जड को काटने का काम भी तत्काल नहीं होता, वहुत समय पहले से—कुकर्म के वीज पडने के समय से ही—कुकर्मी की जड काटने का प्लैनिंग भी शुरु हो जाता है। यह हम पहले भी दर्शा आये है कि धर्म का तत्काल-फल तो उसका सस्कार पड जाना है—यह सस्कार कर्म का तत्काल-फल है, परन्तु सस्कार-पर-सस्कार पडते-पडते वह समय भी आ जाता है जव इन सव कुसस्कारो के परिणामस्वरूप कुकर्म का प्रत्यक्ष-फल भी सामने आ जाता है।

कर्मो के फल के सम्वन्ध मे वैदिक-विचारधारा की यही मीमासा है।



कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (गीता, 2 अध्याय, 47)

'निष्काम-कर्म' क्या है ? 'कर्म' के सिद्धान्त के वाद प्रश्न उठ खडा होता है कि अगर कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है, तो क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे हम कर्म भी करे और कर्म के वन्धन मे भी न पडें ? इस सम्बन्ध मे वैदिक-समाधान यह है कि जव कामना-रहित कर्म किया जाता है, तव कर्म करने पर भी उसका बन्धन नही पड़ता। इसी भाव को गीता मे 'निष्काम-कर्म' का नाम दिया है। यजुर्वेद के **'तेनत्यक्तेन भुजीथाः'** का भी यही भाव है कि हम ससार मे रहे, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्सग होकर, निष्काम होकर। गीता मे सकाम का विवेचन करते हुए कहा है कि सकाम-भाव के परिणाम का मनोवैज्ञानिक-क्रम है—विषयो का ध्यान, सग, काम, क्रोध, मोह, स्मृति-विभ्रम तथा बुद्धि-नाश ; निष्काम का विवेचन करते हुए कहा है कि निष्काम-भाव के परिणाम का मनोवैज्ञानिक-क्रम है—राग-द्वेष से विमुक्त होना, इन्द्रियों से विषयों का उपभोग करते हुए इन्द्रियो का स्वतन्त्र-विचरण करने के स्थान मे आत्मा के वश मे रहना, इस प्रकार प्रसाद-गुण प्राप्त करके बुद्धि का स्थिर हो जाना। यह सम्पूर्ण वर्णन इतना मनोवैज्ञानिक है जैसा मनोविज्ञान की अन्य किसी पुस्तक मे नहीं मिलता। इस मनोवैज्ञानिक-शृखला का विस्तृत विवेचन इस अध्याय मे किया गया है।

'निष्कर्मण्यता' तथा 'निष्कामता' मे भेद है। 'निष्कर्मण्य' व्यक्ति काम ही नही करना चाहता, 'निष्काम-व्यक्ति' सम्पूर्ण शक्ति से काम मे जुटा रहता है।

परन्तु फल मे आसक्त नही होता। गीता ने इस विचार को रहस्यमय कहा है। है भी रहस्यमय क्योंकि यह कैसे हो सकता है कि हम काम भी करे और फल की आशा भी न करें। निष्काम-योग का कहना यह है कि कर्म करना तुम्हारे अधीन है, फल तुम्हारे अधीन नही है, जो बात तुम्हारे हाथ की नही है उसकी आशा कर बैठने का क्या मतलब? जब हम कर्म के फल की बात करते है, तब यह सोचना होगा कि कर्म-फल मे कौन-कौन से कारण सम्मिलित होकर फल को उत्पन्न करते हैं। जब हम कर्म करते है तब उसमे हमारा ही नही, दूसरो का कर्म भी शामिल हो जाता है, हमारे कर्म एक तरफ खीचते हैं, हमारे शत्रु के कर्म दूसरी तरफ जोर लगाते है। इन सबका 'योग-ऋण' (Plus-minus) होकर जो शेष रहेगा वही तो कर्म-फल होगा। हम केवल अपने कर्म की ही बात करते है, उसके जो विरोधी तत्व है उन्हे हिसाब मे से निकाल देते हैं। कर्मों का लेना-देना बराबर करके जो शेष रहे, वही कर्म-फल है। यह जमा-घटाना हमारे हाथ नही, फिर फल के लिये ज़िद क्यो?

इस पर प्रश्न उठता है कि क्या 'निष्काम-कर्म' सम्भव भी है? बिल्कुल सम्भव है। उदाहरणार्थ, डॉक्टर मरीज के बच्चे का इलाज करता है, जान लडा देता है, परन्तु बच्चा मर जाता है। क्या डॉक्टर रोने बैठ जाता है? वकील मुवक्किल का मुकदमा बडी होशियारी से लडता है, परन्तु हार जाता है। क्या वकील रोने लगता है? खिलाडी खेल मे जूझ जाता है, परन्तु हार जाता है। क्या वह हाय-हाय करता है? हाँ, अगर डॉक्टर का अपना बच्चा मर जाय, तो वह परेशान हो जाता है। जो मन स्थिति डॉक्टर मरीज़ के प्रति, वकील मुवक्किल के प्रति धारण करता है, उसी को अपने प्रति धारण कर ले तो यही 'निष्कामता' है।

अष्टम अध्याय

निष्काम-कर्म का सिद्धान्त

(THE LAW OF DISINTERESTED ACTION)

पिछले अध्याय मे हमने 'कर्म के सिद्धान्त' की विवेचना की है। हमारे सामने प्रश्न यह था कि कर्म के 'बन्धन' को कैसे काटा जाय। वैदिक-विचार-धारा के अनुसार 'कर्म' ही जीवन मे सब उपद्रवो की जड है, यद्यपि 'कर्म' के बिना रहा भी नही जा सकता। इस समस्या पर गीता मे गभीर विवेचन किया गया है जिसका निष्कर्ष 'निष्काम-कर्म' का सिद्धान्त है। जैसे हम पहले लिख चुके हैं, 'कर्म' के सिद्धान्त पर पाश्चात्य-विचारको ने सिद्धान्त-विशेष के रूप मे विचार नही किया, भारतीय-विचारको ने इस पर सिद्धान्त-विशेष के रूप मे विचार किया है। कई विचारको का तो यह कहना है कि जैसे न्यूटन ने भौतिक-जगत् मे गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की खोज की, अन्य वैज्ञानिको ने दूसरे-दूसरे वैज्ञानिक-सिद्धान्तो को खोजा, वैसे ही भारतीय अध्यात्म-शास्त्रियो ने 'निष्काम-कर्म' के सिद्धान्त को खोज निकाला। निष्काम-कर्म का सिद्धान्त वैदिक-सिद्धान्त है जिसे गीता मे पूरी तरह खोलकर कहा गया है। हम यहाँ गीता प्रतिपादित निष्काम-कर्म के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए भारतीय-विचारको ने इसका क्या-क्या स्पष्टीकरण दिया है उस पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

1. गीता-प्रतिपादित निष्काम-कर्म का सिद्धान्त

(क) **'निष्कर्मण्यता' तथा 'निष्कामता' मे भेद**—वैदिक-विचारधारा का जीवन के प्रति दृष्टिकोण त्याग-पूर्वक भोग का दृष्टिकोण है। उपनिषद् तथा यजुर्वेद मे कहा है—**'तेन त्यक्तेन भुजीथाः'**—हम संसार को भोगे, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, निष्काम-भाव से। जीवन मे सकाम-भाव से रहना और निष्काम-भावना से रहना—इन दोनो मे महान् भेद है, और इस भेद को सम्मुख रखकर वैदिक-साहित्य का निर्माण हुआ है। इस प्रकार के साहित्य मे गीता का सबसे ऊँचा स्थान है। गीता ने सदियो से भारतीय जनता के जीवन को प्रभावित

किया है। गीता का आधार उपनिषद् हैं—'**सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः**'। इन उपनिषदो के गूढ रहस्य को न समझ कर किसी समय भारत मे निष्काम के स्थान पर निष्कर्मण्यता की लहर चल पडी थी—'निष्कर्मण्यता', अर्थात् काम ही न करना। ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब-कुछ मिथ्या है—इस प्रकार की शिक्षा का प्रचार करके लोग कर्म-मात्र से मुँह फेरने लगे थे। उपनिपदो का अभिप्राय, वेदान्त का तात्पर्य, अध्यात्मवाद का सार यही समझा जाता था कि ससार छोड दो, भगवा पहन लो, कोई काम मत करो। इस अवस्था से तत्कालीन विचारक-समुदाय सोच मे पड़ गया था। इसलिये उपनिषदो के, वेदान्त के, अध्यात्मवाद के ही शुद्ध, सत्य रूप को—कर्म त्यागने के स्थान मे कर्म करने परन्तु कर्म मे निहित वासना को त्यागने के सिद्धान्त को—'निष्कर्मण्यता' के स्थान मे 'निष्काम-भाव' के वैदिक-सिद्धान्त को—प्रकट करने के लिये गीता का निर्माण हुआ। गीता ने वैदिक-सस्कृति की लुप्त होती हुई विचारधारा को फिर से सबके सामने लाकर रख दिया। उपनिपदो की, वेदान्त की, विशुद्ध-वैदिक-सस्कृति के अध्यात्मवाद की विचारधारा यह थी कि ब्रह्म सत्य है—परन्तु इस संसार से भी तो इन्कार नही किया जा सकता—हाँ, इस संसार के मुकाबिले मे अन्तिम-सत्ता, यथार्थ-सत्ता शरीर की नही, आत्मा की है, प्रकृति की नही, परमात्मा की है। गीता ने कहा कि क्योकि शरीर है इसलिए शरीर के लिए काम करो, परन्तु क्योकि अन्तिम-सत्ता इसकी नही है, इसलिये इसमे लिप्त होने से बचे रहो; क्योकि ससार है इसलिये इसका भी उपभोग करो, परन्तु क्योकि अन्तिम-सत्ता इसकी भी नही है, इसलिये इस ससार मे भी लिप्त होने से बचे रहो। उपनिपदो का, वेदान्त का, अध्यात्मवाद का अभिप्राय 'निष्कर्मण्यता' समझा जाता रहा है। असल मे, इस समझ मे भूल रही है। भारतीय अध्यात्मवाद का, वैदिक-सस्कृति का यह अभिप्राय कभी नही रहा। इसका अभिप्राय 'निष्कर्मण्य'-जीवन बनाने के स्थान मे 'निष्काम'-जीवन बनाने से है। उपनिपदो के, वेदान्त के, अध्यात्मवाद के समझने मे जो भूल हो रही थी उसे श्रीकृष्ण ने गीता मे दूर कर दिया। 'निष्काम-भाव' का विचार वैदिक-संस्कृति की विचारधारा का एक मौलिक तथा वैज्ञानिक विचार है, और क्योकि इस विचार को जितने स्पष्ट तौर पर गीता मे समझाया गया है, उतना अन्यत्र कही नही, इसलिये हम गीता के ही शब्दो मे, इस अध्याय मे 'निष्काम-कर्म' पर विचार करेंगे।

(ख) **श्रीकृष्ण का वैदिक-संस्कृति-सम्बन्धी अध्यात्मवाद**—महाभारत के युद्ध के समय सगे-सम्बन्धियो को भौतिक-ऐश्वर्य के लिये लडते देखकर, उन लोगो को जो बचपन मे साथ-साथ खेले, साथ-साथ उठे-बैठे, भाई-भाई की तरह रहे, उन्हे सम्पत्ति के लिये एक-दूसरे के खून का प्यासा देखकर अगर

कोई ज़रा भी सोचने लगे, तो किस के हृदय मे वैराग्य नही उत्पन्न हो जाता, कौन संसार को मिथ्या नही समझने लगता। सदियों पहले अर्जुन ने इस दृष्टि से सोचा, और जीवन से निराश होकर खडा हो गया, आज भी कोई उसी दृष्टि से देखे तो उसे जीवन में कोई तत्त्व नजर न आये। निराश अर्जुन मे गीता ने आशा का संचार कर दिया, मैदान से भागते हुए अर्जुन को गीता ने मैदान मे फिर-से ला खडा किया, तो क्या श्रीकृष्ण ने यह सब-कुछ अर्जुन को यह समझा कर किया कि संसार मौज मारने की जगह है, लडो और सगे-सम्बन्धियो को मार कर गुलछर्रे उड़ाओ? नही, अर्जुन की अध्यात्मवादी-विचारधारा को काटने के लिये श्रीकृष्ण ने प्रकृतिवादी-विचारधारा का उपदेश नही दिया। जैसे अर्जुन अध्यात्मवादी बातें करने लगा था, वैसे श्रीकृष्ण भी अध्यात्मवादी बातें ही करने लगे, उन्होने भी यही कहा कि यह शरीर मट्टी का चोला है, जैसे कपड़े के मैला होने पर उसे उतार फेंकते हैं वैसे शरीर के पुराना हो जाने पर वह बदल दिया जाता है, आत्मा ही नित्य है, शरीर अनित्य है। कोरी अध्यात्म-वादी-संस्कृति—'संसार असार है, यह-सब दो दिन का मेला है'—यह कह कर ससार से भाग खडी होती है, अर्जुन भी ऐसा ही करने लगा था, परन्तु वैदिक-संस्कृति ने जिस अध्यात्मवाद को जन्म दिया था वह ससार को असार भी कहती थी, और संसार को छोड कर भागती भी नही थी, शरीर को आत्मा का बदलने वाला चोला भी कहती थी, और हाथ-पर-हाथ धर कर बैठती भी नही थी। वैदिक-संस्कृति की इसी विचारधारा को श्रीकृष्ण ने खोल कर अर्जुन के सामने रखा और अध्यात्मवादी होते हुए भी उसे ससार से भागने के स्थान पर ससार मे डटने का उपदेश दिया।

(ग) श्रीकृष्ण का अध्यात्मवाद एक रहस्य की व्याख्या है—ससार को असार मानना और फिर भी इसमे डटना—यह एक नवीन विचारधारा है। प्रकृतिवादी ससार को ही सब-कुछ मानते हैं, उनका ससार मे डटना स्वाभाविक है। अध्यात्मवादी ससार को असार मानते हैं, उनका ससार से भाग खडे होना भी स्वाभाविक है। परन्तु ससार को असार मानना और फिर भी इसमे डटे रहना—यह एक परस्पर-विरोधी-सी विचारधारा जान पडती है, तो भी इनमें कोई परस्पर विरोध नही, यह असली, यथार्थ तथा वैज्ञानिक विचारधारा है। यही वैदिक-संस्कृति की विचारधारा है, इसी का श्रीकृष्ण ने गीता मे उपदेश दिया है। श्रीकृष्ण भी समझते थे कि लोग इस विचार-सरणी से चकरायेंगे, इसलिये उन्होने गीता मे कहा हैं कि यही विचार सही विचार है, यह रहस्यमय विचार है, यह उसी को समझ आता है जिसे गुरु अपना योग्य शिष्य समझकर इस विचार की दीक्षा देता है। गीता को पढने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण ने इस विचारधारा की अर्जुन को वैसे ही मन्त्र-दीक्षा दी थी जैसे

आचार्य अपने अन्तेवासी को देता है या कोई वैज्ञानिक अपने नवीन आविष्कार की सूचना देता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत ॥
एव परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परतप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यं चेतदुत्तमम् ॥ गीता, 4—1,2,3

जिस मन्त्र की, रहस्य की मैंने तुझे दीक्षा दी है, वह 'अव्यय' है—नष्ट नही हो सकता। इस मन्त्र की सबसे पहले विवस्वान् ने मनु को दीक्षा दी थी, मनु ने इक्ष्वाकु को, और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा से यह मन्त्र, यह रहस्य आजतक चला आ रहा है। वैदिक-सस्कृति के इस रहस्य को बीच मे लोग भूल गये थे, और इसी का यह परिणाम था कि जीवन के वास्तविक पथ से वे विचलित हो गये, भटक गए। कृष्ण महाराज अर्जुन को कहते हैं कि क्योकि तू मेरा भक्त है, सखा है, इसलिए मैं तुझे उस रहस्य मे दीक्षित करता हूँ। गीता के इस स्थल से यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को किसी बीज-मन्त्र की, किसी रहस्य की दीक्षा दी है, वह रहस्य वैदिक-सस्कृति का रहस्य है, वह विवस्वान् से चला आ रहा है, परम्परा से उसी विचारधारा मे गुरु अपने शिष्य को दीक्षित करते रहे हैं, अगर वह बीच मे लुप्त हो गया तो कोई पर्वा नही, उसकी श्रीकृष्ण फिर से अर्जुन को दीक्षा दे रहे हैं।

श्रीकृष्ण ने जिस रहस्य की अर्जुन को दीक्षा दी उसी का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा—'**इमं विवस्वते योगम्**'—इस योग को विवस्वान् के प्रति पहले प्रकट किया गया था। फिर लिखा है—'**स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः**'—वही योग आज मैंने तुझे बताया है। अर्थात्, श्रीकृष्ण ने वैदिक-सस्कृति के जिस रहस्य का अर्जुन के सम्मुख उद्घाटन किया उसका नाम 'योग-मार्ग' था। कृष्ण महाराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'योग-मार्ग' के रहस्य का उद्घाटन उन्होने अवश्य किया, परन्तु यह कोई बिलकुल नई ही बात नही थी। यह तो वही वैदिक-संस्कृति का पुराना सन्देश था जो मानव-समाज को कभी विवस्वान् के द्वारा, कभी इक्ष्वाकु के द्वारा, कभी मनु के द्वारा, और कभी वैदिक-लोगो के अन्य अनेक अग्रगण्य नेताओ के द्वारा समय-समय पर मिलता रहा। मानव-समाज के प्रति दिये गए इसी रहस्यमय 'योग-मार्ग' की गीता मे स्थान-स्थान पर व्याख्या है।

(घ) योग-मार्ग तथा सांख्य-मार्ग—'योग-मार्ग' क्या है—इसे समझने के लिए गीता मे 'योग-मार्ग' तथा उसके विरोधी 'साख्य-मार्ग' इन दोनो का वर्णन

किया गया है। किसी बात को समझने के लिए उसके विरोधी को समझ लेना उस बात के यथार्थ-वोध मे सहायक होता है। सर्द को समझने के लिये गर्म को समझना, लम्वेपन को समझने के लिए छोटेपन को समझना, ऊँचाई को समझने के लिये नीचाई को समझना आवश्यक है। उस समय 'योग-मार्ग' का विरोधी मार्ग 'साख्य-मार्ग' कहलाता था। 'योग-मार्ग' का दूसरा नाम 'कर्म-योग' और 'सांख्य-मार्ग' का दूसरा नाम 'कर्म-सन्यास' था। गीता मे इन दोनो मार्गों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ गीता, 3—3

हे अर्जुन! ससार मे दो ही मार्ग है—'ज्ञान-मार्ग' तथा 'कर्म-मार्ग'। 'ज्ञान-मार्ग' को 'साख्य-मार्ग' कहते है, 'कर्म-मार्ग' को 'योग-मार्ग' कहते है। यह नही कि श्रीकृष्ण के समय ही जीवन-यापन के दो मार्ग थे। तव तो थे ही, परन्तु तव या अब, इन्ही दो मार्गों से, इन्ही दो दृष्टिकोणो से मानव-समाज का निर्वाह होता है। उपनिषद् मे भी तो नचिकेता की कथा का उल्लेख करते हुए इन्ही दो मार्गों का निर्देश किया गया है। गीता का कथन है कि इन दोनो मार्गों मे से 'योग-मार्ग' ही उपादेय है, 'साख्य-मार्ग' नही। 'साख्य-मार्गी' कर्म-संन्यास का उपदेश देते है। उनका कहना है कि ससार निस्सार है, इसे सार समझ कर कर्म करना दुख का कारण है, इसलिए इसे निस्सार समझ कर कर्म का परित्याग कर देना चाहिए, कुछ करना ही नही चाहिये, जब कुछ करेंगे ही नही तब दुख कहाँ से होगा? अर्जुन को भी तो लडने के लिए कहा जा रहा था, लडो और साम्राज्य को जीत कर राजा वनो। अर्जुन ने कहा, यह संसार निस्सार है, जो आज हमारा भाई है वह कल हमारा शत्रु वन कर खडा हो जाता है, मैं इस ससार को पाकर क्या करूँगा, इसे पाने के स्थान मे इसे छोड़ने मे ही मनुष्य का भला है। अर्जुन 'साख्य-मार्ग' पर चल पडा था। अर्जुन को 'साख्य-मार्ग' पर, 'कर्म-संन्यास' की राह पर कदम वढाते देख कर श्रीकृष्ण ने कहा, यह गलत रास्ता है, ससार की तरफ पीठ फेर देने से, कुछ भी कर्म न करने से दुनिया का कोई व्यवहार नही चल सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ गीता, 3—5

कर्म छोड कर कौन रह सकता है? कर्म करना तो हमारी प्रकृति मे निहित है। हम चाहे, न चाहे, ससार मे हम आ पडे है, इससे इन्कार किया नही जा सकता, कर्म किये वगैर रहा नही जा सकता। जगत सत्य हो, असत्य हो, यथार्थ हो, मिथ्या हो—जव हम चारो तरफ संसार से घिरे है, तब कैसे हो सकता है कि इसे विलकुल मिथ्या समझ कर हम काम छोड कर बैठ जायें?

परन्तु अगर काम करेंगे तो दु ख लगा रहेगा, इस दु ख से छुटकारा कैसे होगा ? यह समस्या अर्जुन की ही नही, प्रत्येक व्यक्ति की है, प्रत्येक ऐसे व्यक्ति की जो जीवन के प्रश्न पर विचार करता है।

(ङ) **कर्म नहीं, कर्म के फल की आशा छोड़ना निष्काम-कर्म है**—श्रीकृष्ण ने इस समस्या का गीता मे जो उत्तर दिया है वह वैदिक-सस्कृति का मानो वीज-मन्त्र है। गीता पूछती है, कर्म क्यो न करें, ससार से नाता क्यो तोड़ दें ? इसलिए न, क्योकि मनुष्य ससार मे लिप्त हो जाता है, कर्म मनुष्य को वाँध लेता है। गीता का कहना है कि अगर यही वात है तव ऐसा उपाय क्यो न निकालें जिससे 'कर्म' तो हो जाय, क्योकि कर्म के वगैर हम रह ही नही सकते, परन्तु कर्म से उत्पन्न होने वाला 'वन्वन' पैदा न हो, ससार भी वना रहे और ससार से होने वाला लेप भी न हो, साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। गीता ने वैदिक-सस्कृति के जिस रहस्यमय सन्देश का वर्णन किया है, वह इस सस्कृति का वीज-मन्त्र है। वह वीज-मन्त्र यही है कि कर्म करते जाओ, परन्तु उसके वन्वन को मत पड़ने दो, ससार मे रहो, इसलिये रहो क्योकि तुम इसे छोडना चाहो तव भी छोड नही सकते, परन्तु इसमे रहते हुए इसके भोक्ता वनकर रहो, इसके भोग्य वनकर मत रहो, जीवन के चरखे पर शरीर-रूपी पूनी लेकर कर्म का सूत कातते जाओ, परन्तु उसमे गाँठ मत पडने दो—यह विचार-धारा है जिसका उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया है, इसी को गीता ने निष्काम-कर्म या दूसरे शब्दो मे 'कर्म-योग' कहा है।

परन्तु क्या यह सम्भव है कि हम ससार मे रहे और उसमे लिप्त न हो, कर्म करें और कर्म का वन्वन न पडने दें ? वैदिक-सस्कृति के अध्यात्मवाद का कहना है कि यह सम्भव ही नही है, यही जीवन का सही तथा विज्ञानसम्मत रास्ता है। कर्म करते हुए उसके वन्वन को न पडने देना, ससार मे रहते हुए ससार से मुक्त रहना—इस मार्ग का उल्लेख करते हुए गीता का कथन है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता, 2—47
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ गीता, 2—48
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहकार. स शान्तिमधिगच्छति ॥ गीता, 2—71

कर्म करो, फल की इच्छा मत करो। कर्म के फल की कौन आशा नही करता ? हरेक करता है। वह आशा करना 'सग' कहाता है, 'सकामभाव' कहाता है, उस आशा का त्याग देना 'निस्सग-कर्म' है, 'निष्काम-भाव' है। हे अर्जुन ! तू कर्म कर, परन्तु नि संग होकर, निष्काम होकर, निर्लिप्त होकर—

बस, यही 'योग-मार्ग' है। 'नि सग-कर्म' करने का परिणाम यह होगा कि कर्म मे सिद्धि हो, असिद्धि हो, सफलता हो, असफलता हो, मनुष्य मे समता रहेगी, और समता रहेगी तो शान्ति रहेगी, दु ख नही होगा।

'कर्म-सन्यास' या 'साख्य-मार्ग' तो सीधा-सादा उत्तर देता है—ससार असार है, इसमे कर्म क्या करना, इसलिए कर्म का झगडा छोडो, कर्म छूट जायगा, तो कर्म-जन्य दु ख अपने-आप छूटेगा। इसके विपरीत, 'कर्म-मार्ग' या 'योग-मार्ग' यह कहता है कि ससार असार तो है, परन्तु इसकी सत्ता से भी तो इन्कार नही किया जा सकता, संसार है तो कर्म छोडे भी छूट नही सकता। कर्म नही छूट सकता, परन्तु हाँ, कर्म के साथ लगा हुआ कर्म-फल का जो मोह है, सग है, ममता है, कामना है, अहकार है—मैंने किया अत. मुझे ऐसा फल मिले, वैसा फल मिले—यह भावना है—इसका त्याग किया जा सकता है। 'साख्य-मार्ग' तथा 'योग-मार्ग'—दोनो का उद्देश्य एक है, दोनो कर्म के बन्धन मे नही पडना चाहते—'सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पडिता', परन्तु 'साख्य-मार्ग' कर्म के बन्धन को छोडने के लिए कर्म को छोड बैठता है, और 'योग-मार्ग' —वह मार्ग जिसका प्रारम्भ विवस्वान् के समय से हुआ था, जो इक्ष्वाकु और मनु का मार्ग था, जो समय-समय पर लुप्त होता रहा परन्तु वैदिक-संस्कृति की विचारधारा के वेग के कारण लुप्त होता-होता बार-बार प्रकट होता रहा, जिसका श्रीकृष्ण ने गीता मे उपदेश दिया—वह मार्ग जीवन के प्रति अर्थक्रियात्मक (Pragmatic) दृष्टिकोण को लेकर कहता है कि कर्म मत छोड़ो, कर्म-फल की आशा से दु ख होता है अत उस आशा को त्याग दो। जीवन मे कार्य करने की इस दृष्टि को, इस विचारधारा को निष्काम-कर्म, निस्संग-कर्म, निर्मम-भाव, निर्मोह-भाव, निरहकार-भाव कहा गया है। यह हो सकता है कि जिस व्यक्ति को कर्म मे से सग काट देने के लिए कहा जाय वह सग को छोड़ने के बजाय कर्म को ही छोड़ बैठे, परन्तु जब हमने यह भली प्रकार जान लिया कि कर्म तो हम से छूट ही नही सकता—और यही बात श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बार-बार समझाने का यत्न किया है—तब तो हमारे पास सिर्फ एक मार्ग रह जाता है और वह है सग को, फलाशा को, मोह को, कर्म-फल के साथ आसक्ति को छोड़ देना। श्रीकृष्ण इस बात को भली-भांति समझते थे कि यदि संग को, आसक्ति को छोडने के लिए कहा जायगा, तो मनुष्य कर्म से ही उदासीन हो जायगा, उत्साह से कार्य न करेगा, इसीलिए उन्होंने कहा—

> **सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।**
> **कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्** ॥ गीता, 3—25

जैसे मूर्ख लोग कर्म-फल की आशा से, अत्यन्त उत्साह से भिन्न-भिन्न काम करते हैं, वैसे विद्वान् लोग बिना कर्म-फल की आशा के, उस से भी दुगुने उत्साह

से काम मे जुटे रहते है। 'निस्संग-भाव' का यह परिणाम नही होना चाहिए कि कर्म करने मे शिथिलता आ जाय—तव तो 'योग-मार्ग' और कुछ नही रहेगा, 'सांख्य-मार्ग' ही हो जायगा। काम तो मनुष्य दुगुने उत्साह से करे, परन्तु काम करता हुआ ऐसे ही रहे मानो कुछ किया ही नही, किया और करके अलग हो गए, उस से चिपट कर न वैठ रहे—यही 'निष्काम-कर्म' है।

(च) **निष्काम-कर्म असम्भव नहीं, सम्भव है**—कर्म करते हुए उसके फल की आशा न करना कहने मे सरल परन्तु करने मे कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति फल की आशा से काम करता है। क्या कोई ऐसा उपाय है जिस से हम अपने भीतर फल की आशा न करने की भावना को, अनासक्ति को जन्म दे सकें? इसी का उत्तर देते हुए कृष्ण महाराज ने कहा कि जो लोग जीवन को यज्ञमय वना लेते है, वे अपने-आप 'निष्काम-कर्म' करने लगते है। गीता मे लिखा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ गीता, 3—9
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुंजते ते त्वघ पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ गीता, 3—13

जीवन को यज्ञ समझ कर चलो। यज्ञ का अभिप्राय है—'त्याग'। स्वार्थ की भावना को छोड देना ही यज्ञ है। यज्ञ करते हुए मनुष्य अपने को परमात्मा की महान् शक्ति के सहारे छोड़ देता है। मैं कुछ नही, तू ही सव-कुछ है, मेरा कुछ नही, सव तेरा-ही-तेरा है—**'इदन्नमम'**—यही भावना यज्ञ की आधार-भूत भावना है, यही भावना यज्ञ मे जगमगा उठती है। जो भावना यज्ञ मे होती है वही भावना अगर जीवन के प्रत्येक कार्य मे अनुप्राणित हो जाय, तव तो प्रत्येक कार्य यज्ञ हो गया, जीवन ही यज्ञमय हो गया। यज्ञमय नि स्वार्थ जीवन विताने वाले को गीता मे 'आत्मरत'—'आत्मतृप्त'—'आत्मसतुष्ट' कहा गया है—वह अपने मे रमा हुआ है, आत्म मे भरा हुआ है, अपने आत्मा मे सन्तुष्ट है। स्वार्थमय-जीवन विताने वाले को 'इन्द्रियाराम' कहा गया है, वह इन्द्रियों के साथ आराम करता है, आत्मा से दूर भागता है। स्वार्थ की भावना को छोड कर निस्सग, निष्काम, निर्मोह कार्य करना वैदिक-सस्कृति का रहस्यमय उपदेश है, उसका वीज-मत्र है, और जीवन की गूढतम समस्या पर यही उसकी दार्शनिक, वैज्ञानिक विचारधारा है।

जीवन को यज्ञ समझना, अनासक्ति से ससार मे रहना कोई अनहोनी वात नही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के किसी-न-किसी पहलू मे निष्काम, निस्सग, निर्मोह, नि स्वार्थ की अवस्था को अनुभव करता है। डॉक्टर मरीजो को दवाई देता है, कोई वच जाता है, कोई मर जाता है। जो मरीज़ मर जाते हैं उन के लिये डॉक्टर को किसी ने रोते नही देखा। डॉक्टरो के हाथो सैकडो रोज़ मरते

हैं परन्तु सभी डॉक्टर हँसते-खेलते देखे जाते हैं। उसी डॉक्टर के घर यदि उसका अपना बालक मर जाय, तो वह अपने को संभाल नही सकता, बिलख-बिलख कर रोने लगता है। जो बुद्धि वह दूसरो के लिये धारण कर सकता है वह अपने घर के लिये क्यो नही धारण कर सकता? उसमे निष्काम-भाव का, अनासक्ति का बीज है, तभी तो वह अपने हाथ से बीमारो को मरते देख कर भी यह कह कर कि मुझ से जो-कुछ हो सकता था मैने किया, बिना रोये-धोये अपने काम मे जुट जाता है। इसी निष्काम-भावना को जीवन मे व्यापक बनाने से जीवन यज्ञमय हो जाता है। एक देवी का पति मर गया, दूसरी देवियाँ आकर उसे समझाती हैं, सब आकर कह जाती हैं—जीवन मे हरेक को किसी-न-किसी दिन यह दिन देखना है, इसलिये चित्त को सभालो, अपने को विचलित मत होने दो—परन्तु उनके लिये जब वही दिन आता है, तब वे भी अपने को सभाल नही पाती, विचलित हो उठती हैं। वे दूसरे से निस्सगता, निष्कामता, अनासक्ति की आशा करती है, तो उनसे भी तो वही आशा की जा सकती है। एक व्यापारी का माल लुट गया, हम उसे जाकर समझाते हैं, लेकिन अपने माल के लुट जाने पर हमारी भी तो वही दशा हो जाती है। यह सब क्यो होता है? यह इसलिए कि जब हम दु खी नही होते तब तो हमने निष्कामता, निस्संग-भाव धारण किया होता है, जब दु खी होते हैं तब सकामता, सग-भाव धारण किया होता है। दुनियाँ मे रहते हुए दुनियाँ से अलग रहना, कर्म करते हुए भी मानो कर्म न करना, जाल मे फँसते हुए भी जाल को काटते जाना, पानी मे गोता लगा कर भी—**'पद्मपत्रमिवाम्भसा'**—पानी मे न भीगना—यह कृष्ण का बताया हुआ जीवन का वैज्ञानिक गुर है, वैदिक-सस्कृति का मूल-मन्त्र है। इस प्रकार की भावना का उदय जीवन मे यज्ञ-वृत्ति धारण करने से होता है, स्वार्थ-वृत्ति से नहीं, परार्थ-भाव से होता है, भोग-भाव से नही, त्याग-बुद्धि से होता है, भोग-बुद्धि से नही। यज्ञ मे बार-बार जो 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण किया जाता है उसका भी यही अभिप्राय है। स्वाहा शब्द 'ओहाक् त्यागे' धातु के निष्पन्न हुआ है। 'स्वाहा', अर्थात् 'त्याग'—'इदन्न मम'—यह मेरा नही, भगवान् का है। जो अपने सब-कुछ किये को यज्ञ की भावना से 'स्वाहा' का उच्चारण कर भगवान् के चरणो मे भेंट कर देता है, वह बेलाग हो जाता है, बेदाग हो जाता है, और उसके कर्म मे से मनुष्य को दु ख पहुंचाने वाला सग का काटा निकल जाता है। भगवान् के चरणो मे सब कर्मों को भेंट चढाने का उपदेश देते हुए गीता में लिखा है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ गीता, 3—19

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ गीता, 3—30

हे अर्जुन ! अनासक्त होकर, और यह सोचकर कि कर्म तुझे करना है, फल भगवान् के अर्पित करना है, जीवन-क्षेत्र मे कदम वढाये जा। याद रख, सकाम-भावना एक ज्वर है, वुखार है। 'विगत-ज्वर' होकर काम कर। सकाम-भावना एक ज्वर है तभी तो अनुकूल फल न मिलने पर मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है, अधीर हो जाता है। इस ज्वर से मुक्त होने का उपाय एक ही है, और वह है 'निष्काम-भावना' से कर्म करना, निष्कर्मण्यता के स्थान मे जीवन मे निष्कामता को उत्पन्न करना।

(छ) **फल की आशा क्यों न करें ?**—इस प्रकरण मे यह प्रश्न उठ खड़ा होना स्वाभाविक है कि जव हम कर्म करते हैं तव फल की आशा क्यो न करें ? क्या सिर्फ इसलिये कि अनुकूल फल नही होगा, तो हमे दु ख होगा ? सिर्फ उस दु ख से वचने के लिये ? यह तो कायरता है। फल की आशा न करने का सिर्फ व्यावहारिक नही, कोई दार्शनिक, कोई वैज्ञानिक आधार भी होना चाहिये। यह दार्शनिक, यह वैज्ञानिक आधार क्या है ? फल की आशा न करने का यह अभिप्राय नही है कि हमारे कर्म का फल ही नही मिलेगा। इसका आशय सिर्फ इतना है कि जो भी फल मिलेगा, यह ज़रूरी नही कि वह हमारी इच्छा के अनुकूल ही हो। फल हमारे अनुकूल भी हो सकता है, प्रतिकूल भी हो सकता है। फल की अनुकूलता-प्रतिकूलता पर ही मनुष्य सुखी-दुखी होता है। परन्तु सोचने की वात तो यह है कि कर्म करना तो अपने हाथ मे हैं, फल तो अपने हाथ मे नही है। फल का अनुकूल या प्रतिकूल होना, एक नही, अनेक कारणो के योग-ऋण (Plus-minus) का परिणाम है। फिर, जो चीज़ अपने हाथ मे नही है, उसके लिये हम क्यो सुखी हो, क्यो दु खी हो, और क्यो उसके साथ हम अपना ऐसा नाता जोडें जिससे ऐसा प्रतीत होने लगे कि वह अपने हाथ की चीज़ है। किसी कर्म के फल उत्पन्न होने मे एक कारण नही, सैकडो कारण हो सकते हैं। ससार कितना विशाल है, उसमे कितने कारण मिल कर किसी कार्य को उत्पन्न करने मे सहायक होते होगे। कुछ कारणो का हमे ज्ञान है, कुछ का नही। इस विशाल-विश्व मे हमी तो नही, लाखो-करोडो प्राणी है। सभी को सम्मुख रख कर ही तो विश्व की विशाल-दृष्टि से काम हो रहा होगा, हमारी दृष्टि से ही तो विश्व का चक्र नही चल रहा। विश्व का सचालन करने वाली दृष्टि समन्वयात्मक दृष्टि है, उस मे छोटे-से-छोटे से लेकर वड़े-से-वडे तक सभी प्राणी समा जाते हैं। हो सकता है, किसी और के दृष्टिकोण से हमारी इच्छा, और हमारे दृष्टिकोण से किसी और की इच्छा कट जाती हो, परन्तु यह जोड-तोड हमारे वस की चीज़ तो नही, यह तो उसी के वस की है जिस के वही-खाते मे हम सव का हिसाव दर्ज है। ऐसी अवस्था मे वैज्ञानिक-दृष्टि से सम्भव मार्ग सिर्फ़ यह रह जाता है कि हम अपना कार्य करते चलें, और '**इदन्न**

मम' कहकर 'फल' को विश्वात्मा के चरणों मे रख दें, हम अपनी संकुचित-दृष्टि से न देखकर विश्वात्मा की विशाल-दृष्टि से देखें। इसी भाव को प्रकट करने के लिये श्री कृष्ण ने गीता मे अर्जुन को विराट्-स्वरूप का दर्शन कराया है।

(ज) विशाल-दृष्टि से देखने के लिये विराट्-स्वरूप के दर्शन—विराट्-स्वरूप के दर्शन कराने का यह अभिप्राय नही है कि कृष्ण महाराज ने मुंह खोला और उनकी दाढो मे कही रथ फंस रहे थे, कही भीष्म-द्रोण अटक रहे थे। विश्व के संचालन मे जिस विशाल-दृष्टि से काम हो रहा है, जिस प्रकार करोड़ों प्राणियो के कर्मों का समन्वय हो रहा है, उसी की तरफ सकेत करके अर्जुन को कहा गया—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ गीता, 11—5

ससार के सचालन मे जिन सैकडो, हजारो दृष्टिकोणो का, नाना तथा विविध कारणों का समन्वय करना पडता है, उसे जानने के बाद कोई व्यक्ति अपने को केन्द्र मान कर बात न करेगा, इसलिये श्री कृष्ण महाराज ने अर्जुन की आँखे खोली, और उसे 'विराट्-स्वरूप' का दर्शन कराया। अर्जुन को मानो दीखने लगा कि कर्म-चक्र मे पड कर भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र, राजे-महाराजे सभी लोग मानो विश्व के नियामक की दष्ट्रा मे पिसते चले जा रहे हैं। अर्जुन की जो सकुचित-दृष्टि थी, जिस से वह किसी को भाई, किसी को भतीजा, किसी को चाचा और किसी को ताऊ समझे बैठा था, और जो-कुछ होने जा रहा था उसे देख कर आँसू वहा रहा था, वह विशाल-दृष्टि में परिणत हो गई और उसे मानो दीखने लगा कि कर्मों के चक्र को चलाने-फिराने वाला विश्व का सूत्रात्मा इस चक्र को किधर चलाने जा रहा है। इसी भाव को गीता मे यूं कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिता. प्रत्यनीकेषु योद्धाः ॥ गीता, 11—32

उस समय जो पाप का प्रचण्ड वेग उठ खड़ा हुआ था उसका विश्व के संचालक को नाश तो करना ही था। अर्जुन कितना ही रोता, उस पाप का, अव्यवस्था का अन्त समय आ गया था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन का ज्ञान-नेत्र खोलकर उसे कारण-कार्य के अखण्ड, निर्दय, निर्मम नियम का सचालन दिखा कर मनुष्य की संकुचित-दृष्टि के स्थान पर विश्व की विशाल-दृष्टि का दर्शन करा दिया। श्रीकृष्ण के मुख-मण्डल की तरफ देखकर—जिस प्रकार श्रीकृष्ण पापग्रस्त समाज के अवश्यम्भावी विनाश का वर्णन कर रहे थे—अर्जुन को वह विनाश मानो श्रीकृष्ण के मुंह मे ही झलकता हुआ दीखने लगा। अर्जुन को समझ पड़ गया

कि वह तो इस सम्पूर्ण-काण्ड मे निमित्त-मात्र होगा, उसके बिना भी सब-कुछ होकर रहेगा। विश्व-नियामक-शक्ति के इस 'विराट्-रूप' के दर्शन करते ही अर्जुन के सन्देह दूर हो गये और 'निष्काम-कर्म' का सन्देश उसके भीतर इतना घर कर गया कि वह भीरुता और क्लीवता छोड कर, ससार की असारता देख कर उस से भागने के स्थान पर वीर-पुरुष की तरह युद्ध के लिये डट कर खडा हो गया। अब उसे ऐसा अनुभव होने लगा मानो कर्म मे तन-मन से लगे होने पर भी वह कुछ नही कर रहा। गीता मे इस मनोभाव को प्रकट करते हुए लिखा है—

यस्य सर्वे समारंभा कामसंकल्पवर्जिता:।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्मफलासग नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ गीता, 4—19, 20

जो कर्म करता है, परन्तु कामना से नही करता, जो ज्ञान की अग्नि से 'कर्म' की अन्तर्निहित 'कामना' को दग्ध कर देता है, जला देता है, जो कर्म के फल की भावना को, सग को, मोह को, आसक्ति को छोड देता है, उसका आत्मा सदा तृप्त रहता है, उसे किसी दूसरे का आश्रय, सहारा ढूंढने की आवश्यकता नही रहती। वह कर्म करता है, परन्तु दिन-रात सब-कुछ करते हुए भी—'**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि**'—मानो कुछ नही करता—'**नैव किंचित् करोति सः**'।

2. 'कर्म' का व्यक्ति से तथा वर्तमान से एवं 'फल' का समष्टि से तथा भविष्य से सम्बन्ध है

'कर्म' तथा 'कर्मफल'—ये दो घटनाएँ हैं। कारण-कार्य के नियम के अनुसार यह युक्ति-सगत प्रतीत होता है कि अगर हम 'कर्म' करें, तो 'फल' की आशा भी करें। ससार का सब कारोबार इसी आधार पर चलता है। 'कर्म' करके 'फल' की आशा करना ही वैज्ञानिक है। परन्तु सम्पूर्ण वैदिक-विचारधारा उल्टी दिशा मे बहती है। वैदिक-विचार यह है कि 'कर्म' करो, और 'फल' की आशा मे मत बैठो। गीता की तो टेक ही यह है। वहाँ कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफल हेतुर्भूः मा ते संगोस्त्वकर्मणि। गीता, 2य अध्याय, 47

वैदिक-विचारधारा मे जीवन का गुर ही यह है—कर्म करो, फल की तरफ से चुप रहो, कुछ मत बोलो। इस प्रकार उल्टी गगा बहते देख कर हर-कोई शका कर सकता है कि कारण-कार्य के नियम के विरुद्ध यह सीख क्यो ?

गहराई से देखा जाय, तो कर्म के सम्बन्ध मे विश्व के सामने 'निष्काम-कर्म' के अलावा अब तक दूसरा कोई सिद्धान्त आया ही नही जिसे वैज्ञानिक कहा

जा सके। हम कारण-कार्य के नियम की दुहाई देकर कहते हैं कि हमने 'कर्म' किया तो 'फल' की आशा करनी ही चाहिये, परन्तु ज़रा और गहरे उतर कर देखें, तो हमारा आग्रह 'फल' की आशा पर इतना नही होता जितना इस बात पर होता है कि जैसे फल की आशा हमे होती है, वैसा ही, अर्थात् 'इच्छित-फल' हमे मिलना चाहिये, उसी की हम वाट जोहते है।

'कर्म' तथा 'कर्म-फल' के सम्बन्ध मे दो बातें जान लेनी आवश्यक हैं :

(क) **कर्म का व्यक्ति से, फल का समष्टि से सम्बन्ध है**—पहली बात तो यह समझ लेने की है कि कर्म का 'व्यक्ति' से सम्बन्ध है, फल का 'समष्टि' से सम्बन्ध है। मैं इकला जो कर्म करता हूँ उसके फल मे सिर्फ मैं ही नहीं, अनेक व्यक्ति बीच मे कारण बन कर आ पडते है। कर्म 'व्यक्ति' करता है, फल मे 'समष्टि' आ खड़ी होती है; कर्म 'एक' करता है, फल मे 'अनेक' अपना दावा पेश करते हैं। हिटलर (1889-1945) ने जर्मनी को खडा कर दिया, सेना का ऐसा सगठन किया जैसा किसी अन्य देश मे नही था, चारो दिशाओं से हमला बोल दिया। जर्मन लोगो को आशा बँधी कि विश्व भर पर उनका शासन छा जायगा। परन्तु वे भूल गये कि संसार मे जर्मनी ही तो नही था, इंग्लैंड भी था, अमरीका भी था, रूस भी था, सब से बढ कर विश्व की सचालिका-शक्ति का अपना सकल्प भी था। कर्म हिटलर ने किया, फल निकलने मे हिटलर का कर्म ही कारण नही बना, इग्लैंड, अमरीका, रूस आदि का कर्म भी उसमे जुड गया, विश्व की सचालिका-शक्ति का भी उसमे योगदान हुआ, और इन सब के जोड के परिणामस्वरूप जो-कुछ सोचा भी नही गया था वह भी हो गया, भारत भी स्वतन्त्र हो गया। सकुचित तथा स्वार्थमयी दृष्टि से विचार करने के स्थान पर विस्तृत-दृष्टि से देखा जाय, तो निष्काम-कर्म का सिद्धान्त कारण-कार्य के नियम का खण्डन नही करता, परन्तु कर्म करते हुए अपने इच्छित-फल की आशा करने के कारण इस सिद्धान्त मे जो कचाई रह जाती है उसे दूर कर देता है। हम समझ रहे होते हैं कि इस कर्म मे हम ही इकले कारण हैं, परन्तु हमारे अलावा बीच मे अनेक अवान्तर-कारण आ पडते हैं जिन सब को जोड कर ही परिणाम निकलता है।

(ख) **कर्म का वर्तमान से, फल का भविष्य से सम्बन्ध है**—कर्म हम वर्तमान में करते है, फल भविष्य मे होगा, कम-से-कम कर्म कर चुकने के बाद होगा। जो बात बाद मे, भविष्य मे होने वाली है, उनके लिये वर्तमान मे आशा बांध लेना कैसे युक्ति-सगत हो सकता है? बाद मे क्या-क्या नवीन-तत्त्व बीच मे आ पडेंगे—यह कौन जानता है? इस समय जब हम कोई कर्म कर रहे है, तब कुछ अवस्थाओं, कुछ परिस्थितियो से हम बंधे हुए हैं, अब के बाद नई अवस्थाएँ, नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होती जाती हैं, उनमे जुडती चली जाती हैं। फिर जो

होगा वह कर्म करते हुए वर्तमान मे जो परिस्थिति थी सिर्फ़ उसका ही परिणाम नही होगा, कर्म करते समय जो परिस्थितियाँ थी तथा कर्म कर चुकने के बाद बाद उसमे जो नवीन परिस्थितियाँ जुडती चली गई, उन सब का जोड़ होगा। ऐसी अवस्था मे सिर्फ वर्तमान के आधार पर किये गए कर्म का हमारा इच्छित-फल कैसे मिल सकता है ? कर्म-फल मे वर्तमान के साथ भविष्य भी तो जुड़ा हुआ है !

3. निष्काम तथा सकाम में भेद

निष्काम तथा सकाम कर्म मे जो मनोवैज्ञानिक भेद है उसे समझ लेने से स्पष्ट हो जायगा कि वैदिक-विचारधारा और विशेषकर गीता मे निष्काम-कर्म को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है। इन दोनो मे भेद निम्न हैं—

(क) **निष्काम-कर्म आकांक्षा-रहित है, सकाम-कर्म आकांक्षा-सहित है**—निष्काम-कर्म मे कोई आकांक्षा नही होती, इसलिये जो फल मिल जाय बहुत है, मन उद्वेलित नही होता, प्रसन्न रहता है। सकाम-कर्म मे आकाक्षाओ का अम्बार लगा होता है, इसलिये जो भी फल मिलता है क्षुद्र प्रतीत होता है, और इसीलिये मन उद्वेलित रहता है, खिन्न रहता है। गरीब आदमी थोड़ा होने पर भी मस्त क्यो रहता है, अमीर आदमी बे-इन्तिहा होने पर भी परेशान क्यो रहता है ? एक मजदूर की क्या आकाक्षा है ? वह मेहनत करता है, रोटी-कपडे के लिये, बच्चो की परवरिश के लिये पैसा मिल जाता है, इससे अधिक उसकी आकांक्षा नही, वह चादर तान कर सोता है। एक अमीर की क्या आकांक्षा है ? उसके पास ज़रूरत से ज्यादा पैसा है, बडा भारी मकान है, मोटर है, बच्चे अमरीका मे पढ रहे हैं, परन्तु दिन-रात यही उधेड-बुन है कि 2 लाख की जगह 3 लाख क्यो नही, 3 लाख की जगह 4 लाख क्यो नही, इसी परेशानी मे तिल-तिल घुलता है, न दिन कोचैन पड़ती है, न रात को। निष्काम-कर्मी की आकांक्षाएँ सीमित हैं, सकाम-कर्मी की आकाक्षाएँ असीमित हैं, निष्काम-कर्मी की कामनाएं—जरूरतें—बँधी-बँधाई हैं, सकाम-कर्मी की कामनाएँ एक-के-बाद दूसरी बढती चली जाती हैं, उसकी कामनाओ का कही अन्त नही। असल मे, जिसकी की कामनाओ का कही अन्त नहीं वही गरीब है, भले ही वह अनन्त धन-राशि का मालिक हो, जिसकी कामनाएँ सीमा मे बँधी हैं, वहीं अमीर है भले ही उसकी तिजोरी में दस पैसे भी न हो। निष्काम-कर्म दिल की अमीरी है, सकाम-कर्म दिल की गरीबी है।

आकाक्षा न होने का यह अर्थ नही है कि निष्काम-कर्मी की कोई इच्छा होती ही नहीं। इच्छा तो हर-किसी की होती है, परन्तु निष्काम-कर्मी आकाक्षाओ, इच्छाओ का दास नही होता, इच्छाओ को एक-दूसरी के बाद

बढाता ही नही जाता। सकाम-कर्मी एक इच्छा करता है, वह पूरी नहीं होती कि दूसरी खडी कर लेता है, और इसी घुमरघेरी में उसका जीवन समाप्त हो जाता है। निष्काम-कर्म तथा साकाम-कर्म मे यह पहला मूल-गत मनोवैज्ञानिक भेद है।

(ख) **निष्काम-कर्म बाधा-रहित है; सकाम-कर्म बाधा-सहित है**—जब हम किसी निश्चित-फल की आशा को मन मे लेकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तब मन मे एक नक्शा बाँध लेते हैं। हम यह कर्म करेंगे, तो यह फल होगा—इस बात को हम पहले से तय कर लेते है, नही होता तो माथा पीटने लगते हैं। हमने देहरादून से दिल्ली जाना है। दिल्ली जाने वाली गाडी पर चढ जाते है। हमारे बिना जाने कुछ लुटेरे भी गाड़ी के उसी डिब्बे मे सवार हो जाते हैं। एक यात्री पिछले डिब्बे मे अपनी बन्दूक लिये बैठा है। डोईवाला स्टेशन से पहले जंगल आने पर लुटेरो ने गाडी लूटना शुरू किया, हमारा सामान लूट लिया, यात्री ने गोली चला दी, अचानक एक यात्री को गोली लगी, लुटेरे सामान ले कर भाग खडे हुए, जंगल मे एक शेर था, वह लुटेरो पर झपट पडा, उसने उनके चीथडे उडा दिये। इस घटना मे कितनी कामनाओ का टकरा हुआ। सब अपने-अपने मन्सूबे बाँध कर दिल्ली जा रहे थे। हमारा सामान लुट गया, निरपराध यात्री मारा गया, पुलिस ने बन्दूक वाले यात्री को पकड लिया, लुटेरे सामान ले कर भाग गये, शेर ने उन्हे खा लिया। हुआ क्या कोई कर्म जिसमे बाधा न आ पडी हो? सकाम-कर्मी अपनी रूप-रेखा बना कर चलता है, उसे पता नही दूसरे भी अपनी रूप-रेखा बना कर उसी मार्ग पर चल रहे हैं, इनमे से किसी को पता नही कि किसका कर्म किसके कर्म मे टकरा जायगा, और कौन-सा फल निकल आयगा। क्योकि उसे उसका मन मे पहले से निश्चित किया हुआ फल नही मिलता इसलिये वह बाधा को पाकर व्याकुल हो उठता है, चिल्लाने लगता है—हाय रे, क्या सोचा था क्या हो गया! निष्काम-कर्मी भी किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कर्म मे प्रवृत्त होता है, परन्तु अपने मन मे फल को भगवान् के हाथो सौप कर चलता है—मजबूरी से नही, मन ही ऐसा बना कर चलता है—जो सामने आता है उसके लिए विश्व की संचालिका-शक्ति के सामने सिर झुका देता है, कह उठता है—ऐ मेरे मालिक, तुझे यही मन्जूर था। वह अपने मार्ग की किसी बाधा को बाधा नही समझता क्योकि वह अपने मन मे यह निश्चय कर के चला ही नही कि इस कर्म का यह फल निश्चयपूर्वक होगा-ही-होगा। इस दृष्टि से देखा जाय, तो कर्म मे निश्चिन्तता हो ही तब सकती है जब वह निष्काम हो, फल की आशा के बिना हो, फल की आशा को बाँध कर कर्म किया जायगा, तो कदम-कदम पर बाधा दिखाई देने लगेगी, हर बाधा मनुष्य को व्याकुल करेगी। जो व्यक्ति फल को निश्चित किये बिना किसी

प्रयोजन को लेकर कर्म मे प्रवृत्त होगा, उसके मार्ग मे जब कोई बाधा आयगी, तो वह हँस कर कहेगा—अच्छा, आप भी रास्ते पर पडी थी, बहुत अच्छा, आप से भेंट हो गई, ऐसा ही सही। यह सब सिर्फ मनोवृत्ति का खेल है।

(ग) निष्काम-कर्म दुःख-रहित है ; सकाम-कर्म दुःख-सहित है—निष्काम-कर्मी के दुःखी होने की कोई सम्भावना नही, सकाम-कर्मी को दुःख विना बुलाये घेरे रहता है। जैसा हम अभी कह चुके हैं, सकाम-कर्मी का अर्थ है—इच्छाओ पर इच्छाओ का उपजते जाना, और उनके फलित होने की आशा बाँधते जाना। इच्छा एक तो नही है, अनेक इच्छाएँ होती हैं, इन अनेको मे से कोई एक पूरी होती है, अनेक अपूर्ण रह जाती हैं। ये अपूर्ण इच्छाएँ मनुष्य के दुःख का कारण वन जाती है। आज पत्नी के पत्र की प्रतीक्षा थी, डाकिये की दिन भर इन्तिजार होती रही, जो भी आता दीखता डाकिया ही प्रतीत होता, जब डाकिया आया तव पत्र नही लाया, दिल उदास हो गया, रोना आ गया। हम दूसरो से आशा बाँधते रहते हैं, आशा पूरी नही होती, तो निराश होकर दुःखी होते है। निष्काम-कर्मी ससार को वर्तमान मे जैसा वह है, वैसा ही देखता है, अपनी आशाओ की पुट देकर, अपने रगीन चश्मे से उसे नही देखता, इसलिए घटनाएँ जैसी है वैसी ही उन्हे देखता है, इसलिए उसे दुःख नही होता।

निष्काम-कर्म के सम्बन्ध मे प्रायः यह शका उठा करती है कि अगर कर्म करते हुए फल की आकाक्षा न की जाय, तो कर्म करने मे मनुष्य प्रवृत्त नही होगा। मनुष्य कर्म करता ही इसलिए है ताकि फल मिले, फल की आकाक्षा न हो, तो कर्म कौन करेगा ? फल ही कर्म करने मे प्रेरणा का सूत्र है। इसका उत्तर गीता मे वडा अद्भुत दिया है। वहाँ कहा है—

> न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।
>
> गीता, तृतीय अध्याय, 5

कर्म करना तो मनुष्य का स्वभाव है। कोई भले ही कह दे कि वह कर्म नही करेगा, तो भी कर्म तो उसे करना ही होगा, विना कर्म किये मनुष्य रह ही नही सकता, ऊब जाता है। गीता का यह कहना कि कर्म तो मनुष्य से छूट ही नही सकता, एक गम्भीर सत्य का उद्‌घाटन करना है। यह शका उठाना निरर्थक है कि निष्काम-कर्म की वात करेंगे, तो मनुष्य कर्म करना ही छोड देगा। निष्काम-कर्म की चर्चा करने से कर्म छूटने से रहा, कर्म तो मनुष्य को अपने स्वभाव से करना पडेगा, प्रश्न यही रह जाता है कि कर्म करे तो क्या सकाम-भाव से करे या निष्काम-भाव से करे। इस शका का उत्तर देते हुए गीता का कहना है कि कर्म की मीमासा मे कितनी ही गहराई मे हम क्यो न चले जायें, निष्काम-भाव से कर्म करने से ही मनुष्य को चैन, शान्ति तथा सन्तोष

मिल सकता है, सकाम-भाव के रास्ते पर चलने से बेचैनी, अशान्ति तथा असन्तोष के सिवाय कुछ हाथ नही लगता।

संसार मे सर्वत्र कर्म हो रहा है—जड मे कर्म हो रहा है, चेतन मे कर्म हो रहा है। प्रकृति का कर्म जड का कर्म है, मनुष्य का कर्म चेतन का कर्म है। प्राकृतिक-जगत् मे फूल खिलते हैं, नदियाँ बहती है, वर्षा पडती है, सूर्य का प्रकाश फैलता है—ये सब कर्म स्वाभाविक रूप मे, निष्काम-भाव से हो रहे हैं। मानवीय-जगत् मे भी कर्म हो रहा है, परन्तु मनुष्य प्रकृति के साथ एक-रसता बनाये रखने के स्थान मे अपने कर्म मे 'कामना' का, 'वासना' का, 'इच्छित-फल' का अडगा लगा देता है। जैसे प्रकृति का कार्य स्वभाव से प्रवाहित हो रहा है, वैसे मनुष्य का कार्य स्वभाव से, बिना कामना, बिना वासना के क्या प्रवाहित नहीं हो सकता? डॉक्टर रोगी का इलाज करता है, रोगी मर जाता है, डॉक्टर रोता नही; वकील मुवक्किल का मुकद्दमा लडता है, मुवक्किल हार जाता है, वकील परेशान नही होता; खिलाडी खेलते हैं, हार भी जाते हैं, हार जाने पर भी खिलखिलाने लगते है। अगर ये सब कर्म निष्काम-भाव से हो सकते है, तो क्या निष्काम-भाव की यही मनोवैज्ञानिक-दशा हमारे सब कामो मे नही आ सकती?

4. निष्काम-कर्म के सम्बन्ध में दो तथ्य

'कर्म' तथा 'कर्म-फल' के सम्बन्ध मे जिन बातो का हमने उल्लेख किया है उनको समझ लेने के बाद दो तथ्य स्वयं प्रकट हो जाते हैं। पहला तथ्य यह है कि अगर 'निष्काम-कर्म' ही जीवन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, तो यह मान लेना पडेगा कि मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र और फल भोगने मे परतन्त्र है, दूसरा तथ्य यह मान लेना पडेगा कि अगर वह फल भोगने मे परतन्त्र है, तो उसे कर्म करने के बाद उस सत्ता के प्रति अपने को 'समर्पित' (Surrender) कर देना होगा जो कर्म-फलो की नियन्ता है क्योकि कर्म करना तो अपने हाथ मे है, कर्मों का फल तो सब कर्मों का जोड करने वाली शक्ति के हाथ मे है। हम अपनी स्वतन्त्र-इच्छा से परीक्षा मे बैठते हैं, प्रत्येक उत्तर-पत्र के अंक मिलते है, परन्तु अंको का जोड तो हम नही करते, टेब्युलेटर करता है, और उन जोड के अनुसार पास-फेल की घोषणा रजिस्ट्रार कर देता है, हमारी आकाक्षा से काम नही चलता, अपने को सब अको का जोड घोषित करने वाले रजिस्ट्रार के निर्णय के सामने सौप देना पडता है, यही 'समर्पण' की भावना है।

(क) मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने मे परतन्त्र है—हमने देखा कि 'कर्म' तथा उसका 'प्रत्याशित-फल' एक-दूसरे से बँधे हुए नहीं है। कर्म करने पर हम जिस फल की आशा बाँध लेते हैं, वह किसी एक व्यक्ति के कर्म

का फल नही होता, उसमे अनेक व्यक्ति या अनेक कारण हिस्सेदार होते है। इससे स्पष्ट है कि फल भोगने मे मनुष्य उन अनेक कारणो के अधीन होता है जो हमारे कर्म के साथ मुख्य या गौण रूप में जुडे होते हैं। दूसरे शब्दो मे, फल भोगने मे वह उन सब कारणो के अधीन होता है, परतन्त्र होता है। हाँ, यह बात ठीक है कि कर्म करने मे वह परतन्त्र नही होता, कर्म करने मे स्वतन्त्र होता है। जो लोग नियति को, भाग्य को ही हर बात का नियामक मान लेते हैं, वे कह सकते हैं कि मनुष्य फल भोगने मे ही नही कर्म करने मे भी परतन्त्र है, पिछले कर्मो से बँधा हुआ है, परन्तु यह बात एकात सत्य नही है। अगर मनुष्य जो-कुछ करता है, वह पिछले से ही बधा हुआ है, तो प्रश्न उठ खडा होता है कि पिछला किस से बँधा हुआ है? इस प्रकार पीछे-पीछे जाते-जाते अनवस्था दोष आ जाता है, इसलिये किसी स्थान पर तो मानना ही पडता है कि इस स्थल पर मनुष्य ने स्वतन्त्र रूप से कर्म किया था। अगर वह किसी भी समय स्वतन्त्र रूप से कर्म कर सकता है, तो हर समय स्वतन्त्र-कर्म क्यो नही कर सकता? इसके अतिरिक्त, अगर यह कहा जाय कि किसी एक समय ही उसने स्वतन्त्र कर्म किया था, उसके बाद उस कर्म के कारण मनुष्य सदा के लिये परतन्त्र हो जाता है, तो यह नही माना जा सकता क्योकि सिर्फ एक 'कर्म' से इस जन्म या जन्म-जन्मान्तर के अनेक 'कर्म' तथा 'कर्म-फल' नही उपज सकते। इस दृष्टि से 'निष्काम-कर्म' का अवश्यम्भावी परिणाम यह सिद्धान्त उठ खडा होता है कि मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र तथा फल भोगने मे परतन्त्र है; इसलिये परतन्त्र है क्योकि कर्म करने के बाद जिस फल की आशा हम बाँध बैठते हैं, वह हमारे हाथ की बात नही होती, उसके लिये हम परतन्त्र होते हैं। इसी को गीता ने कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**'।

(ख) फल भोगने मे परतन्त्र होने के कारण 'आत्म-समर्पण' ही एक रास्ता रह जाता है—अगर यह बात ठीक है कि कर्म करने के बाद इच्छित-फल की आशा को छोड देना हमारे लिये लाजमी है, हम चाहे-न-चाहे—फल हमारे हाथ की बात नही है, तब इसके सिवाय हमारे पास क्या रास्ता रह जाता है कि हम अपने को उस शक्ति के हाथो सौंप दें जिसका काम 'कर्म' तथा 'फल'—इन दोनो को अंक गणित के अनुसार मिला देना है। यही मार्ग 'आत्म-समर्पण' का मार्ग है, इसी को कहते है—'मेरी नही, तेरी इच्छा पूर्ण हो'। जब तक हम कहते रहते हैं कि मैंने यह कर्म किया, मुझे यह फल मिले, तब तक 'कर्म' तथा 'फल' के बीच हम भगवान् की जगह अपने को खडा कर लेते हैं। कितनी हिमाकत है। कर्म का फल तेरी दृष्टि से होगा या समष्टि की दृष्टि से होगा? सृष्टि का नियन्त्रण 'वह' कर रहा है या 'तू' कर रहा है? तेरी दृष्टि कुएँ मे तैरते मेंढक की दृष्टि है, तुझे अपने सिवाय कुछ नही दीखता, उसकी दृष्टि

विश्व के संचालक की, विराट् की दृष्टि है। कर्म का रहस्य निष्काम-कर्म है, और निष्काम-कर्म का अर्थ कर्म करके फल को अपने ऊपर नही, उसके ऊपर छोड़ देना है—इसी का दूसरा नाम 'आत्म-समर्पण' है।

जिन दो तथ्यो का हमने निरूपण किया वे निष्काम-कर्म के सिद्धान्त के अवश्यम्भावी निष्कर्ष हैं।

5. निष्काम-कर्म पर लोकमान्य तिलक का स्पष्टीकरण

लोकमान्य तिलक (1856-1920) पहले व्यक्ति थे जिन्होने यह घोषित किया कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य-विषय 'ज्ञान' नही है, 'भक्ति' नही है, अपितु 'कर्म' है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-विषय को देखने के लिये उसका आदि देखना चाहिये, अन्त देखना चाहिये, और यह देखना चाहिये कि पुस्तक के बीच मे बार-बार किस बात को दोहराया गया है। जो बात शुरू मे कही गई हो, जो बात बीच-बीच मे दोहराई गई हो, जो अन्त मे कही गई हो, वही उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-विषय हो सकता है। इसी को मीमासक कहते हैं—**'उपक्रमोपसहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्'**—उपक्रम मे, उपसंहार मे, अभ्यास अर्थात् बार-बार दोहराने मे जो बात कही जाय—**'लिंगं तात्पर्य-निर्णये'**—ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने मे उसी बात को प्रधानता दी जानी चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रश्न होता है कि गीता का प्रारम्भ कैसे हुआ, बीच मे क्या बात कही गई, अन्त कैसे हुआ? कुरुक्षेत्र के मैदान मे अपने बुजुर्गों, गुरुओ, सगे-सम्बन्धियो को खडे देखकर अर्जुन घबडा उठा, गांडीव उसके हाथ से गिर गया, वह सन्यास लेने के लिये तैयार हो गया, कर्म छोड बैठा। जब गीता का उपदेश हो चुका तब उसने श्रीकृष्ण से कहा—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत। स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव'**—हे अच्युत! मेरा मोह नष्ट हो गया, जैसा आप कहेगे मैं वैसा करूँगा। अन्त मे अर्जुन ने गांडीव धनुष पकडा, गुरुओं, सगे-सम्बन्धियो को मौत के घाट उतार दिया। जो अर्जुन कर्म छोड चुका था वह कर्म मे प्रवृत्त हुआ, तब यह कैसे कहा जाय कि गीता मे 'ज्ञान-योग' है, या 'भक्ति-योग' है? लोकमान्य तिलक का कहना है कि गीता का आदि, मध्य, अन्त इस बात के साक्षी है कि गीता का प्रतिपाद्य-विषय 'कर्म-योग' है, अन्य योगो का वर्णन अवान्तर रूप से किया गया है।

निष्काम-कर्म की वैज्ञानिकता की व्याख्या करते हुए श्री तिलक अपने 'गीता-रहस्य' के पृष्ट 326 मे लिखते हैं—"अपने फायदे के सिवा इस संसार में जिन्हे दूसरा कुछ नही दीख पडता, और जो पुरुप केवल फल की इच्छा से ही कर्म करने मे मस्त रहते हैं, उन्हे सचमुच फलाशा छोड़कर कर्म करना सम्भव न

न जँचेगा, परन्तु जिनकी बुद्धि ज्ञान से सम और विरक्त हो गई है, उनके लिये कुछ कठिन नही है। पहले तो यह समझना ही गलत है कि हमे किसी काम का जो फल मिलता है वह केवल हमारे ही कर्म का फल है। यदि पानी की द्रवता और अग्नि की उष्णता की सहायता न मिले, तो मनुष्य कितना ही सिर क्यो न खपावे, उसके प्रयत्न से पाक-सिद्धि नही हो सकती—भोजन पकेगा ही नही, और अग्नि आदि इन गुण-धर्मों को मौजूद रखना या न रखना मनुष्य के वस की बात नही है। इसी से कर्म-सृष्टि के इन स्वयं-सिद्ध विविध व्यापारों का पहले यथा-शक्ति ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य को उसी ढंग से अपने व्यवहार करने पडते है जिससे वे व्यापार अपने प्रयत्न के अनुकूल हो। इससे यह कहना चाहिये कि प्रयत्नो से मनुष्य को जो फल मिलता है वह केवल उसके ही प्रयत्नो का फल नही है, वरन् उसके कार्य तथा कर्म-सृष्टि के तदनुकूल अनेक स्वयं-सिद्ध-धर्म—इन दोनो के सयोग का फल है। परन्तु प्रयत्नो की सफलता के लिये इस प्रकार जिन नानाविध सृष्टि-व्यापारो की अनुकूलता आवश्यक है, कई वार उन सवका मनुष्य को ज्ञान नही रहता और कुछ स्थानो पर तो होना शक्य भी नही है, इसे ही 'दैव' कहते है।.. कर्म-सृष्टि के ज्ञात और अज्ञात व्यापारो का मानवी प्रयत्नों से संयोग होने पर जो फल होता है, वह केवल कर्म के नियमो से हुआ करता है, इसलिये हम फल की अभिलाषा करें या न करें, फल-सिद्धि मे इससे कोई फर्क नही पडता, हमारी फलाशा अलवत्त हमे दु खकारक हो जाती है। परन्तु स्मरण रहे, कर्म-सृष्टि के व्यापार स्वय अपनी ओर से सगठित होकर भी काम नही करते। चने की रोटी को स्वादिष्ट वनाने के लिये जिस प्रकार आटे मे थोडा-सा नमक भी मिलाना पडता है, उसी प्रकार कर्म-सृष्टि के इन स्वय-सिद्ध व्यापारो को मनुष्यो के उपयोगी होने के लिये उसमे थोडा-सा मानवी प्रयत्न भी मिलाना पड़ता है। तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है, फल होना तेरे अधिकार की वात नही है (गीता 2-47)—यह उपदेश जो अर्जुन को दिया गया है उसका रहस्य यही है। इस प्रकार फलाशा को त्याग कर कर्म करते रहने पर, आगे कुछ कारणो से कदाचित् कर्म निष्फल हो जाय, तो निष्फलता का दु ख मानने के लिये हमे कोई कारण नही रहता क्योंकि हम तो अपने अधिकार का काम कर चुके। उदाहरणार्थ, वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार हजारो रोगियो को दवाई दिया करते हैं। इस प्रकार निष्काम-बुद्धि से काम करने पर यदि कोई रोगी चगा न हो, तो उससे वह वैद्य उद्विग्न नही होता, वल्कि शान्त-चित्त से यह शास्त्रीय नियम ढूँढ निकालता है कि अमुक रोग मे अमुक औषधि मे फ़ी सैकडे इतने रोगियो को आराम होता है, इतनो को नही होता। परन्तु इसी वैद्य का लडका जव वीमार पडता है, तव उसे औषधि देते हुए यह फी सैकडे वाली वात भूल जाती है और ममतायुक्त फलाशा से उसका

चित्त घवडा जाता है कि मेरा लडका अवश्य अच्छा हो जाय। इसी से उसे या तो दूसरा वैद्य बुलाना पडता है, या दूसरे वैद्य की सलाह की आवश्यकता होती है। इस छोटे से उदाहरण से ज्ञात होगा कि कर्म-फल मे ममता रूप आसक्ति किसे कहना चाहिये, और फलाशा न रहने पर भी निरी कर्त्तव्य-बुद्धि से भी कोई कार्म किस प्रकार किया जा सकता है।"

श्री तिलक-प्रतिपादित निष्काम-कर्म का यह वैज्ञानिक आधार है।

6. निष्काम-कर्म पर योगिराज श्री अरविन्द का स्पष्टीकरण

श्री अरविन्द (1872-1955) ने गीता पर 'Essays on the Gita' लिखे है। उनका कहना है कि गीता का प्रतिपाद्य-विषय कर्म-योग नही है। जो लोग गीता का प्रतिपाद्य-विषय 'कर्म-योग' कहते हैं, वे ऐसा पाश्चात्य-प्रभाव के कारण कहते हैं। पाश्चात्य-विचार के अनुसार समाज-सेवा, देश-सेवा, लोक-सेवा आदि हमारा कर्त्तव्य है, यही विचार लेकर वकिमचन्द्र चटर्जी तथा लोकमान्य तिलक ने गीता की कर्म-परक व्याख्या की है, वस्तुत गीता का प्रतिपाद्य-विपय कर्म नही है—ऐसा श्री अरविन्द का मत है।

हम कहते हैं कि मनुष्य को अपना 'कर्म' कर्त्तव्य समझकर करना चाहिये। सिपाही का यह कर्त्तव्य है कि वह लडे, हुकुम पाते ही गोली मार दे चाहे उसके सामने वाला उसका बुजुर्ग हो, गुरु हो, रिश्तेदार हो, जज का कर्त्तव्य है कि वह अपराधी को जेल भेज दे, खूनी को फाँसी की सजा दे, वकील का कर्त्तव्य है कि अपने मवक्किल की पैरवी करने मे पूरी कोशिश करे चाहे वह जानता हो कि उसका मवक्किल कसूरवार है। कहा जाता है कि यह 'कर्म-योग' है, परन्तु यदि मनुष्य की आन्तरिक-दृष्टि बदल जाय, सिपाही का हृदय टौलस्टौय जैसा हो जाय और वह समझने लगे कि किसी भी मनुष्य की जान लेना वैसा ही घृणित काम है जैसा किसी मनुष्य का मास खाना, यदि जज को यह आन्तरिक-विश्वास हो जाय कि किसी मनुष्य को फासी देना मानवता की दृष्टि से पाप है, यदि वकील की आँख खुल जाय और वह यह देखने लगे कि झूठ सदा पाप ही है, तब क्या होगा? क्या तब भी 'कर्म-योग' की दुहाई देकर सिपाही को लडना ही पडेगा, जज को अपना आन्तरिक-विश्वास दबाना ही पड़ेगा, वकील को झूठे मवक्किल की पैरवी करनी ही होगी? ऐसा 'कर्म-योग' किस काम का जो अन्तरात्मा को दबाये, और इस प्रकार के 'कर्म-योग' की गीता मे हिमायत होगी—यह सम्भव नही है। बुद्ध ने राज छोड दिया, रामकृष्ण परमहंस ने घर-बार छोड दिया, विवेकानन्द ने भी घर-बार छोड दिया। क्या गीता बुद्ध को यह उपदेश देगी कि राज करना, स्त्री-पुत्र का पालन करना उसका कर्त्तव्य था, इन्हे छोड कर उसने अच्छा नही किया, क्या गीता

परमहंस रामकृष्ण तथा विवेकानन्द को यह उपदेश देगी कि घर-गृहस्थी को छोड कर जो उन्होने अपने को भगवान् के अर्पण कर दिया—यह ठीक नही किया। जब किसी के अन्तरात्मा मे इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो जाय जैसी बुद्ध (563-483 ई० पू०), रामकृष्ण परमहंस (1834-1866), विवेकानन्द (1863-1902) के हृदय मे उत्पन्न हो गई, तव सभी कर्त्तव्यो को त्याग देना, कुचल डालना और एक ओर फेंक देना पडता है।

अर्जुन के सम्मुख भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। वह सिपाही था, इसलिये उसे युद्ध करने के लिए कहा जा रहा था। उसे कहा जा रहा था कि युद्ध करना उसका धर्म है। सामने कोई भी हो, गुरु हो, भाई हो, रिश्तेदार हो—सिपाही का काम युद्ध मे शस्त्र हाथ से फेंक देना नही। परन्तु क्या यह बात जँचती है कि अर्जुन की अन्तरात्मा उसे युद्ध से विरत कर रही हो, और श्रीकृष्ण उसे कह रहे हो कि तुम्हे युद्ध करना ही होगा क्योंकि यह तुम्हारा कर्त्तव्य है ? अर्जुन की तो कठिनाई ही यह थी कि भले ही युद्ध करना उसका कर्त्तव्य था किन्तु उसकी अन्तरात्मा की पुकार उसे युद्ध से विरत कर रही थी, ठीक ऐसे जैसे आँख खुल जाने पर वकील अपने झूठे मवक्किल की पैरवी करना छोड देता है, जैसे बुद्ध ने ज्ञान की आँख खुलने पर राज-पाट छोड़ दिया, परमहंस रामकृष्ण और विवेकानन्द ने घर-बार छोड़ दिया। अर्जुन को यह कहना कि तुम सैनिक हो, सैनिक का काम करो, काटो-मारो; चाहे पाप हो, चाहे पुण्य, चाहे इसका जो भी फल हो उसका विचार न करके निष्काम-भाव से अपना कर्म करो—श्री अरविन्द का कहना है कि ऐसी सीख किसी राज्य की ओर से हो सकती है, राजनीतिज्ञ ऐसा कह सकते हैं, परन्तु कोई महान् धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक ग्रन्थ, जिसका उद्देश्य ही जीवन और कर्म के प्रश्न को जड-मूल से हल करना हो, ऐसी शिक्षा नही दे सकता। यदि इस प्रकार के नैतिक प्रश्न के विषय मे गीता को यही बात कहनी होती, तो इसे ससार के महान् ग्रन्थो की सूची से अलग ही करना होगा और फिर यदि इसे कही रखना ही हो, तो राजनीति-शास्त्र की किसी लाइब्रेरी मे रख देना होगा।

अगर 'कर्म-योग' गीता का प्रतिपाद्य-विषय नही है, तो श्री अरविन्द के विचार मे गीता का प्रतिपाद्य-विषय क्या है ? श्री अरविन्द का कहना है कि गीता राजनीति-शास्त्र का ग्रन्थ नही, बल्कि आध्यात्मिक-जीवन का ग्रन्थ है। श्री अरविन्द के अनुसार गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह 'मानव-कर्म' (Human action) नही, अपितु 'दिव्य-कर्म' (Divine action) है। 'मानव-कर्म' क्या है, और 'दिव्य-कर्म' क्या है ? मानव-कर्म को उन्होने 'मानव-धर्म' कहा है, दिव्य-कर्म को उन्होंने 'दिव्य-धर्म' कहा है।

जिन्हे हम कर्त्तव्य-कर्म कहते हैं वे सव 'मानव-धर्म' हैं। समाज ने जिन कर्त्तव्यो को हमारे लिए निश्चित किया है, वे 'दिव्य-धर्म' नही, 'मानव-धर्म' हैं। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण का कर्म, क्षत्रिय के लिये क्षात्र-कर्म—ये सव 'दिव्य-धर्म' नही कहे जा सकते, ये सव 'मानव-धर्म' हैं। सिपाही युद्ध मे जिसे सामने आते देखे उसी पर गोली दाग दे, वकील अपने सच्चे-झूठे मुवक्किल की जी-जान से पैरवी करे, जज हर अपराधी को जेल भेज दे—ये सव 'मानव-धर्म' हैं, 'दिव्य-धर्म' नही। 'मानव-धर्म' का अर्थ है—'सामाजिक-धर्म'। समाज ने अपनी आवश्यकताओं के लिये जो उचित समझा वह मनुष्य का कर्त्तव्य निश्चित कर दिया। समाज की आवश्यकता वदल जाय तो यह धर्म, यह कर्म भी वदल जाय। जो कर्म मानव-समाज की आवश्यकता के अनुसार वदल सकता है, आज वह कर्त्तव्य-कर्म है, आवश्यकता वदल जाने पर कल वह अकर्त्तव्य-कर्म हो सकता है, ऐसे कर्म के लिये गीता जैसा महान्-ग्रन्थ क्या यह उपदेश दे सकता है कि उसे आँख मीच कर करते जाओ, चाहे वह पुण्य का कर्म हो, चाहे पाप का, चाहे तुम्हारी अन्तरात्मा उसे करने की गवाही देती हो, चाहे न देती हो, चाहे वह बुजुर्गों, भाई-भतीजों के खून की नदियाँ वहाने का ही कर्म क्यो न हो ? श्री अरविन्द कहते है कि गीता की यह शिक्षा नही हो सकती। श्री अरविन्द का कहना है कि गीता मानव को 'मानव-कर्म' के लिये नही, 'दिव्य-कर्म' के लिये प्रेरित करती है। 'दिव्य-कर्म' क्या है ? इस विश्व का नियन्त्रण मनुष्य नही कर रहा, भगवान् कर रहा है, कोई दैवी-शक्ति कर रही है। उस दिव्य-शक्ति का विश्व के संचालन मे जो उद्देश्य है उस उद्देश्य के साथ एकतानता उत्पन्न कर लेना, उस उद्देश्य को पूर्ण करने मे अपनी शक्ति लगा देना ही 'दिव्य-कर्म' है। 'दिव्य-उद्देश्य' (Divine Purpose) को पूर्ण करने वाला कर्म 'दिव्य-कर्म' (Divine action) है, और जव मनुष्य दिव्य-कर्म करने लगता है तव वह मानो स्वयं कर्म नही कर रहा होता, मनुष्य को माध्यम वना कर भगवान् ही कर्म कर रहा होता है, मनुष्य तो निमित्तमात्र होता है—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**'। 'दिव्य-कर्म' का यह अर्थ नही है कि उसमे 'मानव-कर्म' आ नहीं जाता, या इन दोनों का सदा विरोध है। समाज-सेवा, अपने-अपने चातुर्वर्ण्य का पालन, समाज के निश्चित किए हुए कर्त्तव्य-कर्म—ये सव 'दिव्य-कर्म' के अग हो सकते हैं, आजकल के युग मे ये 'दिव्य-कर्म' के अग हैं भी, इसीलिये ये चल भी रहे हैं, परन्तु ऐसा अवसर आ सकता है जव 'दिव्य-कर्म' और 'मानव-कर्म' मे विरोध उठ खडा हो। वुद्ध के जीवन मे ऐसा अवसर आया, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द के जीवन मे भी ऐसा अवसर आया। उस समय उन्होंने 'मानव-कर्म' को, उस कर्म को जिसे हम 'कर्त्तव्य-कर्म' कहते हैं, परे फेंक कर 'दिव्य-कर्म' को पकडा, अन्तरात्मा की पुकार सुनी, अपने भीतर वैठे परमात्मा के आदेश का

परमहस रामकृष्ण तथा विवेकानन्द को यह उपदेश देगी कि घर-गृहस्थी को छोड कर जो उन्होंने अपने को भगवान् के अर्पण कर दिया—यह ठीक नही किया। जब किसी के अन्तरात्मा मे इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो जाय जैसी बुद्ध (563-483 ई० पू०), रामकृष्ण परमहस (1834-1866), विवेकानन्द (1863-1902) के हृदय मे उत्पन्न हो गई, तब सभी कर्त्तव्यो को त्याग देना, कुचल डालना और एक ओर फेंक देना पडता है।

अर्जुन के सम्मुख भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। वह सिपाही था, इसलिये उसे युद्ध करने के लिए कहा जा रहा था। उसे कहा जा रहा था कि युद्ध करना उसका धर्म है। सामने कोई भी हो, गुरु हो, भाई हो, रिश्तेदार हो—सिपाही का काम युद्ध मे शस्त्र हाथ से फेंक देना नही। परन्तु क्या यह बात जँचती है कि अर्जुन की अन्तरात्मा उसे युद्ध से विरत कर रही हो, और श्रीकृष्ण उसे कह रहे हो कि तुम्हे युद्ध करना ही होगा क्योंकि यह तुम्हारा कर्त्तव्य है ? अर्जुन की तो कठिनाई ही यह थी कि भले ही युद्ध करना उसका कर्त्तव्य था किन्तु उसकी अन्तरात्मा की पुकार उसे युद्ध से विरत कर रही थी, ठीक ऐसे जैसे आँख खुल जाने पर वकील अपने झूठे मवक्किल की पैरवी करना छोड देता है, जैसे बुद्ध ने ज्ञान की आँख खुलने पर राज-पाट छोड़ दिया, परमहस रामकृष्ण और विवेकानन्द ने घर-बार छोड दिया। अर्जुन को यह कहना कि तुम सैनिक हो, सैनिक का काम करो, काटो-मारो; चाहे पाप हो, चाहे पुण्य, चाहे इसका जो भी फल हो उसका विचार न करके निष्काम-भाव से अपना कर्म करो—श्री अरविन्द का कहना है कि ऐसी सीख किसी राज्य की ओर से हो सकती है, राजनीतिज्ञ ऐसा कह सकते है, परन्तु कोई महान् धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक ग्रन्थ, जिसका उद्देश्य ही जीवन और कर्म के प्रश्न को जड-मूल से हल करना हो, ऐसी शिक्षा नही दे सकता। यदि इस प्रकार के नैतिक प्रश्न के विषय मे गीता को यही बात कहनी होती, तो इसे ससार के महान् ग्रन्थो की सूची से अलग ही करना होगा और फिर यदि इसे कही रखना ही हो, तो राजनीति-शास्त्र की किसी लाइब्रेरी मे रख देना होगा।

अगर 'कर्म-योग' गीता का प्रतिपाद्य-विषय नही है, तो श्री अरविन्द के विचार मे गीता का प्रतिपाद्य-विषय क्या है ? श्री अरविन्द का कहना है कि गीता राजनीति-शास्त्र का ग्रन्थ नही, बल्कि आध्यात्मिक-जीवन का ग्रन्थ है। श्री अरविन्द के अनुसार गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह 'मानव-कर्म' (Human action) नही, अपितु 'दिव्य-कर्म' (Divine action) है। 'मानव-कर्म' क्या है, और 'दिव्य-कर्म' क्या है ? मानव-कर्म को उन्होंने 'मानव-धर्म' कहा है, दिव्य-कर्म को उन्होंने 'दिव्य-धर्म' कहा है।

जिन्हे हम कर्त्तव्य-कर्म कहते हैं वे सब 'मानव-धर्म' है। समाज ने जिन कर्त्तव्यो को हमारे लिए निश्चित किया है, वे 'दिव्य-धर्म' नही, 'मानव-धर्म' हैं। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण का कर्म, क्षत्रिय के लिये क्षात्र-कर्म—ये सब 'दिव्य-धर्म' नही कहे जा सकते, ये सब 'मानव-धर्म' हैं। सिपाही युद्ध मे जिसे सामने आते देखे उसी पर गोली दाग दे, वकील अपने सच्चे-झूठे मुवक्किल की जी-जान से पैरवी करे, जज हर अपराधी को जेल भेज दे—ये सब 'मानव-धर्म' हैं, 'दिव्य-धर्म' नही। 'मानव-धर्म' का अर्थ है—'सामाजिक-धर्म'। समाज ने अपनी आवश्यकताओ के लिये जो उचित समझा वह मनुष्य का कर्त्तव्य निश्चित कर दिया। समाज की आवश्यकता बदल जाय तो यह धर्म, यह कर्म भी बदल जाय। जो कर्म मानव-समाज की आवश्यकता के अनुसार बदल सकता है, आज वह कर्त्तव्य-कर्म है, आवश्यकता बदल जाने पर कल वह अकर्त्तव्य-कर्म हो सकता है, ऐसे कर्म के लिये गीता जैसा महान्-ग्रन्थ क्या यह उपदेश दे सकता है कि उसे आँख मीच कर करते जाओ, चाहे वह पुण्य का कर्म हो, चाहे पाप का, चाहे तुम्हारी अन्तरात्मा उसे करने की गवाही देती हो, चाहे न देती हो, चाहे वह बुजुर्गों, भाई-भतीजों के खून की नदियाँ बहाने का ही कर्म क्यो न हो ? श्री अरविन्द कहते है कि गीता की यह शिक्षा नही हो सकती। श्री अरविन्द का कहना है कि गीता मानव को 'मानव-कर्म' के लिये नही, 'दिव्य-कर्म' के लिये प्रेरित करती है। 'दिव्य-कर्म' क्या है ? इस विश्व का नियन्त्रण मनुष्य नही कर रहा, भगवान् कर रहा है, कोई दैवी-शक्ति कर रही है। उस दिव्य-शक्ति का विश्व के सचालन मे जो उद्देश्य है उस उद्देश्य के साथ एकतानता उत्पन्न कर लेना, उस उद्देश्य को पूर्ण करने मे अपनी शक्ति लगा देना ही 'दिव्य-कर्म' है। 'दिव्य-उद्देश्य' (Divine Purpose) को पूर्ण करने वाला कर्म 'दिव्य-कर्म' (Divine action) है, और जब मनुष्य दिव्य-कर्म करने लगता है तब वह मानो स्वयं कर्म नही कर रहा होता, मनुष्य को माध्यम बना कर भगवान् ही कर्म कर रहा होता है, मनुष्य तो निमित्तमात्र होता है—**'निमित्तमात्र भव सव्यसाचिन्'**। 'दिव्य-कर्म' का यह अर्थ नही है कि उसमे 'मानव-कर्म' आ नही जाता, या इन दोनो का सदा विरोध है। समाज-सेवा, अपने-अपने चातुर्वर्ण्य का पालन, समाज के निश्चित किए हुए कर्त्तव्य-कर्म—ये सब 'दिव्य-कर्म' के अग हो सकते हैं, आजकल के युग मे ये 'दिव्य-कर्म' के अग हैं भी, इसीलिये ये चल भी रहे हैं, परन्तु ऐसा अवसर आ सकता है जब 'दिव्य-कर्म' और 'मानव-कर्म' मे विरोध उठ खडा हो। बुद्ध के जीवन मे ऐसा अवसर आया, दयानन्द, रामकृष्ण परमहम, विवेकानन्द के जीवन मे भी ऐसा अवसर आया। उस समय उन्होंने 'मानव-कर्म' को, उस कर्म को जिसे हम 'कर्त्तव्य-कर्म' कहते है, परे फेंक कर 'दिव्य-कर्म' को पकड़ा, अन्तरात्मा की पुकार सुनी, अपने भीतर बैठे परमात्मा के आदेश का

पालन किया, सासारिक कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के मोह मे नही पडे। गीता का प्रतिपाद्य-विषय यही 'दिव्य-कर्म' है, यही 'निष्काम-कर्म' है।

तो फिर, अर्जुन की समस्या का श्री अरविन्द के दृष्टिकोण से क्या हल हुआ ? श्री अरविन्द कहते हैं कि गीता बडे जोर से बतलाती है कि मनुष्य 'कर्म' का कर्त्ता नहीं है, कर्त्री प्रकृति है। यह त्रिगुणमयी प्रकृति-शक्ति ही मनुष्य के द्वारा कर्म करती है। हमे यह साफ-साफ देख लेना होगा, और सीख लेना होगा कि कर्म के कर्त्ता हम नही है, प्रकृति है। प्रकृति भी क्या है ? प्रकृति से भी परे, प्रकृति का भी नियन्त्रण करने वाला, प्रकृति का आधार तथा इसका स्वामी एक चेतन है, प्रभु, इस सबका नियन्त्रण करने वाला पर-ब्रह्म। वह अपने जीवो के हृदय मे विराजमान है, कर्मों का नियामक है, यह वही है जो कुरुक्षेत्र की समर-भूमि मे जीवित सेनाओ को भी उनके कर्मों के कारण पहले ही मार चुका है, जो अर्जुन को इस संहार मे केवल यन्त्र या निमित्त-मात्र बनाये हुए है। अर्जुन क्योकि दिव्य-शक्ति का निमित्तमात्र है, उसी का एक यन्त्र है, इसलिये उसका अपने कर्मो पर कुछ भी दावा नही है, अधिकार नही है, वह जो-कुछ करेगा अधिकार छोड कर करेगा, ये कर्म क्योकि अर्जुन के नही, भगवान् के हैं, इसलिये इन कर्मों मे कोई फलाकाक्षा नही हो सकती, ये निष्काम हैं। श्री अरविन्द के 'दिव्य-कर्म' का यही रूप है। 'दिव्य-कर्म'-शब्द गीता के चतुर्थ अध्याय के नवें श्लोक मे आया है।

श्री अरविन्द के 'दिव्य-कर्म' के इस सिद्धान्त से हमे क्या सीख मिलती है ? हमे इससे यह सीख मिलती है कि हम मे से जिसके हृदय मे भी दिव्य-चेतना जागृत हो जाय, उसका कर्म मानव-कर्त्तव्य या सामाजिक-व्यवहार के लिये अपने को न्यौछावर कर देना नहीं है, उसका कर्म दिव्य-चेतना के स्पन्दन के साथ अपने को एकरस कर देना है भले ही इस प्रकार 'मानव-कर्म' तथा 'दिव्य-कर्म' मे संघर्ष ही क्यो न पैदा हो जाय। ऐसे ही सघर्ष मे से बुद्ध, दयानन्द, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, गाधी गुजरे और उन्होंने 'मानव-धर्म' की अपेक्षा 'दिव्य-धर्म' को प्रधानता दी।

श्री अरविन्द क्योकि एक महान् आध्यात्मिक-विचारक हुए है इसलिये निष्काम-कर्म के सम्बन्ध मे उनका विचार हमने यहाँ दे दिया है।

7. निष्काम-कर्म पर आचार्य विनोबा भावे का स्पष्टीकरण

आचार्य विनोबा भावे (जन्म—1895) के अनुसार गीता का कहना है कि 'कर्म' का रहस्य बडा गूढ़, गहन है। इस आशय के गीता के दो श्लोक बडे महत्त्वपूर्ण हं। वे हैं—

> कर्मणोह्यपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यं च विकर्मणः
> अकर्मणश्च बोद्धव्यम् गहना कर्मणो गतिः। गीता, 4—17

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत् । गीता, 4—18

अर्थात्, निष्काम-कर्म के रहस्य को जानने के लिये 'कर्म'-'विकर्म'-'अकर्म'—इन तीनो के भेद को जान लेना आवश्यक है । वह भेद क्या है ?

(क) **कर्म तथा विकर्म**—विनोबा का कहना है कि गीता मे 'कर्म' का अर्थ हमारा खाना, पीना, सोना—यह सब नही है । गीता मे 'कर्म' का अर्थ 'स्व-धर्म' है । 'स्व-धर्म' का अर्थ हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई नही, 'स्व-धर्म'—अर्थात्, मनुष्य की अपनी प्रकृति, अपना स्वभाव । ब्राह्मण का स्वभाव ज्ञान-चर्चा करना है, क्षत्रिय का स्वभाव दुष्टों का दमन करना है, वैश्य का स्वभाव सग्रह करना है, सब का अपना-अपना स्वभाव है, 'स्व-धर्म' है । परन्तु 'स्व-धर्म' का आचरण कैसे किया जाय ? 'स्व-धर्म'—अर्थात्, अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव के अनुसार 'कर्म' का आचरण करने के लिये 'निष्कामता' आवश्यक है, 'स्व-धर्म' का पालन करे परन्तु निष्काम-भाव से । निष्काम-भाव का क्या अर्थ है ? 'निष्काम-भाव' का अर्थ है—कामना छोड देना । कामना छोड़ने का अर्थ है—'काम' और 'क्रोध' को छोड़ना । कामना 'काम' से, इच्छा से पैदा होती है, इच्छा पूरी न होने पर 'क्रोध' आता है । इन दोनों को छोड़ना 'निष्कामता' है । गीता कहती है कि 'निष्कामता' तबतक आती नही जबतक 'कर्म' के साथ 'विकर्म' का साथ नही होता । वह कैसे ? 'कर्म' के दो रूप हैं—बाहरी तथा भीतरी । उदाहरणार्थ, हम गुरु के सम्मुख सिर झुकाते हैं । यह कर्म का बाहरी, स्थूल रूप है । परन्तु सिर झुकाने के साथ ही यदि भीतर से मन न झुकता हो तब बाह्य-क्रिया व्यर्थ है । बाहरी सिर झुकाने के कर्म के साथ भीतरी मन भी साथ दे तब समझना चाहिये कि 'कर्म' के साथ 'विकर्म' भी जुड गया । अगर गुरु के सम्मुख केवल सिर झुका और मन ने भीतर से विद्रोह किया तब समझना चाहिये कि 'कर्म' तो हुआ, परन्तु 'विकर्म' ने उसका साथ नही दिया । निष्काम-कर्म तभी सिद्ध होता है जब हमारे शरीर के बाह्य 'कर्म' के साथ मन के भीतर का चित्त-शुद्धि रूपी 'विकर्म' जुडा होता है । विनोबा ने 'विकर्म' का अर्थ 'विकृत-कर्म' नही, 'विशेष-कर्म'—यह किया है । संस्कृत मे 'वि' का अर्थ 'विशेष'—यह भी होता है । 'कर्म' और 'विकर्म' के मेल का अर्थ यह है कि शरीर एक तरफ जा रहा हो, मन दूसरी तरफ जा रहा हो—ऐसी बात नही होनी चाहिये । 'बाह्य-कर्म' तथा 'आन्तर-कर्म' का मेल बैठना चाहिये, 'कर्म' के साथ 'विकर्म' जुड़ा रहना चाहिये । अगर हम भगवान् की प्राप्ति के लिये बाहर से उपवास तो करें, परन्तु भीतर से मन मे भगवान् का चिन्तन न करें, तो उपवास की कीमत क्या रही ? तब तो हम उपवास मे भी खाने-पीने का ही चिन्तन करते रहेगे, जो फिर बड़ा ही भयकर भोजन हो जायगा । तन्त्र के साथ मन्त्र होना चाहिये । अगर बाह्य-

कर्म मे हृदय की आर्द्रता न रही, तो 'स्व-धर्म'-रूपी कर्म सूखा रह जायगा, उस मे निप्कामता रूपी फल-फूल नही लगेंगे। 'कर्म' के साथ जव 'विकर्म' (विशेष-कर्म) मिल जाता है, वाह्य के साथ जव आन्तर का मेल होता है, जव तेल और वत्ती के साथ ज्योति का मेल होता है, तव प्रकाश उत्पन्न होता है। विनोवा कहते है कि 'कर्म' के साथ जव 'विकर्म' (विशेप-कर्म) का मेल होता है तव 'निष्कामता' आती है। वारूद मे वत्ती लगाने से धड़ाका होता है। वारूद मे एक शक्ति उत्पन्न होती है। 'कर्म' को वन्दूक की वारूद समझो। उस मे 'विकर्म' की वत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जवतक 'विकर्म' (विशेप-कर्म) आकर नही मिलता, तवतक वह 'कर्म' जड है, उस मे चैतन्य नही। एक वार जहाँ 'विकर्म' की चिनगारी उस मे गिरी कि फिर उस 'कर्म' मे जो सामर्थ्य पैदा होता है वह अवर्णनीय है। चिमटी भर वारूद जेव मे पडी रहती है, हाथ मे उछलती रहती है, पर जहाँ उसमे वत्ती लगी कि शरीर की चिन्दी-चिन्दी उडी। 'कर्म' मे 'विकर्म' के जुडते ही अहकार, काम, क्रोव के प्राण उड जाते हैं। 'कर्म' मे 'विकर्म' डाल देने से 'कर्म' दिव्य दिखलाई देने लगता है। माँ वच्चे की पीठ पर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिस पर हाथ यो ही इवर-उधर फिर गया। दोनो हाथ फेरने मे कितना अन्तर है? हाथ फिराने की यह क्रिया विल्कुल क्षुद्र है, परन्तु उस मे माँ का हृदय उँडेला हुआ है इसलिये वच्चे का रोम-रोम पुलकित हो उठता है। दूसरे हाथ फेरने मे कोई भावना नही, इसलिये उस से झुंझलाहट होती है।

(ख) कर्म तथा अकर्म—विनोवा का कहना है कि 'कर्म' के साथ जव 'विकर्म' का जोड मिल जाता है तव शक्ति-स्फोट होता है, और उस मे से 'अकर्म' का निर्माण होता है। लकडी जलने पर राख हो जाती है। पहले का वह वडा लकडी का टुकडा, अन्त मे चिमटी भर वेचारी राख रह जाती है उस की। खुशी से उसे हाथ मे ले लीजिये और सारे वदन पर मल लीजिये। इस तरह 'कर्म' मे 'विकर्म' की ज्योति जला देने से अन्त मे 'अकर्म' हो जाती है। 'कर्म' मे 'विकर्म' उँडेल देने से 'अकर्म' हो जाता है—इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि ऐसा मालूम ही नही होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का वोझ नही मालूम होता। करके भी अकर्त्ता रहते हैं। गीता कहती है कि मार कर भी तुम मारते नही। माँ वच्चे को पीटती है, इसलिये तुम तो ज़रा उसे पीट कर देखो। तुम्हारी मार वच्चा नही सहेगा। माँ मारती है फिर भी वह उसके आंचल मे मुँह छिपाता है। क्यो? क्योकि माँ के 'कर्म' मे 'विकर्म' छिपा हुआ है, इसलिये माँ का मारना न-मारना हो जाता है, 'कर्म' ही 'विकर्म' के कारण 'अकर्म' हो जाता है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम-भाव से है।

उस कर्म मे उसका स्वार्थ नही है। 'विकर्म' के कारण, मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है।

गीता कहती है कि 'स्व-धर्म' रूपी 'कर्म' को 'विकर्म' की सहायता से 'अकर्म' कर देना हमारा ध्येय है। इसका क्या अर्थ हुआ ? इसका अर्थ यह हुआ कि 'कर्म' से गीता का अभिप्राय अन्य किसी कर्म से नही, 'स्व-धर्म' से है। यह 'स्व-धर्म' त्रास या कष्ट दे सकता है। अगर इस 'कर्म' को करने के लिये "विकर्म' का पल्ला पकड लिया जाय, तो यह 'कर्म' ऐसा हो जाता है जैसे 'अकर्म' हो, 'कर्म' किया ही न हो। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये हम कह सकते है कि सूर्य उदय होता है, पर उसके मन मे क्या कभी यह भाव आता है कि मैं अन्धेरा मिटाऊँगा, पंछियो को उडने की प्रेरणा दूँगा ? वह तो उदय होता है, बस, उसका अस्तित्वमात्र विश्व को गति देता है। उसका कर्म सहज-स्वभाव का होने के कारण अकर्म हो जाता है, उस मे उसे कष्ट या त्रास नही होता। तभी गीता मे कहा है कि मैंने 'कर्मयोग' का यह रहस्य पहले-पहल विवस्वान् को सिखाया। विवस्वान् का अर्थ है—सूर्य। सूर्य कर्म करता है, जो अकर्म हो जाता है। 'सूर्य ने मनु को सिखाया' का अर्थ है कि सूर्य से यह करने-न-करने का गुर मनुष्य ने सीखा क्योकि मनु मानव का प्रतीक है। ज्ञानी यदि कहे कि मैं उपकार नही करूँगा तो उसके लिये यह असम्भव है। ऐसे ज्ञानी पुरुष का कर्म, अकर्म की दशा को पहुँच गया है, उसके स्वभाव का अंग हो गया है।

(ग) **कर्म में अकर्म**—गीता कहती है कि कर्म के रहस्य को वह जानता है जो कर्म मे अकर्म को और अकर्म मे कर्म को जानता है। कर्म मे अकर्म को जानने का क्या अर्थ है ? जिस तरकीब से दुनिया-भर के कर्म करते हुए भी वे सब गल कर बह जाएँ, वह कर्म का अकर्म हो जाना है। विनोबा कहते हैं कि सूर्य दिन-रात कर्म करता है, परन्तु इतना कर्म करते हुए भी ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ नही करता। सन्त पुरुष का जीवन ऐसा ही होता है। वह कर्म करता है, परन्तु वह कर्म ऐसा होता है जैसे सूर्य का प्रकाश देना। 'कर्म' कर्म तो तब लगे जब उसे करने मे भार हो, जब मालूम ही न हो कि मैंने कर्म किया, जब यह स्वभाव का अंग हो जाय, तब कर्म अकर्म हो जाता है और तब कर्म के रहस्य को जानने वाला कर्म मे अकर्म को देख लेता है।

(घ) **अकर्म में कर्म**—गीता ने कहा कि कर्म के रहस्य को जानने वाला जहाँ कर्म मे अकर्म को जान लेता है वहाँ अकर्म मे कर्म को भी जान लेता है। इसका क्या अर्थ है ? विनोबा इस बात को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त देते हैं। किसी मनुष्य को गुस्सा आ गया। यदि हमारी किसी भूल से वह गुस्से हुआ है, तो हम उसके पास जाते है। वह चुप रहता है, बोलता नही। अब उसके अबोल का, कर्म-त्याग का कितना प्रचण्ड परिणाम होता है। माँ या बाप ने बच्चे

से बोलना बन्द कर दिया तो उसका परिणाम कितना जबर्दस्त होता है। उस बोलने के कर्म को छोड़ देने से, उस कर्म को न करने से, 'अकर्म' ही इतना प्रचण्ड 'कर्म' होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करने पर भी उतना परिणाम नही हो सकता। यह अकर्म मे कर्म देख लेना है।

✓ (ड) **सकाम-कर्म तथा निष्काम-कर्म मे भेद**—विनोवा भावे का कथन है कि सकाम-कर्म तथा निष्काम-कर्म—इन दोनो मे पहला भेद यह है कि सकाम-व्यक्ति की दृष्टि सदा 'फल' की तरफ रहती है, निष्काम-व्यक्ति की दृष्टि सदा 'कर्म' की तरफ रहती है। असली वस्तु तो 'कर्म' है। 'कर्म' जितनी तन्मयता से किया जायगा उतना ही तो 'फल' भरपूर होगा। क्योकि सकाम-व्यक्ति की दृष्टि दो बातो पर रहती है, इसलिये उस मे 'कर्म' के प्रति उतनी तन्मयता नही रह सकती जितनी निष्काम-व्यक्ति की रह सकती है क्योकि उसके ध्यान का केन्द्र तो सिर्फ 'कर्म' होता है। सकाम-निष्काम मे दूसरा भेद यह है कि सकाम-व्यक्ति सदा स्वार्थ की दृष्टि से देखता है, 'उस की कामना'—यह मनोभाव उस मे सदा प्रधान रहता है, इसीलिए स्वार्थ-दृष्टि मे दूसरे का अहित भी हो सकता है। निष्काम-व्यक्ति कभी स्वार्थ-दृष्टि से नही देखता क्योकि उसकी फल मे आसक्ति ही नही होती, इसलिये उसके कर्म से दूसरे का अहित नही होता। सकाम-निष्काम मे तीसरा भेद यह है कि सकाम-व्यक्ति क्योकि फलासक्त होता है इसलिये फल न मिलने पर वह दु खी होता है, निष्काम-व्यक्ति क्योकि फलासक्त नही होता इसलिये सिद्धि-असिद्धि मे वह समरस रहता है, फल मिलने पर वह आपे से बाहर नही हो जाता, फल न मिलने पर सिर नही पीटने लगता।

विनोवा भावे का कहना है कि निष्काम-कर्म स्वत एक फल है इसलिये निष्काम-व्यक्ति किसी अन्य फल की तरफ नही देखता, फल पर फल क्या लगेगा? निष्काम-कर्म स्वत फल कैसे है? चित्रकार जब चित्र बनाता है तब अगर कोई उसे कहे कि चित्र मत बनाओ, तुम्हे जितने पैसे चाहियें हम देंगे, तो क्या वह चित्र बनाना छोड देगा? कवि को कहो कि कविता न करे, कविता के बदले पैसे ले ले, तो क्या वह पैसे लेकर कविता करना छोड देगा? चित्रकार चित्र बनाता है, कवि कविता करता है, वे इसे अपना 'कर्म' समझ कर करते हैं, किसी 'फल' की आसक्ति मे नही, इसीलिये पैसे के लिये चित्र बनाने वाले की अपेक्षा चित्र के लिये चित्र बनाने वाला, पैसे के लिये कविता करने वाले की अपेक्षा कविता के लिये कविता करने वाला ज्यादा मग्न रहता है। इनका अपने काम मे मग्न रहना ऐसा ही है जैसे सूर्य का चौबीसो घण्टे ससार मे प्रकाश फैलाना, चाँद का चाँदनी बखेरना, आकाश का जल बरसाना और हवा का शीतल पवन

बहाना, इस प्रकार के निष्काम-कर्म के सम्मुख सकाम-कर्म अपने-आप तुच्छ बन जाता है।

8. निष्काम-कर्म पर आचार्य रजनीश का स्पष्टीकरण

आचार्य रजनीश (जन्म—1930) का कहना है कि श्रीकृष्ण से पहले 'संन्यास' का अर्थ निषेधात्मक (Negative) समझा जाता था। यह विचार प्रचलित था कि 'कर्म' बन्धन का कारण है, कर्म से ही जन्म-मरण का चक्र चलता है, इसलिये सब 'कर्म' छोड दो, घर-बार छोड दो, निष्क्रिय हो जाओ। श्रीकृष्ण ने 'संन्यास' को एक नया अर्थ दिया। अर्जुन के मन मे प्रचलित-संन्यासी की भावना प्रबल वेग से उठ रही थी, वह जीवन की समस्या का मुकाबिला करने के स्थान में उस से भाग जाना चाहता था, पलायनवादी-प्रवृत्ति (Escapism) का शिकार हो रहा था, सब-कुछ छोड़ कर 'अकर्म' मे चला जाना चाहता था। श्रीकृष्ण ने कहा—ससार से भाग कर कहाँ जाओगे, संसार मे तो कर्म करते हुए ही रहना पडेगा, ससार की परिस्थितियों से भागने के बजाय अन्दर की वासनाओं के संसार से भागोगे तब कर्म के बन्धन से छूटोगे। ससार से क्यो भागना चाहते हो? इसलिये भागना चाहते हो क्योकि ससार मे दु ख है, जहाँ दु ख है वहाँ से हट जाओ, जगल मे भाग जाओ, संन्यास ले लो, तो दु ख से छुटकारा हो जायगा।

श्रीकृष्ण कहते है कि संसार मे दु.ख नही है, परिस्थिति से दु.ख उत्पन्न नही होता, संसार से हट जाने से, परिस्थिति से भाग जाने से, कर्म ही छोड़ देने से दु ख दूर नही होगा। श्रीकृष्ण की 'बुनियादी खोज' (Basic discovery) यह है कि दु ख बाहर से नही आता, भीतर से आता है, अपने भीतर से, मन से आता है। दु ख इच्छाओ से, वासनाओं से आता है, इसलिये संसार का त्याग संन्यास नही है, वासना का त्याग संन्यास है। अगर जगल मे भाग जाने पर मन मे दुकान की वासना लेकर जा बैठे तो जगल मे दुकान खुल गई, अगर दुकान मे बैठ कर भी मन मे से वासना का त्याग कर दिया तो दुकान भी जंगल हो जाती है। इसलिये कर्म को नही छोड़ना, वासना को छोडना है। यही श्रीकृष्ण की धर्म के सम्बन्ध मे सब से बडी खोज है। अगर तुम तुम ही रहे, तो कही भी भाग जाओ, जंगल मे जाओ, गुफाओ मे जाओ, हिमालय की चोटी पर आँखें मूंद कर बैठ जाओ, जब आँखे खोलोगे दु:ख तुम्हारे सामने खडा होगा। दु.ख चित्त मे निवास करता है, इसलिये सांसारिक-परिस्थिति बदलने से काम नही चलेगा, मानसिक-स्थिति बदलने से काम चलेगा—**'मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्ध मोक्षयोः'**।

यहाँ प्रश्न उठ खडा होता है कि इच्छा—वासना—छूट गई, तो 'कर्म' ही छूट जायगा, क्योकि सब कर्म इच्छा से प्रारम्भ होते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण की 'दूसरी

खोज' (Second discovery) आती है। वे कहते हैं कि इच्छाएँ छूट जाएँ तब भी 'कर्म' नही छूटता, 'कर्म' तो चलता ही रहता है। 'कर्म' तो मनुष्य का स्वभाव है, छूटता है तो सिर्फ बुरा कर्म छूटता है—'कर्म' के विषय मे यह श्रीकृष्ण की दूसरी खोज है। इच्छा—वासना—दूर होने पर गलत ही छूटेगी, ठीक नही छूटेगी क्योकि कर्म मनुष्य का स्वभाव है। कर्म मनुष्य मे से वैसे फूटता है जैसे झरना सागर की तरफ वहता है, ठीक-कर्म जीवन मे वैसे ही खिलता है जैसे वृक्ष मे फूल खिलता है। सिर्फ 'कर्म' ही नही, ठीक-कर्म जीवन का स्वभाव है, अगर इच्छा—वासना—हमारे और कर्म के वीच मे से हट जाय, तो ठीक-कर्म अपने-आप होता रहता है। गलत-कर्म जीवन का स्वभाव नही है। इच्छाओ, वासनाओ के कारण मनुष्य गलत-कर्म करने के लिये मजवूर हो जाता है।

आचार्य रजनीश के कथन का अभिप्राय यह है कि एक ही परिस्थिति मे एक व्यक्ति दयानन्द, एक विवेकानन्द, एक गाधी, एक चोर, एक लुटेरा क्यो वन जाता है ? अस्ल वात यह है कि परिस्थिति इतना भेद नही डालती जितना भेद मन डालता है, इच्छाएँ डालती है, वासनाएँ डालती है। इस दृष्टि से संन्यासी तथा गृहस्थ मे भेद क्या है ? अगर कोई व्यक्ति किसी इच्छा को मन मे सजो कर घर छोड दे तो भी वह गृहस्थी है, अगर कोई व्यक्ति घर मे रहता हुआ इच्छाओ का त्याग कर दे तो गृहस्थी होता हुआ भी वह सन्यासी है, अगर कोई घर मे रहता हुआ विना इच्छाओ के, विना वासनाओ के रह रहा है तो आश्रम मे रहता है, अगर आश्रम मे रहता हुआ वासनाओ से घिरा है तो आश्रम ही गृहस्थ वन जाता है। जव इच्छाएँ—वासनाएँ—छूट जाती है, तव फलाकाक्षा अपने-आप मिट जाती है, कुकर्म अपने-आप हट जाते हैं, कर्म की धारा मनुष्य के स्वभाव के कारण वनी रहती है। क्या आप सोच सकते हैं कि विना फल के आप कोई वुरा काम कर सकते है ? अगर चोर को भरोसा न हो कि रुपये मिलेंगे तो क्या वह चोरी करने जा सकेगा ? असम्भव है। आप के जीवन मे वुरा कर्म तत्क्षण गिर जायगा अगर आकाक्षा और फल की कामना गिर जाय। यही निष्काम-कर्म का रहस्य है।

'निष्काम-कर्म' को भारतीय-विचारको ने एक विज्ञान का रूप दे दिया था। इस पर उन्होंने ऐसे ही विचार किया था जैसे भौतिकवादी-विचारक न्यूटन तथा गैलिलियो की खोजो पर विचार करते है। भेद इतना ही है कि न्यूटन तथा गैलिलियो की खोजें भौतिक-जगत् की खोजें हैं, वैदिक ऋषियो की खोजें आध्यात्मिक-जगत् की खोजें थी। वैदिक ऋषि आध्यात्मिक-जगत् की खोजो को मानव-जीवन के लिये इतना ही आवश्यक तथा उपयोगी समझते थे जितना आवश्यक वर्तमान-युग मे भौतिक-जगत् की खोजो को समझा जाता है।

9. 'निष्काम-कर्म'—'निस्संगता'—का मनोवैज्ञानिक-विवेचन
(सकाम-कर्म से पतन की दिशा की ओर)

हमने अभी कहा कि 'निष्काम-कर्म' को भारतीय-विचारको ने एक विज्ञान का रूप दे दिया था। 'निष्काम-कर्म' के विज्ञान का रूप क्या था? गीता मे 'सकाम-कर्म' का सीढी-दर-सीढी मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण करते हुए जो कहा है, उसका उल्टा समझ लेना 'निष्काम-कर्म' का मनोवैज्ञानिक आधार है। यद्यपि इस विषय पर हम 'कर्म' के अध्याय मे सक्षेप से लिख आये हैं, तो भी यहाँ कुछ विस्तार से लिखेंगे। गीता में कहा है :

ध्यायतो विषयान् पुसः संगस्तेषूपजायते
संगात् संजायते कामः कामात्कोधोऽभिजायते।
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

गीता, 2—62—63

उक्त श्लोको मे 'सकाम-कर्म' के परिणाम का सिलसिला दिखलाते हुए कहा है—पहले विषयो के प्रति बार-बार 'ध्यान' जाता है, फिर नीचे की तरफ गिरने का जो सिलसिला जारी होता है उसमे 'संग', 'काम', 'क्रोध', 'समोह', 'स्मृति-भ्रश', 'बुद्धिनाश' तथा 'प्रणाश'—इस क्रम से फिसलते-फिसलते मनुप्य आसमान से धरातल पर जा गिरता है। पतन की इस शृखला को जान लेने से 'निष्काम-कर्म' अथवा 'निस्सगता' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। गीता के इन दो श्लोको मे मानसिक-प्रक्रिया का जितना गहरा मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण किया गया है, इतना गहरा विश्लेषण विश्व की मनोविज्ञान की किसी पुस्तक मे ढूंढने से भी नही मिलेगा। इस विश्लेषण को पढ कर समझ आ जाता है कि 'निष्काम' अथवा 'निस्सग' कर्म क्या है, और किस मनोवैज्ञानिक आधार पर हम कह सकते है कि 'निष्काम' अथवा 'निस्सग' कर्म का जीवन व्यतीत करना ही 'यथार्थ-जीवन-शास्त्र' (True Philosophy of Life) है। इन श्लोको का एक-एक शब्द हर दूसरे शब्द के साथ मनोवैज्ञानिक-क्रम से, माला मे पिरोये मनको के समान, शृंखला मे कड़ी के समान जुडा हुआ है। बार-वार 'ध्यान' के बाद 'सग' आयेगा ही, सग के बाद 'काम' आयेगा ही, काम के बाद 'क्रोध' आयेगा ही, क्रोध के बाद 'मोह' आयेगा ही, मोह के बाद 'स्मृति-नाश' होगा ही, स्मृति-भ्रश के बाद 'बुद्धि-नाश' होगा ही, बुद्धि-नाश के बाद 'विनाश' होगा ही। 'निष्काम-कर्म'—'निस्सगता'—के मनोवैज्ञानिक आधार को समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि 'सकाम-कर्म' की साकल मे जुडी कडियाँ एक-दूसरे के साथ कैसे जुडी हुई हैं, तभी हम इस साकल को तोड़ कर इसकी जकड़न से बाहर निकल सकते हैं। ये किस प्रकार एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं?

(क) **ध्यायतो विषयान् पुसः संगस्तेषूपजायते**—गीता ससार के विषयो से सर्वथा उपराम हो जाने का परामर्श नही देती, उसकी सबसे पहली स्थापना तो यह है कि ससार के विषयो की तरफ ध्यान देने से नही, अपितु बार-बार ध्यान देने से पतन का सिलसिला प्रारम्भ होता है। 'ध्यानात्' और 'ध्यायतः' मे भेद है। 'ध्यानात्' का अर्थ है—ध्यान देने से, 'ध्यायत' का अर्थ है—बार-बार ध्यान देने से। गीता का कहना यह है कि ससार के विषयो की तरफ बार-बार ध्यान देने से 'सग-दोष' पैदा हो जाता है। गीता यह नही कहती कि ससार के विषयो को ही छोड दो। विषयो को छोड ही देना हो, तो विषय बनाये ही क्यो गये हैं ? गीता का इतना ही कहना है कि विषयो का बार-बार ध्यान करना छोड दो क्योकि बार-बार ध्यान करने से भी ये अन्त तक हाथ मे नही रहते। ससार के विषय मनुष्य के लिये सकट नही पैदा करते, उनका ही सदा ध्यान बना रहना मनुष्य को विनाश की तरफ ले जाता है। हम दिल्ली मे रहते हैं, रोज़ प्रात सैर को निकलते है, रास्ते मे एक-से-एक बढ कर आलीशान मकान देखने को मिलते हैं। सैर करते समय इन मकानो को देख कर हमारे मन मे दो प्रकार की भावनाएँ उठ सकती हैं। एक भावना यह है कि हमने देखा, और भूल गये; दूसरी भावना यह है कि हमने देखा और सब-कुछ भूल कर मकान ही हमारे मन को पकड बैठा—हमारे पास भी ऐसा मकान हो, किस तरह हो, क्या-कुछ करें, हाय ऐसा मकान—इस जैसे मकान के बिना कैसे जीवन सुखी हो ! एक भावना यह है कि हमने ससार के विषयो को देखा, देख कर ही छोड दिया—यह 'ध्यान' है; दूसरी भावना यह है कि हमने विषय को देखा, देखते रहे, और हम मे उसे पाने की इतनी तीव्र वासना जाग उठी कि हम उसी के ध्यान मे रहने लगे—यह 'बार-बार का ध्यान'—गीता के शब्दो मे 'ध्यायतः'—है। देखा और अनदेखा हो गया—इसमे 'सग-दोष' नही होता, देखा और उसी के हो गये, बार-बार देखते रहे—इसमे 'सग-दोष' पैदा हो जाता है। 'सग-दोष'—अर्थात्, हम उसी विषय के संग रहने लगे, उसी के ध्यान मे रमने लगे, उसी के हो गये। जब मनुष्य विषयो का हो जाता है, विषयो के बार-बार ध्यान से उन्ही के सग रहने लगता है, तब 'सकाम-कर्म' की आगे की शृखला चल पडती है, रोके नही रुकती।

ससार के विषय अपने-आप मे कुछ नही कहते। अपने-आप मे वे निर्दोष है। विषयो का अपना रूप क्या है ? जिसे एक व्यक्ति सुन्दर कहता है, दूसरा उसे कुरूप कहता है ; जिस शराब को एक व्यक्ति मज़ेदार कहता है, दूसरा उसे कडवा कहता है। एक बच्चा जिस गुडिया के लिये हाय-तोबा मचा देता है, दूसरा उसकी तरफ देखता भी नही। ससार के विषय घटनाओ के रूप मे हमारे सामने आते हैं, बिलकुल खोखले, उनमे रस भर देना हमारे मन का काम

है। मन चाहे तो विषयो में रस डाले, चाहे तो न डाले। सारा खेल संसार के विषयो का नही, मन का है। हमारे सामने एक मकान है। मन कहता है—वडा सुन्दर है। अगर मन यही तक रुक जाता है—'मकान वड़ा सुन्दर है'—तव कर्म का जाल आगे तक नही फैलता। परन्तु अगर मन उसी के ध्यान मे रम जाता है—'**ध्यायतः**' का अर्थ ही यह है—वार-बार उसके ध्यान मे लग जाना, उसी का ध्यान वने रहना, उसी के सपने लेने लगना, उसी मे मन का रस घोलने लगना—तब हम उसी विषय के सग हो लेते है, 'सग-दोष' उत्पन्न हो जाता है, यह 'सग-दोष' कर्म के जाल को आगे-आगे फैलाता जाता है। 'सग-दोष' से कर्म का जाल आगे की तरफ न फैले—इसका एक ही उपाय है, और वह उपाय है—'ध्यान' की मंज़िल मे ही 'सग-दोष' की जड को काट देना, ससार के विषयो को देख भर लेना—वे है, उनकी सत्ता है, उनसे आँखे तो मीची नही जा सकती—परन्तु देख कर उनमे मन का रस न डालने लगना, उनके सग न हो जाना, 'निस्सग' रहना, ध्यान तो देना परन्तु वार-बार उन्ही के ध्यान मे न रहना। अगर हम उनके सग हो जायेंगे, उनमे रस उँडेलने लगेंगे, बार-वार उन्ही मे रमेंगे, तो इस 'सग-दोष' से गाड़ी विनाश के मार्ग पर आगे को चल देगी जिसे गीता ने कहा है—'**संगात् संजायते कामः**'।

(ख) **संगात् संजायते कामः**—मनोवैज्ञानिक-दृष्टि के अनुसार विपयो की तरफ ध्यान देने मात्र से मन निस्सग रहता है, उतने से मन का कुछ नही बिगडता, देखा और हट गये, परन्तु अगर हम विषय का वार-वार चिंतन करने लगें, तो यह पतन का पहला कदम है; विषयो को देखने के वाद देख भर लेने के स्थान मे उनके सग हो लें, तो यह पतन का दूसरा कदम है। विषय 'ध्यान-कोटि' मे ही रहे तो वे विचार-कोटि तक रहते है, 'सग-कोटि' मे आ जाये, तो वे आचार-कोटि मे आ जाते हैं। 'ध्यान' की कोटि पहली स्टेज है, 'सग' की कोटि दूसरी स्टेज है जिसमे विचार आचार मे परिणत हो जाता है। दूसरे कदम के बाद पतन का तीसरा कदम है—विषय के प्रति कामना, लालसा उत्पन्न हो जाना। जितना हम विपय को क्रिया मे परिणत करते है उतनी ही उसके प्रति कामना बढती जाती है—मनुष्य कहता है, जी नही भरता—करे जाओ, करे जाओ की ध्वनि भीतर से उठने लगती है। 'कामना'—अर्थात्, 'वासना'—वह विषय हाथ से न छूट जाय, इस वात के लिये छटपटाने लगना। 'संग' से 'कामना' दृढ हो जाती है—कुसगति से कुसगति छूटना मुश्किल हो जाता है, छोडना चाहे तो भी नही छूटती। इसी को '**सगात् संजायते कामः**' कहा है। 'काम' का अर्थ यहाँ सेक्स-सम्बन्वी 'काम' नही है, सेक्स सम्वन्धी 'काम' भी तो 'कामना' के, 'इच्छा' के, 'वासना' के अनेक रूपो मे से एक रूप ही तो है। 'काम'-शव्द व्यापक है, सेक्स का 'काम' उसके भीतर आ जाता है, परन्तु गीता

का 'काम'-शब्द सेक्स से वहुत अधिक अर्थ को सूचित करता है। सकाम-कर्म करते हुए मन की गति जिस अधोगमन के मार्ग पर चल पडती है उसका विश्लेपण करते हुए गीता का कथन है कि विपयो तरफ वार-वार ध्यान देने से **'ध्यान-दोप'** पैदा हो जाता है, ध्यान-दोप से **'संग-दोष'** खडा हो जाता है, सग-दोष से **'काम-दोप'** जग जाता है, काम-दोष से पतन की अगली सीढी **'क्रोध-दोष'** आ जाती है—**'कामात् क्रोधोऽभिजायते'**।

(ग) **कामात् क्रोधोऽभिजायते**—'सकाम-कर्म' की शृंखला मे पतन का चौथा कदम 'क्रोव' है। जैसे 'सग' के वाद 'काम' आता है, वैसे 'काम' के वाद 'क्रोघ' आता है। 'काम' से 'क्रोघ' क्यो और कैसे उत्पन्न हो जाता है ? जैसा हम पहले कह चुके हैं, 'काम' का अर्थ 'कामना' है, 'इच्छा' है। हम सव कोई-न-कोई कामना लेकर, इच्छा लेकर वैठे हैं। कोई चाहता है उसे धन मिले—यह **'वित्तैषणा'** है, कोई चाहता है उसे मनचाही स्त्री-पुत्र-कलत्र मिलें—यह **'पुत्रैषणा'** है, कोई चाहता है उसे यश मिले, प्रतिष्ठा मिले—यह **'लोकैषणा'** है। इन एपणाओ के दो परिणाम हो सकते है—या तो एषणा पूर्ण हो, या न हो। एपणाओ का यह मनोवैज्ञानिक-नियम है कि एक एषणा—इच्छा—पूर्ण हो जाती है, तो उसके स्थान पर दूसरी खडी हो जाती है, वह पूर्ण होती है, तो तीसरी सामने खडी है। ऐसा कोई व्यक्ति नही जिसकी हर इच्छा पूर्ण हो। जव इच्छा पूर्ण नही होती, तो वही परिणाम होता है जो गीता ने कहा है। अपूर्ण-इच्छा 'क्रोव' को उत्पन्न कर देती है। अपूर्ण-इच्छा का अर्थ है—इच्छा के पूर्ण होने मे कोई वाधा, कोई रुकावट आ पडी है। यह रुकावट ही क्रोघ को उत्पन्न कर देती है। भौतिक-जगत् मे हम देखते है कि नदी की धारा वहती चली जा रही है, कोई रुकावट न हो तो पानी का वेग सरस, शान्त वहता चला जाता है, मार्ग मे चट्टान आ जाय तो पानी टकराता है, झाग उठती है, आध्यात्मिक-जगत् मे भी मन की धारा के वहाव मे—कामना मे—जव रुकावट आ पडती है, तव इस टकराव से भी झाग उठती है, मन की उसी झाग को गीता ने 'क्रोघ' कहा है। ससार मे मनुष्य दो तरह के हैं—या तो वे हैं जिन्होंने कामना की और वह पूर्ण न हुई, या वे हैं जिनकी कामना पूर्ण हो जाती है। जिनकी कामना पूर्ण हो जाती है उनमे भी एक कामना के वाद दूसरी कामना उठ खड़ी होती है, और अन्त मे वे भी ऐसी स्थिति मे पहुँच जाते हैं जहाँ उनकी नवोदित-कामना अपूर्ण रह जाती है। जहाँ कामना के पूर्ण होने मे रुकावट आयी वही क्रोघ उत्पन्न हो जाता है, इसलिये ससार मे हर-कोई क्रोव का शिकार दिखलाई देता है। किसी को अपने पर क्रोव है, किसी को वाल-वच्चो पर, स्त्री पर, किसी को दूसरो पर, समाज पर, किसी को सरकार पर क्रोव है। गीता का

कहना है कि कामना मे रुकावट पड़ने पर जब क्रोध आता है, तब क्रोध के बाद 'संमोह' मनुष्य को घेर लेता है—'**क्रोधात् भवति समोहः**'।

(घ) **क्रोधात् भवति संमोहः**—'सकाम-कर्म' की राह पर चलने पर 'संमोह' पतन की पाँचवी अवस्था है। 'समोह' तथा 'मोह' मे थोडा फर्क है। 'मोह' का अर्थ है—किसी वस्तु के प्रति आग्रह हो जाना, हठ हो जाना, उसमे लिप्त हो जाना; 'समोह' का अर्थ है—'मोह' का घनीभूत हो जाना, इतना मोह हो जाना कि मनुष्य सोचने लगे कि उस वस्तु को पाये बिना जी ही नही सकता। यह मनोवैज्ञानिक-तथ्य है कि जिस काम मे हमे रुकावट दीखती है उससे हट जाने के स्थान मे हमारा उसे पाने के लिये आग्रह, हठ बढ जाता है, हठ ही नही आकर्षण, खिचाव भी बढ़ जाता है। इसी को 'मोह' कहते हैं, जबर्दस्त मोह को 'समोह' कहते हैं—'समोह', अर्थात्, 'स' (अत्यधिक)+'मोह' (आकर्षण, खिचाव)। रुकावट देख कर आकर्षण बढ जाता है, मनुष्य बाधा को दूर करने की ज़िद पर आ जाता है, जान की बाजी भी लगा देता है, पर-स्त्री या पर-पुरुष के मोह मे फँस कर हत्या तक कर डालता है, धन के मोह मे डाके डालता है, यश के या प्रतिष्ठा के मोह मे अनेक कुकृत्य करता है। 'मोह' के ये कर्म कामना के रास्ते मे रुकावट पड जाने पर जो 'क्रोध' उत्पन्न होता है उसी के परिणाम हैं। धन पाने की कामना है, नही मिला, क्रोध आया, और उस कामना के प्रति मोह कम होने के स्थान मे बढ गया—'समोह' हो गया, स्त्री पाने की कामना है, नही मिली, क्रोध आया, और उस कामना के प्रति मोह कम होने के स्थान मे बढ गया—'समोह' हो गया, प्रतिष्ठा पाने की कामना है, नही मिली, क्रोध आया, और उस कामना के प्रति मोह कम होने के स्थान मे बढ गया—'समोह' हो गया। इसीलिए गीता मे कहा है—'क्रोध' से 'संमोह' हो जाता है, विषय के प्रति आकर्षण बढ जाता है। यह 'समोह' इतना घनीभूत हो जाता है कि गीता के कथनानुसार 'संमोह' से 'स्मृति-विभ्रम' हो जाता है, स्मृति-शक्ति ही भटक जाती है, नष्ट हो जाती है—'**संमोहात् स्मृति-विभ्रमः**'।

(ङ) **संमोहात् स्मृति-विभ्रमः**—'सकाम-कर्म' करते हुए 'सग' तथा 'कामना' की शृखला मे छटी कड़ी 'स्मृति-विभ्रम'—'स्मृति-नाश'—स्मृति का भटक जाना है। 'मोह' से 'स्मृति' कैसे भटक जाती है—इसे समझने के लिये 'स्मृति' तथा 'मोह' का मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण करना होगा। 'स्मृति' का काम क्या है? जो वस्तु या घटना जैसी है उसे मस्तिष्क मे वैसा अकित कर लेना 'स्मृति' का काम है। 'मोह' का काम क्या है? जो वस्तु या घटना 'स्मृति' मे अकित है, उसमे अपनी तरफ से राग, आकर्षण जोड देना 'मोह' का काम है। 'स्मृति' में वस्तु या घटना जैसी है वैसी रहती है, 'मोह' मे घटना बिल्कुल बदल जाती है। 'स्मृति' मे बाहर का वस्तु-जात प्रधान है, 'मोह' मे मनुष्य के भीतर का

वस्तु-जात प्रधान है। 'मोह' मे मनुष्य के मन के भीतर जो-कुछ है वह बाहर निकल आता है, वस्तु का जो यथार्थ रूप है उसकी स्मृति मिट जाती है। 'स्मृति' अपनी तरफ से कुछ नही जोडती, 'मोह' अपनी तरफ से भावना को जोड कर वस्तु को ऐसा वना देता है जैसी वह स्वयं मे नही होती। इसीलिये गीता ने कहा है कि मोह 'स्मृति' को भटका देता है। तुलसीदास पत्नी के मोह मे ऐसे फँसे थे कि नदी की वाढ मे तैरते मुर्दे को फूली-मशक समझ कर नदी पार कर गये, पत्नी के मकान की दीवार से लटक रहे अजगर को रस्सी समझ कर उसके मकान के भीतर पहुँच गये। मोहवश स्मृति जाती रही। किसी को धन का मोह है, किसी को पत्नी का मोह है, किसी को प्रतिष्ठा का मोह है—इन्ही 'वित्तैपणा'-'पुत्रैपणा'-'लोकैपणा' के मोह मे फँस कर दुनिया भटक रही है—इन सवकी यथार्थता की स्मृति को खो वैठी है। विपयो की यथार्थता की 'स्मृति' न रही तो क्या रहा ? 'स्मृति' की डोर को पकड़ कर ही तो मनुष्य की वुद्धि काम करती है। 'स्मृति' नष्ट हुई तो 'वुद्धि-नाश' हो जाता है—'स्मृतिभ्रशात् वुद्धिनाश.'।

(च) स्मृतिभ्रंशात् वुद्धिनाशः—जैसे 'मोह' तथा 'स्मृति' मे भेद है, वैसे ही 'स्मृति' तथा 'वुद्धि' में भी भेद है। वच्चा उत्पन्न होने के वाद जो देखता-सुनता है, वह उसके मस्तिष्क मे सचित होता जाता है—यह 'स्मृति' है। 'स्मृति' की घटनाओ के साथ जव हमारी मानसिक-भावनाओ का पुट जुड़ जाता है, तव स्मृति 'स्मृति' न रह कर 'मोह' हो जाती है। 'स्मृति' के इन सचित तथ्यो का आपस मे सम्वन्ध जोडना, उनकी तुलना करना, उनके विरोध को देखना—इसको 'वुद्धि' कहते हैं। 'मोह' का काम 'स्मृति' को भटका देना, नष्ट कर देना है, 'वुद्धि' का काम 'स्मृति' को वनाये रख कर उससे काम लेना है। उदाहरणार्थ, वच्चे ने श्यामलाल और रामलाल को मसूरी मे देखा। दोनो के नाम के अन्त मे 'लाल' आता है, दोनो मसूरी मे मिले थे, श्यामलाल काला था, रामलाल गोरा था। ये सव वातें वच्चे की स्मृति मे अकित हो गई। अव जव श्यामलाल उसे मिल कर उसे वहकाने के लिये कहता है कि वह रामलाल है, तो वच्चा झट उसे टोक देता है क्योकि वह 'स्मृति' मे सचित तथ्यो की आपस मे तुलना करने लगता है। उसे याद है कि रामलाल गोरा था, यह व्यक्ति काला है। सचित-तथ्य 'स्मृति' है, उनकी तुलना आदि द्वारा उपयोग करना 'वुद्धि' है। अगर तथ्यो तथा घटनाओ की स्मृति जाती रही—'स्मृति-भ्रश'—हो गया, तो उनका उपयोग कैसे होगा ? इसीलिए गीता मे कहा गया है कि 'स्मृति' के भटक जाने से 'वुद्धि-नाश' हो जाता है। 'सकाम-कर्म' के मार्ग पर चलने की 'वुद्धि-नाश' मानवी मंजिल है। स्मृति के मनको मे पिरोये धागे मे वुद्धि रूपी माला वनती है। 'वुद्धि-नाश' हो गया, तो आदमी ही क्या रहा—'वुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'

(छ) **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**—सकाम-कर्म का मार्ग अन्त मे मनुष्य को आसमान से धरातल पर ला पटकता है। गीता ने 'सकाम-कर्म' का जो मनोवैज्ञानिक-विवेचन किया है वह अत्यन्त गहरा अध्ययन है। विषयो का 'ध्यान' करते-करते उनमे 'सग' पैदा हो जाता है ; विषयो का सग करने से उनके प्रति आकर्षण—'कामना'—उत्पन्न हो जाती है; कामना पूरी नही होती, उसमें रुकावटें आ खड़ी होती हैं, इसलिए 'क्रोध' भड़क उठता है; विषय के प्रति रुकावट को दूर करने के लिये जितना हम क्रोध मे उबलते हैं, उतना ही विषय के प्रति राग—'मोह' बढ जाता है, मनुष्य विषय को पाने के लिए ज़िद कर बैठता है, आग्रह करता है, विषय से चिपट जाता है, उसे किसी भाव छोड़ने के लिये तैयार नही होता; मोह जितना बढता जाता है उतना ही व्यक्ति 'स्मृति' से भटक जाता है ; स्मृति न रही तो 'बुद्धि' नष्ट हो जाती है; बुद्धि नष्ट हुई तो 'नाश-ही-नाश' बच रहता है। सकाम-कर्म करने का यही अन्त है।

('निष्काम-कर्म'—'निस्सगता'—से उत्थान की ओर)

हमने देखा कि गीता के कथनानुसार किस प्रकार मनुष्य मानसिक-बेड़ियो की शृखला मे बध कर विनाश की तरफ चल देता है, किस प्रकार ससार के विषयो के प्रति 'ध्यान', 'संग', 'काम', 'क्रोध', 'समोह', 'स्मृति-विभ्रम', 'बुद्धि-नाश' तथा 'विनाश' इस क्रम मे से गुज़रता हुआ अपना विनाश कर बैठता है। इस मार्ग को गीता ने 'सकाम-कर्म' का नाम दिया है। विनाश से बचने के लिये इन बेड़ियो को शुरू से ही काट डालना—यही एक उपाय है। इस मार्ग को गीता ने 'निष्काम-कर्म' का, 'निस्संगता' का नाम दिया है। ससार के विषय तो भोगने के लिये हैं ही, परन्तु हृदय मे उनकी जड़ न जमने देना, उनके संग न बने रहना—निस्सग होकर, निष्काम होकर रहना, उनकी कामना मे, वासना मे न उलझे रहना—इसी से मनुष्य विनाश से बच सकता है, यही जीवन का सही मार्ग है, जीवन का गुर है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए गीता (द्वितीय अध्याय) मे कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति। 64।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते। 65।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधि गच्छति। 71।

—अर्थात्, जो व्यक्ति राग-द्वेष से वियुक्त होकर, अपनी इन्द्रियो को अपने वश मे कर—इन्द्रियो के वश मे होकर नही—'आत्मवश्य' होकर, अपने अन्त.

करण को साधना से नियन्त्रित कर—'**विधेयात्मा**' होकर, संसार के विषयों का इन्द्रियों से उपभोग करता है, संसार के विषयों से भागता नहीं, उन्हें इन्द्रियों को वश में रख कर भोगता है—'**विषयान् इन्द्रियैश्चरन्**'—संसार के विषयों में अनासक्त तथा निष्काम होकर विचरता है, वह '**प्रसाद**' को प्राप्त होता है। 64।

✓ जब मनुष्य प्रसाद के भाव में रमने लगता है, तब उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं—'दुःखहानि' हो जाती है। प्रसन्न-चित्त—'**प्रसन्नचेतस्**'—व्यक्ति की 'बुद्धि' नष्ट होने के स्थान में स्थिर हो जाती है, भटकती नहीं—'**बुद्धिः पर्यव-तिष्ठते**'। 65।

✓ जो मनुष्य सब कामनाओं को, इच्छाओं को, संसार के विषयों के संग चिपटे रहने की वृत्ति को छोड़ देता है, '**निस्पृह**' होकर—लालसा रहितहोकर, '**निर्मम**' होकर—मोह-ममता को त्याग कर, '**निरहंकार**' होकर—'मैं' की भावना को छोड़ कर, निस्संग तथा निष्काम भाव से विचरता है, वह '**शान्तिं अधिगच्छति**'—शान्त-चित्त बना रहता है, किसी बात से उद्विग्न नहीं होता। 71।

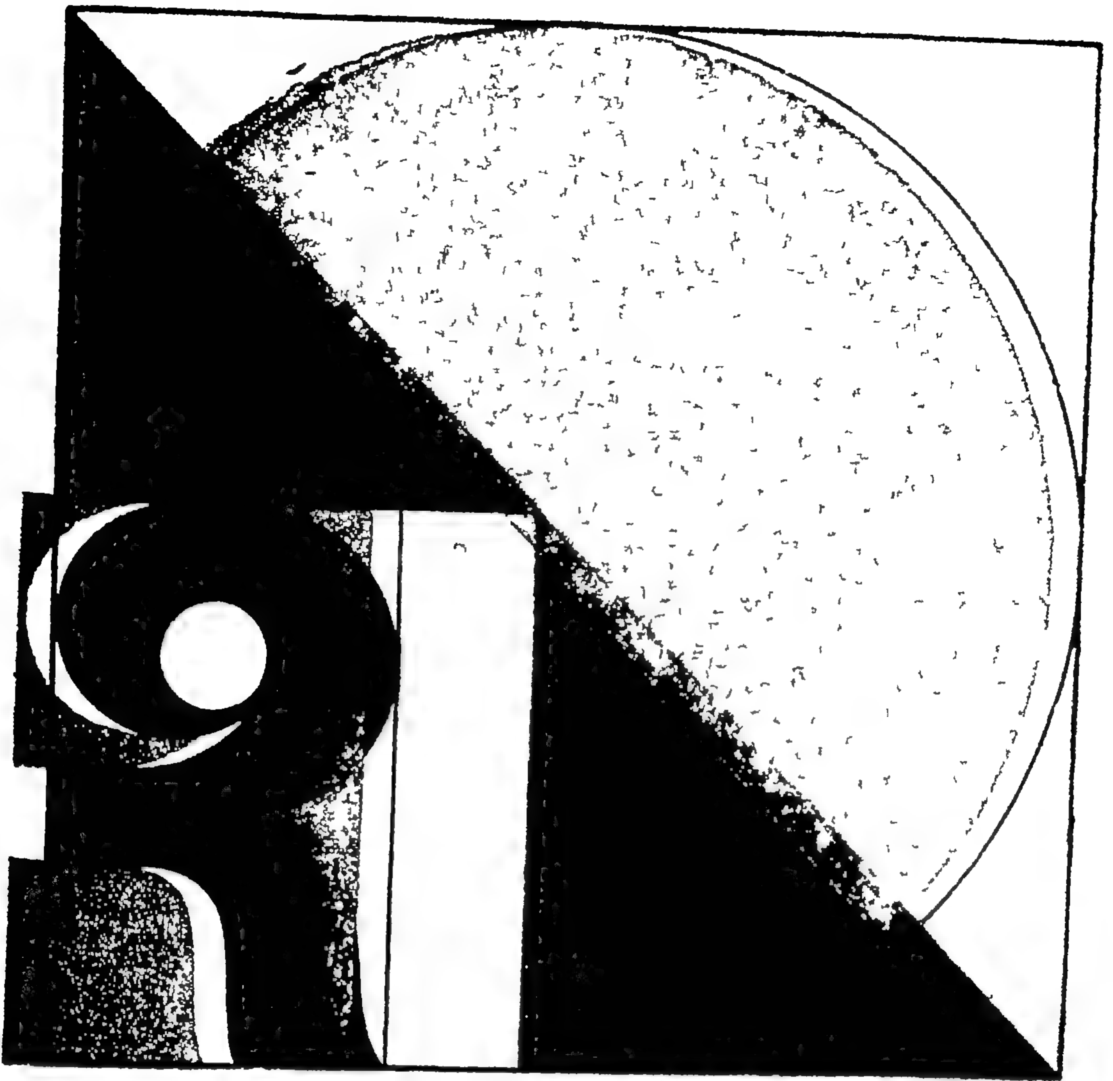
जैसे इस प्रकरण के आदि के दो श्लोकों में पतन की दिशा की तरफ संकेत किया, वैसे ऊपर के तीन श्लोकों में मानव के उत्थान की दिशा की तरफ संकेत किया गया है। अगर 'सकाम-कर्म' मानव को पतन की ओर ले जाता है, तो 'निष्काम-कर्म' उत्थान की ओर ले जाता है। 'निष्काम-कर्म' द्वारा मानव के उत्थान की क्या प्रक्रिया है?

उत्थान की प्रक्रिया पतन से उलटी है। पतन का क्रम जहाँ से शुरू होता है, वहीं अगर पहले ही अंगद का-सा पैर रख कर सिलसिला आगे न बढ़ने दिया जाय, तो पतन अपने-आप रुक जाय। पतन का क्रम शुरू होता है—विषय की तरफ बार-बार ध्यान देने से—'**ध्यायतो विषयान् पुंसः**'। विषय को देखा और अनदेखा कर दिया, तब शृंखला आगे कैसे बढ़ेगी? परन्तु नहीं, हम विषय को देखते हैं, बार-बार देखते हैं, देखने का, ध्यान देने का मन्थन करते चले जाते हैं—बन्धन अपने-आप दृढ़ होता चला जायगा। अगर ध्यान जाता ही है, तो विचार के बाद उसे आचार में मत आने दो—'ध्यान' विचार का नाम है, 'संग' आचार का नाम है। हम विचार करने-न-करने में स्वतन्त्र हैं, विचार के बाद आचार करने-न-करने में भी स्वतन्त्र हैं। विचार तक गाड़ी न रुकी तो आचार पर रोक दो। सकाम-कर्म की गाड़ी को जहाँ रोक सको वहीं रोक दो, वहीं ब्रेक लगा दो—पतन के स्थान में उत्थान होना शुरू हो जायगा। मनुष्य के पतन का श्रीगणेश विषय के प्रति 'ध्यान'-'संग' आदि के क्रम से शुरू होता है, हम पतन की सीढ़ी के जिस पाये पर भी हों वहीं से लौटा जा सकता है। 'ध्यान' से लौट पड़ें, 'संग' से लौट पड़ें, 'कामना' से लौट पड़ें, कदम आगे न बढ़ने दें—फिर उत्थान-ही-उत्थान है। 'काम'-'क्रोध'-'मोह'—ये तीनों 'संवेग' (Emotions)

है। पतन की प्रक्रिया विषयो के प्रति 'ध्यान' तथा 'सग' मे शुरू होकर 'काम'-'क्रोध'-'मोह'—इन 'संवेगों' मे पहुँच जाती है। 'ध्यान' तथा 'सग'—इन दो का क्षेत्र मस्तिष्क का क्षेत्र है; 'काम'-'क्रोध'-'मोह'—इन तीन का क्षेत्र हृदय का क्षेत्र है। जब तक बात मस्तिष्क के क्षेत्र तक रहती है, तब तक अपने को आसानी से समझाया जा सकता है; जब बात हृदय के क्षेत्र तक पहुँच जाती है, तब मामला पेचीदा हो जाता है क्योकि 'सवेग' मनुष्य के भीतर बहुत गहराई तक पहुँच जाते है। फिर भी बन्धन की रस्सी को काटा जा सकता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि 'सवेग' (Emotion) के प्रति अगर द्रष्टा-दृश्य की भावना धारण कर ली जाय, तो 'सवेग' मिट जाता है। 'सवेग' मे द्रष्टा तथा दृश्य, कर्त्ता तथा कर्म—एक हो जाते है। हम इस पुस्तक मे जगह-जगह और विशेष तौर पर पृष्ठ 91 पर लिख आये है कि आध्यात्मिक-दृष्टि ही यह है कि हम अपने भीतर द्रष्टा बन कर, कर्त्ता बन कर, शरीर रूपी यन्त्र का संचालक बन कर, उपभोक्ता बन कर, इस रथ का रथी बन कर विचरण करें। इस दृष्टि से रहना कितना ही कठिन हो, वास्तविक-दृष्टि यही है। ऐसी हालत मे जब हम 'कामना' के, 'क्रोध' के, 'मोह' के जाल मे फँसे होते है, तब अगर 'कामना' का, 'क्रोध' का, 'मोह' का, विश्लेषण करने लग जाये, इनके प्रति 'द्रष्टा' बन जाये, तो ये 'सवेग' अपने-आप गिर जाते है। 'सवेग' की प्रकृति ही यह है कि इसमे व्यक्ति अपने को भूल जाता है—तभी लोकाचार की भाषा मे क्रोध कर चुकने के बाद व्यक्ति कहता है—'मैं आपे से बाहर हो गया था'। 'आपे से बाहर' का मलतब ही यह है—अपने को भूल जाना। 'कामना' के समय अपना-आपा स्मरण आ जाय, तो 'कामना' गिर जाती हैं, 'क्रोध' के समय अपना-आपा स्मरण आ जाय, तो 'क्रोध' गिर जाता है, 'मोह' के समय अपना-आपा स्मरण आ जाय, तो 'मोह' गिर जाता है। उत्थान का यही क्रम है—'कामना' को आगे कदम न रखने दो—अपने को 'द्रष्टा' बन कर देखो, 'क्रोध' को आगे न बढने दो—अपने को 'द्रष्टा' बन कर देखो, 'मोह' को आगे न बढने दो—अपने को 'द्रष्टा' बन कर देखो। जहाँ किसी भी 'सवेग' के ऊपर 'द्रष्टा' बन कर सोचना शुरू किया, वही 'सवेग' रफूचक्कर हो जाता है—'सग' गया, 'कामना' गई, 'क्रोध' गया, 'मोह' गया, तो राग-द्वेष-वियुक्त होकर, विषयो मे इन्द्रियो द्वारा विचरण करते हुए मनुष्य उनमे नही फँसता, उसका आत्मा अपने वश मे रहता है, उसकी बुद्धि सजग रहती है, स्थिर रहती है, सकाम-कर्मी की तरह उसका 'बुद्धि-नाश' नहीं होता, वह निर्मम, निरहंकार होकर निष्काम, निस्सग जीवन व्यतीत करता है—इसी प्रकार वह प्रसादमय, प्रसन्न तथा शान्त बना रहता है, यही उत्थान का मार्ग है।

'निष्काम' का अर्थ है—'कामना'-रहित। 'कामना' का अर्थ है—'वासना'। 'वासना' का अर्थ है—'सग'—किसी वस्तु या भाव के साथ जुड जाना, बँध जाना, उसके वगैर न रह सकना। 'निष्काम'—'निस्संग' का अर्थ है—'वासना का त्याग देना'। जैसे हाथ पर जहर रख देने से वह शरीर मे नही व्यापता, परन्तु हाथ मे चीर लग जाने पर वह सारे शरीर को विषाक्त कर देता है, वैसे ही मनुष्य को वासना का चीर लगा हो, तो सम्पूर्ण-जीवन चाह-ही-चाह के विष से भर जाता है। संसार मे ऐसे रहे जैसे विना चीर लगे हाथ पर जहर रखा रहता है, जहर के सग होने पर भी उसका विष नही चढता। कमल की जड पानी मे दूर तक चली जाय, परन्तु उसका पत्ता पानी से न भीगे, नाव पानी पर रहे, नाव मे पानी न घुसे, हम ससार मे रहे, ससार हम मे न घुसे। पानी नाव मे घुस जायगा तो नाव डूव जायगी, ससार हम मे घुस जायगा तो हम ससार-सागर मे डूव जायेंगे। श्रीकृष्ण गीता मे कहते हैं—सव-कुछ करते हुए भी ससार मे ऐसे रहे जैसे कुछ नही किया—'**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः** (गीता, 4—20)। कुछ नही करने का अर्थ है—तन से कर्म, मन से अकर्मअ—कर्म, अर्थात् वासना का न रहना। वाचस्पति मिश्र शांकर-भाष्य पर टीका लिख रहे थे। अन्तिम पृष्ठ आया तो वत्ती वुझने लगी। सोचा—वत्ती की तरफ ध्यान दूं, तो लिखना वन्द हो जायगा, न दूं तो वत्ती वुझ जायगी। यह वात उनकी पत्नी भामती ने जान ली। उसने चुपके-से दीये मे तेल डाल दिया। मिश्र जी ने कहा—देवि, तूने वडा उपकार किया, तू कौन है? उसने कहा—मुझे नही जानते, मैं तुम्हारी पत्नी भामती हूँ। वोले—अच्छा, क्या चाहती हो? उत्तर दिया—पुत्र की कामना है। कहा—पुत्र से कव तक नाम चलेगा। टीका का नाम 'भामती' रख दिया जिससे पत्नी का नाम अमर हो गया। इतने वधे थे, परन्तु इतने ही न भी वधे थे। अगर नाली के पार जाना हो तो वीच मे पत्थर रख कर उस पर से पार होते हैं, पत्थर पर ही नही खडे रहते, ससार से पार जाना हो, तो विषयो का सहारा लेते हैं, विषयो मे ही नही डूवे रहते, उनमे डूवे रहना ही वासना है। ससार से खेलो पर ससार तुमसे न खेले, ससार तुम्हारा हो पर तुम ससार के न हो, दुकान तुम्हारी हो पर तुम दुकान के न हो—यही निष्कामता है, यही निस्संगता है, यही ऋषियों का वताया हुआ वैदिक-सस्कृति का जीवन का सही मार्ग है।

तनावपूर्ण-जीवन की उलझन मे फस रहे आज के मानव के लिये 'निष्काम' तथा 'निस्सग' कर्म का यह सदेश वैदिक-विचारधारा का अमर सन्देश है, ऐसा सन्देश जो उसे जीवन की दलदल मे से उवार सकता है।



आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्तः

(अथर्ववेद, का० 11, अनु० 3, व० 5, मन्त्र 3)

'शिक्षा' के सम्वन्ध मे वैदिक-दृष्टिकोण का आधार मनोविज्ञान के वे सिद्धान्त हैं जिन्हे 'वाल-मनोविज्ञान' (Child Psychology) का अग कहा जा सकता है। सवसे पहला सिद्धान्त यह है कि वालक के व्यक्तित्त्व का निर्माण सस्कारो से होता है। वचपन मे जैसे सस्कार उस पर पड़ेगे वैसा उसका व्यक्तित्व वनेगा। इसी सिद्धान्त को सम्मुख रख कर वैदिक-व्यवस्था मे सस्कारो को दो भागो मे वाँटा गया था—कुछ सस्कार प्रसव के पूर्व के (Pre-natal) थे, कुछ प्रसवोत्तर काल के (Post-natal) थे। मनोविश्लेपणवाद के प्रवर्तक फ्रॉयड का कहना है कि जव वच्चा माँ की गोद मे अगूठा चूस रहा होता है, तभी से उन पर वे सस्कार पड़ रहे होते है जो उसके भावी जीवन का निर्माण करते हैं। वैदिक विचारधारा मे इन सस्कारो को नियन्त्रित करने के लिए विशेष व्यवस्था थी जिसके लिए 'सस्कार-विधि'-नामक ग्रन्थ मे इन सस्कारो का उल्लेख है।

आधुनिकतम शिक्षा-पद्धति में बालक को शिक्षा का केन्द्र माना जाता है, वैदिक शिक्षा-पद्धति में तो बालक को इतने प्रधान रूप में शिक्षा का केन्द्र माना जाता था कि उस शिक्षा-पद्धति का नाम ही 'गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति' था। बालक को माता-पिता के 'कुल' में से हटा कर गुरु के 'कुल' में भर्ती कर दिया जाता था। 'कुल' का अर्थ है—'परिवार'। बालक जहाँ रहे, परिवार के वातावरण में रहे—यह इस पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त था। गुरुकुल में बालक को ग्रहण करते हुए गुरु जनता के समक्ष घोषणा करता था कि वह बालक को इस प्रकार अपने पास रखेगा जैसे माता सन्तान को गर्भ में धारण करती है। गुरु तथा शिष्य का इतना निकट का सम्बन्ध हो सकता है—इसकी आज तक किसी शिक्षा-विज्ञ ने कल्पना नहीं की थी। ऊपर अथर्ववेद का जो मन्त्र दिया गया है उसका यही अर्थ है कि आचार्य 'उपनयन'-संस्कार के समय ब्रह्मचारी को माता की तरह मानो गर्भ में धारण करता है। इसीलिए गुरुकुल में बालक को भर्ती करते हुए जो संस्कार किया जाता है उसे 'उपनयन'-संस्कार कहते हैं। 'उप' का अर्थ है—निकट, 'नयन' का अर्थ है—ले जाना। गुरु तथा शिष्य में दूरी न रहे, वे एक-दूसरे के निकट आ जायें - यह 'उपनयन'-संस्कार का अर्थ है। 'आचार्य'-शब्द का अर्थ है—जो विद्यार्थी को आचार सिखाये, सदाचारी बनाये। आचार्य का काम अपने शिष्य को जहाँ शास्त्रों में निपुण करना था, वहाँ उसे सदाचार की शिक्षा देना भी था। छात्र को वैदिक-शिक्षा-प्रणाली में 'ब्रह्मचारी' कहा गया है। 'ब्रह्मचारी'-शब्द के दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो यौगिक-भाव (धात्वर्थ) को सूचित करता है। 'ब्रह्म' का यौगिक अर्थ है—'महान्'। जो व्यक्ति छोटे से महान् होने के रास्ते पर चल पड़ा है वह 'ब्रह्मचारी' है। दूसरा अर्थ इस शब्द के रूढि-भाव को सूचित करता है। 'ब्रह्मचर्य' का रूढि अर्थ है—'वीर्य-रक्षा'— जो वीर्य-रक्षा करे, वह 'ब्रह्मचारी' कहलाता है। वैदिक-शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को संयत जीवन में ढाल कर महान् बनने के रास्ते पर डाल देना था। शिक्षा के क्षेत्र में 'गुरु'-'कुल'-'आचार्य'-'ब्रह्मचारी'-'उपनयन' 'गुरुकुल'—ये सब अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनमें से एक-एक में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचार भरे पड़े हैं। इन विचारों से ही जीवन का निर्माण होता है, इसलिए अगले अध्याय में हम जीवन-शास्त्र पर चर्चा करेंगे।

नवम अध्याय

शिक्षा

(EDUCATION)

हम इस ग्रन्थ मे मानव की आधारभूत समस्याओ पर वैदिक-दृष्टिकोण से विचार करते हुए उनके वैज्ञानिक आधार पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। मानव की अनेक समस्याओ मे 'शिक्षा' भी एक बड़ी भारी समस्या है। 'शिक्षा' की समस्या के सम्बन्ध मे वैदिक-दृष्टिकोण क्या है—यह समझना इसलिये आवश्यक है क्योकि 'शिक्षा' ही तो मनुष्य को मनुष्य वनाती है, नही तो वह निरा पशु रह जाता है। हम यहाँ इस वात की चर्चा करेंगे कि वैदिक शिक्षा-प्रणाली क्या थी, और उसका वैज्ञानिक-आधार क्या था ?

1. 'बालक' शिक्षा का केन्द्र था

वैदिक-काल के शिक्षा-शास्त्रियो ने 'वालक' को शिक्षा का केन्द्र माना था। आज यह वात कहने को अत्यन्त सरल मालूम पड़ती है, परन्तु जो युरोप मे शिक्षा के इतिहास को जानते हैं उन्हे मालूम है कि एक लम्बे-चौडे युग मे से गुज़रने के बाद शिक्षा-जगत् मे यह कहा जाने लगा है कि शिक्षा का केन्द्र 'वालक' होना चाहिये, नही तो शिक्षक, स्कूल की विल्डिग, पढाई-लिखाई के घटे, पाठ्य-क्रम ही शिक्षा का मुख्य-विषय माना जाता रहा, वालक के विषय मे—उसके विषय मे जिसके लिए यह सव-कुछ था—शिक्षा-जगत् में कोई चर्चा ही नहीं थी। शिक्षा की वैदिक-विचारधारा मे 'वालक' को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है कि उसी के जन्म-सुधार के लिये सोलह सस्कारो की कल्पना की गई है। वैदिक ऋषियो का कथन है कि वालक पर निम्न तीन प्रकार के संस्कार प्रभाव डालते हैं जिन पर नियन्त्रण रखना शिक्षा का काम है—

(क) उसके अपने पिछले जन्म के सस्कार

(ख) माता-पिता के संस्कार

(ग) पर्यावरण द्वारा पडने वाले इस जन्म के संस्कार

वालक की शिक्षा क्या है, मानो 'सस्कारो' का ही एक खेल है, शिक्षा का प्रश्न सस्कारो का ही प्रश्न है। वैदिक शिक्षा-शास्त्री 'कर्म' तथा 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त को भी मानते थे, इसलिये वे सस्कारो को एक गम्भीर प्रश्न समझते थे क्योकि मानव के निर्माण मे सिर्फ पर्यावरण ही एकमात्र घटक-तत्त्व नही है, पर्यावरण के साथ-साथ माता-पिता के संस्कार, वालक के अपने पूर्व-जन्म के सस्कार—सभी हिस्सा लेते है, इसीलिये अच्छे-से-अच्छे पर्यावरण मे व्यक्ति नीचे-से-नीचे भी गिर जाता है, वुरे-से-वुरे पर्यावरण मे वह ऊँचे-से-ऊँचे भी उठ जाता है। यही कारण है कि जन्मभर वालक को ऐसे सस्कारो से घेर दिया जाता था जिनकी चोट से उसके व्यक्तित्व को वनाया जा सके।

सस्कारो से मानव के व्यक्तित्व का निर्माण कैसे हो जाता है—इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भारत की अग्रेजो के समय से चल रही शिक्षा-प्रणाली है। अग्रेजो ने अपने शासन-काल मे जव भारतीय-शिक्षा पर ध्यान दिया, तव उनके सामने पहला प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि शिक्षा द्वारा वे कैसे युवक उत्पन्न करना चाहते हैं। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये एक कमेटी वनाई गई जिसकी रिपोर्ट 1835 मे लॉर्ड मैकाले (1800-1859) ने लिखी। उन्होने इस रिपोर्ट मे लिखा कि हमे ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने है जो शरीर से भारतीय हो, परन्तु रहन-सहन, वेप-भूषा, वोल-चाल, विचारो मे अग्रेज हो। शिक्षा के इस उद्देश्य के साथ 1835 मे जिस प्रकार के सस्कारो के युवको को उत्पन्न करने की नीव डाली गई, वह ईंट-गारे की नीव नही थी, लोहे और सीमेट की नीव थी, जो अग्रेजो के चले जाने के वाद भी वैसी-की-वैसी खड़ी है। अग्रेज चले गए परन्तु घर-घर अग्रेज मौजूद है, इसलिये मौजूद है क्योकि सवा सौ साल तक हमारे युवको के मस्तिष्क पर जिन सस्कारो की चोट लगातार पड़ती रही उससे भारतीय-मस्तिष्क का अग्रेज-मस्तिष्क वन जाना स्वाभाविक था। अग्रेजी शिक्षा के सस्कारो ने जिस प्रकार के युवक का निर्माण करना था वह अग्रेजो के चले जाने के वरसो वाद भी वैसे-का-वैसा यहाँ मौजूद है।

2 प्रसव-पूर्व तथा प्रसवोत्तर काल के संस्कार

वालक की शिक्षा मे सस्कारो के इतने महत्त्व को अनुभव करते हुए वैदिक शिक्षा-शास्त्रियो ने सस्कारो को दो भागो मे वाँटा था। कुछ सस्कार प्रसव-पूर्व—Prenatal—तथा कुछ प्रसव के वाद—प्रसवोत्तर—Postnatal—सस्कार हैं। प्रसवपूर्व-सस्कार है—गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन। क्योकि माता-पिता के सस्कारो का वालक पर गहरा प्रभाव पडता है, इसलिये गर्भाधान को एक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है जिस पर वर्तमान समाज का विल्कुल ध्यान नही है। गर्भाधान के समय माता-पिता को यह समझना चाहिए कि किसी

ऊँची आत्मा का आह्वान कर रहे है, सिर्फ विषय-भोग का परिणाम सन्तान को नही समझना चाहिये। विचारो मे बडा बल है। यू० एन० ओ० की घोषणा है कि ससार के युद्ध मन की भूमि मे लडे जाते हैं। अगर इतने बडे-बड़े युद्ध मन की भूमि मे उपजते है, तो क्या सन्तान पर सस्कार उस समय नही डाले जाते जब उसका बीज वपन किया जाता है। जब जीव माता के गर्भ मे प्रवेश कर जाय और उसका शारीरिक-विकास होने लगे, तब 'पुसवन-संस्कार' किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि माता ऐसा अन्न खाये, ऐसा रहन-सहन रखे जिससे बालक का शारीरिक-विकास ठीक दिशा की तरफ चल सके। पुसवन के बाद सातवें-आठवे मास 'सीमन्तोन्नयन-सस्कार' किया जाता है। सीमन्त मे माता अपने सिर मे तेल लगाती है, कघी करती है, मस्तिष्क पर विशेष ध्यान देती है। यह वह समय है जब गर्भस्थ-शिशु के मस्तिष्क का निर्माण होने लगता है। इस सस्कार का उद्देश्य यह है कि माता शिशु के मस्तिष्क के समुचित-विकास का विशेष ध्यान रखेगी। शिशु के उत्पन्न होने के अनन्तर जो सस्कार किए जाते है—प्रसवोत्तर-सस्कार—(Postnatal) वे है—अन्नप्राशन, निष्क्रमण, कर्णवेध आदि। ये संस्कार स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, और इन सब पर इतना बल वैदिक-शिक्षा-पद्धति मे इसीलिये दिया जाता है क्योंकि वैदिक दृष्टिकोण यह है कि बालक की शिक्षा तभी से प्रारम्भ नही होती जब वह छः या सात वर्ष का होने के बाद स्कूल मे भर्ती होता है, परन्तु तब से शुरू होती है जिस दिन पहले-पहल उसकी नीव रखी जाती है, उसके बाद माता के गर्भ मे जब तक वह रहता है उसकी शिक्षा जारी रहती है, प्रसव के बाद भी वह लगातार जारी रहती है। मनोविश्लेषणवाद के मूर्धन्य फ्रॉयड का कहना है कि जब बच्चा माँ की गोद मे अँगूठा चूस रहा होता है तभी से उस पर वे सस्कार पड रहे होते है जो उसके भावी जीवन का निर्माण करते हैं। अगर वैदिक शिक्षा-शास्त्री यह कहते हैं कि जब शिशु माँ के गर्भ मे होता है तभी माँ के सस्कारो से उसका भावी जीवन बन रहा होता है, इसलिए उसकी शिक्षा तभी से शुरू होनी चाहिये, तो वे कोई अचम्भे की बात नही कहते।

वैदिक शिक्षा-शास्त्रियो ने बालक की शिक्षा के सम्बन्ध मे निम्न छः पहलुओं पर विचार किया है—

(क) पर्यावरण (Environment)
(ख) शिष्य अथवा ब्रह्मचारी (Pupil)
(ग) गुरु अथवा आचार्य (Teacher)
(घ) अध्यापन के विषय (Curriculum)
(ङ) अध्यापन की विधि (Method of Teaching)
(च) शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति (Attainment of object of education)

3. शिक्षा का पर्यावरण

(क) **भौतिक-पर्यावरण (प्रकृति के साथ सम्पर्क)**—ऋग्वेद (5. 8. 14) मे एक मन्त्र आया है—**'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धियो विप्रा अजायत'**—अर्थात्, पर्वत की उपत्यका और नदी के सगम मे विप्र बनता है। वैदिक-ऋषियो के शिक्षा-केन्द्र प्रकृति के उन वैभवपूर्ण-स्थलो मे होते थे जहाँ एक तरफ पहाड की ऊँची-ऊँची चोटियाँ, दूसरी तरफ कल-कल रव करती हुई नदी की अजस्र-धारा बहती थी। इस प्रकार के भौतिक पर्यावरण मे रह कर शिष्य का प्रकृति के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता था। आज शहर के विषैले वातावरण मे शिक्षा-सस्थाओ का निर्माण होता है, जहाँ उच्च-कोटि के मानव का निर्माण करने के स्थान मे लाखो रुपया खर्च करके उच्च-कोटि की शिक्षा देने की इमारतो का निर्माण होता है। इसमे सन्देह नही कि आज के युग मे शिक्षा-सस्थाओ के लिये पहाड़ो और नदियो को ढूँढना कठिन है, परन्तु शहरो के गली-कूचो मे शिक्षा-सस्थाओ को चलाने से कोमल-मस्तिष्क बालको के मस्तिष्क को शहरो के गन्दे संस्कारो के पडने से नही बचाया जा सकता। वैदिक-दृष्टि यही है कि शिक्षा-सस्थाओ को प्रकृति के शुद्ध वातावरण मे रखने मे ही बाल-मस्तिष्क को शुद्ध-सस्कारो मे विकसित किया जा सकता है।

(ख) **मानसिक-पर्यावरण (कुल की भावना)**—घर मे माता-पिता बालक की शिक्षा पर उचित ध्यान नही दे सकते अत. उसे घर के बाहर किसी दूसरे के पास भेजना आवश्यक है जिसका काम ही बालक के चरित्र का निर्माण करना तथा उसे शिक्षित करना हो, परन्तु घर से बाहर भेज देने पर उसे घर का-सा, माता-पिता का-सा प्रेम न मिलने से उसका समुचित-विकास न हो सकेगा इसलिये उनका घर मे रहना भी आवश्यक है—इस विरोध का हल करने के लिए वैदिक शिक्षा-शास्त्रियो ने 'गुरुकुल-पद्धति' का निर्माण किया था। 'गुरुकुल' का अर्थ है—गुरु का 'कुल'। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति पर वर्तमान युग के कुछ शिक्षा-शास्त्रियो की तरफ से सबसे बडा आक्षेप यह किया जाता है कि इस पद्धति मे बच्चे को परिवार से तोड दिया जाता है, वह अपनी जडो को खो देता है। बच्चे को परिवार से तोड देने की बात पहले-पहल प्लेटो (427-347) ने उठाई थी। उसका कहना था कि समाज मे एकता की भावना को लाने के लिए बच्चो का अदला-बदला हो जाना चाहिये, परन्तु बात अव्यावहारिक थी इसीलिये चल न सकी। यही आक्षेप गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली पर किया जाता है, परन्तु यह आक्षेप वही लोग करते है जो इस पद्धति के मूल-सिद्धान्तो को नही समझते। 'गुरुकुल'-शब्द मे 'कुल'-शब्द का प्रयोग ही इसलिए किया जाता है क्योकि शिक्षा का काम बच्चे को एक छोटे-से कुल, छोटे-से परिवार मे से

निकाल कर एक बडे परिवार मे डाल देना है। आज इस बात की बडी दुहाई दी जाती है कि शिक्षा समाज से कटी नही होनी चाहिये, शिक्षा इस प्रक्रिया से बढनी चाहिए जिससे बच्चा समाज से कटा न रहे। ऐसा समझा जाता है कि शिक्षा के क्षेत्र मे यह एक नया आविष्कार है, नई सूझ है, शिक्षा को यह नई देन है। होगी नई देन, क्योकि चालू शिक्षा मे बालक के छोटे, सीमित-क्षेत्र से विस्तृत-क्षेत्र मे आगे-आगे बढते जाने का कोई विचार नही था, परन्तु वेदों मे प्रतिपादित गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का तो यह मुख्य स्तम्भ था कि बालक ने छोटे कुल से बडे कुल मे, छोटे समाज से बडे समाज मे प्रवेश करना है। कहाँ माता-पिता-सन्तान का छोटा-सा कुल या छोटा-सा समाज; कहाँ गुरु का अनेक शिष्यों से घिरा बडा-सा कुल, बडा-सा समाज! गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति मे बालक को परिवार से तोडा नही जाता, परिवार मे ही पाला जाता है, परन्तु वैयक्तिक-परिवार मे पालने के स्थान मे सामाजिक-परिवार मे पाला जाता है। आज के शिक्षा-विज्ञो की खोज यह है कि बच्चे को समाज से तोड कर नही रखना चाहिये; गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की खोज यह थी कि बच्चो को न परिवार से तोड कर रखना चाहिये, न समाज से तोड कर रखना चाहिये, बच्चे का विकास 'कुल' मे होना चाहिये—पहले माता-पिता के 'कुल' मे, फिर गुरु के 'कुल' मे, फिर समाज के 'कुल' मे। मूल-सिद्धान्त 'कुल' का है, 'परिवार' का है। 'कुल' का विचार इतना क्रान्तिकारी विचार है कि अगर शिक्षा के क्षेत्र मे यह चरितार्थ हो जाय, तो यह 'शिक्षा' को आमूलचूल बदल सकता है, अगर समाज के क्षेत्र मे चरितार्थ हो जाय, तो समाज को एक बिल्कुल नई दिशा दे सकता है। जिन्होने '**सहनाववतु सह नौ भुनक्तु**' का राग गाया था, उन्होने 'कुल' के विचार को ही शिक्षा तथा समाज मे घटाने का प्रयत्न किया था।

(ग) **सामाजिक-पर्यावरण (समानता की भावना)**—जिन वैदिक शिक्षा-विज्ञो ने शिक्षणालय को 'कुल' या 'परिवार' का नाम दिया था, उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र मे एक अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार को जन्म दिया था, ऐसा क्रान्तिकारी विचार जिसके आधार पर बिना रक्तपात किये समाजवाद का भवन अपने-आप उठ खड़ा हो। इस विचार की गहराई मे जाते हुए अथर्ववेद (का० 11, अनुवाक 3, व० 5, मन्त्र 3) मे कहा है

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।

—अर्थात्, बालक को शिक्षा देने के लिये स्वीकार करते हुए आचार्य उसे इस प्रकार सुरक्षित, संभाल कर रखता है, जैसे माता पुत्र को अपने गर्भ मे सुरक्षित, संभाल कर रखती है। क्या गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का इससे ऊँचा चित्र खींचा जा सकता है? गर्भ माता के पेट मे रहता है। माता श्वास लेती

है, गर्भ श्वास नही लेता; माता भोजन करती है, गर्भ भोजन नही करता; माता जल पीती है, गर्भ जल नही पीता, परन्तु माता के श्वास मे उसका श्वास है, माता के भोजन मे उसका भोजन है, माता के जल-पान मे उसका जल-पान है। गुरु तथा शिष्य के निकटतम सम्वन्ध को समझाने के लिये माता तथा गर्भ के सम्वन्ध से अधिक सुन्दर दूसरी उपमा क्या दी जा सकती है ? मैंने अपने पश्चिम के एक मित्र को यह मन्त्र सुनाया, तो वे अचम्भे मे पड गये। उन्हें समझ ही नही आता था कि किसी शिक्षा-विज्ञ की शिक्षा के क्षेत्र मे इतनी ऊंची उडान भी हो सकती है। मैंने उन्हे समझाया—हो ही नही सकती, थी भी। भारत का आचार्य आचार्य ही नही था, शिष्य का पिता भी था। वालक अपने जन्म के माता-पिता को छोड आता था, परन्तु उनका स्थान आचार्य ले लेता था, आचार्य उसका शिक्षक ही नही, पिता भी था, विद्या उसकी माता थी, गुरु के अन्य शिष्य उसके भाई थे। कहाँ समाप्त हुआ उसका परिवार ? वह तो एक ऐसे परिवार की प्रक्रिया मे पड गया जिसमे चलते-चलते वह अन्त मे जाकर समाज के परिवार का अग हो जायगा, जहाँ जन्म का कोई भेद-भाव नही रहेगा, जहाँ जैसे माता-पिता के परिवार मे सव भाई-भाई और भाई-वहन थे, जैसे आचार्य के आश्रम मे जन्म के भाई-भाई और भाई-वहन न होते हुए भी सव भाई-भाई और भाई-वहन थे, वैसे समाज के क्षेत्र मे पहुँचने पर भी वह उसी जाग को लेकर जायगा जो उसने गुरु के आश्रम मे पाया था, जिस जाग को वह समाज मे छिटक कर जन-जन को भाई-भाई और भाई-वहन वना देगा—तव वहाँ समाजवाद के लिये न नारो की जरूरत होगी, न जुलूसो की, क्योकि तव समाज का वच्चा-वच्चा 'कुल' या 'परिवार' की भावना को लेकर ही सामाजिक-जीवन मे प्रवेश करेगा। कच्चा माल जव गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की कुल-भावना भावित मशीन मे से पक्का माल वन कर वाहर निकलेगा तव उस पर छाप ही समाजवाद की—समानता की भावना की—होगी, वह और किसी तरह सोच ही नही सकेगा।

क्या आज तक किसी ने सोचा है कि 'कुल'-शब्द का प्रयोग, उस 'कुल'-शब्द का प्रयोग जिसका सम्वन्ध सिर्फ माता-पिता के परिवार से था, शिक्षणालय के साथ 'गुरुकुल'-रूप मे क्यो किया गया ? हो सकता है, 'स्कूल'-शब्द भी किसी समय सस्कृत के 'कुल'-शब्द से ही उपजा हो। 'कुल'-शब्द गुरु-शिष्य के निकट-तम सम्वन्ध का सूचक है। आज शिक्षा के क्षेत्र मे 'कुल' की भावना नही पनप पा रही, क्योकि स्कूल-कालेज-यूनीवर्सिटियाँ वैदिक-दृष्टि के शिक्षणालय न रह कर फैक्टरियाँ हो गई हैं जिनमे कुछ फैक्टरियो के मालिक हैं, कुछ मजदूर है। हम 'कुल' मे हैं, या फैक्टरी मे हैं—यही शिक्षाशास्त्रियो की सवसे वड़ी परेशानी

है, जिसका हल न सरकार कर पा रही है, न सब विश्वविद्यालयों के वाइस चान्सलर ही कर पा रहे हैं।

4. शिष्य अथवा ब्रह्मचारी

शिक्षा प्राप्त करने के लिये जो बालक गुरुकुल मे प्रविष्ट होते थे उन्हे तीन प्रक्रियाओं मे से गुजरना जरूरी था। वे तीन प्रक्रियाएँ थी—आश्रमवास, उपनयन सस्कार तथा ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना। इन तीनो का अभिप्राय क्या है?

(क) **आश्रमवास**—गुरुकुल मे प्रवेश का अभिप्राय है—गुरु के आश्रम मे प्रविष्ट होना। 'आश्रम' का अर्थ है—जिसमे श्रम-ही-श्रम है, जिसमे आलस्य को स्थान नही, जिसमे हर समय सजग, सचेत रहना पडता है, जिसमे लगन-ही-लगन है, परिश्रम-ही-परिश्रम है, वैदिक-परिभाषा मे जिसमे 'तपस्या' है। गुरुकुलवास को ब्रह्मचर्याश्रम कहा गया है। आश्रम का मूलभूत भाव 'श्रम' या 'तपस्या' है। ब्रह्मचारी को गुरुकुलाश्रम मे प्रवेश करते ही माता-पिता तथा आश्रम मे उपस्थित जनता के समक्ष जो उपदेश दिये जाते है, उनका मूल आधार 'तपस्या' है। बालक को कहा जाता है—**'कर्म कुरु', 'दिवा मा स्वाप्सीः', 'क्रोधानृते वर्जय', 'उपरि शय्यां वर्जय'**—काम करते रहना, श्रम का जीवन बिताना, निठल्ले मत रहना, रात को सोना, दिन सोने के लिये नही काम करने के लिए है, क्रोध मत करना, झूठ मत बोलना, गदेलो पर मत पडे रहना, तपस्या का जीवन बिताना। शिक्षा के जिस उद्देश्य को सामने रख कर वैदिक गुरुकुल-प्रणाली की नीव रखी गई थी उसका आधार 'तपस्या' था। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' के 26 मन्त्रो मे 15 वार 'तप'-शब्द का प्रयोग हुआ है। **'स आचार्यं तपसा पिपर्ति', 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत'**—ब्रह्मचारी तप से जीवन की साधना करता है। तप कर ही कच्चा लोहा पक्का बनता है, भट्टी मे तप कर ही सोना कुन्दन बनता है, तपस्या की आग मे से गुजर कर ही इन्सान इन्सान बनता है। समाज को हर देश और काल मे ऐसे युवको की आवश्यकता रहती है जिनका प्रारम्भिक-जीवन तपस्या की आग में से तप कर निकला हो, जो मोम की तरह मुलायम न हो, चट्टान की तरह कठोर हो, जो सर्दी-गर्मी, धूप-छांह, आराम-बेआरामी—हर बात को बर्दाश्त कर सकते हो। वैदिक शिक्षा-प्रणाली को इस बात का गौरव है कि इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का, जिसने यह घोषणा की हो कि उसका उद्देश्य नवयुवको को तपस्वी बनाना है, सिर्फ भारत मे आविष्कार हुआ। आज हमारे बच्चे आराम का जीवन बिताते है, उनके शरीर कोमल हैं, कमज़ोर है, हर-एक को खांसी-जुकाम सताता है, न सर्दी बर्दाश्त कर सकते हैं, न गर्मी। ऐसे युवक जीवन की चुनौतियो का कैसे सामना कर सकते है? जो व्यक्ति तख्त पर सो

सकता है वह गद्देदार पलग पर बडे आराम से सो सकता है, परन्तु जो बचपन से ही गद्दो पर सोने का आदी है उसे तख्त पर नीद नही आ सकती ।

'तपस्या' के अतिरिक्त आश्रमवास का दूसरा लाभ ऊँच-नीच, अमीर-गरीब के भेद का मिट जाना है । आश्रम मे आकर सब एक स्तर पर पहुँच जाते हैं—न कोई अमीर, न गरीब, न ऊँचा, न नीचा, सब बराबर, सब भाई-भाई । जब अमीरी-गरीबी शिक्षा-सस्था मे चल रही हो, जब शिक्षा-सस्था मे ही कोई गुप्त, कोई शुक्ल हो, तो यही लोग जब समाज मे जायेंगे तब अमीरी-गरीबी, जात-बिरादरी को समाज मे क्यो न ले जायेंगे ? शिक्षा-सस्था मे आकर किसी प्रकार का भेद-भाव नही रह सकता, 'गुरुकुल'-शब्द का आधारभूत तत्त्व ही यह है, अगर शिक्षण-सस्था मे किसी प्रकार का भेद-भाव रहता है, तो वह कूडे मे फेंक देने लायक है । हम समाजवाद की बढ-बढ कर चर्चा करते हैं, परन्तु स्मरण रखना होगा कि पत्तो पर जल छिडकने से वृक्ष हरा नही होता, जड मे जल देने से वृक्ष मे छटा आती है, पत्ते हरे होते है, उसमे फूल खिलते हैं, फल लगते है । बचपन मे ही समाजवाद का भाव डालना वृक्ष की जड को सीचना है ।

(ख) **उपनयन सस्कार**—गुरुकुल मे प्रविष्ट होते समय बालक का 'उपनयन-सस्कार' होता है । 'उपनयन' का अर्थ है—'उप', अर्थात् समीप, 'नयन', अर्थात्, ले जाना । गुरु के समीप चले जाने को 'उपनयन' कहते हैं । 'उपनयन'-सस्कार के समय आचार्य शिष्य के प्रति कहता है—

'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तं अनुचित्त ते अस्तु'

(पार० गृ०, 2-2-16)

आचार्य व्रत करके बालक को आश्वासन देता है कि तेरे हृदय को मैं अपने हृदय मे लेता हूँ, तेरे चित्त को अपने चित्त मे लेता हूँ । गुरु तथा शिष्य एक-दूसरे के इतना निकट आने का प्रयत्न करते हैं कि वे एकमना हो जायें—**'मम वाच एकमना जुषस्व'** । कितनी भारी जिम्मेदारी डाल दी गई है गुरु के ऊपर । मनुष्य मे 'हृदय' तथा 'चित्त'—ये दो ही तो बहुमूल्य तत्त्व हैं । हृदय मे उसकी भावनाएँ उठती हैं, चित्त से उसके विचार उठते हैं । गुरु शिष्य के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि तेरा चित्त और तेरा हृदय (Head and Heart) मैं अपने हाथ मे लेता हूँ, और आने वाले जीवन के लिये तेरे दिल और दिमाग को सही दिशा देने की जिम्मेवारी लेता हूँ । क्या शिक्षा का उद्देश्य इससे ऊँची उडान ले सकता है कि गुरु यह प्रतिज्ञा करे कि वह अपने शिष्य के दिल और दिमाग—हृदय तथा मस्तिष्क—इन दोनो को ऐसे रास्ते पर डाल देगा जिससे वह जीवन के सघर्ष मे छाती तान कर खडा हो सके ? जिसका 'उपनयन'-सस्कार हो जाता है उसे 'द्विज' कहा जाता है । 'द्विज' का अर्थ है—दूसरी बार पैदा हुआ । पहली बार बालक माता-पिता से जन्म लेता है, यह शरीर का जन्म है, दूसरी

बार गुरुकुल मे जाकर गुरु को माता बना कर—'**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**'—उसके गर्भ से जन्म लेता है, यह मानसिक-जन्म है। वैदिक-साहित्य को पढ कर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिक्षा के सम्बन्ध मे ऋषियों की एक रटी-पिटी नही, परन्तु एक निश्चित धारणा थी। गुरु शिष्य को ऐसे धारण करता है जैसे माता अपने भीतर गर्भ को धारण करती है। इतनी गहरी निकटता है गुरु तथा शिष्य मे। तभी उनका सम्बन्ध 'उपनयन' का है, निकटतम आने का है, तभी शिष्य को 'अन्तेवासी' कहा गया है, वह मानो गुरु के भीतर बसता है, वह गुरु का शिष्य ही नही, उसका पुत्र है—'**अंगादंगात्सभवसि हृदयादधि जायसे आत्मा वै पुत्र नामासि**'—Bone of my bones and Flesh of my flesh—शिष्य के प्रति पुत्रभाव को लेकर आचार्य उसे अपने आश्रम मे लेता है—यही भावना गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की आत्मा है।

(ग) **ब्रह्मचर्य-व्रत**—वैदिक-शिक्षा मे तीसरी प्रक्रिया जिसमे से शिष्य को गुजरना होता था उसका ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करना था। 'ब्रह्मचर्य'-शब्द के यौगिक तथा रूढि—दो अर्थ हैं। यौगिक अर्थ व्यापक होता है, रूढि अर्थ व्याप्य होता है। यौगिक रूढि मे बहुत आगे निकल जाता है, उसका अर्थ रूढि से बहुत अधिक होता है। 'ब्रह्मचारी'-शब्द का यौगिक अर्थ है—'**ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी**'। जो 'ब्रह्म' मे विचरण करे वह ब्रह्मचारी है। 'ब्रह्म'-शब्द के भी यौगिक तथा रूढि—दो अर्थ है। 'ब्रह्म'-शब्द बृहि वृद्धौ—इस धातु से बना है। जो महान् हो उसे ब्रह्म कहते हैं। इस दृष्टि से 'ब्रह्मचारी'-शब्द का यौगिक अर्थ यह है कि जो बालक जीवन मे महान् होने की अभिलाषा को मस्तिष्क तथा हृदय मे लेकर गुरु के आश्रम मे आता है वह ब्रह्मचारी है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति मे प्रत्येक बालक को जो गुरुकुल मे प्रविष्ट होता है 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है, सिर्फ विद्यार्थी नही, क्योकि प्रत्येक के सामने जीवन मे महान् होने का, बडे होने का सकल्प शिक्षा के प्रारम्भ होने के दिन से ही रख दिया जाता है। इस शब्द का एक रूढि अर्थ भी है, और वही अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। रूढि अर्थ मे शरीर की भौतिक-शक्ति को—वीर्य को—नष्ट न होने देना, शुद्ध चाल-चलन रखना, सदाचार का जीवन व्यतीत करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। इस दृष्टि से 'ब्रह्मचारी'-शब्द के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक—ये दो अर्थ हैं। नैतिक शिक्षा की वैदिक-विचारधारा के अनुसार गुरुकुलो का लक्ष्य बचपन से ही बालक के सामने दो उद्देश्य स्पष्ट रूप मे रख देना था। बालक को आध्यात्मिक-सस्कृति के रग मे रगना होगा—यह वैदिक-शिक्षा का पहला उद्देश्य था जो 'ब्रह्मचारी'-शब्द के यौगिक-अर्थ मे निहित है, बालक को अपने शरीर की भौतिक-शक्ति का सचय करना होगा, वीर्य को नष्ट नही होने देना होगा, सदाचार का जीवन बिताना होगा—यह वैदिक-शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था, जो

'ब्रह्मचारी'-शब्द के रूढि अर्थ मे निहित है। है किसी देश मे ऐसी शिक्षा-प्रणाली जो बालक के शिक्षणालय मे भर्ती होने के दिन ही यह घोषणा कर दे कि हमारी शिक्षा का लक्ष्य बालक के जीवन को आध्यात्मिक-सस्कृति की दिशा का मोड देना है, हमारी शिक्षा का लक्ष्य बालक को किताबी शिक्षा के साथ-साथ उसे सदाचारी बनाना है, ब्रह्मचारी बनाना है, उसके चरित्र का निर्माण करना है। वैदिक-शिक्षा-पद्धति मे वीर्य-रक्षा पर बल दिया जाता था, इसे गुरुकुल-शिक्षा का मुख्य ध्येय समझा जाता था—आज शिक्षा के क्षेत्र मे इस बात की सिर्फ चर्चा सुनने मे आती है कि बालको को इस विषय का ज्ञान दिया जाय या न दिया जाय, दिया जाय तो कैसे दिया जाय। वैदिक दृष्टिकोण मे प्रत्येक आचार्य के लिए हर बालक को इस विषय का सही-सही ज्ञान देना आवश्यक था।

5. गुरु अथवा आचार्य

शिक्षा देने वाले को वैदिक विचारधारा मे 'आचार्य' कहा गया है। इस विचारधारा मे जहाँ विद्यार्थी को 'ब्रह्मचारी' कहा गया है, वहाँ शिक्षक को गुरु अथवा 'आचार्य' कहा गया है। 'आचार्य' का अर्थ है—'**आचारं ग्राहयतीति आचार्य**'—इतना ही नही कि ब्रह्मचारी को जबानी तौर पर सदाचार की शिक्षा दे, अपितु—'ग्राहयति'—शिष्य के जीवन मे सदाचार को ढाल दे, उसे ऐसी परिस्थिति मे रखे कि शिष्य आचार को अपने-आप ग्रहण कर ले। वेदो मे 'ब्रह्मचारी' और 'आचार्य'—शिक्षा के ये दो विन्दु है, इन दोनों को मिलाने वाली रेखा 'सदाचार' है, अगर आचार नही तो आचार्य आचार्य नही, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी नही, शिक्षा शिक्षा नही। इस दिशा मे गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली वर्तमान युग के लिए पुरानी होती हुई भी एक क्रान्तिकारी विचारधारा है जिसे अगर ईमानदारी से क्रियात्मक रूप दिया जाय, तो हमारे शिक्षा-जगत् मे जो कूडा-कर्कट जमा हो गया है वह उसे एकदम साफ कर सकती है। किसी भी समाज की सबसे बडी कमज़ोरी चरित्र का अभाव है। वह शिक्षा क्या जो सिर्फ फीसें जमा करके बालको को इम्तिहान मे पास करने भर का ठेका लेती है, उनके चरित्र-निर्माण का डके की चोट ठेका नही लेती। ऐसी शिक्षण-सस्थाएँ शिक्षण-सस्थाएँ नही, अच्छी-खासी दुकानें हैं। आज हमारी सब शिक्षण-सस्थाएँ दुकानदारी बन गई हैं। चरित्र को तो शिक्षा का अग ही नही समझा जाता। एक नई फिलोसफी ने जन्म ले लिया है—प्राइवेट लाइफ अलग हैं, पब्लिक लाइफ अलग है। शिक्षक भी इस बात का दावेदार है कि घर मे वह जूआ खेले, शराब पीये, कुछ भी करे, उसकी प्राइवेट लाइफ मे दखल देने का किसी को अधिकार नहीं। जब शिक्षक के लिए चरित्र का माप-दण्ड यह है, तब विद्यार्थी के लिए उनके जीवन का यही माप-दण्ड क्यो न होगा ?

शिक्षा की वैदिक-विचारधारा मे शिष्य से ही अपेक्षा नही की जाती, शिक्षक, गुरु, आचार्य से बडी भारी अपेक्षा की जाती है। उपनिषदो मे जहाँ-जहाँ गुरु की, आचार्य की खोज की गई है, वहाँ-वहाँ शिष्य 'समित्पाणि' होकर उसके पास पहुँचा है। 'समित्पाणि' का अर्थ है—हाथ मे समिधा लेकर जाना। हाथ मे समिधा लेकर जाने का अर्थ यह है कि जैसे समिधा सिर्फ लकडी है, परन्तु आग के स्पर्श से यह प्रदीप्त हो उठती है, वैसे शिष्य भी समिधा के समान है, आचार्य के स्पर्श से वह भी अग्नि की भाँति प्रदीप्त होने का संकल्प लेकर उपस्थित हुआ है। अगर आचार्य स्वय एक बुझी हुई लकड़ी है, उसमे स्वय कोई आग नही, वह पब्लिक मे अलग है, प्राइवेट मे अलग है, तो वह शिष्य को क्या प्रदीप्त करेगा। जलता हुआ दीया ही बुझे हुए दीये को जला सकता है, जो स्वय बुझा हुआ है वह दूसरे बुझे को क्या जला सकेगा। ऐसे ही गुरुओ के लिए कहा गया है—**'अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः'**—जैसे अन्धे अन्धो को रास्ता दिखला रहे हो। एक लेखक ने ठीक कहा है—'Character is not so much taught as caught'—आचार सिखाया नही, ग्रहण किया जाता है। आज की शिक्षा-जगत् की समस्याएँ विद्यार्थियो के कारण इतनी विकट नही जितनी शिक्षको के कारण विकट बनी हुई हैं।

6. अध्यापन के विषय

वैदिक-शिक्षा का लक्ष्य सिर्फ किताबे पढा देना नही, पुस्तको के अध्ययन के सथा-साथ जीवन का आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी मानव के सम्मुख रखना है। जीवन मे शरीर और पार्थिव-ससार ही नही, शरीर के पीछे आत्मा है, पार्थिव-जगत् के पीछे आध्यात्मिक-जगत् है। यजुर्वेद के 40वे अध्याय मे कहा है· **'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुख तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'**—संसार की चमचमाहट से आध्यात्मिक-सत्ता आँखो से ओझल हो रही है, इस पर्दे को उठा देने से वह जगत् दीखने लगता है जिससे हम बेखबर रहते हैं। यथार्थ-ज्ञान वह है जिसमे भौतिक तथा अध्यात्म विद्या का सम्मिश्रण हो। वैदिक दृष्टिकोण से भौतिक-विज्ञान तथा आध्यात्मिक-विज्ञान दोनो के ज्ञान को आत्म-सात् करने से जीवन का समग्र-रूप सामने आता है। सिर्फ भौतिक-ज्ञान एकागी है, सिर्फ आध्यात्मिक-ज्ञान भी एकागी है; जीवन मे दोनो का अपना-अपना स्थान है। इस दृष्टि से उपनिषद् के निम्न-स्थल अध्ययन करने योग्य हैं—

(क) मुडक उपनिषद् में शौनक का वर्णन—मुडक उपनिषद (1. 1. 3) मे शौनक का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार वह अंगिरस् आचार्य के पास गया और उनसे कहा—मैं चारो वेद, छन्द, कल्प, निरुक्त, शिक्षा—ये सब पढ़ चुका हूँ, इन सब के पढने के बाद मुझे 'अपरा'-विद्या का ज्ञान हो गया है, 'परा'-विद्या का ज्ञान नही हुआ। उपनिषदो के काल मे भौतिक-विज्ञान को 'अपरा'-विद्या

कहा जाता था, आत्म-विद्या को 'परा'-विद्या कहा जाता था। 'अपरा'—जो परले-जगत् की विद्या न हो; 'परा' —जो परले-जगत् की विद्या हो। शौनक आजकल के सायस के प्रोफेसरो जैसा था, अगिरस् अध्यात्मवादी योगियो जैसा था। शौनक 'अपरा-विद्या' (Scientific knowledge) को पा चुका था, 'परा-विद्या' (Spiritual knowledge) को पाने के लिए अगिरस् ऋषि के पास आया था क्योकि वैदिक-शिक्षा की यह धारणा थी कि भौतिक-ज्ञान आत्म-ज्ञान के विना अधूरा है।

(ख) **छान्दोग्योपनिषद् में नारद का वर्णन**—छान्दोग्योपनिषद् (7-1) मे नारद का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार वह सनत्कुमार आचार्य के पास गया और उनसे कहा— मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पाँचवें वेद इतिहास-पुराण, वेदो के वेद, पित्र्य, राशि, देव-विद्या, निधि-शास्त्र, वाक्योवाक्य, एकायन, देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या, देव-जन-विद्या—इन सब विद्याओ को पढ चुका हूँ, परन्तु—'**सो ऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्**'—हे भगवन्! इतना सब पढ कर मै '**मन्त्रवित्**' तो हो गया हूँ, '**आत्मवित्**' नही हुआ। नारद भी भौतिक विद्याओ को सीख कर आत्म-ज्ञान के लिए आचार्य सनत्कुमार के पास आया था क्योकि वैदिक-शिक्षा की यह धारणा थी कि भौतिक-ज्ञान आत्म-ज्ञान के विना अधूरा है।

(ग) **अपरा-विद्या, मन्त्र-विद्या, काम-रति, अविद्या एक-समान हैं, एवं परा-विद्या, आत्म-विद्या, आत्म-तृप्ति-विद्या—ये एक-समान हैं**—उपनिषद् के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अपरा-विद्या तथा मन्त्र-विद्या का अर्थ भौतिक-विज्ञानो मे था, परा-विद्या तथा आत्म-विद्या का अर्थ आध्यात्मिक-विज्ञान से था। यही कारण है कि शौनक कहता है कि अपरा-विद्या वह पढ चुका है, परा-विद्या पढना चाहता है, इसी प्रकार नारद कहता है कि मन्त्र-विद्या वह पढ चुका है, आत्म-विद्या पढना चाहता है। उपनिषदो के अनुसार 'अपरा' तथा 'मन्त्र' को 'अविद्या' का नाम दिया गया है, 'परा' तथा 'आत्म-ज्ञान' को 'विद्या' का नाम दिया गया है। तभी ईशोपनिषद् के ग्यारहवें मन्त्र मे कहा है

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृत मश्नुते।

—अर्थात् जो 'अविद्या' को जानता है वह 'मृत्यु' को तर जाता है, जो 'विद्या' को जानता है वह 'अमर' हो जाता है। मृत्यु के साथ किससे लडा जाता है ? औषधियो के ज्ञान से ही तो, भौतिक-विज्ञान से मृत्यु से लडते हैं, परन्तु उससे अमृत तो नही हाथ आता। अमृत की प्राप्ति होती है आत्म-ज्ञान से। इसीलिये उपनिषद् ने अपरा को, मन्त्र-ज्ञान को जिससे अमरत्व प्राप्त नही होता 'अविद्या' कहा है, परा को, आत्म-ज्ञान को जिससे अपने अमरत्व का बोध होता

है 'विद्या' कहा है। हमारे शास्त्रों की ये उल्टी प्रतीत होने वाली परिभाषाएँ स्थिति का यथार्थ-बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। उपनिषदों के इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य मे रखते हुए गीता ने 'आत्म-रत', 'आत्म-तृप्त' तथा 'आप्त-काम' शब्दों का प्रयोग किया है। गीता (3-17) मे कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

—अर्थात्, जो व्यक्ति 'आत्मरत' है, 'आत्मतृप्त' है, वही पहुँचा हुआ मानव है। 'आत्म-रत' तथा 'आत्म-तृप्त' के विरोधी शब्दों का प्रयोग करते हुए गीता ने 'कामकामी'-शब्द का (2-70) प्रयोग किया है जिसका उल्टा शब्द बनता है—'आप्त-काम'।

हमारा यह सब-कुछ लिखने का इतना ही अभिप्राय है कि वैदिक विचारधारा के अनुसार शिक्षा का कार्य भौतिक-विज्ञानों के अध्ययन तक ही समाप्त नही हो जाता, इनका अध्ययन तो जरूरी है ही क्योंकि इनके बिना ससार का व्यवहार नही चल सकता, परन्तु इस सब ज्ञान को शास्त्रों मे अपरा कहा है, मन्त्र-ज्ञान कहा है, कामकामी-ज्ञान कहा है, अविद्या कहा है। क्योंकि वैदिक दृष्टिकोण समन्वयात्मक दृष्टिकोण है, इसलिए अपरा के साथ परा का, मन्त्र-ज्ञान के साथ आत्म-ज्ञान का, अविद्या के साथ विद्या का जानना आवश्यक है—इन दोनों के समन्वित होने से ही जीवन पूर्ण होता है, नही तो मनुष्य या निरा भौतिकवादी रह जाता है या निरा अध्यात्मवादी रह जाता है, और इस प्रकार 'निरा' रहने के कारण वह अपूर्ण रह जाता है।

7. अध्यापन की विधि

अध्यापन की विधियों को मुख्य तौर पर सब जगह दो भागों मे बाँटा गया है। एक है—'आगमन-पद्धति' (Inductive method), दूसरी है—'निगमन-पद्धति' (Deductive method)। अनेक दृष्टांत देकर किसी तथ्य का निरूपण करना आगमन-पद्धति कहलाता है, शुरू मे ही तथ्य का प्रतिपादन कर उसे भिन्न-भिन्न दृष्टांतों मे घटा कर दिखलाना निगमन-पद्धति कहलाता है। भारतीय शास्त्रों मे अध्यात्म-विद्या के रहस्यों को समझाने के लिए आगमन तथा निगमन—इन दोनों पद्धतियों का आश्रय लिया गया है। शिक्षा को उपयोगी बनाने के लिए किसी उपयोगी कौशल (Craft) से उसे जोड़ देना भी शिक्षा मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अध्यात्म-विद्या को हृदयगम कराने के लिए गुरुकुल शिक्षा-पद्धति मे जहाँ आगमन तथा निगमन पद्धति का सहारा लिया जाता था वहाँ इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर गो-पालन को शिक्षा के साथ जोड़ दिया गया था।

(क) **आगमन-पद्धति के दृष्टान्त**—प्राचीन शिक्षा-शास्त्री 'ज्ञान' तक पहुंचने के लिए पाँच क्रम बतलाते थे—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। इसे 'पचावयव' कहा जाता था। पंचावयव की इसी पद्धति को आजकल प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हर्वार्ट (1776-1841) के शिक्षा देने के पच-सोपान (Five Steps of Herbart) कहा जाता है। इसी पद्धति को आधार बना कर (छान्दोग्य, 6-12) श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने **'सदेवेदमग्र आसीत्'**—ससार प्रारम्भ मे सत् ही था—**'तत्त्वमसि'**—तू वही है—इन तथ्यो का आगमन-पद्धति से उपदेश देते हुए कहा—देखो, सामने वट-वृक्ष है, उसका फल ले आओ। वह फल ले आया। कहा—इसे तोड डालो। तोड दिया। पूछा—इसमे क्या देखते हो? कहा—भगवन्! छोटे-छोटे बीज। कहा—इनमे से एक दाने को तोड दो। तोड दिया। इसमे क्या देखते हो? उत्तर मिला—कुछ भी नही। गुरु ने कहा—हे सोम्य! जिसे तू 'कुछ नही' कह रहा है, जिसे अणु-रूप मे तू कुछ नही देख पा रहा है उसी से यह महान् वट-वृक्ष खडा हो जाता है। फिर गुरु ने नमक की डली श्वेतकेतु के हाथ मे दे कर कहा—इसे पानी के घड़े मे डाल दो। अगले दिन पूछा—वह डली दीखती है? उत्तर मिला—नही दीखती। फिर कहा—पानी पीयो। शिष्य ने पानी पिया। दाये से पीओ, बायें से पीओ, बीच मे से पीओ। सब जगह नमक-ही-नमक मिला, वह नमक जो दीख नही रहा था। इन दृष्टान्तो से उद्दालक ने श्वेतकेतु को समझाया कि ब्रह्म जो दीख नही रहा वह विश्व के कण-कण मे मौजूद है।

(ख) **निगमन-पद्धति के दृष्टान्त**—निगमन-पद्धति का अर्थ है, तथ्य को पहले से ही बतला देना। जब उद्दालक ने श्वेतकेतु को शास्त्र का हवाला देकर कहा—**'सदेव सोम्य अग्र आसीत्'**—तब शुरू मे उसने निगमन का ही आश्रय लिया।

(ग) **शिक्षा में कौशल को जोड़ देना**—अमरीका के शिक्षा-शास्त्री जॉन ड्यूई (1859-1952) का नाम शिक्षा के प्रगतिशील विचारो के साथ जुडा हुआ है। उनकी शिक्षा-पद्धति को 'योजना-पद्धति' (Project method) कहा जाता है। इस पद्धति मे बालको को कोई योजना दी जाती है जिसको उन्हे पूर्ण करना होता है। इसके विवरण मे तो हम नही जाना चाहते, परन्तु इसमे सन्देह नही कि शिक्षा के साथ किसी उपयोगी, महत्त्वपूण योजना को जोड देने की पद्धति उपनिषद्काल मे भी पायी जाती थी। विद्याभ्यास करते हुए गौ की सेवा करना शिष्य का मुख्य कार्य था। छान्दोग्य (4-4-5) मे सत्यकाम जाबाल की कथा आती है। वहाँ लिखा है कि गुरु ने कुछ गोएं उसके सुपुर्द कर दी। जब तक वे दुगुनी हो गई तब तक वह सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका था। 'योजना-पद्धति' को आधार बना कर ही महात्मा गाधी (1869-1948) ने

बुनियादी तालीम की नीव डाली थी और उसमे मुख्यतया कृषि को योजना का आधार बनाया था। आचार्य के आश्रम मे रह कर ब्रह्मचारी गो-पालन को योजना का केन्द्र बनाते थे। गो-सेवा का इतना महत्त्व है कि यदि आज भी इसे शिक्षा के साथ जोड दिया जाय, तो विद्यार्थियो को लाभ ही हो सकता है।

8. शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति

अब तक हमने शिक्षा-प्रणाली के साधनो पर प्रकाश डाला—कैसी शिक्षा हो, कैसा शिष्य हो, कैसा आचार्य हो, परन्तु इन सब साधनो को जुटा कर हम वैदिक शिक्षा-पद्धति से शिक्षा पाये हुए युवक से क्या आशा करते है ? जैसे गुरुकुल मे भर्ती करते समय आचार्य ब्रह्मचारी के सम्मुख एक पुरोगम रखते हुए कहता है— **'कर्म कुरु'**, **'दिवा मा स्वाप्सीः'**, **'क्रोधानृते वर्जय'**, **'उपरि शय्यां वर्जय'** आदि, वैसे शिक्षा समाप्त कर चुकने के बाद युवक से जो आशा की जाती है उसका उल्लेख करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् (प्रपा० 7, अनु० 11, कं० 1, 2, 3, 4) मे लिखा है—

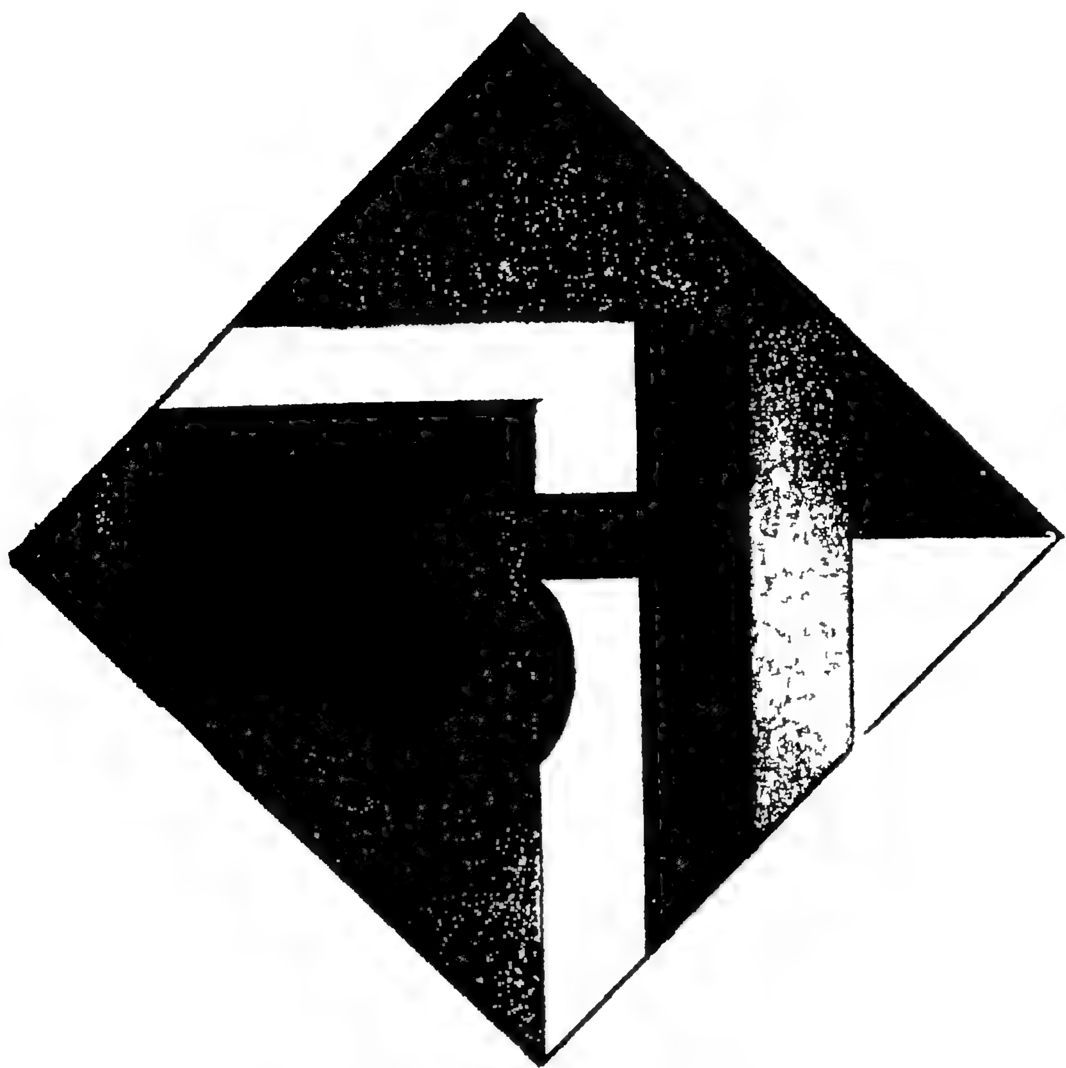
'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।···सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम्।···मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।···एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषद्, एतदनुशासनम्'।

शिक्षा-सस्था मे अध्ययन समाप्त करने के बाद जब ब्रह्मचारी घर को लौटता है, तब आचार्य उसे उपदेश देते हुए—जिसे आजकल 'दीक्षान्त-भाषण' कहा जाता है—कहता है कि गुरु के पास तुमने जो-कुछ सीखा उससे तुमसे यह आशा की जाती है कि तुम जीवन मे सत्य का आचरण करोगे, धार्मिक-जीवन बिताओगे, माता-पिता की सेवा करोगे, अपने बडो का सम्मान करोगे। अब विश्वविद्यालयो ने भी दीक्षान्त-भाषण देते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् के इन्ही वाक्यों का उच्चारण करना शुरू कर दिया है। परन्तु क्या हमारी शिक्षा सचमुच ऐसे युवक तैयार कर रही है ? बार-बार सिर्फ यही रटा जा रहा है कि शिक्षा का उद्देश्य युवक-युवतियो को रोटी कमाने लायक बनाना है। रोटी कमाने लायक बनाना है—यह तो ठीक है, परन्तु शिक्षा का उद्देश्य इन्सान को इन्सान बनाना पहले है। चौदह-सोलह साल जबतक विद्यार्थी शिक्षणालय मे रहता है, हम उसे नही बतलाते कि जीवन क्या है, सत्य क्या है, धर्म क्या है, जीवन का लक्ष्य क्या है, इम्तिहान पास करा लेने के बाद दीक्षान्त-भाषण के समय तैत्तिरीयोपनिषद् के वाक्य उसे सुना देते है। यह शिक्षा नही, शिक्षा की विडम्बना है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति मे आचार्य ब्रह्मचारी को गुरुकुल मे प्रविष्ट करते हुए उसके सामने एक निश्चित प्रोग्राम रखता था, और शिक्षा समाप्त कर गुरुकुल

से लौटते हुए उसे उस चुनौति का सामना करने के लिये होशियार करता था जो जीवन मे उसके सामने आने वाली थी। आचार्य का कहना था कि रोटी तो तुम कमाओगे ही, पेट तो तुम भरोगे ही, परन्तु याद रखना—जो-कुछ करना इन्सान बने रहना, इस संस्था मे इन्सानियत के जो गुण सीखे है उन्हे मत भूलना।

9. चुनौती

भारत मे शिक्षा के क्षेत्र में जो आँख उठा कर देखता है उससे यह कहे बिना नही रहा जाता कि हमारी शिक्षा-पद्धति असफल हो चुकी है। वैदिक शिक्षा-पद्धति के लिए यह अवसर एक चुनौती का अवसर है। चुनौती का रूप क्या है? चुनौती का रूप यह है कि देश मे प्रचलित शिक्षा-पद्धति इसलिये असफल हो चुकी है क्योंकि शिक्षा-संस्थाएँ एक फैक्टरी का रूप धारण कर चुकी हैं, शिक्षक लोग अपने को फैक्टरी के वेतनभोगी उच्च-कोटि के मज़दूर समझने लगे हैं। मज़दूर की मनोवृत्ति कम-से-कम काम करके ज्यादा-से-ज्यादा पैसा खीचने की होती है। सब फैक्टरियो मे यही हो रहा है, शिक्षा की फ़ैक्टरी मे भी यही होने लगा है। विद्यार्थी भी शिक्षा-संस्थाओ को फैक्टरियाँ समझने लगे हैं, वे भी यूनियनें बनाते हैं, घेराओ करते हैं, हड़तालें करते हैं। पढने-लिखने के लिये श्रम करने का, गुरु-शिष्य मे पिता-पुत्र के सम्बन्ध का, शिष्य के गुरु या गुरु के शिष्य के निकट आने का, तपस्या का, ब्रह्मचर्य का, सदाचार का, चरित्र-निर्माण का शिक्षा मे कही स्थान नही रहा। इस स्थिति मे लड़खडा रही हमारी शिक्षा-पद्धति को अगर कोई पद्धति बचा सकती है, तो वह गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति ही है जिसके मूल-तत्त्वो का यहाँ उल्लेख किया गया है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति से अभिप्राय किसी शिक्षा-संस्था-विशेष से नही है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं। उन सिद्धान्तो को क्रियान्वित किये बिना कोई संस्था गुरुकुल नही कही जा सकती। जब तक देश की शिक्षा-पद्धति मे गुरु-शिष्य का सम्बन्ध 'कुल' की भावना पर खड़ा नही होता, गुरु-शिष्य में पिता-पुत्र की-सी भावना नहीं जगती, वे एक-दूसरे के निकट नही आते, जब तक विद्यार्थी श्रम, तपस्या के लिये तैयार नही होते, जब तक ब्रह्मचर्य शिक्षा का आधार नही बनता, चरित्र-निर्माण और सदाचार शिक्षा के अभिन्न अंग नही बनते, जब तक शिक्षकवर्ग 'आचारं ग्राहयतीति आचार्यः' की ज़िम्मेवारी अपने कन्धों पर नहीं लेते, दूसरे शब्दो मे, जब तक गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के मूल-सिद्धान्त देश की शिक्षा-प्रणाली में ओत-प्रोत नही हो जाते, उस पर छा नही जाते, तबतक हम 1835 मे मैकाले ने जहाँ खडा किया था वही खडे रहेगे।



आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।

(कठ, 3—3, 4)

'जीवन' के विषय मे दो दृष्टियाँ प्रचलित है—एक शुद्ध-भौतिकवादी-दृष्टि है, दूसरी शुद्ध-अध्यात्मवादी-दृष्टि है। शुद्ध-भौतिकवादी लोग कहते है कि यह जीवन ही आदि है, यही अन्त है—इस तथ्य को ध्यान मे रख कर जीवन बिताना चाहिये, शुद्ध-अध्यात्मवादी लोग कहते है कि यह जीवन मिथ्या है, यथार्थ-जीवन इहलोक का जीवन नही, परलोक का जीवन ही यथार्थ-जीवन है, उसी की तैयारी मे इस जीवन को अर्पित कर देना उचित है। बेकन का जो पाश्चात्य भौतिक-विचारधारा का मुख्य स्तम्भ था, कथन है कि यह संसार ही सत्य है, यही सब-कुछ है, यह मान कर ही हमें जीवन-पथ का निर्माण करना है।

परन्तु क्या इस जीवन को ही आदि तथा अन्त माना जा सकता है ? संसार में हर वस्तु 'सापेक्ष' (Relative) है, दूसरे का अंग है, 'निरपेक्ष' (Absolute) तो एक ही हो सकता है जिसके आसरे सब टिका है, अगर वह भी 'सापेक्ष' हो, उसे भी आसरे की आवश्यकता हो, तो अनवस्था-दोष आ जाता है। हमारा पार्थिव-जीवन भी सापेक्ष है, अंग है, हिस्सा है, कड़ी है—किस की ? यह उस जीवन का अंग है जिसे हम आध्यात्मिक कहते हैं। इस दृष्टि से न शुद्ध-भौतिकवादी दृष्टिकोण सही है, न शुद्ध-अध्यात्मवादी दृष्टिकोण सही है। हमारा भौतिक-जीवन आध्यात्मिक-जीवन का अंग है—भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों मिल कर जीवन की शृंखला को पूर्ण करते हैं, अलग-अलग होकर ये दोनों अधूरे रह जाते हैं। वैदिक दृष्टिकोण यह है कि भौतिक-जीवन भी सत्य है, आध्यात्मिक-जीवन भी सत्य है, दोनों को सत्य मान कर ही जीवन-पथ पर यात्रा हमें लक्ष्य तक पहुँचा सकती है।

अगर पार्थिव-जीवन को आध्यात्मिक-जीवन का अंग न माना जाय, तो जीवन में सार्थकता नहीं रहती, यह निरर्थक हो जाता है। किसलिए जीयें ? क्या सिर्फ खाने-पीने के लिए ? खाना-पीना तो पशु भी करते हैं, फिर मानव-जीवन की सार्थकता क्या है ? आध्यात्मिक-जीवन के साथ भौतिक-जीवन की डोर बंधी हो, तभी जीवन की दिशा निश्चित तथा असन्दिग्ध हो सकती है, अन्यथा मानव-जीवन जी लेने और मर जाने के सिवाय कुछ नहीं रहता।

आध्यात्मिक-जीवन का यह अर्थ नहीं है कि पार्थिव-जीवन की उपेक्षा की जाय। पार्थिव-जीवन आध्यात्मिक-जीवन के लिये आवश्यक है, परन्तु साधन के तौर पर, उपकरण के तौर पर। शरीर आत्मा का साधन है, उपकरण है—यह जान कर जीना ही जीवन की सम्पूर्णता है। इसी विचार को व्यक्त करते हुए कठोपनिषद् में कहा है—शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ उसमें जुते घोड़े हैं, ये घोड़े संसार के विषयों की तरफ दौड़ रहे हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है—और इस रथ पर सवारी करने वाला आत्मा है। जब यह सिलसिला उल्टा हो जाता है, लगाम इन्द्रियों के हाथ में आ जाती है, तब आत्मा भोक्ता होने के स्थान में इन्द्रियाँ भोक्ता हो जाती हैं। सही जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का समन्वय है।

दशम अध्याय

जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण

(SPIRITUAL OUTLOOK ON LIFE)

1. इहलौकिक-जीवन पारलौकिक-जीवन से बंधा हुआ है

डॉ० राधाकृष्णन* भारत तथा ग्रीस के पारस्परिक-सम्बन्ध के विपय मे लिखते हैं कि ग्रीस के विद्वान् युसेबियस (315 ईस्वी) ने अपने लेखो मे एक परम्परागत कथानक का उल्लेख किया है। इस कथानक के अनुसार अरस्तु के शिष्य एरिस्टोक्सेनस कहा करते थे कि एक समय भारत से सन्तो की एक मण्डली ग्रीस पहुँची थी जिसकी सुकरात से भेंट हुई थी। इस भेंट में सन्तो ने सुकरात से पूछा कि जीवन की समस्या के विपय मे उसकी क्या सीख है? सुकरात ने उत्तर दिया कि वह सिखाता है कि यह जीवन क्या है, इस जीवन की समस्याएँ क्या है, हमे दुनिया मे किस प्रकार रहना चाहिए, हमारा इस पार्थिव-जीवन मे एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये, हमे कैसे बरतना चाहिये। एरिस्टोक्सेनस का कहना है कि यह उत्तर सुन कर भारत की मण्डली का एक सन्त खिलखिला कर हँस पडा। उसने कहा—जो व्यक्ति इस भौतिक-जीवन के साथ बँधे हुए उस अभौतिक, दिव्य-जीवन को नही जानता वह इस भौतिक-जीवन के सम्बन्ध मे क्या सीख दे सकता है? भारतीय सन्त ने पूछा—क्या तुम्हे इस पार्थिव-जीवन के अतिरिक्त उस दिव्य-जीवन का भी पता है, वह जीवन जो लौकिक न होकर पारलौकिक है, जो भौतिक न होकर

---

* Dr Radhakrishnan on India and Greece. Eusebius (315 A. D.) speaks of a tradition which he attributes to Aristoxenus, the well-known writer and pupil of Aristotle that certain learned Indians actually visited Athens and conversed with Socrates. When asked by them to explain the scope of his philosophy Socrates is stated to have replied: "an enquiry into human affairs". Thereupon, Aristoxenus tells us, one of the visiting Indians burst into laughter saying: "How can a man grasp human things without mastering the Divine."

आध्यात्मिक है, जो इस दुनिया के साथ बधा न होकर, इससे अलग है, स्वतन्त्र है, जो इस लोक के जीवन से जीवित न होकर उस लोक के जीवन से जीवित होता है, जिसके साथ बधा होकर ही यह पार्थिव-जीवन जीवन कहलाता है—क्या तुम्हे उस दिव्य-जीवन का पता है ? अगर तुम्हे उस पारलौकिक-जीवन का पता नही, तो तुम इहलौकिक-जीवन के विषय मे क्या बतला सकते हो। इस ससार का जीवन तो तभी सार्थक हो सकता है जब वह उस जीवन की एक कडी हो, उसके साथ शृखला मे बधा हो। अन्यथा अगर इहलौकिक-जीवन सिर्फ इस लोक का है, यहाँ शुरू होता यही समाप्त हो जाता है, किसी शृखला की कडी नही है, तब तो मनुष्य का जीवन पैदा होना और मिट्टी मे मिल जाना—इसके सिवाय कुछ नही रहता। फिर इस पार्थिव-जीवन के विषय मे सीख क्या, इस जीवन की समस्याओ का समाधान क्या ?

2. इहलौकिक-जीवन के सम्बन्ध में वैदिक-दृष्टिकोण

जीवन के सम्बन्ध मे वैदिक-दृष्टिकोण यह है कि हमारा यह जीवन तभी सार्थक कहा जा सकता है जब यह इस भौतिक-जीवन के आगे जो-कुछ है उसकी तैयारी समझा जाय। अगर यह जीवन अपने-आप मे स्वतन्त्र है, किसी भावी-जीवन की तैयारी नही है, तो यह व्यर्थ-सा हो जाता है। इस दृष्टि से यह जीवन एक अग है किसी अगी का, भाग है किसी पूर्ण का, कडी है किसी शृखला का।

3 यहाँ प्रश्न खड़ा हो जाता है कि अंग, भाग आदि शब्द सही हैं या अंगी, पूर्ण आदि शब्द सही है

जब हम कहते हैं कि यह जीवन अग है भावी-जीवन का, पार्थिव-जीवन अग है दिव्य-जीवन का, यह 'अपूर्ण' अग है उस 'पूर्ण' का जिससे यह बधा है, जो इसे जीवन प्रदान करता है, जिसकी वजह से यह जीवित है, तब प्रश्न उठ खडा होता है कि क्या अग, भाग आदि शब्द वास्तविक हैं या अगी, पूर्ण आदि शब्द वास्तविक है ? क्या यथार्थ-सत्ता अग की है या अगी की है, वास्तविक-सत्ता इस अपूर्ण की है या पूर्ण की है जो इस अग का, अपूर्ण का स्रोत है, जिस पारलौकिक से इस इहलौकिक का प्रवाह बहता है। दूसरे शब्दो मे, क्या यह सापेक्ष भौतिक-जगत् यथार्थ है या निरपेक्ष अभौतिक-जगत् यथार्थ है, अग्रेजी मे कहे तो क्या Relative की, Part की यथार्थ-सत्ता है, या Absolute की, Whole की यथार्थ-सत्ता है, या क्या ये दोनो शृखला की तरह कडी के रूप मे एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं ?

4. ठीक इस बिन्दु पर आज की वैदिक तथा पश्चिम की भौतिक विचारधारा का दृष्टिकोण भिन्न हो जाता है

(क) **पश्चिम की भौतिक-विचारधारा का दृष्टिकोण**—पाश्चात्य-विचारकों के अनुसार हम जो-कुछ भी जानते है वह 'सापेक्ष' का ज्ञान है, Relative का ज्ञान है, इस संसार का ही ज्ञान है। सापेक्ष से हमारा मतलव इस ससार—इस 'अग' से—'अवयव' से है। उनका कथन है कि यह सापेक्ष-ससार ही हमारे ज्ञान मे आता है, इससे परे जो-कुछ है उसका ज्ञान हम नही कर सकते। इस ससार से परे बहुत-कुछ है इसमे सन्देह नही। हर्बर्ट स्पेसर (1820-1903) ने ससार को दो भागो मे बाँटा है—ज्ञात (Known) तथा 'अज्ञात' (Unknown)। वह जो अज्ञात-जगत् है उसकी दृष्टि से ज्ञात-जगत् 'अग' कहा जा सकता है, 'अवयव' कहा जा सकता है, परन्तु बेकन (1561-1626) का, जो पाश्चात्य-भौतिक-विचारधारा का मुख्य स्तम्भ था, यह कथन है कि हम यह मानने को विवश हैं कि यह सापेक्ष कहा जाने वाला ससार ही सत्य है, निरपेक्ष कहा जाने वाला संसार असत्य है, है ही नही, उसकी कोई सत्ता नही, यही सत् है, यही सब-कुछ है क्योकि उसकी सत्ता होने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं।

(ख) **भारत की वैदिक-विचारधारा का दृष्टिकोण**—भारत का वैदिक-दृष्टिकोण यह नही है। वैदिक-दृष्टिकोण यह है कि ज्ञात के पीछे अज्ञात है; सापेक्ष (Relative) के पीछे निरपेक्ष (Absolute) है; अग तथा अवयव के पीछे अगी है, निरवयव है; भाग, हिस्से या अपूर्ण के पीछे वह पूर्ण है जिसका अपूर्ण भाग है, जिसका अपूर्ण हिस्सा है, जिसकी दृष्टि से कुछ भी अपूर्ण है—इस सबके पीछे पूर्ण है, सारा है—Absolute या Whole है।

ये दोनो दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं, परस्पर-विरोधी हैं। अगर पाश्चात्य-दृष्टिकोण सही है, तव तो हमारे जीवन का दायरा यह भौतिक-ससार ही रह जाता है, इसी के साथ हम बंध जाते हैं, इसकी समस्याएँ ही हमारी समस्याएँ रह जाती हैं, यह संसार ही हमारे जीवन का लक्ष्य रह जाता है। परन्तु अगर भारत का वैदिक-दृष्टिकोण सही है, यह दृष्टिकोण कि यह ससार तो एक लम्बी-चौडी साकल की सिर्फ़ कडी है, हर कडी दूसरी कडी से बँधी हुई है, इहलौकिक की पारलौकिक के साथ गाँठ जुडी हुई है, तो जीवन का सारा दृष्टिकोण वदल जाता है, तव हमारा ध्यान इस जीवन पर तो रहता ही है, उस से तो हम हट नही सकते, परन्तु हमारी नजर इस पर रहती हुई भी उस पर रहती है, ठीक ऐसे जैसे नदी पार करते हुए हम इस किनारे को तो ध्यान मे रखते ही हैं, परन्तु टिकटिकी उस किनारे की तरफ लगी रहती है जहाँ हमने जाना है। प्रश्न यह है कि पाश्चात्य तथा भारत के वैदिक-दृष्टिकोणों मे से कौन-सा दृष्टिकोण सही है ?

5. वैज्ञानिक-दृष्टिकोण से विचार करें तो हमारा ज्ञान अंगी का, निरपेक्ष का, सम्पूर्ण का ज्ञान है

ज्यो-ज्यो हम विज्ञान के क्षेत्र मे प्रवेश करते जाते हैं यह सिद्ध होता जाता है कि हमारा ज्ञान अगी का, निरपेक्ष का, पूर्ण का, Absolute का, Whole का ज्ञान है, अग का, सापेक्ष का, अपूर्ण का, Relative का, Part का ज्ञान नही है। अंग्रेजी मे एक उक्ति है—'We know the relative because we know the absolute, the less we know the absolute, the less we know the relative'—अर्थात् इस सापेक्ष का, ससार का ज्ञान हम उतना ही कर सकते हैं जितना हम निरपेक्ष के समीप होते है, भले ही निरपेक्ष को हम जानते हो या न जानते हो।

केनोपनिषद् (2 खड, 3) मे कहा है **'यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः अविज्ञात विजानताम् विज्ञातमविजानताम्'**—इस सापेक्ष को जान कर जो कहने लगता है कि मैं सब-कुछ जान गया, वह कुछ नही जाना, जो इसे जान कर कह उठता है कि मैं कुछ नही जान पाया, वही सत्य को जान जाता है। देखने को यह अपूर्ण जगत् पूर्ण जान पडता है, परन्तु यथार्थ मे पूर्ण तो वह ही है जिसमे से पूर्ण को भी निकाल लिया जाय, तो शेप भी पूर्ण ही वच रहे—**'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'**—इस जगत् मे से तो चुटकी भर भी निकाल लें, तो अपूर्ण हो जाता है।

6 अगर हमारा जीवन निरपेक्ष से नहीं जुड़ा हुआ तो हमारे जीवन में निम्न दोष होने अवश्यम्भावी हैं :

(क) **जीवन की सार्थकता न होना**—अगर हमारा जीवन सम्पूर्ण से, निरपेक्ष से जुटा हुआ नही है, अगर वह जीवन के अधूरे भाग मे ही चक्कर काट रहा है—और सिर्फ इहलौकिक-जीवन विताना अधूरे जीवन मे ही विचरना है—सम्पूर्ण के साथ अपने सम्बन्ध को काट देना है—तो यह निश्चित है कि हमारे जीवन का कोई अर्थ नही रहता। जीवन की सार्थकता तो तभी सिद्ध होती है जब वह सम्पूर्ण को अपने सामने रखे। व्यक्ति के शरीर को अगर एक सम्पूर्ण इकाई मान लिया जाय, तो शारीरिक-उन्नति के लिए सिर्फ भुजाओ का व्यायाम करना वेमाने होगा जवतक सम्पूर्ण-शरीर के सव अगो को पुष्ट करने का प्रयत्न न किया जाय, **परिवार** को अगर इकाई मान लिया जाय, तो पारिवारिक-उन्नति के लिए परिवार के सिर्फ एक अग को—सिर्फ एक वच्चे को—लायक वना देना पारिवारिक-सफलता का सूचक नही है, **समाज** को अगर इकाई मान लिया जाय, तो समाज के केवल एक वर्ग का कल्याण तथा सुरक्षा करना

सरकार को सार्थक नही बना सकता; विश्व को अगर इकाई मान लिया जाय, तो विश्व के केवल एक देश का उन्नतिशील हो जाना पर्याप्त नही है। व्यक्ति, परिवार, समाज, विश्व को उन्नत करने के लिए इनके एक-एक अग को एक-दूसरे से अलग करके विचार करना हमारे सम्पूर्ण उद्योग को निरर्थक बना देता है। हमे अपना लक्ष्य सार्थक बनाने के लिए अग को, अवयव को सामने नही रखना होगा, अगी को, सम्पूर्ण को—सारे-के-सारे को—**'पूर्णस्य पूर्णमादाय'**—को सामने रखना होगा तभी हमारा कार्य-क्रम सार्थक हो सकता है। यह जीवन भी तभी सार्थक हो सकता है जब यह आने वाले जीवन के परिपेक्ष्य मे ढल रहा हो।

(ख) **जीवन की दिशा का निश्चित न होना**—जीवन की सम्पूर्णता तो तभी बनती है जब हमारा जीवन ऐहिक तथा पारलौकिक दोनो के मिश्रित दृष्टिकोण से ढल रहा हो। सापेक्ष की सत्ता तभी हो सकती है जब निरपेक्ष की सत्ता हो, भाग की सत्ता तभी हो सकती है जब जिसका वह भाग है उसकी सत्ता हो, अपूर्ण की सत्ता तभी हो सकती है जब पूर्ण की सत्ता हो, आधे की सत्ता तभी हो सकती है जब पूरे की—Whole—की सत्ता हो, Relative की सत्ता तभी हो सकती जब Absolute की सत्ता हो, क्योकि अंग, भाग, अपूर्ण, सापेक्ष, ये सब अगी, पूर्ण, निरपेक्ष के साथ जुडे हुए हैं, निरपेक्ष के बिना ये हो ही नही सकते। ऐसी हालत मे जीवन का जो दृष्टिकोण सिर्फ सापेक्ष से, अंग से, अवयव से बधा हुआ है, वह जहाँ निरर्थक हो जाता है—इसलिए निरर्थक हो जाता है क्योकि जिस सम्पूर्ण का वह हिस्सा है उसे दृष्टि से ओझल कर देता है—वहाँ निरर्थक होने के साथ-साथ जीवन के उस दृष्टि-कोण मे जीवन की निश्चित दिशा भी नही रहती, अनिश्चित हो जाती है। जीवन की निश्चित दिशा तो तभी हो सकती है जब हमे पता हो कि जीवन का अर्थ, जीवन का उद्देश्य, जीवन का लक्ष्य क्या है। जब हमारे सामने ध्येय हो तभी तो ध्येय की दिशा की तरफ चला जा सकता है। पार्थिव-जीवन को दिव्य-जीवन से, भौतिक-जीवन को आध्यात्मिक-जीवन से अलहदा समझ लेने का परिणाम तो यही होगा कि इन्द्रियो के इस भौतिक-जीवन को ही सब-कुछ समझ लिया जाय। इन्द्रियो का जीवन विषय-भोग के सिवाय कहाँ ले जा सकता है, और विपय-भोग मनुष्य का कवतक साथ देते हैं? अगर जीवन की दिशा इन्द्रियो के विषय-भोग तक ही है, तव यही कहना होगा कि मनुष्य किसी दिशा की तरफ नही जा रहा, जीवन के मार्ग मे भटक रहा है।

(ग) **जीवन की दिशा का असन्दिग्ध न होना**—अगर जीवन की दिशा निश्चित हो, तो मनुष्य वेखटके, विना किसी हील-हुज्जत के, विना ननु-नच किये, विना सन्देह के उस दिशा मे अपने जीवन की नौका खेने लगता है, अगर

उसे दिशा का ही भ्रम हो, तो वह लक्ष्य ढूँढने मे ही लग जाता है, असन्दिग्ध होकर निश्चित दिशा की तरफ नही चल पडता। कभी कहता है—यह मार्ग ठीक है, कभी कहता है, वह मार्ग ठीक है। कभी सचाई के गीत गाने लगता है, कभी कहता है कि झूठ वोलने मे क्या हर्ज है, कभी हिंसा, कभी अहिंसा, कभी ईमानदारी, कभी वेईमानी, जीवन की कोई असन्दिग्ध विचारधारा नही रहती। इस सन्देहमय-जीवन के दो परिणाम हैं—एक तो मनुष्य हर समय सन्देह मे पडा रहता है, वह निश्चित रूप से तय नही कर पाता कि जीवन के कटकाकीर्ण मार्ग मे सत्य क्या है, सही रास्ता क्या है। अगर यही जीवन सव-कुछ है, परमार्थ है ही नही, तो एक विचारधारा वनती है, वह भौतिकवादी-दृष्टिकोण से सोचने लगता है, परन्तु अनिश्चय मे यह भी तो सन्देह हो सकता है कि यह भौतिक-जीवन अन्तिम-अवस्था नही है, यह आगे के दिव्य-जीवन की इधर की कडी है, इस दृष्टि मे वह अध्यात्मवादी-दृष्टिकोण से भी सोचने लगता है। यह अनिश्चय की स्थिति उसके जीवन को डाँवाडोल कर देती है। दूसरा परिणाम यह होता है कि जीवन का कोई स्थिर-लक्ष्य सामने न होने के कारण कभी वह चाँद की तरफ भागने लगता है, कभी ग्रह-उपग्रहो की तरफ, कभी हिमालय की चोटी को नापने लगता, कभी समुद्र की थाह लेने लगता है। ऐसे कामो मे पड जाता है जो कहने को चमत्कारी है, परन्तु जिनका कुछ मतलव नही निकलता, इस दौड-धूप मे उसके हाथ कुछ नही लगता, वहुत-कुछ लगने के वाद भी उसके हाथ खाली-के-खाली रह जाते है।

क्योकि हम अग को, सापेक्ष को, महान् जीवन के इस छोटे-से भाग को ही देख कर जीवन की उलझन मे फँसे पडे हैं, इसलिए सापेक्षता मे उलझे रहने के कारण आज के विश्व के जीवन मे न तो सार्थकता है, न निश्चयता है, न न असन्दिग्वता है, सिर्फ दौड-धूप है, यह दौड-धूप किसलिये है, हम कहाँ भागे जा रहे हैं—इसका किसी को पता नही।

प्रश्न यह है कि क्या जीवन का यही तथ्य है, यही तथ्य कि पूर्ण की कोई सत्ता ही नही, जो दीखता है वही सव-कुछ है, इसके सिवा कुछ नही, Absotute जैसे, Whole जैसे किसी तत्त्व की सत्ता नही, यह जीवन किसी आने वाले जीवन की शृखला मे कोई कडी नही, यही जीवन आदि है, यही अन्त है। पाश्चात्य-दृष्टिकोण यही है। परन्तु पाश्चात्य-दृष्टिकोण जिस पूर्ण की सत्ता से उन्मुख हो रहा है, उसकी सत्ता पर भी पाश्चात्य-विचारको ने ही स्वय प्रकाश डाला है। पाश्चात्य-जगत् मे ही वेकन जैसे ऐसे विचारक हुए हैं जो इस भौतिक-जीवन तथा भौतिक-जगत् को ही सव-कुछ मानते है, इसका आगे के जीवन या जगत् से कोई सम्वन्ध नही जोडते ; पाश्चात्य-जगत् मे ही ऐसे भी विचारक हुए हैं जो भारत के इस वैदिक-विचार की पुष्टि करते हैं कि यह

जीवन और यह जगत् यही बस नही हो जाते, ये सिर्फ अग है किसी अगी के, भाग है किसी भागीदार के, अपूर्ण हैं किसी पूर्ण के। वह कैसे ?

7. भौतिक-जीवन अभौतिक से, सापेक्ष निरपेक्ष से बँधा हुआ है

(क) कुछ साल हुए एक मनोवैज्ञानिक ने एक परीक्षण किया। उसने एक बडा-सा कागज़ लेकर उसमे एक छेद कर दिया। तीन व्यक्ति परीक्षण करने बैठे। एक व्यक्ति जिसे हम 'क' कह सकते है, कागज़ लेकर दूसरे व्यक्ति 'ख' को कागज़ के छेद मे से तीसरे व्यक्ति 'ग' का एक-एक अग दिखलाने लगा। कभी आँख दिखलाई, कभी मुख दिखलाया, इस प्रकार 'ग' के चेहरे के हर-एक अग को वह दिखलाता गया। जब उसके चेहरे के सब अगो को—एक-एक करके—वह दिखला चुका, तब 'क' ने दूसरे व्यक्ति 'ख' से कहा कि तुमने 'ग' के आँख, नाक, कान, सिर आदि सब अग देख लिए, अब इस व्यक्ति के सम्पूर्ण चेहरे की कल्पना करो। जिसे ये सब अंग दिखलाये गए थे, अगर वह चित्रकार था, आर्टिस्ट था, तब उसे कहा गया कि इस व्यक्ति के सब अग तुमने अलग-अलग देख लिये हैं, अब इस व्यक्ति के सम्पूर्ण चेहरे को चित्रित करो। यद्यपि इन लोगो ने छिद्र मे से उस व्यक्ति के हर-एक अग को अलग-अलग-से देख लिया था, तब भी न तो उस चेहरे की कोई सम्पूर्ण रूप मे कल्पना कर सका, न उस चेहरे का कोई चित्र वना सका। यद्यपि उस व्यक्ति—'ग'—की आँख, उसका कान, नाक आदि सब-कुछ छिद्र मे से दिखला दिया गया था, तो भी जब उस व्यक्ति—'ग'—को इन देखने वालो—'ख'—के सामने लाया गया तब उनमे से कोई उसे पहचान न सका। इस प्रयोग से क्या सिद्ध होता है ? इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा चेहरा चेहरे के भिन्न-भिन्न अगो का जोड मात्र नही है, इन अगो के अतिरिक्त भी कुछ है, दूसरे शब्दो मे अगो के मिल जाने से ही अगी नही वन जाता, इनके मिलने के बाद वह अगो से कुछ अधिक, कुछ भिन्न भी हो जाता है, अवयव ही मिल कर अवयवी को, Parts ही मिल कर Whole को नहीं बना देते, अवयवो या Parts के मिल जाने के बाद अवयव या Whole अपने घटक-तत्त्वो से कुछ भिन्न हो जाता है, उसकी अपने अगो या अवयवो से भिन्न सत्ता बन जाती है।

इस प्रयोग से सिद्ध है कि अवयव या अग की, Part की, अवयवी या अंगी या Whole के दृष्टिकोण से ही सत्ता है, पूर्ण की दृष्टि से ही अपूर्ण की सत्ता है, अर्थात—अवयवी या अगी की जिसे हमने निरपेक्ष कहा है, उसकी, अगो के अतिरिक्त अपनी स्वतन्त्र-सत्ता है, अवयवी या अगी अवयवो या अगो का सिर्फ जोड ही नही है, जोड से अतिरिक्त भी वह स्वतन्त्र-कुछ है। दूसरे शब्दों मे, अवयवी को, अगी को, निरपेक्ष को जानने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि

हम अवयवी, अगी या निरपेक्ष के टुकड़े करके उसे अलग-अलग जान लें, इन्हे अलग-अलग जान लेने के वाद भी निरपेक्ष इनसे भिन्न वना रहता है, अगर हम सापेक्ष को, Relative को, अपूर्ण को जान लेते है, तव भी सव-कुछ नही जाना जाता; Absolute, पूर्ण—इन अपूर्णो से अतिरिक्त स्वतन्त्र-रूप मे वना रहता है, नही तो व्यक्ति के अगो को—उसके सापेक्ष-ज्ञान को—पा लेने के वाद, इन सापेक्षो के जोड की कल्पना की जा सकती थी, चित्रकार उसका चित्र वना सकता था जो उक्त प्रयोग के आधार पर हमने देखा कि वह नही वना सका।

(ख) इतना ही नही कि उक्त प्रयोग से सापेक्ष के अतिरिक्त निरपेक्ष की सत्ता सिद्ध है, एक विचारक का तो कहना है कि निरपेक्ष-सत्ता का सव को अनजाने भी ज्ञान रहता है—यह हमे वरवस मानना पडता है। डेकार्ट एक पाश्चात्य-विचारक हुआ है जिसका हम अन्यत्र जिक्र कर आये हैं। उनका कहना है कि क्योकि हमारा ज्ञान सापेक्ष है इसलिये हम सवको निरपेक्ष का ज्ञान भी है। उसका कहना है कि किसी को थोडा ज्ञान होता है, किसी को उससे ज्यादा, और तीसरे किसी को उससे भी ज्यादा, इस प्रकार ज्यादा-ज्यादा की शृखला वनती चली जाती है। जव हम कहते है—'ज्यादा ज्ञान'—तव हम किसी 'ज्ञान' की अपेक्षा से कम-ज्यादा कह रहे होते हैं। अगर हम सवका ज्ञान सापेक्ष है, तो प्रश्न होता है कि यह सापेक्षता कहाँ शुरु होती है? सापेक्षता वही से तो शुरु होगी जहाँ निरपेक्षता होगी, अपूर्णता तभी तो जन्मेगी जव पूर्णता होगी। हम कहते है—आधी रोटी, आधी का ज्ञान तभी तो होगा जव पूरी का ज्ञान होगा। पूरा पहले होगा, तभी आधा या चौथाई हो सकता है, पूर्ण पहले होगा तभी अपूर्ण का ज्ञान हो सकता है। हम सव जानते हैं कि हम सव का ज्ञान अपूर्ण है, परन्तु जवतक हमे अनजाने भी पूर्ण का ज्ञान नही है, तवतक हम कैसे कह सकते हैं कि हमारा ज्ञान अपूर्ण है? सापेक्ष का ज्ञान होना, अपूर्ण का ज्ञान होना सम्भव ही तभी हो सकता है जव हमे निरपेक्ष का, पूर्ण का ज्ञान हो। डेकार्ट का कथन है कि वही निरपेक्ष का ज्ञान ईश्वरीय-ज्ञान है जो हमारे अनजाने हमारे भीतर निहित है। यह विचार योग-दर्शन मे अधिक स्पष्ट रूप मे कहा गया है। पतजलि मुनि का कथन है—'**सः सर्वेषामपि गुरः कालेनानवच्छेदात्**'। हम गुरु से ज्ञान प्राप्त करते है, परन्तु ज्ञान तो अपने से अधिक ज्ञानी से लिया जाता है, हमारा ज्ञान सापेक्ष है हम से किसी अधिक ज्ञानी की अपेक्षा से। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान की शृखला मे जो गुरुओं-का-गुरु है, जहाँ ज्ञान का स्रोत है, वह आदि-गुरु परमात्मा है, उसी की अपेक्षा मे सवके ज्ञान की छोटी-वडी धारा वह रही है।

(ग) अगर हम सापेक्ष को निरपेक्ष से वँधा हुआ न समझें, तो एक विकट-समस्या खडी हो जाती है—सवसे वडी समस्या कि यह अद्भुत-जीवन सर्वथा

निरर्थक—अर्थहीन—बेकार हो जाता है। क्या हम नही देखते कि घास तक का पत्ता-पत्ता सार्थक है। हर वस्तु किसी प्रयोजन को लिये खडी है। शरीर मे आँख, कान, नाक आदि अंग है—इन अंगो का काम भी अपना-अपना निश्चित है। आँख देखने के लिये है, कान सुनने के लिये, नाक सूँघने के लिये है। ये सब अंग इस शरीर के लिये है, तो क्या शरीर आत्मा के लिये नही है! जिधर नज़र उठाये, हर वस्तु किसी प्रयोजन को हल कर रही है। ऐसा कही नही है कि कोई वस्तु है परन्तु उसका कोई प्रयोजन, कोई अर्थ नही है। अर्थहीन और बेकार यहाँ कुछ नही है। अगर हमारा यह मानव-जीवन सापेक्ष नही है, अगर यह किसी अन्य जीवन—उच्च-जीवन—से बँधा हुआ नही है, अगर यह जीवन जीवन की शृखला मे एक कडी नही है, तो यह पैदा होना, नष्ट हो जाना, सर्वथा निरर्थक और निष्प्रयोजन हो जाता है। आज एक सज्जन जो ८५ वर्ष के थे इसी दुविधा मे पडे हुए थे। जीवन के ८५ वर्ष बिता दिये, अब वह समय निकट आता दीख रहा है जब यह लीला समाप्त हो जायगी, खेल खत्म हो जायगा। उन्हे इस प्रश्न ने आ घेरा है कि यह-सब क्या था? हम पैदा हुए और नष्ट हुए—बस, क्या इन दो छोरो मे ही सब तमाशा निपट जाता है? जब पत्ता-पत्ता किसी प्रयोजन को लेकर खडा है, तो यह अद्भुत्-वस्तु—ऐसी वस्तु जिसका कोई सानी नही—यह क्या अर्थहीन है, निरर्थक, निष्प्रयोजन है? नही, प्रयोजन-गर्भित इस विश्व मे मानव-जीवन का यह अन्त नही हो सकता। अवश्य यह एक कडी है किसी शृखला की, यही प्रयोजन है इस कड़ी का कि जीवन की इस महान् लम्बी साकल को दृढ बनाये, और यह जीवन अगले आने वाले जीवन के विकास की दिशा को प्रगति दे।

(घ) यहाँ यह प्रश्न खडा हो जाता है कि जीवन के विकास की क्या दिशा है, जीवन जहाँ से भी चला हो, वहाँ से चल कर किधर जा रहा है? जीवन की इस दिशा को जान कर ही हम यह समझ सकते है कि जीवन की लम्बी शृखला मे क्या-क्या कडियाँ हैं, और हम—व्यक्ति रूप मे—इस शृखला मे कौन-सी कड़ी हैं। सृष्टि मे जीवन सब जगह व्याप्त हो रहा है। पत्थर मे भी जीवन है, वृक्ष, वनस्पति मे भी जीवन है, कीट-पतंग, पशु-पक्षी मे भी जीवन है, मनुष्य मे भी जीवन है। इन सबका जीवन विकास की शृखला मे एक-एक कडी है। पत्थर घटता-बढता है—थोडा-सा भी घटने-बढने मे सदियाँ ले लेता है, इसका जीवन सिर्फ घटने-बढने तक सीमित है। वनस्पति मे जीवन का विकास कुछ अधिक दिखलाई पडता है। वह पत्थर की तरह बिल्कुल जड नही है, एक ही जगह गडा रहता है, परन्तु थोडे ही समय मे घट-बढ जाता है, उगता है, बढता है, सूख जाता है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी मे जीवन का और अधिक विकास हो जाता है, मनुष्य मे जीवन इन सबसे अधिक विकसित हो जाता है। कीट-पतंग,

पशु-पक्षी नैसर्गिक-जीवन व्यतीत करते हैं, बुद्धि का विकास उनमे नही हो पाता, मनुष्य नैसर्गिक-जीवन से बहुत आगे बढ जाता है। जीवन के इस विकास की आत्मा क्या है ? जीवन के विकास की इस आत्मा को जान लेने से ही समझ पड जायगा कि हमारा अपना वैयक्तिक-जीवन इस महान्-शृखला मे कड़ी के रूप मे किस जगह खडा है। अगर हम सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट दीख पडेगा कि ज्यो-ज्यो जीवन आगे-आगे विकसित होता जाता है, त्यो-त्यो भौतिक (Material) से आध्यात्मिक (Spiritual) अपने को अलग करता जाता है। पत्थर मे भौतिक तथा आध्यात्मिक इतने घुले-मिले हैं कि उन्हें जुदा देखा ही नही जा सकता। पत्थर मे ऐसी-कुछ सत्ता है जो पत्थर से अलग है—यह नही दीखता, यद्यपि उसके घटने-वढने से हम कह सकते हैं कि उसमे जीवन की वह कडी है जिसे घटना-वढना—वस, इतना ही कह सकते हैं। वृक्ष-वनस्पति मे एक ऐसी सत्ता प्रकट होने लगती है जो भौतिक (Material) से अपने को अलग करने लगती है। वृक्ष का पौधा उगता है, उसमे कोपले फूटती हैं, वह फलता-फूलता है। अगर उसके भीतर वृक्ष के भौतिक-शरीर के अतिरिक्त कोई चेतन-सत्ता न हो, तो वह उग नही सकता, फल-फूल नही सकता। जो सत्ता पत्थर मे सोई पडी थी वह मानो वृक्ष-वनस्पति मे जाग उठती है। इस सत्ता के जागने का क्या अर्थ है ? इसके जागने का यह अर्थ है कि इसने अपने को भौतिक से अलग करना शुरू कर दिया यद्यपि इसको अभी इस वात का भान होना शुरू नही होता कि भौतिक जुदा है, जीवन की यह आध्यात्मिक-सत्ता जुदा है। भौतिक तथा आध्यात्मिक का पृथकीकरण पशु-पक्षी-जगत् मे और अधिक विकसित हो जाता है, परन्तु मनुष्य मे आकर यह आध्यात्मिक-सत्ता अपने को भौतिक से स्पष्ट रूप मे अलग समझने लगती है, समझने ही नही, देखने भी लगती है। यह मनुष्य मे ही दीखता है कि वह कह उठता है—'मेरा शरीर'। जीवन का एक स्तर ऐसा है जिसमे भौतिक तथा आध्यात्मिक—प्रकृति तथा आत्मतत्त्व—इतने एकात्म हो रहे होते हैं कि उन्हे अलग-अलग समझना कठिन है, परन्तु ज्यो-ज्यो जीवनी-शक्ति का विकास आगे-आगे होता जाता है त्यो-त्यो इन दोनो की पृथक्ता स्पष्ट होने लगती है, यहां तक कि मनुष्य मे आकर हम स्पष्ट तौर से यह देख लेते हैं कि प्रकृति पृथक् है, आत्म-तत्त्व पृथक् है। मनुष्य का यह शरीर जो आत्मा का अधिष्ठान है, उसमे आकर इस शरीर मे वैठी कोई सत्ता शरीर को 'दृश्य' तथा अपने को 'द्रष्टा' अनुभव करने लगती है, उसकी दृष्टि मे शरीर एक वस्तु (Object) है, और शरीर का इस्तेमाल करने वाला आत्मा एक कर्त्ता (Subject) है, शरीर 'भोग्य' है, आत्मा 'भोक्ता' है। मनुष्य के जीवन में विकास पाकर यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक अलग है, आध्यात्मिक अलग है। ये दोनो अलग ही नही, भौतिक साधन है, आध्यात्मिक साध्य

है; भौतिक भोग्य है, आध्यात्मिक भोक्ता है; भौतिक यन्त्र है, आध्यात्मिक यान्त्रिक है; भौतिक नियुक्त है, आध्यात्मिक नियन्ता है। अगर जीवन का विकास इस दिशा मे हो रहा है तो यह कहना युक्तिसगत है कि जीवन की सार्थकता इसी मे है कि हम शरीर को साधन मान कर, यन्त्र मान कर जीवन के कार्य-क्रम का निर्माण करें, इससे उल्टा चलने का यत्न न करे।

परन्तु वस्तु-स्थिति क्या है ? वस्तु स्थिति यह है कि हम शरीर को साधन बना कर जीवन का कार्य-क्रम नही बनाते। हम जीवन का कार्य-क्रम बनाते हैं इस गलत आधार पर कि यह शरीर ही आदि है, यही अन्त है, दूसरे शब्दो मे, इस जीवन से ही हम शुरू करते है, इस जीवन मे ही समाप्त करते हैं; हम इस जीवन को आध्यात्मिक-जीवन की कडी न मान कर यही से इसकी शुरुआत करते हैं, यही इसका अन्त कर देते हैं। अगर सापेक्ष निरपेक्ष से जुडा हुआ है, अपूर्ण पूर्ण की शृंखला मे एक कडी है, तो यह भौतिक-जीवन भी आध्यात्मिक-जीवन को पाने की एक कडी है, यह स्वय शृखला नही है।

8. शरीर तथा आत्मा का एक-दूसरे से भिन्न होने का यह अर्थ नहीं है कि शरीर की उपेक्षा की जाय

हमने जो-कुछ कहा उसका यह अर्थ कदापि नही है कि शरीर कुछ नही, यह भौतिक-जगत् कुछ नही, आत्मा-परमात्मा ही सब-कुछ है। वैदिक-दृष्टिकोण एकाकी नही है। शरीर है, ससार है, परन्तु शरीर ही सब-कुछ नही है, यह भौतिक-ससार ही सब-कुछ नही है—वैदिक-विचारधारा का बस इतना ही मन्तव्य है। वैदिक-विचारधारा यथार्थ-सत्ता के दोनो छोरो को पकडती है—इस छोर को भी, उस छोर को भी। यह छोर दीखता है इसलिये इसे पकड कर बैठ जाना आसान है, यही-कुछ हो भी रहा है, इसीलिए जो यात्री भव-सागर को पार करने के लिए इसी किनारे को पार समझ कर आराम से बैठ जाते हैं उन्हे अपने लक्ष्य की याद कराते रहना प्रत्येक विचारक का काम है। खाना खाओ, पानी पीओ, रहने के लिये मकान बनाओ, बाल-बच्चो को पालने के लिए साधन जुटाओ, मौज-बहार करो—यह बतलाने के लिए किसको जरूरत पडती है ? जरूरत इस बात की पडती है कि खाना ही न खाते जाओ, पेट फट जायगा; पानी ही न पीते जाओ, उल्टी हो जायगी, साधन ही न जुटाते जाओ, स्वय साधन बन जाओगे, इस किनारे पर ही न बैठे रहो, जिस यात्रा पर निकले हो वह यात्रा ही अधूरी समाप्त हो जायगी। उपनिषद् मे कहा है—**'तेन त्यक्तेन भुजीथाः'**—ससार का भोग करो, परन्तु भोग ही न करते रहो, ससार भोग के लिये ही रचा गया है, परन्तु ससार के भोग मे ऐसे लिप्त न हो जाओ कि अपनी सुध-बुध ही भूल जाओ। आत्मा शरीर के बिना, परमात्मा

प्रकृति के विना अपने चैतन्य-स्वरूप को प्रकट नही कर सकता, इसलिये आत्मा के लिए शरीर का और परमात्मा के लिए प्रकृति का विकास उतना आवश्यक है जितना किसी कर्त्ता के लिये, कारीगर के लिए उसके साधन का, उपकरण का उत्तम-से-उत्तम होना आवश्यक है।

9. भौतिक-जीवन आध्यात्मिक-जीवन की शृंखला मे एक कड़ी है—उस दिशा में प्रजापति की खोज

छान्दोग्य उपनिषद् (अष्टम प्रपाठक, 7वा खण्ड) मे एक उपाख्यान आता है जिसमे भौतिक-जीवन को आध्यात्मिक-जीवन का बडे रोचक ढंग से अग वतलाया गया है। कहते हैं कि एक वार प्रजापति ने ढिढोरा पिटवा दिया कि मुझे एक ऐसी सत्ता का पता है जो 'विजर' है, 'विमृत्यु' है, 'विशोक' है, 'विजिघित्स' है, 'अपिपास' है। ससार मे हम क्या देखते है? मनुष्य को जरा-मृत्यु, शोक, भूख-प्यास सताते है, इन्ही को मिटाने के लिए हर मनुष्य दौडा-धूपा करता है। 'विजर' का अर्थ है—जिसमे 'जरा' न हो—'जरा' अर्थात् वुढापा। 'विमृत्यु' का अर्थ है—जिसमे 'मृत्यु' न हो, 'विशोक' का अर्थ है—जिसमे 'शोक' न हो, दुःख न हो, 'विजिघित्सा' का अर्थ है—जिसमे 'जिघित्सा'—'भूख'—न हो, 'अपिपास' का अर्थ है—जिसमे 'पिपासा'—'प्यास' न हो। हमारी जानकारी मे तो वुढापा, मौत, दुःख, भूख, प्यास—यही सव-कुछ देखने मे आता है, परन्तु प्रजापति ने घोषणा कर दी कि उसे एक ऐसी हस्ती का पता है जो इन सव उपद्रवो से वरी है, और साथ ही यह भी कहा कि जो उसे जानना चाहे, मेरे पास आये, 101 वर्ष तक मेरे पास वैठ कर साधना करे, मैं उसे इस रहस्य का पता दूंगा।

प्रजापति का यह ढिढोरा दिग्दिगन्त मे गूंज उठा। मानव-समाज ने सुना। देवो ने भी सुना, असुरो ने भी सुना। देव और असुर कोई जाति-विशेष नही है, मनुष्यो मे ही कुछ देव होते है, कुछ असुर—राक्षस—होते हैं। देवो के प्रतिनिधि को उपनिषद् ने 'इन्द्र' का नाम दिया है, असुरो के प्रतिनिधि को 'विरोचन' का नाम दिया है। 'इन्द्र' का अर्थ है—'इदि परमैश्वर्ये'—जो व्यक्ति ईश्वरीभाव की लगन वाला हो, ईश्वर की तलाश मे फिर रहा हो, 'विरोचन' का अर्थ है जो व्यक्ति रुचि के, लालसा के, चमक-दमक के, दुनियावी-भाव के पीछे भाग रहा हो। दो तरह के ही इन्सान तो दुनिया मे मिलते हैं—ईश्वर की तलाश वाले या दुनिया के सुख-भोग की तलाश वाले, इनमे से पहलो को उपनिषद् ने 'इन्द्र' कहा, दूसरो को 'विरोचन' कहा। इन दोनो प्रकार के लोगो ने प्रजापति की घोषणा को सुना, और अपने प्रतिनिधि 'इन्द्र' तथा 'विरोचन' को प्रजापति के पास भेज दिया, इस मैन्डेट के साथ भेजा कि जाओ, प्रजापति

ने जो यह नई खोज की है, इन्सान की ऐसी हस्ती का पता लगाया है जिसको पाकर न वह बूढा होता है, न मरता है, न दुखी होता है, न उसे भूख लगती है, न प्यास लगती है, जाओ प्रजापति की उस खोज का पता लगा कर आओ।

इन्द्र और विरोचन दोनो प्रजापति के दरबार मे पहुँचे और 32 वर्ष तक प्रतीक्षा करते रहे ताकि प्रजापति अपनी खोज के विषय मे कुछ कहे। 32 वर्ष के बाद प्रजापति ने उनसे कहा—तुम एक-दूसरे की आँखो मे देखो। आँखो मे जो पुरुष दीखता है वही अजर, अमर, अशोक है, उसका नाम 'आत्मा' है, यही मेरी खोज है। उन दोनो ने पूछा—भगवन्, यह जो जल मे अपनी परछाई के तौर पर दीखता है, दर्पण मे प्रतिबिम्ब के तौर पर दीखता है—यह क्या है? प्रजापति ने कहा—जो आँखो मे दीखता है, जो जल मे दीखता है, जो दर्पण मे दीखता है, यह वही 'आत्मा' है।

फिर प्रजापति ने उन दोनो से कहा—पानी के बर्तन मे तुम दोनो अपने को देखो, और आत्मा के विषय मे जो समझ न पडे वह मुझसे पूछो। उन्होने पानी का बर्तन लाकर उसमे देखा। प्रजापति ने पूछा—क्या दीखता है? उन्होने कहा—हमे अपना पूर्ण रूप दीखता है, लोम से नख तक, अपना प्रतिरूप दीखता है। प्रजापति ने फिर उन दोनो से कहा—सुन्दर अलकार और वस्त्र धारण करके, साफ-सुथरे होकर, पानी के बर्तन मे देखो। उन दोनो ने सुन्दर अलकार और सुन्दर वस्त्र धारण किए, और पानी के बर्तन मे देखने लगे। प्रजापति ने उनसे पूछा—क्या दीखता है? उन्होने कहा—भगवन्, जैसे हम सुन्दर अलकार, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए है, साफ-सुथरे हैं, इसी प्रकार हम दोनो के बिम्ब भी सुन्दर अलकार वाले, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए और साफ-सुथरे दीखते है। प्रजापति ने कहा—यह जो तुम देख रहे हो, जागते हुए, जब शरीर जागृतावस्था मे हैं, यह आत्मा का जाग्रत-स्थान है।

प्रजापति ने अपनी बात एक पहेली मे कह दी। यह नही कहा कि यह शरीर ही आत्मा है, यह कहा कि जब शरीर जाग रहा होता है, जाग्रतावस्था में होता है, तब आत्मा का आसन, आत्मा की बैठक, आत्मा का स्थान शरीर की जाग्रतावस्था मे होता है। शरीर जाग गया, तो आत्मा जागते हुए शरीर को चौकी बना कर हमारे सामने जा बैठा।

प्रजापति ने पहेली मे जो बात कही थी उसका अर्थ इन्द्र तथा विरोचन ने यही समझा कि यह शरीर ही आत्मा है, यही अजर-अमर है, दुःख रहित है। 32 वर्ष की तपस्या के बाद यह बात हाथ लगी। दोनो बडे प्रसन्न हुए, समझते थे कि बहुत गहरी कोई खोज होगी, परन्तु यह जान कर कि इतनी आसान बात थी, खुशी से घर लौट पडे।

उन दोनो को इस प्रकार पहेली का गूढ अर्थ जाने बगैर लौट जाते देख कर प्रजापति अपने हृदय मे कहने लगे—ये दोनो 'आत्मा' को उपलब्ध किये बिना, जाने बिना जा रहे हैं। इन दोनो मे से जो शरीर को ही आत्मा समझ कर उसकी सेवा मे जुट जायगा वह धोखा खायेगा, पछतायेगा। देखें, इनमे से कौन मेरी पहेली के गूढ अर्थ को समझता है, जो समझेगा वह जरूर वापस लौट आयगा।

विरोचन तो विरोचन ही था, शरीर को रोचमान रखने मे, सजाने-बजाने, कघी-पट्टी करने तथा रुचि के अनुसार मनमौजी जीवन बिताने मे उसका चित्त था। उसने असुरो की अपनी मण्डली मे जाकर कहा कि प्रजापति तो हमारा ही चेला मालूम पडता है, हम शरीर को ही सब-कुछ मानते हैं, वह भी कहता है कि शरीर ही आत्मा है, शरीर की ही सेवा करो। अगर प्रजापति की यही खोज है तो दुनियाँ की मौज-बहार लूटो, आनन्द करो और गुलछर्रे उडाओ।

इन्द्र घर को लौट तो पडा, परन्तु रास्ते मे ही संकल्प-विकल्प मे उलझ गया। उसे लगा कि प्रजापति ने आत्मा के विषय मे जो पहेली कही थी वह उसे ठीक-से नही समझा। वह सोचने लगा—जैसे जल मे दीखने वाली छाया शरीर के अलकृत होने पर अलंकृत हो जाती है, साफ-सुथरी दीखती है, इसी प्रकार शरीर के अधे होने पर अधी, लँगडे-लूले होने पर लगडी-लूली भी तो हो जाती है, शरीर के नष्ट हो जाने पर यह भी नष्ट हो जाती है। ऐसी हालत मे आँख मे प्रतिबिम्ब रूप मे, जल मे छाया रूप मे, दर्पण मे परछाई रूप मे दीखने वाले को हम अजर, अमर, दु ख रहित, भूख-प्यास रहित कैसे मान सकते हैं। मुझे प्रजापति की बात समझने मे कोई भूल हो गई प्रतीत होती है। यह सब सोचता-सोचता इन्द्र अपनी देवो की मण्डली मे जाने के स्थान मे फिर प्रजापति के पास लौट आया।

प्रजापति ने कहा—हे इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ सब-कुछ सुन-सुना कर चले गये थे, अब फिर क्यो लौट आये? इन्द्र ने कहा—भगवन्! आँख, जल या दर्पण मे दीखनेवाली छाया जैसे शरीर के अलकृत होने पर अलकृत हो जाती है, वैसे अधे होने पर अधी, काणे होने पर काणी हो जाती है, विकलाग होने पर लूली-लँगडी हो जाती है, शरीर के नष्ट होने पर नष्ट भी हो जाती है। ऐसी हालत मे अगर यह शरीर ही आत्मा है तो यह अजर, अमर, दु खहीन, भूख-प्यास हीन कैसे हो सकता है? आप तो कहते थे, आत्मा जरा-मरण, दु ख-भूख-प्यास रहित है।

प्रजापति ने कहा—ठीक, तुम कुछ-कुछ मेरी पहेली को समझते नजर आते हो। तुम अगर जरा-मरण रहित आत्मा को जानना चाहते हो, तो अभी 32

वर्ष और मेरे पास रह कर तपस्या करो, तब देखूँगा कि तुम मेरी खोज को समझने योग्य हुए हो या नही। इन्द्र फिर प्रजापति के आश्रम मे रह कर तपस्या करने को कटि-बद्ध हो गया।

32 वर्ष बीत जाने पर प्रजापति ने इन्द्र को उपदेश दिया कि स्वप्नावस्था मे जो महिमाशाली होकर विचरता है, दूर-दूर की दौड लगाता है, भिन्न-भिन्न रूपो को धारण कर लेता है, बैठे-बिठाये राजा, सेठ, साहूकार हो जाता है, वही आत्मा है। इन्द्र को यह बात कुछ-कुछ जँची क्योकि शरीर के लँगडा होने पर भी स्वप्नावस्था मे वह दोनो पैरो से दौड लगाता है, पख न होने पर भी आसमान मे उड़ता है, अन्धा होने पर भी दुनिया को देखता और बहरा होने पर भी संगीत का आनन्द उठाता है। अवश्य यह हस्ती जो स्वप्नावस्था मे प्रकट होती है जरा-मरण, दु ख, भूख-प्यास से रहित होगी क्योकि यह ससार के बन्धनो से मुक्त प्रतीत होती है। यह सोच कर इन्द्र अपनी संगत के लोगो की तरफ चल पडा, परन्तु कुछ दूर जाकर उसे फिर सन्देहो ने आ घेरा। वह सोचने लगा, यह ठीक है कि शरीर के बध से उसका बध नही होता, शरीर के लँगडा होने से वह लँगडा नही होता, शरीर के काणा होने से वह काणा नही होता, परन्तु स्वप्न मे ऐसा तो प्रतीत होता है कि कोई उसे मारने के लिए उसका पीछा कर रहा है, उसे दु ख होता है, दु ख मे रोने लगता है। प्रजापति का तो कहना है कि आत्मा को कोई दु ख नही होता, वह भयभीत नही होता, परन्तु स्वप्नावस्था मे जो हस्ती हमारे सामने प्रकट होती है वह तो दु·खी भी होती है, कष्ट सामने देख कर रोती-चिल्लाती भी है, भयानक दृश्य देख कर भयभीत भी होती है, ऐसी हस्ती 'आत्मा' कैसे हो सकती है? यह सब सोच कर इन्द्र फिर रास्ते से वापस लौट आया।

प्रजापति ने उसके लौट आने पर उससे पूछा—इन्द्र, तुम क्यो लौट आये? इन्द्र ने कहा—भगवन्, यद्यपि यह ठीक है कि शरीर अन्धा हो जाय तो स्वप्न देखनेवाला अन्धा नही होता, शरीर काणा हो जाय तो स्वप्न देखने वाला काणा नही होता, न शरीर के वध से यह मरता है, परन्तु स्वप्न मे ऐसा तो उसे अनुभव होता है जैसे कोई उसे मार रहा है, कभी-कभी वह रोने भी लगता है, ऐसी हालत मे उस स्वप्न-द्रष्टा को मैं 'आत्मा' कैसे मान सकता हूँ? प्रजापति ने उत्तर दिया—हे इन्द्र! तूने ठीक शंका की, तू 32 वर्ष और मेरे आश्रम मे रह कर तपस्या कर, तब तेरी समझ मे ठीक-ठीक आ जायेगा कि जरा-मरण से, दु ख से, भूख-प्यास से रहित अखण्ड आत्मा का स्वरूप क्या है?

इन्द्र 64 वर्ष तपस्या कर चुका था, 32 वर्ष और प्रजापति के आश्रम मे तपस्या करता रहा। इस प्रकार जब तपस्या मे 96 वर्ष बीत गये तब प्रजापति ने जो कहा उसका सार यह था—

मनुष्य तीन अवस्थाओ मे मे गुजरता रहता है—जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था। जाग्रतावस्था तो वह है जिसमे मनुष्य शरीर मे निवास करता दीखता है, जिसे विरोचन ने पहेली को न समझ कर 'आत्मा' मान लिया, और असुरो मे जाकर घोषित कर दिया कि शरीर ही 'आत्मा' है। स्वप्नावस्था वह है जिसमे मनुष्य स्वप्न मे निवास करता दीखता है, जिसे पहेली को गूढ रखने के लिए प्रजापति ने 'आत्मा' कह दिया, परन्तु जिसे इन्द्र ने 'आत्मा' मानने से इन्कार कर दिया। शरीर की इन दोनो अवस्थाओ के अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था है जिसे सुषुप्ति-अवस्था कहा जाता है। सोने के बाद जहाँ पहुंच कर यह हस्ती 'समस्त' हो जाती है, बिखरी नही रहती, सिमिट जाती है, न जागने की हालत की तरह देखती, सुनती, चलती, फिरती है, न सोने की हालत की तरह बिना आँखो को खोले देखती, बिना कानो के सुनती, बिना टाँगो के चलती, बिना वाणी के बोलती, बिना किसी साधन के सब काम करती है, जहाँ पहुंच कर इसमे कोई क्रिया नही होती, जहाँ से लौट आने पर प्रात काल मनुष्य कहता है—बडा आनन्द आया, वह हस्ती, वह सत्ता ही 'आत्मा' है, उसमे न जरा है, न मृत्यु, न भूख है, न प्यास, उसमे किसी प्रकार का दु ख नही।

इन्द्र को यह बात बहुत रुचिकर जँची। उसे समझ आने लगा कि शरीर आत्मा नही है, स्वप्नावस्था मे जो शक्ति काम करती है वह भी 'आत्मा' नही है, सुषुप्ति मे किसी ऐसी शक्ति की जरूर झलक आ जाती है जो सोकर उठने पर अनुभव करती है कि बडे आनन्द से सोया। सुषुप्तावस्था से लौटने पर जो कहता है—बडा आनन्द आया—वह किस आनन्द को स्मरण कर रहा है ? यह सब-कुछ इन्द्र को समझ पडने लगा, परन्तु फिर उसे सन्देहो ने आ घेरा। वह सोचने लगा कि सुषुप्तावस्था मे तो उसे यह भी ज्ञान नही रहता कि 'यह मैं हूँ', उस समय तो वह अपने को भी नही जानता। जब उसे अपना ही ज्ञान नही रहता तब तो वह शून्य हो जाना चाहिये। तब तो वह रह ही नही जाना चाहिये, जो रह ही नही जाता, उसे 'आत्मा' कैसे कहा जा सकता है ? इन सकल्प-विकल्पो मे घिर जाने पर इन्द्र फिर प्रजापति के पास लौट आया। प्रजापति ने पूछा—अब क्यो लौटे, तो इन्द्र ने अपना सन्देह फिर सामने रख दिया। उसने कहा कि सुषुप्तावस्था मे तो हमारे भीतर की हस्ती को अपना भी ज्ञान नही रहता, वह तो जडवत् हो जाती है, मानो रहती ही नही, फिर उसे कैसे अजर, अमर कहा जा सकता है ?

प्रजापति ने कहा—इन्द्र ! तुम सत्य के बहुत निकट पहुंच चुके हो, अभी 5 वर्ष और तपस्या कर लो, तब तुम्हे आध्यात्मिक पहेली खोल कर समझा देंगे। इन्द्र ने 5 वर्ष और तपस्या की, और प्रजापति की असाधारण खोज का

रहस्य जानने के लिए पूरे 101 वर्ष इस ज्ञान को पाने के अर्पण कर दिये। तब प्रजापति ने कहा—इन्द्र, तुम सुपुप्ति मे से जब जाग्रतावस्था मे आते हो, तब तुम्हे स्मरण रहता है कि इस बीच बडे आनन्द मे रहे। अगर उस सुपुप्ति की अवस्था मे तुम जड़ हो गये होते, तुम्हारी सत्ता ही न रही होती, तुम होते ही नही, तब —'बडे आनन्द मे रहा'—यह प्रतीति कैसे होती ? इन्द्र, तुम्हारा यह अनुभव करना कि सुषुप्ति के 5-6 घण्टे तुमने आनन्द से विताये, ऐसे आनन्द से कि उसकी याद अबतक बनी हुई है, इसीलिये होती है क्योकि तब तुम अपने "आत्म-रूप' मे, 'स्व-रूप' मे पहुँच गये थे। सुपुप्ति के आनन्द का अनुभव 'आत्मा' की एक झलक है, जिसकी यह झलक है वही 'आत्मा' है, वही अजर-अमर है। उसकी झलक हर-किसी को होती है, उसकी आनन्दमय-झलक का होना ही सिद्ध करता है कि वह है, केवल है ही नही, आनन्द उसका स्वभाव है।

इन्द्र की समझ मे यह तो आ गया कि 'आत्मा'-नाम की कोई आनन्द-स्वभावी सत्ता है, परन्तु प्रश्न उठ खडा हुआ कि वह कहाँ है, कहाँ उसका वास है ? इसका उत्तर माण्डूक्य उपनिषद् मे दिया गया है—

माण्डूक्य उपनिपद् के ऋषि का कहना है कि आत्मा की झलक ही नही, आत्मा मानो प्रत्यक्ष दीखता है। अपने विचार को स्पष्ट करने के लिए ऋपि ने दो शब्दो का प्रयोग किया है। एक है—'अवस्था', दूसरा है—'स्थान'। ऋषि का कहना है कि 'अवस्था' शरीर की होती है, 'स्थान' आत्मा का होता है। शरीर की जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ है, तीन हालात हैं। जब शरीर की जाग्रत-अवस्था होती है, तब आत्मा का जाग्रत-स्थान होता है, जब शरीर की स्वप्न-अवस्था होती है, तब आत्मा का स्वप्न-स्थान होता है; जब शरीर की सुपुप्ति-अवस्था होती है, तब आत्मा का सुपुप्ति-स्थान होता है। इसका क्या अभिप्राय है ? इसका यह अभिप्राय है कि जब शरीर जाग रहा होता है, काम-काज मे लगा होता है, तब आत्मा भीतर से बाहर आकर, कोठे पर आकर बैठ जाता है, वहाँ अपना स्थान बना लेता है। शरीर जाग गया। क्यों जाग गया ? क्योकि आत्मा बाहर आकर बैठ गया। बाहर आकर बैठ गया का मतलब क्या है ? शरीर स्वय तो मिट्टी का ढेला है, वह अपने-आप कुछ नही कर सकता, आँख की पलक नही मार सकता, जबतक कोई दूसरी शक्ति उसे हाथ मे पकड़ कर उसमे गति का सचार नही कर देती। संसार मे जितना भौतिक-पदार्थ है वह जैसे-का-तैसा पड़ा रहे अगर कोई चेतन-शक्ति उसमे गति उत्पन्न न कर दे। कल्पना कीजिये कि एक शहर है, सैकड़ो मकान बने हुए हैं, सड़को पर बिजली के खम्भे लगे हं, बिजली का तार भी खिंचा है, परन्तु उस शहर मे उन मकानो मे रहने वाला एक भी आदमी नही है, न ही बिजली की तारो मे बिजली आ रही है। अगर इन मकानों मे कोई रहने वाला नही

है, अगर विजली की तारो मे विजली नही है, तो भले ही इस सारे शहर पर लाखो क्या करोडो रुपये खर्च हो गये हो, यह सारा-का-सारा खेल मट्टी का ढेर है। हाँ, अगर इन मकानो का इस्तेमाल करने वाले आ जायें, तारो मे विजली की करेंट आ जाय, तो इस मट्टी के ढेर मे जान आ जाय, यह मुर्दा जी उठे। यह मुर्दा कैसे जी उठता है ? जिस शक्ति से यह जी उठेगा वही तो इसकी 'आत्मा' है, वही तो इस शहर की 'जाग्रत-अवस्था' है, और इस शहर को जिन्दा कर देने वाली शक्ति का 'जाग्रत-स्थान' है। वह शक्ति मानो प्रत्यक्ष रूप धारण कर हमारे सामने आ खडी हो जाती है। इसीलिये माण्डूक्य उपनिषद् के ऋपि का कहना है कि जव भी ससार जाग रहा होता है, यह शरीर या यह विश्व जव क्रियाशील हो रहा होता है, तव इस जागने मे ही इसके 'आत्मा' का मानो प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। प्रत्यक्ष इसलिये हो जाता है क्योकि अगर इस मट्टी मे जान डाल देने वाली शक्ति को खीच लिया जाय, तो फिर करोड़ो की लागत से वनी ये 20-25 मंजिल की इमारते सिर्फ मट्टी-की-मट्टी रह जाती हैं। जिस शक्ति से इनमे इस प्रकार जान पड जाती है उसे क्या अप्रत्यक्ष कहा जा सकता है ? प्रत्यक्ष क्या उसी को कहते है जो आँखो से ही दीखे ? यह क्या प्रत्यक्ष से कम है जो आँखो से न दीखती हुई भी देखने से भी ज्यादा दीख जाती है, अनुभव मे दीख जाती है ?

शरीर की जाग्रतावस्था मे इसके पीछे वैठा आत्मा एवं विश्व की जाग्रतावस्था मे इसके पीछे वैठा परमात्मा जाग्रत-स्थान मे आ वैठता है, शरीर की स्वप्नावस्था मे यह आत्मा एव विश्व की स्वप्नावस्था मे परमात्मा स्वप्न-स्थान मे चला जाता है, शरीर की सुषुप्तावस्था मे यह आत्मा एव विश्व की सुषुप्तावस्था मे परमात्मा सुपुप्त-स्थान मे चला जाता है। 'अवस्था' आत्मा एव परमात्मा की नही, शरीर तथा विश्व की है, 'स्थान' शरीर तथा विश्व का नही, मानो आत्मा एव परमात्मा का है। शरीर जिस-जिस अवस्था मे जाता है, आत्मा एव परमात्मा उस-उस अवस्था मे जीवन का सचार करने के लिये उस-उस स्थान मे अपनी शक्ति का प्रकाश करते है। इस दृष्टि से माण्डूक्य उपनिषद् ने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया कि आत्मा एव परमात्मा का स्थान कहाँ है, उनका वास कहाँ है। उपनिषद् मे प्रकरण आत्मा के सम्वन्ध मे है, उत्तर आत्मा एव परमात्मा—दोनो पर घटित हो जाता है।

यह ठीक है कि आत्मा दीखता नही, हमारी आँखो से नही दीखता, हमारे मन से भी पकड मे नही आता। आँखो से नही दीखता, मन की पकड मे नही आता, तो क्या हुआ, क्या इतने से मान लें कि उसकी शरीर से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है ? हमारी हर इन्द्रिय का अपना-अपना स्वतन्त्र काम है। आँख का काम विषय को देखना है, कान का काम शब्द को सुनना है,

त्वचा का काम वस्तु का स्पर्श करना है, जीभ का काम रस लेना है। अगर कोई अन्धा सिनेमा देखने जा बैठे और कहे कि मैं कानो से सिनेमा देखूँगा, या कोई बहरा संगीत-सम्मेलन मे चला जाय और कहे कि मैं आँखो से सुनूँगा, तो क्या यह हो सकने वाली बात है? आँख का काम देखना है, सुनना नही, कान का काम सुनना है, देखना नही। आँख-कान तथा अन्य इन्द्रियो का जो-कुछ भी काम है वह भी स्वतन्त्र नही, वह मन के अधीन है। अगर आँख खुली है और मन साथ नही दे रहा, तो खुली आँख से भी हम देख नही पाते, अगर कान खुले हैं और मन साथ नही, तो खुले कानो से भी हम सुन नही पाते। ठीक इसी तरह मन का काम भी आत्मा को देखना नही, इन्द्रियो को देखना और इन्द्रियो से काम लेना है। इन्द्रियो का मुख सामने है, विषयो की तरफ, इन्द्रियो की पीठ पीछे है, इन्द्रियो की पीठ पर प्रहार करने के लिये मन बैठा है जो इन्द्रियो को आगे चलाता है। इन्द्रियाँ विषयो को देखती हैं, मन को नही, क्योकि मन इन्द्रियो की पीठ के पीछे है, उन्हे चला जो रहा है। ठीक इसी तरह मन की आँखें इन्द्रियो की तरफ है, मन की पीठ पर, उसे चलाने के लिये आत्मा बैठा है जो मन को चला रहा है। जैसे इन्द्रियाँ मन को नही देख पाती, विषयो को देखती हैं, मन आत्मा को नही देख पाता, इन्द्रियो को देखता है, इसी प्रकार आत्मा मन को देखता है, मन को चलाता है, आत्मा के पीछे कुछ नही, सिर्फ परमात्मा है। मन न हो, तो इन्द्रियाँ काम नही कर सकती, आत्मा न हो तो मन काम नही कर सकता। इस सारे व्यूह मे शक्ति का सचार आत्मा द्वारा हो रहा है जिसे मन देख नही सकता क्योकि मन मे आत्मा को देखने की शक्ति नही है, ठीक ऐसे जैसे आँख मे सुनने की और कान मे देखने की शक्ति नही है।

वैदिक-सस्कृति की आध्यात्मिक खोज, जिस खोज का छान्दोग्य तथा माण्डूक्य उपनिषदो मे उल्लेख है यही है कि मानव मे दो सत्ताएँ हैं—एक उसका 'शरीर', दूसरी उसकी 'आत्मा'। इस खोज के दो रूप हैं। इस खोज का पहला रूप यह है कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है, हमारा शरीर ही अन्तिम सत्ता नही है, शरीर के नष्ट हो जाने से सब नष्ट नही हो जाता, शरीर के नष्ट हो जाने पर जो बच रहता है वह आत्मा है, इन दोनो को अलग-अलग समझ लेना आवश्यक है। इस खोज का दूसरा रूप यह है कि शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है, शरीर भंगुर है, नाशवान् है, आत्मा अभंगुर है, नाशरहित है। अनित्य का यह अर्थ नही है कि है ही नही। जो 'है', दीखता है, जो ही दीखता है— उसे 'नही' है, कौन कह सकता है। 'शरीर है'—यह तो स्पष्ट है, अन्धे को भी दीखता है, परन्तु यह होता हुआ भी अनित्य है, टिकाऊ नही है। हममे यह 'शरीर' और सृष्टि मे यह 'भौतिक-जगत्'—ये दोनो हर समय बदल

रहे है, इस क्षण जो है, दूसरे क्षण वह नही रहता। इसीलिये सस्कृत मे हमारे पाँचभौतिक देह के लिये 'शरीर' तथा पाँचभौतिक विश्व के लिये 'जगत्'—'ससार'—ये शब्द प्रयुक्त होते हैं। 'शरीर' का अर्थ है जो क्षरण होने वाला हो, क्षीण हो रहा हो, पल-पल जो खर रहा हो, 'जगत्' का अर्थ है जो गति कर रहा हो—**'गच्छतीति जगत्'**—पल-पल जिसके अणु-परमाणु वदल रहे हो, 'ससार'-शब्द का भी यही अर्थ है—**'ससरतीति संसारः'**—जो सरण कर रहा हो, चलायमान हो, टिक न रहा हो। शरीर तथा ससार को अनित्य कहने का यही अर्थ है कि न शरीर टिकने वाला है, न ससार टिकने वाला है, दोनो वदल रहे है, ऐसे वदल रहे हैं जैसे नदी की धारा क्षण-क्षण वदलती जाती है, इस क्षण जो जल-धारा सामने है, दूसरे क्षण वह नही है, न होते हुए भी दीखती यही है। रेलगाडी दौडी चली जा रही है, हर सैकण्ड रास्ता नाप रही है, वदलते रास्ते पर है परन्तु टिकी मालूम पडती है। शरीर के अणुओ के विषय मे वैज्ञानिको का कहना है कि शरीर की कोशिकाएँ (Cells) इस तेजी से वदल रही हैं कि सात साल मे सव पुरानी कोशिकाएँ वदल कर नयी वन जाती हैं। दूसरे शब्दो मे, सात साल के भीतर हमारा पुराना शरीर नही रहता, नया शरीर वन जाता है, पुराना मर जाता नया उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से सत्तर वरस का व्यक्ति जीते-जी सात वार मर जाता, सात वार नया शरीर धारण कर लेता है। विश्व के अणु-परमाणु तो इनसे भी तेज़ी से वदलते है। इसी लगातार वदलाहट को ही शास्त्रो मे 'अनित्य' कहा है। शरीर इन्ही अर्थों मे अनित्य है, ससार भी इन्ही अर्थों मे अनित्य है, परन्तु जो भी अनित्य है वह किसी नित्य के सहारे, जो भी वदल रहा है वह किसी न वदलने वाले के सहारे टिका हुआ है। माला के मनके गिने जा रहे हैं, परन्तु उन्हे न गिने जाने वाले सूत्र ने संभाल रखा है, चक्की चक्कर काट रही है, परन्तु वह स्थिर कीली के सहारे घूम रही है, गाडी का पहिया गोलाई मे घूम रहा है, परन्तु वह न घूमने वाली धुरी पर टिका हुआ है। चलने वाला चल नही सकता जवतक वह अचल के साथ न टँगा हो, घूमने वाला घूम नही सकता जवतक वह स्थिर के साथ न वँधा हो, अनित्य अनित्य नही हो सकता, अस्थिर अस्थिर नही हो सकता, नाशवान् नाशवान् नही हो सकता, जवतक अनित्य को नित्य का, अस्थिर को स्थिर का, नाशवान् को अविनाशी का सहारा न हो। अनित्य, अस्थिर, नाशवान् इस शरीर के पीछे नित्य, स्थिर तथा अविनाशी जो तत्व है, वही शरीर मे आत्मा है, विश्व मे परमात्मा है जिसके विषय मे प्रजापति ने घोषणा की थी कि उसे जानने से मनुष्य नित्य हो जाता है, जरा-मृत्यु, भूख-प्यास, कष्ट-दुःख को तर जाता है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि अगर हमने ये दोनो वातें जान ली—यह जान लिया कि शरीर तथा आत्मा अलग-अलग दो तत्व हैं—शरीर मे

आत्म-तत्व तथा विश्व मे 'परमात्म-तत्व'—और यह जान लिया कि शरीर तथा जगत् अनित्य एव आत्मा तथा परमात्मा नित्य हैं—तो इसका व्यावहारिक रूप मे हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पडने वाला है ?

अगर गहराई से सोचा जाय, तो हमारी हर समस्या का मूल-स्रोत एक है। वह मूल-स्रोत यह है कि हम अस्थिर को स्थिर चाहते हैं, नाशवान् को अविनाशी चाहते है, अनित्य को नित्य चाहते है। अगर हमे समझ पड जाय कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है, जगत् अलग है, परमात्मा अलग है, शरीर को जीवन आत्मा देता है, आत्मा को जीवन शरीर नही देता, ससार को जीवन परमात्मा देता है, परमात्मा को जीवन ससार नही देता, शरीर तथा ससार अनित्य है, परिवर्तनशील है, आत्मा तथा परमात्मा नित्य हैं, तो हमारा जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाय। दृष्टिकोण किस प्रकार बदल जाय ? 'शरीर' स्वय मे कुछ नही, यह एक प्रकार का साधन है, उपकरण है—आत्मा का। आत्मा शरीर का मालिक है, इसके द्वारा वह ससार के विषयो का उपभोग करता है। अगर शरीर साधन है, तो साधन के प्रति जो दृष्टि होनी चाहिये वही दृष्टि शरीर के प्रति होना ही यथार्थ-दृष्टि है। कठोपनिषद् मे कहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। 3। 3
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण. । 3। 4

शरीर एक रथ है, इस पर रथ का मालिक आत्मा बैठा है। बुद्धि रूपी साईस इस रथ को चला रहा है जिसके हाथ मे मन रूपी लगाम है। लगाम को इधर फेरो तो रथ इधर और उधर फेरो तो उधर चल देता है। लगाम इन्द्रिय रूपी घोड़ो के मुख मे बँधी हैं, और ये घोड़े लगाम के इशारे पर ससार के विषय-रूपी मार्ग पर दौड़े चले जा रहे है। यह दृष्टिकोण कब बनता है ? यह दृष्टिकोण तब बनता है जब हम यह मथ लेते है कि हम अलग हैं, शरीर अलग है, हम मालिक बन कर इस शरीर-रूपी रथ को जहाँ चाहे चला रहे है। आज स्थिति उल्टी है। आत्मा मालिक नही, इन्द्रियाँ शरीर की मालिक बनी हुई हैं, और वे जहाँ चाहती हैं इस रथ को चला रही हैं। वैदिक ऋषियो की—प्रजापति की—शरीर तथा आत्मा के विषय मे जो खोज थी उससे शरीर मालिक नही नौकर बन जाता था और उसी दृष्टिकोण से जीवन का चक्र चलता था।

हमारी मुसीबत का कारण क्या है ? हम धन जमा करते हैं, धन अनित्य है, टिकने वाला नही है, परन्तु हम उसे नित्य बनाना चाहते हैं ; हम मकान बनाते हैं, मकान अनित्य है, परन्तु हम उसे नित्य बनाना चाहते हैं; हमारे सब सम्बन्ध अनित्य हैं, पिता के लिये पुत्र, पुत्र के लिये पिता, पति के लिये पत्नी,

पत्नी के लिये पति, ये सब रिश्ते है, इनसे इनकार नही किया जा सकता, परन्तु ये सब अनित्य हैं, इन्हे अनित्य जान कर चलने से जब ये टूटते हैं तब दु ख नही देते, इन्हे नित्य मान कर चलने से जब ये टूटते हैं—और टूटते ये किसी-न-किसी दिन अवश्य हैं—तब हमे दु ख-सागर मे डुबो देते हैं। अनित्य कहने का यह अर्थ नही है कि धन की, मकान की, सम्पत्ति की, पिता-पुत्र-पति-पत्नी के रिश्तो की कोई सत्ता नही है, इनकी सत्ता है, परन्तु इनकी सत्ता उतनी ही है जितनी बहते पानी मे नदी के उस प्रवाह की सत्ता है जो हमारे सामने से बह कर आगे चला जा रहा है। यह दृष्टिकोण यथार्थ-दृष्टिकोण है, यही व्यावहारिक-दृष्टिकोण है, यही आत्मा को नित्य और शरीर को अनित्य जानने का दृष्टिकोण है, यही छान्दोग्योपनिषद् के प्रजापति की घोषणा का दृष्टिकोण है, यही जीवन का सोलह आने सही दृष्टिकोण है।

परन्तु इस दृष्टिकोण को पा लेना सहज काम नही है। प्रजापति ने इस खोज की घोषणा की थी, परन्तु इन्द्र को इसे जीवन मे उतारने के लिये 101 वर्ष लगे थे। कहने को इस खोज को दो मिनटो मे कहा जा सकता है, परन्तु करने को इसके लिये 101 वर्ष भी थोडे है। आदमी धन कमाने मे लगता है, तो—'मिलेगा'—इस आशा मे जीवन बिता डालता है, परन्तु आध्यात्मिक-जगत् के रस का पाने के लिये वह मिनटो मे या फालतू समय मे सब-कुछ पा लेना चाहता है। प्रजापति का कहना है कि इस खोज को ठीक-से पाने मे 101 बरस का भी समय काफी नही है।

10 पंचकोशो का विचार जीवन की सापेक्षिकता का विचार है

हमने कहा था कि जीवन सापेक्षिक है? किस दृष्टि से सापेक्षिक है? प्रजापति के शब्दो मे, भौतिक-जीवन तभी तक जीवन है, जबतक वह आध्यात्मिक-जीवन का अग है, उसके साथ बधा हुआ है, शृखला की एक कडी है। जब तक हम विरोचन की तरह शरीर को ही आत्मा समझते रहते है, इसे एक कडी समझकर इसे शृखला मे नही जोडते, तब तक हम अजर-अमर आत्मा के क्षेत्र मे नही पहुँच पाते, मरणधर्मा-शरीर के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रहते है। एक तरह से शरीर को ही सब-कुछ समझ लेना और शरीर से आगे न देखना मृत्यु है, शरीर के भीतर वास करने वाले आत्मा को पा लेना जीवन है, इस भौतिक-जगत् को ही सब-कुछ समझ लेना और भौतिक-जगत् से आगे न देखना मृत्यु है, भौतिक-जगत् के भीतर बस रहे परमात्मा को पा लेना—**'ईशावास्यमिद सर्वं'**—जीवन है। शरीर तथा आत्मा की जीवन की दृष्टि मे पारस्परिक-सापेक्षिकता का तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द वल्ली, 2 य अनुवाक) मे पचकोशो के रूप मे बडा सुन्दर वर्णन पाया जाता है। उपनिषद् का कहना है कि हमारे भीतर पाँच कोश है—**अन्नमय-कोश,**

प्राणमय-कोश, मनोमय-कोश विज्ञानमय-कोश तथा आनन्दमय-कोश। आत्मा का निवास अन्नमय-कोश मे हो सकता है, प्राणमय-कोश मे हो सकता है, मनोमय-कोश मे हो सकता है, विज्ञानमय-कोश मे हो सकता है, आनन्दमय-कोश मे हो सकता है। जो प्राणी सिर्फ खाने-पीने मे रमा रहता है, अन्न के उपभोग मे ही रमा रहता है—**'स एव एष पुरुषोऽन्नरसमयः'**—वह 'अन्नमय-कोश' में जीता है, भौतिक-जीवन ही उसका जीवन है, आध्यात्मिक-जीवन के लिये वह मृत-समान है। यह अवस्था पशु-योनि मे तथा अनेक मनुष्यो मे भी पायी जाती है। कई व्यक्ति खाने-पीने के जीवन से ऊपर उठ जाते है, उनके लिये उपनिषद् का कहना है कि वे 'प्राणमय-कोश' मे जीने लगते हैं—**'एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय'**। 'अन्नमय' के 'अन्न'-शब्द तथा 'प्राणमय' के 'प्राण'-शब्द मे भाव की बहुत निकटता है। 'अन्न'-शब्द बना है—अद् भक्षणे धातु से, 'प्राण'-शब्द बना है—अन् प्राणने धातु से। 'अद्' तथा 'अन्' मे बहुत समीपता है। अन्नमय-जीवन वाला, पशु हो या मनुष्य हो, यही समझे रहता है कि मैं शरीर ही हूँ, प्राणमय-जीवन वाला अनुभव करने लगता है कि मैं शरीर ही नही हूँ, मैं शरीर से अतिरिक्त हूँ। शरीर मे शरीर से अतिरिक्त किसी सत्ता की अनुभूति 'प्राण' से ही तो होती है। 'प्राण' शरीर नही है, शरीर मे बाहर से आता है, एक तरह से अदृश्य आत्मा का दृश्य प्रतिनिधि 'प्राण' ही है। जब मनुष्य मे अपने अन्नमय होने की अपेक्षा, खाने-पीने वाले जीव होने की अपेक्षा अपने अस्तित्त्व की शरीर से अतिरिक्त होने की अनुभूति जाग उठती है, तब हम कह सकते हैं कि वह 'अन्नमय'-सत्ता से 'प्राणमय'-सत्ता मे जीने लगा, और तब वह उस जीवन के प्रति सजग हो जाता है जिसके प्रति अबतक मृत-समान था। यह स्थिति पशु मे नही आती, अनेक मनुष्यो मे भी नही आती, परन्तु आती मनुष्य मे ही है। जब आत्मा तृतीय-स्तर पर क्रियाशील हो जाता है तब इस स्थिति को उपनिषद् ने 'मनोमय-कोश' कहा है—**'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'**। मन तो मनुष्य-मात्र मे है, परन्तु हम मन से काम नही लेते, मन हमसे काम लेता है। जब आत्मा का 'मनोमय-कोश' मे निवास होता है तब व्यक्ति का मानसिक-जीवन जग जाता है, वह जीवन जो अबतक सोया पडा था, मानो मृत-समान था। 'मनोमय-कोश' का जीवन 'प्राणमय-कोश' से ऊपर का, परन्तु 'विज्ञानमय-कोश' से नीचे का जीवन है। मन की गति विद्या तथा अविद्या, ज्ञान तथा अज्ञान—दोनो दिशाओ मे चलती है, परन्तु जब जीवन की वह स्थिति आ जाय जब अविद्या तथा अज्ञान उसमे से गिर जाय, विद्या और ज्ञान ही रह जाय, तब व्यक्ति जीवन के चतुर्थ-स्तर मे प्रवेश करता है जिसे उपनिषद् ने 'विज्ञानमय-कोश' कहा है—**'तस्माद्वा एतस्मात् मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'**—अर्थात्, 'मनोमय-कोश' के बाद,

उसके भी भीतर आत्मा का एक और कोश है जो विज्ञानमय है। 'विज्ञानमय-कोश' के बाद आत्मा का 'आनन्दमय-कोश' आता है जब आत्मा ब्रह्मानन्द मे, प्रभु के प्रसाद मे बसने लगता है जिसका वर्णन करते हुए उपनिषद् ने कहा है—'तस्मात् वा एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः'।

आत्मा के ये पाँच कोश मानव की जीवन मे स्थितियाँ हैं। सबसे पहली स्थिति वह है जिसमे शरीर-ही-शरीर दीखता है। खाना पीना, इन्द्रियो के विषयो का भोग—इसके सिवाय जीवन मे कुछ नही दीखता। यह 'अन्नमय-कोश' की स्थिति है। जीवन की दूसरी स्थिति वह है जिसमे शरीर से पृथक् आत्म-सत्ता की प्रतीति होने लगती है। यह 'प्राणमय-कोश' की स्थिति है। जीवन की तीसरी स्थिति वह है जब मनुष्य की सोई हुई मानसिक-शक्तियाँ जग जाती हैं। यह 'मनोमय-कोश' की स्थिति है। जीवन की चौथी स्थिति वह है जब उसे ससार के यथार्थ-सत्य का भान हो जाता है। यह 'विज्ञानमय-कोश' की स्थिति है। अन्त मे जीवन की वह स्थिति आ जाती है जब मनुष्य ससार की नश्वरता को देख लेता है, उसे आत्म-शक्ति तथा परमात्म-शक्ति का भान हो जाता है, वह अपने मे शरीर से तथा जगत् मे प्रकृति से अपने को पृथक् जान कर आत्म-स्वरूप मे आ जाता है—यह 'आनन्दमय-कोश' की स्थिति है। 'अन्नमय-कोश' मे वह एक कोश के लिए जीवित है, अन्य चार कोशो के लिए मरा हुआ है। 'प्राणमय-कोश' मे वह दो कोशो के लिए जीवित है, अन्य तीन कोशो के लिये मरा हुआ है, 'मनोमय-कोश' मे वह तीन कोशो के लिये जीवित है, अन्य दो कोशो के लिये मरा हुआ है, 'विज्ञानमय-कोश' मे वह चार कोशो के लिये जीवित है, एक कोश के लिये मरा हुआ है, 'आनन्दमय-कोश' मे पहुँच कर वह सब तरह जीवित-ही-जीवित है—यही जीवन की सापेक्षता तथा निरपेक्षता है। जिसे हम जीवन कहते हैं वह उससे उच्च-जीवन की दृष्टि से मृत्यु है, जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह उससे निम्न-जीवन की दृष्टि से जीवन है।

कोशो पर श्री अरविन्द ने कुछ अद्भुत विचार प्रकट किये हैं। वे इतने अद्भुत है कि, और कुछ नही तो विचार की दृष्टि से ही, उनका यहाँ ज़िक्र कर देना अप्रासगिक न होगा। कोशो पर इस दृष्टि को भी जान लेना उचित है।

श्री अरविन्द का कहना है कि आत्म-तत्त्व अपने को प्रकृति द्वारा ही प्रकट कर सकता है, और किसी तरह नही, इसलिये प्रकृति को छोडने से उसका काम नही चल सकता। जब आत्म-तत्त्व प्रकृति को माध्यम बना कर अपने स्वरूप को प्रकट करने का प्रयास करता है, तब सृष्टि विकास के मार्ग पर चल पडती है। आत्मा के विकास की इस प्रक्रिया मे सबसे पहली अवस्था तब आती है जब जड-जगत् मे किसी भी स्थान पर चेतना का आविर्भाव हो जाता है। यह चेतना क्या है? यह आत्म-तत्त्व का, प्रकृति-तत्त्व को माध्यम बना कर, अपने

को प्रकट करने का प्रयत्न है, इसी का नाम 'देह' का उत्पन्न हो जाना है। जितना अन्नमय जगत् है, उद्भिज जगत्, वृक्ष-लता-ओपधि-वनस्पति—ये सव इस दृष्टि से आत्म-तत्त्व के प्रथम-प्रकाश है, और इतने अंगतक जीवित है जितने अशतक प्राण न लेने पर भी उगने-वढने-फूलने-फलने वाले देह को जीवित कहा जा सकता है। इनमे भोजन का आदान-प्रदान, जीना-वढना-मरना पाया जाता है, परन्तु आत्म-तत्त्व का यह प्रकाश अत्यन्त प्रारम्भिक, अत्यन्त निम्न-स्तर का प्रकाश है क्योकि इसमे अभी प्राण का प्रकाश नही हुआ होता। यह आत्म-तत्त्व का 'अन्नमय-कोश' है। इस प्रकाश के वाद, प्रकृति को माध्यम वना कर, आत्म-तत्त्व के प्रकट होने की दूसरी अवस्था वह आती है जव देह मे 'प्राण' का विकास हो जाता है। यह अवस्था वृक्ष-लता-ओपधि मे नही, कीट-पतग-पशु मे पायी जाती है। इनमे आत्म-तत्त्व का प्रकाश वृक्ष आदि की तरह देह तक न रुक कर प्राण तक चला गया है। यह आत्म-तत्त्व के प्रकाश की द्वितीय अवस्था है, परन्तु यह भी निम्न अवस्था है। यह आत्म-तत्त्व का 'प्राण-मय-कोश' है। इसके बाद आत्म-तत्त्व और गतिशील होता है, और जव वह वेग प्रबल हो जाता है, तब 'मन' प्रकट होता है, यह आत्म-तत्त्व के प्रकाश की, अपने को प्रकट करने की तीसरी अवस्था है। यह अवस्था मनुष्य मे दिखलायी देती है। यह आत्म-तत्त्व का 'मनोमय-कोश' है। श्री अरविन्द का कहना है कि प्रकाशोन्मुखी आत्म-तत्त्व अभी तक इस तीसरी अवस्था तक ही पहुँचा है, अभी चौथी अवस्था और आने वाली है। जैसे आत्म-तत्त्व के अभी तक के प्रकाश मे 'देह' प्रकट हुआ, फिर 'प्राण' प्रकट हुआ, फिर 'मानस' प्रकट हुआ, वैसे अव चौथा तत्त्व 'अतिमानस' प्रकट होगा। सृष्टि मे 'देह' का प्रकट होना एक महान् घटना थी, उसके वाद जव 'प्राण' प्रकट हुआ तव दूसरी महान् घटना घटी, फिर जब 'मानस' प्रकटा तव तीसरी महान् घटना घटी, और अव जव 'अतिमानस' प्रकट होगा तव तो आत्म-तत्त्व के प्रकट होने मे महानतम घटना घटेगी। यह आत्म-तत्त्व का 'विज्ञानमय-कोश' होगा। श्री अरविन्द का कहना था कि जैसे वनस्पति एक विशेष योनि है, पशु एक दूसरी योनि है, मनुष्य एक तीसरी योनि है, वैसे अतिमानस के प्राणी एक भिन्न ही प्रकार के व्यक्ति होंगे, उनमे जरा-मरण नही होगा, उनका यही शरीर एक दिव्य-शरीर हो जायगा। 'मानस' जो प्रकट हो चुका है, तथा 'अतिमानस' जो अभी प्रकट होगा—इन दोनो मे मौलिक भेद क्या होगा? हमारा मन ज्ञान के लिये प्रयास तो करता है, परन्तु प्रयास करता हुआ भी अज्ञान से वधा रहता है, ज्योति की खोज तो करता है, परन्तु ज्योति के लिये अपने को पूर्णतया खोल नही पाता। अतिमानस के प्रकट हो जाने पर अज्ञान के साथ इसका वन्धन टूट जायगा, ज्योति से भर जाने के लिये यह लगातार खुला रहेगा। जैसे मनुष्य के लिये मनन न करना असम्भव है,

जैसे पशु-पक्षी के लिये प्राण न लेना असम्भव है, जैसे वनस्पति के लिये भोजन छोड देना असम्भव है, वैसे जिसमे अतिमानस प्रकट हो जायगा उसमे अज्ञान असम्भव हो जायगा। श्री अरविन्द के अनुसार उनकी इस खोज का आधार तैत्तिरीयोपनिषद् मे उल्लिखित पाँच कोशो का वर्णन है। श्री अरविन्द के कथन का अभिप्राय यह है कि अभी तक सृष्टि अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश तक विकसित हुई है, चौथे विज्ञानमय-कोश का विकास होना अभी वाकी है। अन्नमय-कोश वनस्पतियो मे, प्राणमय पशु-पक्षियो मे, मनोमय मनुष्यो मे विकसित हो चुका है। अव विज्ञानमय-कोश का विकास होना है, इसी को श्री अरविन्द ने 'अतिमानस' कहा है। श्री अरविन्द का कहना है कि जैसे पारदर्शक शीशे मे मे उसके पीछे जो-कुछ है वह दीख जाता है, वैसे उन्हे मानस के आगे अतिमानम, विकसित होता हुआ स्पष्ट दीख रहा है। अतिमानस के विषय मे श्री अरविन्द की यह नई धारणा है कि यह तत्त्व अभी तक प्रकट नही हुआ, आगे होगा। दूसरे शब्दो मे, प्रकृति के माध्यम से आत्म-तत्त्व के उत्तरोत्तर प्रकाश की दिशा 'विज्ञानमय-कोश' की जागृति है। ये कोश, इस शरीर मे, एक के भीतर एक छिपे हुए, एक-दूसरे से सूक्ष्म, कोई सूक्ष्म-शरीर नही हैं। शरीर का नाम ही कोश है। 'अन्नमय-कोश' का अर्थ है यह अन्नमय स्थूल-शरीर। वनस्पतियाँ 'अन्नमय कोश' तक ही रह जाती हैं, इससे आगे उनका विकास नही हो पाता। 'प्राणमय-कोश' का अर्थ है, वह शरीर जो अन्न से तो वना है, क्योकि वह अन्नमय-शरीर के ही द्वितीय-विकास का नाम है, परन्तु जिसमे अन्न के अतिरिक्त 'प्राण' एक नवीन-तत्त्व प्रकट हो गया है। पशु-पक्षी अन्नमय की प्रक्रिया मे से तो गुजर ही चुके हैं, परन्तु इनका शरीर 'अन्नमय-कोश' नही, 'प्राणमय-कोश' कहलाता है, क्योकि प्राण एक तत्त्व के रूप मे वनस्पतियो मे नही प्रकट हुआ, परन्तु पशु-पक्षियो मे प्रकट हो गया है। 'मनोमय-कोश' का अर्थ है वह शरीर जो अन्न और प्राण से तो वना है, परन्तु जिसमे 'मन' एक नवीन तत्त्व प्रकट हो गया है। मनुष्य का शरीर 'मनोमय-कोश' है क्योकि मन एक तत्त्व के रूप मे वनस्पति, पशु-पक्षी मे नही, मनुष्य के शरीर मे प्रकट हुआ है। 'विज्ञानमय कोश' का अर्थ है वह शरीर जिसमे 'देह', 'प्राण' तथा 'मन' के अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व—'विज्ञान' या श्री अरविन्द के शब्दो मे 'अतिमानस'—प्रकट हो गया है या होगा। जो तत्त्व अभी तक प्रकट नही हुआ उसकावीज एक-दूसरे मे निहित है। विज्ञानमय का मनोमय मे, मनोमय का प्राणमय मे, प्राणमय का अन्नमय मे वीज है—हाँ, 'अन्न', 'प्राण', 'मन' विकसित हो चुके हैं, 'विज्ञान' विकसित होना है या किसी-किसी मे हो चुका है। जव आत्म-तत्त्व प्रकृति को माध्यम वना कर उस तत्त्व को उत्पन्न कर लेगा जिसके द्वारा अज्ञान असम्भव हो जायगा, तो वह अवस्था उसकी जीवन-यात्रा की अन्तिम मंजिल होगी, और

उस समय उसका भौतिक-शरीर ही 'विज्ञानमय' हो जायगा। इस प्रकार आत्म-तत्त्व अन्त तक प्रकृति के सहारे आगे-आगे बढ़ता जायगा, प्रकट होता जायगा, अपने-आप को प्रकृति मे खो-खोकर उसमे से निकलता आयगा, और अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये प्रकृति को अपना साधन बनाता जायगा। श्री अरविन्द ने अपनी विचारधारा की जो दिशा पकडी है उसपर चलते हुए अगर हम तैत्तिरीयोपनिषद् के पाँचो कोशो को ध्यान मे रखें, तो इस परिणाम पर पहुँचना अवश्यभावी हो जाता है कि 'विज्ञानमय-कोश' के बाद विकास की एक ऐसी मज़िल भी आ पहुँचेगी जब 'आनन्दमय-कोश' का विकास होगा, जिस विकास के परिणामस्वरूप जैसे 'विज्ञानमय-कोश' के विकास के कारण अज्ञान असम्भव हो जायगा, वैसे 'आनन्दमय-कोश' के विकास के परिणामस्वरूप निरानन्दता असम्भव हो जायगी।

उक्त विवरण का अभिप्राय यह है कि अन्नमय-कोश प्राणमय के लिये है, प्राणमय अन्नमय के लिये नही; प्राणमय मनोमय के लिये है, मनोमय प्राणमय के लिये नही, मनोमय विज्ञानमय के लिये है, विज्ञानमय मनोमय के लिये नही; विज्ञानमय आनन्दमय के लिये है, आनन्दमय विज्ञानमय के लिये नही। आध्यात्मिक-विकास की यही दिशा है। जब हम आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा विज्ञान को, विज्ञान की अपेक्षा मन को, मन की अपेक्षा प्राण को, प्राण की अपेक्षा अन्नमय स्थूल-शरीर को अधिक महत्त्व देने लगते है तव हम आत्म-तत्त्व के विकास के मार्ग पर न चल कर उल्टे मार्ग पर चलने लगते हैं। हमे भिन्न-भिन्न कोशो को आगे-आगे जाने का साधन समझ कर चलना है, अन्नमय को प्राणमय का, प्राणमय को मनोमय का, मनोमय को विज्ञानमय का और विज्ञान-मय को आनन्दमय का साधन समझना है—अगले-अगले के विकास मे सहायक समझना है, इससे उल्टा नही।

कोशो के विषय मे जो-कुछ हमने लिखा है उससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवन क्या है, मृत्यु क्या है, जागना क्या है, सोना क्या है। हम जो जीवन बिता रहे है उसे गीता ने स्वप्न कहा है, यह सोया हुआ जीवन है। हम जाग नही रहे, सो रहे हैं, समझते हैं कि जाग रहे है। शरीर मे जीना जीना नहीं, तैत्तिरीयोपनिषद् के शब्दो मे यह मरना है क्योकि वास्तविक जीने के लिये शरीर से आगे वढ कर प्राण मे जीना होगा, मन मे जीना होगा, विज्ञान मे जीना होगा, आनन्द मे जीना होगा। हमारा शरीर मे ही जीना जागना नहीं है, एक प्रकार का सोना है। गीता का कथन है—'**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी**'। लोग अपने को जगा समझते हैं, वे जगे नहीं सोए हुए हैं। जो उसको पा लेता है, उसे जिसे पा लेने पर मनुष्य न जरा को गिनता है, न मृत्यु को गिनता है, न भौतिक-कष्ट को गिनता है, न मानसिक-दुःख को गिनता

हैं, वही वास्तव में जगा है, बाकी सब जगे हुए भी सोये पड़े हैं। आखिर जागना और सोना, जीना और मरना सापेक्षिक-शब्द हैं, जिसे हम जागना समझते हैं वह सांसारिक-दृष्टि से भले ही जागना हो, आध्यात्मिक-दृष्टि से वह सोना है, जिसे हम जिन्दा समझते हैं, वह शारीरिक-दृष्टि से भले ही जिन्दा हो, आध्यात्मिक-दृष्टि से वह मरा हुआ है। इसीलिये वेद ने अपने को जागता समझने वालों को झकझोर कर कहा है—**'उत्तिष्ठत, जाग्रत'**—उठो जागो, **'प्राप्य वरान् निबोधत'**—अपने से श्रेष्ठतर व्यक्तियों के चरणों में सिर नवा कर 'आत्म-बोध' की तैयारी करो। जीवन के रहस्य को समझ कर चलने के लिये यही जीवन का सही रास्ता है।



नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः
यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।

(श्वेताश्वतर, 5—10)

'पुनर्जन्म' का दार्शनिक-आधार क्या है ? वेदान्त दर्शन के सूत्र **'व्यतिरेकः तद्भाव अभावितत्वात् न तु उपलब्धिवत्'** की व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखते है कि देह तथा आत्मा मे 'व्यतिरेक' है, भेद है, क्योंकि देह तथा आत्मा मे 'तद्भाव'—'मैं वही (देह ही) हूँ'—इस प्रतीति का अभाव है। पश्चिमी दार्शनिक डेकार्ट का भी कथन है कि क्योंकि 'मैं सोचता हूँ'—इसलिये मैं देह से अतिरिक्त हूँ। अगर मैं अपनी स्वतन्त्र-सत्ता के विषय मे सन्देह करता हूं, तब भी मानना पडता है कि सन्देह करने वाला 'मैं' हूँ। इस 'मैं' को ही 'आत्मा' कहते है। यह 'आत्मा' कहाँ से आता है, कहॉ चला जाता है ? क्या 'आत्मा' अभाव से पैदा होता है ? अभाव से तो कुछ पैदा हो नहीं सकता— 'नासतो विद्यते भावः', जो असत् है उसकी उत्पत्ति हो नही सकती। अगर आत्मा उत्पन्न नही हुआ, तो मानना पडेगा कि वह मर भी नही सकता क्योंकि 'नाभाव विद्यते सत'—जो सत् है उसका अभाव नही हो सकता। परन्तु एक प्रश्न रह जाता

है, और वह यह है कि मर तो सभी जाते है, फिर आत्मा का अभाव क्यो न माना जाय? इसका उत्तर यही है कि सत् वस्तु का अभाव नही हो सकता, रूपान्तरण हो सकता है। दार्शनिक-दृष्टि से यह रूपान्तरण ही 'पुनर्जन्म' है। उपनिषद् ने ठीक ही कहा है—आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक है, जिस शरीर मे यह युक्त हो जाता है वैसा ही इसे कहने लगते है। यह एक चोला छोड कर दूसरा चोला ले लेता है—यही 'पुनर्जन्म' है।

'पुनर्जन्म' के विषय मे अनेक युक्तियाँ दी जाती है जिनमे से मुख्य-मुख्य निम्न हैं—(1) यह विचार सार्वत्रिक है, (2) मनुष्य मे अमरता का विचार पाया जाता है, (3) कारण-कार्य के नियम के आधार पर पुनर्जन्म मानना पडता है, (4) कई ऐसे मेधावी बालक पाये जाते हैं जो जन्म से ही अद्भुत बुद्धि को लाते हैं, (5) किसी वस्तु का अत्यन्ताभाव नही हो सकता, (6) पुनर्जन्म की स्मृति की भी अनेक घटनाएँ पायी जाती हैं। पुनर्जन्म के विपक्ष मे जो युक्तियाँ दी जाती है वे सारहीन है। सबसे प्रबल युक्ति तो यह दी जाती है कि अगर पुनर्जन्म होता है, तो पिछले जन्म की स्मृति होनी चाहिए। पहले तो अनेक दृष्टान्त पाये जाते है जिनमे पुनर्जन्म की स्मृति पायी गई है, परन्तु इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तो का न पाया जाना युक्तिसगत ही नही, उचित भी है। जब इसी जन्म की बचपन की घटनाएँ हमे याद नही रहती, तब पिछले जन्म की याद न रहें, तो आश्चर्य क्या है? इसके अतिरिक्त अगर वह स्मृति बनी रहे, तो जीवन ही दूभर हो जाय, इस जीवन का बना-बनाया खेल ही जाता रहे। इस सिद्धान्त के पक्ष तथा विपक्ष मे दी जाने वाली युक्तियो का इस अध्याय मे अब तक मिली आधुनिकतम सामग्री के आधार पर विवेचन किया गया है।

एकादश अध्याय

पुनर्जन्म

(REINCARNATION)

1. प्रश्न का स्वरूप

(क) **भारत में कभी नचिकेता ने यह प्रश्न उठाया था**—हम सब जानते हैं कि प्राणी उत्पन्न होता है, कुछ काल तक जीवित रह कर मर जाता है। यह जीना और मरना क्या है ? क्या जीवन कही से आने का द्वार है, और मरण, कही से आकर, कुछ समय यहाँ रह कर, कही चले जाने का द्वार है ? सदियाँ गुज़र गईं, यह प्रश्न कठोपनिषद् मे नचिकेता ने स्वय मृत्यु को सम्बोधित करके उठाया था। अगर हम यहाँ ही पैदा होते हैं, कही से आते नही, यही समाप्त हो जाते हैं, कही जाते नही, यह शरीर ही आदि है, यही अन्त है—चार्वाक के कथनानुसार **'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'**—यह देह समाप्त हो गया, तब यह जीने-मरने का झंझट अपने-आप जाता रहा—अगर यह बात ठीक है, तो जीवन के प्रति दृष्टिकोण एक तरह का हो जाता है, परन्तु अगर यह बात ठीक है कि हम इस जीवन मे किसी दूसरी जगह से आते है, इस देह-रूपी चोले से कुछ देर काम लेकर किसी दूसरी जगह दूसरे चोले को धारण करने चले जाते हैं, हम इस देह के बनने पर जन्म नही लेते, देह के नष्ट हो जाने पर नष्ट नही हो जाते, तब जीवन के प्रति दृष्टिकोण दूसरा हो जाता है। क्योकि इस प्रश्न का हल जीवन की सम्पूर्ण दार्शनिक-विचारधारा को बदल देता है, इसलिये नचिकेता ने यह प्रश्न उठाया था—**'येयम् प्रेते विचिकित्सा, अस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके एतत् विद्याम् अनुशिष्टस्त्वयाहम्'**—मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि कई कहते हैं कि देह के अतिरिक्त आत्मा है, कई कहते है कि देह ही आत्मा है, न यह कही से आता है, न कही चला जाता है, देह ही जनमता, देह ही मरता है—यह समस्या है जिसे हर-कोई हल करना चाहता है, इसी समस्या का हल मैं जानना चाहता हूँ। सैकडो बरस गुज़र गये नचिकेता ने यम से—स्वय मृत्यु से—उक्त सदर्भ मे इसका हाल जानना चाहा था।

(ख) पश्चिम मे कभी ड्रुइड राजा एडविन के सामने यह प्रश्न उठाया गया था—श्री वीड लिखते हैं कि एक वार नार्थम्ब्रिया के ड्रुइड राजा एडविन के राज्य मे पौलीनस नाम का एक ईसाई पादरी प्रचार करने के लिए पहुँचा। मन्त्रियो के सामने राजा ने यह प्रश्न उठाया कि इस प्रचारक के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए ? राजा के एक पुराने सलाहकार ने उत्तर दिया—महाराज, आपने अभी देखा होगा कि इस भवन मे एक चिडिया ठण्डी हवा से बचने के लिए वाहर से आ घुसी और आग के सामने पख फड-फडाती हुई दूसरी खिडकी से निकल गई। मानव भी ऐसा ही है। यह कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है—इसका कुछ पता नही। अगर पौलीनस का धर्म इस समस्या पर प्रकाश डाल सके, तो वह अवश्य महान् होगा, और उसकी शिक्षा को स्वीकार करना उचित होगा। उस वृद्ध की सलाह को मान लिया गया और पौलीनस को प्राणी कहाँ से आया है, कहाँ चला जाता है—इन प्रश्नो का ईसाई मत के अनुसार हल वतलाने को कहा गया।

यह समस्या पूर्व की ही नही, पश्चिम की ही नही, विश्व भर के लोगो की है, और सव कही अपने-अपने ढग से इस समस्या का हल ढूँढने का प्रयत्न किया गया है। जिस हल को सवसे अधिक स्वीकार किया गया है वह हल 'पुनर्जन्म' कहलाता है।

2 प्रश्न का उत्तर—क्या आत्मा देह से अलग है ? अलग है तो कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है ?

आत्मा कहाँ से आता है—इस समस्या को हल करने के लिये जिन गुत्थियो को सुलझाना आवश्यक है उन्हे प्रश्न-रूप मे कहा जाय, तो वे निम्न हैं—

(क) क्या आत्मा की देह से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र-सत्ता नहीं, क्या देह ही आत्मा है ?

(ख) क्या देह की तरह आत्मा भी माता-पिता के रज-वीर्य से ही उत्पन्न होता है ?

(ग) क्या आत्मा परमात्मा का ही अश है ?

(घ) क्या आत्मा को परमात्मा अभाव से उत्पन्न कर देता है ?

(ङ) क्या आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है, वह उत्पन्न नहीं होता—नष्ट नहीं होता, उसका पुनर्जन्म होता है ?

हम यहाँ इन पाँचो प्रश्नो पर अलग-अलग-से विचार करेंगे—

(क) क्या आत्मा की देह से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है, क्या देह ही आत्मा है—पूर्व तथा पश्चिम के उच्च-कोटि के विचारको ने देह से

अतिरिक्त आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता को सिद्ध करने के लिए सबसे प्रबल युक्ति यह दी है कि हम मे से प्रत्येक को इस बात की अनुभूति होती है कि मैं स्वयं स्वतन्त्र रूप मे देह से एक पृथक् सत्ता रखता हूँ। वेदान्त-दर्शन (3. 3. 54) मे कहा है : **'व्यतिरेकः तद्भाव अभावितत्वात् न तु उपलब्धिवत्'**—अर्थात्, देह तथा आत्मा मे 'व्यतिरेक' है—भेद है—क्योकि देह तथा आत्मा मे 'तद्भाव'—मैं वही (देह ही) हूँ—का 'अभाव' है, मुझे यह अनुभूति नही होती कि मैं देह ही हूँ। 'उपलब्धि-वत्'—अर्थात्, जैसे इन्द्रियो से ज्ञान उपलब्ध होता है, तब हम यह नही कहते कि 'इन्द्रियाँ' और 'ज्ञान' एक ही वस्तु हैं, हम इन्हे भिन्न-भिन्न समझते हैं, वैसे ही जब 'आत्मा' को 'शरीर' का ज्ञान होता है, तब यह स्वय-सिद्ध हो जाता है कि 'आत्मा' तथा 'शरीर' एक ही वस्तु नही है। 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' मे भेद होता है, वे एक नही दो वस्तुएँ होती है, इसीलिये 'आत्मा' जो 'ज्ञाता' (Subject) है, वह शरीर नही हो सकता क्योकि शरीर आत्मा का 'ज्ञेय' (Object) है, आत्मा शरीर को अन्य विषयो की तरह 'मेरा शरीर'—इस प्रकार उपलब्ध करता है, अनुभव करता है। आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता के के सम्बन्ध मे पश्चिमी-विद्वान् डेकार्ट की युक्ति का भी हम सृष्ट्युत्पत्ति के अध्याय मे उल्लेख कर आये है। उसका कहना भी यह है कि 'मैं सोचता हूँ'—इसलिये 'मैं हूँ'—'Cogito, ergo sum'। अगर मैं अपनी सत्ता के विषय मे सन्देह करता हूँ तो क्योकि सन्देह करना भी 'सोचना' ही है—इस सन्देह करने के कारण भी मानना पडता है कि सन्देह करनेवाला 'मैं हूँ'। देह तो सन्देह नही करता, सन्देह करने वाला तो देह से अतिरिक्त ही कोई होना चाहिये। अगर देह से अतिरिक्त विचार करने या सन्देह करने वाली कोई सत्ता है, तो उसी को आत्मा कहते है।

शरीर तथा आत्मा का भेद समझने के लिए सस्कृत के 'स्वस्थ'-शब्द को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। 'स्वस्थ' का क्या अर्थ है ? 'स्व' का अर्थ है—'अपने-आप मे'; 'स्थ' का अर्थ है—'ठहरा हुआ'। जो अपने-आप मे स्थित हो, उसे 'स्वस्थ' कहते है। अस्वस्थ-व्यक्ति कौन होता है ? 'अ' का अर्थ है—'नही'। जो अपने-आप मे, अपने स्वरूप मे न हो, उसे 'अ-स्वस्थ' कहते हैं। मनुष्य जब पूर्ण-स्वस्थ होता है, तब उसे शरीर का भान बिल्कुल नहीं होता, तब वह शरीर को भूला हुआ रहता है। जब वह अस्वस्थ होता है, तब उसे हर समय शरीर ही याद आता है। दाँत मे दर्द न हो तो दाँत का ख्याल नही आता, कब्ज़ न हो तो पेट की याद नही आती, दांत मे दर्द हो तो दांत की तरफ ध्यान गडा रहता है, कब्ज हो तो हर समय पेट ही याद आता है। 'स्वस्थ'-व्यक्ति शरीर को भूल जाता है, तभी उसे 'स्व-स्थ'=अपने-आप मे, स्वरूप मे स्थित हो जाना कहते हैं; 'अ-स्वस्थ'-व्यक्ति शरीर को नही भूल

सकता, शरीर के साथ बँधा रहता है—अपने स्वरूप को खो देता है। अपने स्वरूप मे—'आत्म-तत्त्व' मे आ जाना, शरीर को भूल जाना, शरीर की तरफ से ध्यान हट जाना ही 'स्वास्थ्य' है, हर समय शरीर का ध्यान बने रहना, कभी नाक की तरफ ध्यान जाता हो, कभी पेट की तरफ ध्यान जाता हो—यही रोग का चिह्न है। इस स्थिति को पाने के लिए किसी साधना की आवश्यकता नही, हर-किसी को इस स्थिति का अनुभव है। नाक सब के है, परन्तु जो कहता फिरे कि उसे नाक है, वह रोग है, हाथ सब के होते हैं, परन्तु जो अनुभव करता रहे कि उसके दो हाथ हैं, वह रोगी है। 'स्वास्थ्य' का अर्थ है—शरीर को भूल जाना, शरीर का ध्यान ही न आना, शरीर का ध्यान आता रहे, तो यही रोग का चिह्न है। अगर 'स्व' मे 'स्थित' हो जाने की प्रतीति हर-किसी को होती है, तो यह कह देने मे क्या हर्ज है कि आत्मा के देह से अतिरिक्त होने की प्रतीति हर स्वस्थ-व्यक्ति को, और हर अस्वस्थ-व्यक्ति को भी होती है, जाने-अनजाने सब को होती है। 'स्व-स्थ'—अर्थात्, अपने-आप मे, अपने स्वरूप मे जाकर जो सुख अनुभव करता है, उस स्वरूप से हट कर जो दुःख अनुभव करता है, वह शरीर कैसे हो सकता है? वही तो 'आत्मा' है।

इसके अतिरिक्त, अगर देह ही आत्मा है, तो प्रश्न होता है कि देह तो जड़ तत्त्वो का बना हुआ है, इसमे कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाईड्रोजन आदि का सम्मिश्रण ही तो है, इनके सम्मिश्रण से 'चेतना' जैसी विरोधी वस्तु कैसे पैदा हो गई, यह देह कैसे कहने लगा—'मैं हूँ'—यह 'मैं-पना'—'I-ness'—जड देह मे कैसे आ टपका। मकान नही कहता—'मैं', मकान मे पडा फर्नीचर नही कहता—'मैं', कोई मशीन नही कहती—'मैं', फिर इस देह मे 'मैं'-'मैं' कहता कौन डोलता फिरता है? अगर कोई व्यक्ति कुर्सी पर बैठा कुर्सी को 'मैं'-'मैं' कहता सुन ले, तो कितना ही भौतिकवादी या चार्वाक क्यो न हो, कुर्सी छोड कर भाग खडा होगा, उसका दम खुश्क हो जाय। फिर इस पाँच तत्त्वो के पुतले मे से जो 'मैं'-'मैं' की ध्वनि निकलती है, उससे कोई परेशान क्यो नही होता? तभी विचारको ने 'मैं' की अनुभूति का होना आत्मा के देह से स्वतन्त्र होने मे सबसे बडा प्रमाण माना है—अकाट्य-प्रमाण। इसलिए मानना पड़ेगा कि देह मे पृथक् आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है। देह के अतिरिक्त आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता को न मानना ही तो पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विरुद्ध पडता है, अगर आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है तो पुनर्जन्म न मानने की एक कठिनाई चली जाती है।

(ख) **क्या देह की तरह आत्मा भी माता-पिता के रज-वीर्य से ही उत्पन्न होता है**—भौतिकवादियो का आत्मा की सत्ता के विषय मे कथन है कि आत्मा की अलग-से कोई स्वतन्त्र-सत्ता नही है, देह ही आत्मा है। 'देह ही आत्मा है'—इसके विषय मे हमने अभी ऊपर समाधान दिया कि देह आत्मा

नही हो सकता क्योंकि इसमे से 'मैं' की ध्वनि निकलती है। भौतिकवादियों से अगर पूछा जाय कि अगर आप भौतिकवाद को ही मानते हो, तो आत्मा पैदा कैसे हुआ—इस बात का क्या उत्तर है ? उनका कहना है कि जैसे माता-पिता के रज-वीर्य के संयोग से देह उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही रज-वीर्य के संयोग से ही आत्मा भी उत्पन्न हो जाता है। रज-वीर्य का सयोग या तो 'माँ के गर्भाशय मे हो सकता है, या कही बाहर गर्भाशय-जैसी परिस्थिति उत्पन्न कर देने पर 'परखनली' (Test tube) मे हो सकता है। परन्तु माँ का गर्भाशय अथवा परखनली तो भौतिकवाद की दृष्टि से, जो चेतना को नही मानते, एक जड़ मशीन का ही पुर्ज़ा है। अगर माता के गर्भ अथवा परखनली के माध्यम से उत्पन्न होने वाले प्राणी को भी कार्बन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि का सम्मिश्रण ही समझा जाय, तो जड से जड का निर्माण कैसे हो सकता है ? क्या एक घड़ी दूसरी घडी को पैदा कर सकती है ? अगर जड जड होने की वजह से जड को पैदा नही कर सकता, तो जड़ होने की वजह से वह चेतन को तो किसी तरह भी नही पैदा कर सकता क्योंकि चेतन जड का विरोधी गुण है। अगर कहा जाय कि चेतन शरीर मे आत्मा का निवास है, इसलिये चेतन ने चेतन को पैदा कर दिया जैसे दीपक से दीपक जलता है, तब तो रज-वीर्य से—जो जड तत्त्व हैं—जड से भिन्न चेतन-तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया जिसे भौतिकवादी (जड़वादी) स्वीकार नही करते।

परन्तु इतना कह देने मात्र से मामला हल नही हो जाता, भौतिकवादी भले ही कह ले कि रज-वीर्य से सन्तान हो जाती है और 'आनुवशिकता' (Heredity) से माता-पिता के सस्कार सन्तान मे आ जाते हैं, परन्तु प्रश्न उठ जाता है कि माता-पिता के रज-वीर्य एव आनुवशिकता के नियम से सन्तान की माता-पिता के साथ समानता का तो हल मिल जाता है, किन्तु सन्तान में माता-पिता की तुलना मे विषमता कहाँ से आ जाती है ? जैसा माता-पिता का रज-वीर्य होगा वैसी ही सन्तान होगी। परन्तु क्या ऐसा नही देखा जाता कि माता-पिता से सन्तान सर्वथा भिन्न भी होती है, पर्यावरण के कारण नही, जन्म से ही कुछ अपने भिन्न सस्कार लेकर वह आती है। उदाहरणार्थ, इग्लैण्ड के प्रसिद्ध वक्ता पिट (1708-1788) की बुद्धि-लब्धि (IQ) 160 थी, वौलटेयर (1698-1778) की 180, कोलरिज (1772-1834) की 175, वेन्थम (1748-1832) और मैकाले (1800-1859) की 180, गेटे (1749-1832) की 185 तथा जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) की 190 थी। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 6 वर्ष की आयु मे रोम का इतिहास लिखना शुरू किया था, मैकाले ने तीन वर्ष की आयु मे पढ़ना शुरू कर दिया था और सात वर्ष की आयु मे कविता लिख डाली थी, गेटे ने सात वर्ष की आयु मे प्रहसन लिखा था, पास्कल (1623-1662) ने बचपन में युक्लिड

के 32 अध्याय विना किसी की सहायता के स्वयं कर डाले थे। अत्युत्कृष्ट प्रतिभाशाली ये वालक कहाँ से इतनी विशाल प्रतिभा लेकर आये थे, माता-पिता के रज-वीर्य के कारण तो इनमे प्रतिभा के ये लक्षण मौजूद नही थे। वायरन (1788-1824) लगडा था, मिल्टन (1608-1674) अन्धा था—ये महान् कवि वन गये, फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट (1882-1945) की दोनो टाँगें वेकार थी, वह अमरीका का राष्ट्रपति वन गया—यह सव क्या माता-पिता के रज-वीर्य के कारण या सामाजिक-पर्यावरण के कारण हुआ। तव तो सभी लगडे और अन्धे कविता किया करते, टाँगो के अपाहिज राष्ट्रो के राष्ट्रपति होते। प्रत्येक प्राणी जहाँ माता-पिता के रज-वीर्य के कारण उनसे कुछ लेता है वहाँ अपना भी वहुत-कुछ लाता है। वह अपना स्वभाव लाता है, अपने सस्कार लाता है, अपना व्यक्तित्व लाता है, अपने विगत-कर्मो का भोग लाता है। क्रोधी माता-पिता के घर जन्म से ही कोई योगी पैदा हो जाता है, योगी माता-पिता के घर जन्म से ही कोई भोगी पैदा हो जाता है। इन विषमताओ को हम सामाजिक या पर्यावरणजन्य (Social or Environmental) नही कह सकते। ये विपमताएँ जन्म से आती हैं, अपने-आप से आती हैं, अपने स्वतन्त्र-व्यक्तित्व से आती हैं। इसलिये, पहले तो हमने कहा कि देह से अतिरिक्त आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता माननी पडती है, अव हम कहते हैं कि आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता ही नही, आत्मा कही से—माता-पिता के रज-वीर्य से नही—अपने ही किसी खज़ाने से कुछ अपनी अच्छी या वुरी कमाई लेकर भी आता है, ऐसा न होता तो वच्चा माता-पिता का डुप्लिकेट होता, उसका अपनापन अनेक अवस्थाओ मे माता-पिता से सर्वथा विभिन्न न होता। जिन विपमताओ का कारण सामाजिक प्रभाव मे नही ढूँढा जा सकता, उनके विपय मे भौतिकवादियो के पास कोई उत्तर नही है। रज-वीर्य से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है—यह सिद्धान्त भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विरुद्ध पडता है—किन्तु युक्ति की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता।

(ग) **क्या आत्मा परमात्मा का ही अश है?**—आत्मा के विषय मे जड़-वादियो (Materialists) का जो दृष्टिकोण था वह हमने देखा। इस विषय मे अध्यात्मवादियो (Spiritualists) का क्या दृष्टिकोण है? अध्यात्मवादियो मे पहला स्थान उनका है जो यह कहते है कि चेतन-शक्ति के सिवाय और कुछ नही। उदाहरणार्थ, वेदान्ती जगत् का विस्तार एक ब्रह्म से ही मानते हैं। इन का कहना है कि माया की उपाधि के साथ 'ब्रह्म' ही 'ईश्वर' के रूप मे ससार की रचना करता है, 'जीव' के रूप मे वह प्राणी-जगत् को वनाता है, जीव ब्रह्म का ही अश है। जैसे जड-वादी देह को आत्मा मानते हैं, वैसे ब्रह्म-वादी जीव को ब्रह्म का अश मानते हैं—'**जीवो ब्रह्मैव नापर.**'। परन्तु यह वात कहाँ तक युक्तिसगत है? अश की सदा अशी से उत्पत्ति होती है, जिसकी उत्पत्ति होती

है उसका नाश भी होता है। इसके अतिरिक्त, अंश सदा सीमित-वस्तु का हो सकता है, असीमित-वस्तु का अंश हो तो वह असीमित नही रह जाती। अगर आत्मा की उत्पत्ति तथा नाश हो सकता है, तो वह पार्थिव होना चाहिये, अगर वह पार्थिव है तो वह देह ही है, और यह हम देख चुके है कि आत्मा देह नही है। इसके अतिरिक्त, परमात्मा को जो मानते हैं वे उसे असीमित मानते हैं, असीमित के अंश नही हो सकते, इसलिये आत्मा की परमात्मा से उत्पत्ति नही हो सकती। न आत्मा का प्रकृति से उत्पन्न होना बनता है, न परमात्मा से उत्पन्न होना बनता है। ऐसी अवस्था मे आत्मा को परमात्मा तथा प्रकृति से अलग मानने को बाधित होना पडता है। इसके अलावा, अगर यह मान भी लिया जाय कि आत्मा परमात्मा का ही अंश है, तो भी यह सिद्धान्त पुनर्जन्म के विरुद्ध नही पड़ता क्योकि वेदान्ती भी पुनर्जन्म को तो मानते ही हैं।

(घ) **क्या आत्मा को परमात्मा ने अभाव में उत्पन्न किया**—अध्यात्म-वादियों मे यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्म के लोग भी आ जाते हैं। उनकी मान्यता यह है कि परमात्मा ने अभाव से आत्मा को उत्पन्न कर दिया। अभाव से भाव का उत्पन्न हो जाना युक्तिसंगत नही है। यह कह देना कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है इसलिये वह जो चाहे कर सकता है—यह माना नही जा सकता। परमात्मा भी अपने नियमो से बधा हुआ है, और ऐसी भी बाते है जिन्हे इन धर्मों के लोग भी मानेंगे कि वह नही कर सकता। परमात्मा अपने जैसा दूसरा परमात्मा नही पैदा कर सकता, वह आत्मघात नही कर सकता, वह अभाव से भाव नही पैदा कर सकता। आत्मा है—इस बात को ये अभाव-वादी मानते है, सिर्फ इतना मानते हैं कि किसी समय यह नही था, परमात्मा ने उसे पैदा किया। अगर नही था, तो नही हो सकता, नही ही रहेगा, अगर है तो मानना पड़ेगा कि पहले भी था—यह अटल नियम है—**'नासतो विद्यते भावः'**—जो असत है वह असत् ही रहेगा, सत् नही हो सकता। अगर वह पैदा किया गया, तो वह नष्ट भी होगा, परन्तु आत्मा को अभाव से पैदा करने वाले यह भी मानते हैं कि वह नष्ट नही होगा—कर्मों के अनुसार या स्वर्ग मे जायगा या नर्क मे जायगा, जायगा ही नही, स्वर्ग अथवा नर्क मे सदा बना भी रहेगा। यह बात भी युक्तिसगत नही है। पहले तो यह बात ही युक्ति की कसौटी पर ठीक नही उतरती कि आत्मा को अभाव से पैदा किया गया, फिर अगर पैदा कर ही दिया गया तो यह बात युक्तिसंगत नही कि वह पैदा होकर नष्ट नही होता; अगर यह मान लिया जाय कि वह नष्ट नही होगा, तो यह बात गलत हो जाती है कि वह पैदा किया गया है। यहूदियो, ईसाइयो तथा मुसलमानो को युक्ति के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि अगर आत्मा का नाश नहा होता, तो उसकी उत्पत्ति भी नही होती क्योकि जिस की उत्पत्ति होती है उसका नाश

भी होता है। अगर यहूदी, ईसाई, मुसलमान यह मान लें कि आत्मा पीछे से चला आ रहा है, इसका नाश भी नहीं होता, आगे भी चला जाता है, तो उन्हे पुनर्जन्म मानना पड गया, ऐसी हालत मे आत्मा के सम्बन्ध मे उनमे तथा वैदिक-सिद्धान्त मे कोई भेद न रहा।

(ङ) **क्या आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है, वह उत्पन्न नहीं होता—नष्ट नहीं होता, उसका पुनर्जन्म होता है**—अध्यात्मवादियो मे तीसरा पक्ष उन लोगो का है, जो अध्यात्मवादी होने के कारण देह को तो आत्मा मानते ही नही; वेदान्तियो की तरह आत्मा को परमात्मा का अग भी नही मानते; यहूदियो, ईसाइयो, मुसलमानो की तरह आत्मा को परमात्मा का अभाव से पैदा किया हुआ भी नही मानते; वे यह मानते हैं कि आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है, वह न पैदा हुआ है, न नष्ट होता है, सदा बना रहता है, अच्छे-बुरे कर्म करता है, उनका फल भोगता है—इसी से ससार चलता है। इस पक्ष के लोग तीन अनादि-अनन्त सत्ताओ को मानते हैं—परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति। न परमात्मा पैदा होता है, न नष्ट होता है; न आत्मा पैदा होता है, न नष्ट होता है, न प्रकृति पैदा होती है, न नष्ट होती है। अगर इनमे से कोई एक भी कभी न था, तो सृष्टि का कारोबार नही चल सकता, अगर इनमे से कोई एक भी कभी न रहे तब भी सृष्टि का कारोबार न चल सके। क्योकि सृष्टि व्यक्त या अव्यक्त रूप मे सदा रहती ही है इसलिये ये तीनो भी सदा रहते हैं—आत्मा 'भोक्ता' के रूप मे, प्रकृति 'भोग्य' के रूप मे, परमात्मा 'नियन्ता' के रूप मे। अगर आत्मा न हो तो प्रकृति बेकार क्योकि वह तो है ही इसलिये कि उसका भोग किया जाय; अगर प्रकृति न हो तो आत्मा तथा परमात्मा दोनो बेकार क्योकि दोनो निठल्ले क्या करें, अगर परमात्मा न हो तो विश्व का नियमन कौन करे क्योकि आत्मा मे इतनी शक्ति नही कि इस विशाल-सृष्टि का नियमन कर सके, प्रकृति जड है, उसमे चेतना नही, फिर वह नियमन कैसे करे? जड़-वादियो का यह कहना कि सृष्टि का नियमन अपने-आप होता रहता है—ठीक नहीं। नियमन किया जाता है, होता नही। मनुष्य चोरी करके स्वय जेलखाने नहीं चला जाता, न चोरी का कर्म उसे स्वय जेलखाने मे लाकर पटक देता है, वह तो चोरी करके बच निकलना चाहता है, हत्या करके कोई स्वय जाकर फांसी पर नहीं लटक जाता, न स्व-सचालित-यन्त्र बन कर वह कत्ल करते ही फांसी पर जा लटकता है, वह तो फांसी से बचने की कोशिश करता है। इसलिये किसी सत्ता का कर्म करने में स्वतन्त्र होना, किसी सत्ता का कर्म करने मे सहायक होना, और किसी सत्ता का कर्म के फल मे नियामक होना आवश्यक है।

प्रस्तुत प्रकरण मे हमे 'आत्मा' से वास्ता है। यह हमने देख लिया कि आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है, वह पैदा नहीं होता—अनादि है, वह नष्ट नही

होता—अविनश्वर है, यह मान लेने से ही ससार का चक्र चल सकता है, जो हमारे-आपके-सबके जानने मे चल रहा है। अगर आत्मा को अमर न माना जाय, तो दुनिया का धन्धा चल ही नही सकता, चले तो किसके लिये चले। अगर वह है ही नही जिसके लिये सृष्टि का प्रवाह चल रहा है, तो सब बेकार है। क्योंकि सृष्टि का प्रवाह अनादि है, अनन्त है, इसलिये आत्मा भी अनादि है, अनन्त है।

वैज्ञानिक-दृष्टि से भी आत्मा को अमर मानना लाजमी है। विज्ञान का कथन है कि कोई वस्तु नष्ट नही होती, रूप बदल लेती है—इसे 'ऊर्जा-संरक्षण' (Conservation of Energy) का सिद्धान्त कहा जाता है। भौतिक-पदार्थ भी नष्ट नही होते, रूप ही बदला करते हैं। बरफ का पानी बना, पानी की भाप बनी, भाप का बादल बना, बादल का फिर पानी बना—जितना पदार्थ पहले था उतना-का-उतना रूप बदलता गया, परन्तु नष्ट नही हुआ—यह भौतिकी तथा गणित से सिद्ध किया जा चुका है। अगर यह सिद्धान्त ठीक है, तो जैसा भौतिक-पदार्थों पर ठीक है, वैसा ही अध्यात्मिक-सत्ता पर भी ठीक है। इस सिद्धान्त के अनुसार अगर आत्मा उत्पन्न नहा होता, वर्तमान मे उसकी सत्ता है, तो यह रूप ही बदल सकता है, नष्ट नहा हो सकता। इस रूप बदलने का नाम ही 'पुनर्जन्म' है। हमने प्रश्न उठाया था—'क्या आत्मा देह से अलग है'? इसका उत्तर हमने देख लिया—'हाँ, अलग है'। प्रश्न का दूसरा भाग यह था—'अलग है, तो यह कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है?' इसका उत्तर भी हमने देखा—'आत्मा अमर है'—Immortal—है, यह पीछे से आता है, देह धारण करता है, फिर इसे छोड कर जीवन-यात्रा मे आगे निकल जाता है। 'आत्मा है'—'आत्मा अमर है'—अगर ये दोनो बातें ठीक हैं, तो यही पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आधार-स्तम्भ हैं।

इसके अतिरिक्त आत्मा के अमर होने का विचार संसार के विचारो के इतिहास मे इतनी देर से चला आ रहा है कि हम यह माने बगैर नही रह सकते कि इसकी विश्व ने उपयोगिता को स्वीकार किया है, नही तो क्यो हर व्यक्ति को अमरता की आशा बधी रहती है, क्यो यह विचार सार्वत्रिक है—हर देश-काल में पाया जाता है? इस विचार की जीवन मे व्यावहारिक उपयोगिता को देख कर ही तो इसे मानव-समाज ने अबतक पाल-पोसकर संभाल कर रखा हुआ है।

3. पुनर्जन्म का विचार सार्वत्रिक है

पुनर्जन्म के विचार का मनुष्य के चिन्तन मे इतना ऊँचा तथा प्रबल स्थान है कि यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पढे-बेपढे—दुनिया के हर क्षेत्र मे पाया जाता है। वैसे तो, सारी दुनिया किसी विचार को मानती है—यह कह देने से

कोई विचार सत्य नही हो जाता, परन्तु इतना ज़रूर है कि अगर किसी विचार को सारी दुनिया मानने लगे, तो इसका यह मतलब अवश्य निकलता है कि विश्व के नागरिको को उस विचार से अपनी समस्याओ का अधिकतम हल निकलता प्रतीत होता है। संसार का दो-तिहाई हिस्सा इस सिद्धान्त को मानता रहा है। इस दृष्टि से, हम सक्षेप मे, पुनर्जन्म के विचार की सार्वत्रिकता पर कुछ प्रकाश डालेंगे—

(क) **भारत से विभिन्न देशों में पुनर्जन्म का विचार**—कुछ विद्वानो का यह मत है कि भारत मे पुनर्जन्म के विचार के जन्म लेने से भी पहले ईजिप्ट मे इस विचार का जन्म हुआ। यद्यपि यह विचार ठीक नही है, तो भी यह स्थल इस विवाद को खडा करने का नही है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि ईजिप्ट के अध्यात्मशास्त्री इस विचार को गुप्त-विद्या के तौर पर अपने शिष्यो को देते थे। आम जनता को इस विचार की शिक्षा नही दी जाती थी, इसे सर्व-साधारण से प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखा जाता था। ग्रीक दार्शनिक पाइथोगोरस, जो ईसा से छटी शताब्दी पहले हुआ, उसने ईजिप्ट के अध्यात्मशास्त्रियो से पुनर्जन्म के गुप्त-सिद्धान्त की दीक्षा ली, और अपने देश मे आकर इस सिद्धान्त का अपने शिष्यो मे प्रचार किया। पाइथोगोरस तथा भारतीय-शास्त्रो की शिक्षा मे अभूतपूर्व समानता है। जैसे उपनिषदो तथा वेदान्त मे अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश एव साख्य मे कारण-शरीर, लिंग-शरीर, सूक्ष्म-शरीर, स्थूल-शरीर आदि का वर्णन है, वैसे ही पाइथोगोरस की शिक्षाओ में Sheaths (कोशो) का वर्णन है—ये Sheaths अनेक प्रकार के सूक्ष्म-शरीर हैं। इसी समानता को देख कर अन्य विद्वानो का मत है कि पाइथोगोरस ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की भारत मे जाकर शिक्षा प्राप्त की थी। जो कुछ हो, पाइथोगोरस के वाद प्लेटो (427-347) ने, जो ग्रीक-विद्वान् था, पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'फीडो' (Phaedo) मे आत्मा की जीवन-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है कि मनुष्य का एक पार्थिव-शरीर होता है जो मृत्यु का ग्रास हो जाता है, एक उसमे अजर-अमर सत्ता होती है जो अनिश्वर है, अमर है। प्लेटो का कहना था कि हमारा सम्पूर्ण-ज्ञान स्मरणात्मक है· 'All knowledge is remembrance'—अर्थात्, हमारा 'ज्ञान' केवल 'स्मृति' है। इस जन्म मे नवीन-ज्ञान प्राप्त करने का अभिप्राय केवल पूर्वजन्म मे अनुभव किये हुए सस्कारो को फिर-से जागृत करना है। प्लॉटिनस तथा प्रोक्लस के न्यू-प्लेटोनिज्म मे भी पुनर्जन्म का विचार पाया जाता है। ड्रूइड लोग पुनर्जन्म को मानते थे। यहाँ तक कि वे लोग वच्चे के उत्पन्न होने पर उनके चारो ओर इकट्ठे होकर रोते थे, और मरे वच्चे के चारो ओर खड़े होकर हँसते थे क्योकि उनका विचार था कि जीवन आत्मा की कैद है, मरना

कैद से छूटना है। यहूदी लोग जॉन दि बैप्टिस्ट को दूसरा इलिजा मानते थे, और ईसा को जॉन दि बैप्टिस्ट का द्विरागमन मानते थे। कई लोग ईसा को किसी अन्य प्राचीन पैगम्बर का अवतार कहते थे। ईसा से तीसरी शताब्दी बाद तक ईसाई लोग आत्मा को अनादि तथा अनन्त—अजर तथा अमर—मानते रहे। सेण्ट ऑगस्टाइन ने 415 ईस्वी मे अपने ग्रन्थ 'Confessions' मे लिखा है—'Did I not live in another body before entering my mother's womb'—क्या अपनी माता के गर्भ मे आने से पहले मैं किसी अन्य शरीर मे नही था ? 538 ईस्वी मे ईसाइयो के जस्टीनियन-सम्प्रदाय ने 'चर्च-कौन्सिल' करके पुनर्जन्म के विरुद्ध फतवा दिया और यह घोषणा की कि जो ईसाई आत्मा के 'प्रागस्तित्व' (Pre-existence) मे विश्वास करेगा वह ईसाइत मे से बहिष्कृत समझा जायगा। इस फतवे के बावजूद अनेक ईसाई पुनर्जन्म मे विश्वास करते रहे।*

पाश्चात्य-जगत् के अनेक वैज्ञानिक तथा विचारको ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, ब्रूनो (1548-1600)—जिसने कहा था कि सूर्य पृथ्वी के गिर्द नही घूमता, पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है, पुनर्जन्म मे विश्वास करता था। उसका कथन था कि जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु नष्ट हो गई, तो वैज्ञानिक-दृष्टि से हमारा अभिप्राय यह होता है कि उसकी जगह एक नवीन-वस्तु ने जन्म लिया है। ब्रूनो को इसलिए जीते-जी जला दिया गया क्योंकि वह कहता था कि सूर्य नही घूमता, पृथ्वी घूमती है। शोपनहार (1788-1860) एक महान्-विचारक था। वह उपनिषदो का इतना भक्त था कि कहा करता था कि इनकी शिक्षा ने मुझे जीवन मे शान्ति दी है, इनकी शिक्षा से ही मुझे मृत्यु-समय मे शान्ति मिलेगी। वह भी पुनर्जन्म पर आस्था रखता था। टैनीसन (1850-1892), रौबर्ट ब्राउनिंग (1812-1889), वर्ड्सवर्थ (1770-1850) आदि आँग्ल-कवियो ने अपनी कविताओ मे पुनर्जन्म के गीत गाये हैं।

(ख) भारत में पुनर्जन्म का विचार—जैसा पहले कहा जा चुका है, कई पाश्चात्य-विचारक पुनर्जन्म के विचार का उद्भव-स्थान ईजिप्ट मानते हैं, वहां से चल कर यह ग्रीस, रोम तथा युरोप मे फैला; कई विचारक इसका उद्भव-स्थान भारत को मानते हैं। जो कहते हैं कि यह विचार ईजिप्ट से फैला, उनका कहना है कि पाइथोगोरस, जिससे यह विचार युरोप मे गया, ईजिप्ट से इस विचार की दीक्षा लेकर आया था; जो कहते हैं कि यह विचार भारत से फैला उनका कहना है कि पाइथोगोरस इस विचार को भारत से ले गया था।

---

* देखो—Reincarnation and Law of Karm—लेखक William Walker Atkinson (पृ० 61)

अनेक पाश्चात्य-लेखकों का कथन है कि पुनर्जन्म का विचार भारत में बहुत पीछे आया, पहले ईजिप्ट में इस विचार का श्री-गणेश हुआ। ऐसा कहने वाले भूल में हैं क्योंकि भारत के अर्वाचीन-साहित्य में ही नहीं, वेदों में भी पुनर्जन्म का विचार बड़े स्पष्ट रूप में पाया जाता है। वेदों की प्राचीनता में पश्चिमी-विद्वानों को भी सन्देह नहीं। वेदों में पुनर्जन्म के कुछ मन्त्र निम्न हैं .

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणम् इह नो धेहि भोगम्
ज्योक् पश्येम सूर्यम् उच्चरन्तम् अनुमते मृडया नः स्वस्ति।
पुनर्नो असुम् पृथिवी ददातु पुनर्द्यौः देवी पुनरन्तरिक्षम्
पुनर्न. सोम. तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्ति॥

ऋग्वेद (8, 1, 23, 6—7)

असुनीते! हे परमेश्वर—जो जीव कोएक देह से दूसरे देह में ले जाता है—हमें फिर अगले जन्म में पुन आँख, पुन प्राण तथा पुन अन्य भोग प्राप्त हो। हम पुन सूर्य की ज्योति को उदय होता हुआ देखें—इत्यादि।

पुनर्मा एतु इन्द्रियम् पुनरात्मा द्रविण ब्राह्मण च। अथर्व (7, 6, 67, 1)

वैसे तो भारत का सारा साहित्य पुनर्जन्म के विचार से ओत-प्रोत है, परन्तु हमने ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों का उद्धरण इसलिए दिया है ताकि यह विचार कि भारत-भूमि में इस विचार का बीज ईजिप्ट से उड कर यहाँ आ उगा—इस पर प्रकाश पडे। भारत में इस विचार की जड इतनी मजबूत थी कि अलैग्जैंडर (356-323 ई० पू०) ने अपनी आँखों से कई हिन्दुओं को इसी विचार के कारण बडे शान्त-भाव से आग में अपने शरीर की आहुति देते देखा। सती-प्रथा में भी यही विचार काम कर रहा था। जबर्दस्ती किसी को जला डालना तथा अपने-आप आग में कूद पडना—इन दोनों में जमीन-आसमान का भेद है।

अब हम पुनर्जन्म के सम्बन्ध में पहले इसके पक्ष में, फिर विपक्ष में दी जाने वाली मुख्य-मुख्य युक्तियों पर कुछ लिखेंगे। विपक्ष में दी जाने वाली युक्तियों के साथ उनके उत्तर पर भी विचार करना आवश्यक होगा।

4 पक्ष में पहली युक्ति—अमरता का विचार

'पुनर्जन्म' के विचार का आधारभूत विचार 'अमरता' का विचार है। जब हम 'अमरता' (Immortality)-शब्द का प्रयोग करते हैं तब दो विचार उसमें सन्निविष्ट होते हैं। पहला यह कि मेरी 'सत्ता' है, दूसरा यह कि इस 'देह को छोडने के बाद भी मैं रहूँगा'। हम पहले कह आये हैं कि 'मेरी सत्ता है' —इसमें सबसे बडा प्रमाण हर प्राणी को अपने होने की अनुभूति है। इस देह में कोई बैठा है जो अपने को 'मैं' कह कर पुकारता है। निर्जीव, जड वस्तु,

ने कभी अपने को 'मैं' कहकर नही पुकारा। 'मैं'—'I-ness'—की अनुभूति ही आत्मा की सत्ता का सबसे बडा प्रमाण है। इतना ही नही कि हर प्राणी को आत्मानुभूति होती है, साथ ही यह भी अनुभूति होती है कि मैं नष्ट नही होऊँगा। मृत्यु सबको आती है, जबसे सृष्टि का प्रवाह चला, हर-कोई जो जन्मा है मर गया है, परन्तु मरना कोई नही चाहता। कितना ही कोई बूढा हो जाय, अंग काम न करे, रोगी हो, अपाहिज हो, कितने ही कष्ट मे हो, वह जीना चाहता है, अमर होना चाहता है। शकराचार्य ने ठीक ही कहा है—**अगं गलितं पलितं मुड दशनविहीनं जातं तुडं वृद्धो याति गृहीत्वा दंडं तदपि न मुचत्याशा पिंडम्'**। यह ठीक है कि कभी-कभी कोई इतने कष्ट मे पड जाता है कि मर जाना भी चाहता है, पश्चिम मे इस बात के लिए आन्दोलन भी चल रहा है कि जो अत्यन्त असाध्य-रोग से पीडित हो, उसे आत्मघात की इजाजत दी जाय, उसे वैध कर दिया जाय, परन्तु आत्मघात की इच्छा भी सिद्ध करती है कि मनुष्य मे अमर होने की इच्छा है। मरने की इच्छा करने वाला व्यक्ति मरना नहीं चाहता, दु:ख से छूटना चाहता है। उसका दु:ख हटा लिया जाय तो फिर मरने की इच्छा नही रहती, जीने की इच्छा वैसी-की-वैसी बनी रहती है। आत्मघात की इच्छा का यह भी अर्थ है कि 'आत्मा' इस देह से स्वतन्त्र है, उसकी देह के अतिरिक्त स्वतन्त्र-सत्ता है, शुद्ध अर्थों मे वह कष्ट देने वाले देह को, इस कैद को छोड कर स्वतन्त्र होना चाहता है। अमर-जीवन की इस इच्छा को योग-दर्शन मे **'आत्माशीः'** कहा है। योग-दर्शन के साधनपाद का नवाँ सूत्र है **'स्वरसवाही विदुषः अपि तथारूढः अभिनिवेशः'**। इसकी व्याख्या करते हुए व्यास-भाष्य मे लिखा है—**"सर्वस्य प्राणिनः इयम् 'आत्माशीः'—आत्मानि प्रार्थना। मा 'न भूवम्'—मा अभावी भूवं, भूयासम्, जीव्यासम् इति।"**—अर्थात्, अविद्वान्-से-विद्वान् तक सब प्राणी अपने लिये यह आशीष् माँगते है कि मैं स्व-रस मे बहता रहूँ, मुझे 'अभिनिवेश'—अर्थात्, मृत्यु का भय न पकडे, 'मा'—मत, 'न भूवम्'—मेरा अभाव न हो, 'भूयासम्'—मैं बना रहूँ। योग-दर्शन का कहना है कि हर-कोई जीना चाहता है—यही अनुभूति आत्मा की अमरता मे बडा पुष्ट प्रमाण है। यही कारण है कि संसार भर के धर्म आत्मा को उत्पन्न हुआ भले ही मानते हो, यह कोई धर्म नहीं मानता कि आत्मा नष्ट हो जाता है, वे आत्मा को 'अनादि' भले ही न मानते हो, 'अमर' अवश्य मानते है। तभी उन्होने मर जाने के बाद स्वर्ग-नरक की कल्पना की है। जडवादी इस बात का भले ही कोई मनमाना हल निकाल लें, परन्तु स्वतन्त्र विचार करने पर यह समझ नही आता कि जब इस जीवन भर हम कर्म करते हैं, उनका फल भोगते हैं, तो अपने सैकडो कर्मों का फल भोगे बगैर हम कैसे नष्ट हो जाते है। जिन लोगो ने कहा—**'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'**—बिना फल भोगे

कर्म की हानि नही होती—उन्होंने एक ऐसे सत्य की घोषणा की जो सबके अनुभव की बात है। कारण-कार्य का अखण्ड-नियम इस बात की माँग करता है कि कर्मों का फल मिलना चाहिये, अब नही मिला तो फिर-कभी मिलना चाहिए। यही कारण है कि मनुष्य मे 'अमरता' का विचार—न मरने का विचार—सदा बने रहने का विचार—मृत्यु को धक्का दे देने का विचार—बना हुआ है। परन्तु अगर आत्मा 'अमर' है, तो क्या सम्भव है कि यह कभी पैदा हुई हो ? यह नियम है कि जो मरता है वह पैदा भी होता है, ठीक इसी प्रकार यह मानना पडेगा कि जो मरता नही वह पैदा भी नही होता, जो अमर है वह अनादि भी है। आत्मा के 'अनादि' होने मे सबसे प्रबल-युक्ति यही है कि वह 'अमर' है, जो वस्तु समाप्त नही हो सकती वह प्रारम्भ कैसे हो सकती है ? आत्मा की 'अमरता' को सिद्ध करने के जितने प्रमाण है वे सब आत्मा की 'अनादिता' को सिद्ध करने के लिए दिये जा सकते है। दीर्घ-जीवन की आशा, प्रकृति मे किसी तत्त्व का अत्यन्ताभाव न हो सकना, जो वस्तु नष्ट होती दीखती है वह नष्ट नही होती, सिर्फ रूप बदलती है—इन सब प्रमाणो से अगर आत्मा 'अमर' है, तो अमर होने के कारण वह 'अनादि' भी है। अगर आत्मा 'अनादि' है और 'अमर' भी है, तो इस जन्म के देह धारण करने से पहले वह क्या करता था, देह त्यागने के बाद वह क्या करता रहेगा ! इसका उत्तर सिवाय इसके क्या हो सकता है कि हम जडवादी या चार्वाक हो जायें, और हाथ पटक कर कह दें कि न आत्मा जैसी कोई वस्तु है, न पैदा होती है, न मरती है, यह-सब ढकोसला है, देह ही को मूर्ख लोग आत्मा कह देते हैं। परन्तु इतना-कुछ कह देने से तो बात नही निपटती। जैसा हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, आत्मा तो है, जडवादी को, चार्वाक को भी बरबस मानना पडेगा कि अगर आत्मा है, तो इस उलझन मे से तभी छुटकारा मिलता है अगर उसे आत्मानुभूति के आधार पर अमर माना जाय, अमर माना जाय तो अनादि भी माना जाय, अनादि-अमर दोनो माना जाय, तो पुनर्जन्म भी माना जाय।

5. पक्ष में दूसरी युक्ति—कारण-कार्य का नियम

हो सकता है कि कई लोग कहें कि हम आत्मानुभूति की युक्ति को नही मानते, हमे अपने अमर होने का कोई विचार नही आता, हमे तो यही अनुभव होता है कि **'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'**—मर गए तो हर-गगा। आत्मा, कर्म, कर्म का फल, अच्छा-बुरा, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म—ये-सब झगडे तभी उठ खडे होते हैं अगर आत्मा को माना जाय, हम तो आत्मा को ही नहीं मानते। परन्तु प्रश्न यह है कि वे क्या मानते हैं ? क्या इतना तो मानते हैं कि ससार का नियन्त्रण 'कारण-कार्य के नियम' (Law of Cause and

Effect) से हो रहा है ? कोई कारण ऐसा नही जिसका कार्य नही, कोई कार्य ऐसा नही जिसका कारण नही। जीवन का प्रारम्भ करते ही हम मे भिन्नता पायी जाती है। किसी का स्वभाव जन्मते ही क्रोधी, किसी का शान्त, किसी की रुचि एक खास ढग की, किसी की दूसरे ढग की, किसी की योग्यता बचपन मे ही गणित मे, किसी की संगीत मे, किसी की कला मे—यह जन्मजात-भेद क्यो होता है ? इस भेद के तीन ही कारण हो सकते है। या तो 'आनुवंशिकता' (Heredity) से यह भेद आ रहा हो, या 'पर्यावरण' (Environment) मे यह भेद उत्पन्न हो गया हो, या 'पिछले-जन्म' (Previous life) मे इस भेद का कारण छिपा हो। वंश से तो यह भेद आता नही दीखता क्योंकि क्रोधी माता-पिता की शान्त, साधारण-बुद्धि के माता-पिता की चमत्कारी बुद्धि वाली सन्तान देखने मे आती है, पर्यावरण भी इस भेद का कारण नही है क्योकि अभी तो बच्चो पर पर्यावरण का प्रभाव पडने ही नही पाया। फिर जन्म-जात इस भेद का कारण क्या है ? पुनर्जन्म के मानने से यह समस्या अपने-आप हल हो जाती है। इस जन्म से पहले कोई समय था जब इस भेद का, विषमता का, स्वभाव, रुचि तथा योग्यता का सूत्रपात हुआ था। इतना ही नही कि एक ही माता-पिता की दो सन्तानें जन्म से ही भिन्न-भिन्न स्वभाव, रुचि तथा योग्यता की पायी जाती हैं, जुडवाँ बच्चो मे भी यह विषमता रहती है। इस विषमता का क्या कारण है ? ऐसी विषमता किसी एक परिवार मे ही नही, विश्व भर मे मौजूद है। संसार मे करोडो प्राणियो मे दो प्राणी भी ऐसे नही दीखते जो जन्म से ही एक ही साँचे मे ढले प्रतीत होते हो। जब अभी 'वंश' का प्रारम्भ नही हुआ था, 'पर्यावरण' के प्रभाव का प्रारम्भ नही हुआ था, संसार मे पहले-पहल जो बच्चे जन्मे थे, उनमे भिन्नता कहाँ से आई ? जन्म-जात भिन्नता के अलावा, जन्म लेने के बाद हम लगातार कर्म करते है, कई कर्मों का फल दीखता है, कई का नही दीखता। जिन कर्मों का फल नहीं दीखता, और हम बिना कर्म-फल के भोगे अचानक दुनिया छोड कर चल देते हैं, उनका क्या होता है ? अगर कारण-कार्य का नियम ठीक है, तो जडवादी को, चार्वाक को इन प्रश्नो का उत्तर देना होगा, जो बिना पुनर्जन्म को माने नहीं दिया जा सकता।

हम जीवन मे क्या देखते हैं ? व्यापारी व्यापार शुरु करता है, बही-खाता खोलता है, कुछ रकम जमा करता है, दिन भर जमा-खर्च के दोनों खातो मे अलग-अलग रकमें भरता जाता है, शाम को उनका जोड कर उनका शेष निकाल लेता है। अगले दिन गत-शेष से खाता फिर शुरु हो जाता है। इस प्रकार यह बही चलती चली जाती है। क्या जीवन की बही बिना किसी जमा के शुरु होती है, बिना गत-शेष के बन्द हो जाती है ? हम नदी के तट पर खडे है। नदी का

पानी पीछे से चला आ रहा है, हमारे सामने से होकर आगे चला जा रहा है। पीछे और आगे का कारण-कार्य का सम्बन्ध जो हर-किसी घटना के साथ बँधा हुआ है, क्या संसार की महानतम-घटना—इस जीवन के सम्बन्ध मे टूट जाता है ? यह नही माना जा सकता ।

6. पक्ष मे तीसरी युक्ति—अद्भुत-मेधावी बालकों का होना

अभी जिस युक्ति पर हमने विचार किया उसी के साथ बँधी हुई यह तीसरी युक्ति है । सव प्राणियो मे तो विपमता है ही, परन्तु कोई-कोई मानव जन्म से ही इतने अद्भुत मेधावी होते है कि उस विलक्षणता का पुनर्जन्म के सिवाय कोई हल नही हो सकता । इस सम्वन्ध मे विलियम वाकर एटकिनसन ने अपनी पुस्तक 'री-इनकारनेशन' मे पृष्ठ 189 पर कुछ दृष्टान्त दिये है । उदाहरणार्थ, पास्कल जव 12 वर्प का था, तव प्लेन जियोमेट्री तथा कैलक्युलस (Plane Geometry and Calculus) को विना पढे, विना सीखे, युक्लिड की सव शक्लें रत्तीभर विना गलती के ठीक-ठीक खीच सकता था, एक ग्वाला जिस का नाम मेगिया मेलो था पाँच वर्प की आयु मे वडी-वड़ी राशियो का ऋण-योग, गुणा-भाग परिकलन-मशीन (Calculating machine) की गति के वेग से कर लेता था। मोज़ार्ट चार वर्प की आयु मे सिद्ध-हस्त गायक की तरह पियानो वजा लेता था, आठ वर्प की आयु मे कविता कर लेता था, थेरेसा मिलानौलो चार वर्ष की आयु मे वायोलिन को एसे वजा लेती थी कि प्रसिद्ध सगीतज्ञ वेलियट का कहना था कि उसने पिछले किसी जन्म मे यह सीखा होगा । अपने देश मे भी रामानुजम नाम के एक व्यक्ति हुए जो जन्म से ही वड़ी-वडी राशियो का विना कागज़-पत्तर के हल वता देते थे । इन उदाहरणो के अलावा अमरीका के डाक्टर एस० स्क्रिपचर ने कुछ दृष्टान्तो का संग्रह किया है जो वडे दिलचस्प हैं । 10 वर्ष का एक वालक था विडर । वह सात-सात, आठ-आठ राशियो का लघुत्तम पता लगा लेता था । मौखिक ही वडी-वड़ी राशियो का 'उत्पादक' (Factor) निकाल लेता था । उसे कहा गया, 17861 के उत्पादक वताओ, तो तत्क्षण उसने उत्तर दिया—337×53 ; परन्तु जव उसे पूछा गया कि यह कैसे किया, तो विधि वह नही वता सकता था । श्री मेयर 'Human Personality'-नामक पुस्तक मे एक पादरी वाटले का उसके अपने विपय मे उद्धरण देते हुए लिखते हैं : "मुझ में गणित की विचित्र शक्ति थी । जव मैं तीन वर्प का था, तव कागज़-पेंसिल से प्रश्न हल करने वालों की अपेक्षा मस्तिष्क मे ही सव प्रश्न हल कर लेता था, कभी अशुद्धि नहीं होती थी । जव मैं पढने की आयु का हुआ, तव यह शक्ति जाती रही ।" एक वालक सैफ्फोर्ड था जो छ वर्प की आयु मे गणित के कठिन-से-कठिन प्रश्न हल कर लेता था । वडा होने पर उसे एक कालेज मे ज्योतिप-

शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त किया गया, परन्तु पीछे जाकर उसमे यह शक्ति न रही। एक छः वर्ष का बालक था वानआर। वह बड़े-बड़े प्रश्न हल कर लेता था, परन्तु यह नही जानता था कि ये प्रश्न हल कैसे हुए। कुछ वर्षो के बाद उसकी यह प्रतिभा लुप्त हो गई। इन उदाहरणो मे हम देखते है कि जन्म के समय कुछ वर्षों तक यह प्रतिभा उन मे रही, उसके बाद जाती रही। जाती क्यो रही ? यही कहा जा सकता है कि पिछले जन्म से आयी थी, इस जन्म के दूसरे झंझटो के कारण जाती रही। इन घटनाओ का पुनर्जन्म के सिवाय क्या समाधान दिया जा सकता है ? अगर बहुत दिमाग लडाया जाय और वर्तमान प्रचलित मनोवैज्ञानिक-शब्दावली का प्रयोग किया जाय, तो यही कहा जा सकता है कि इन बालको के 'अवचेतन' (Sub-conscious) मे से इन प्रश्नो का हल निकलता होगा। परन्तु 'अवचेतन' मे यह मशीन कहाँ से आ बैठी ? 'अवचेतन'-शब्द का प्रयोग करने मात्र से तो मामला वैज्ञानिक नही हो जाता। यही मानना पडता है कि 'अवचेतन' मे भी पिछले जन्म के सस्कार जमा पडे थे, वे उद्बुद्ध हो गये। जिस समस्या को मनोवैज्ञानिक 'अवचेतन' से हल करते है, उसे वैदिक-मनोवैज्ञानिक 'सूक्ष्म-शरीर' से हल करते थे ; 'सूक्ष्म-शरीर' के विचार का सम्बन्ध पुनर्जन्म के साथ जुडा हुआ है क्योकि पुनर्जन्म मे पिछले जन्म का सूक्ष्म-शरीर ही सब सस्कारो को लेकर अगले जन्म मे जाता है।

7. पक्ष में चौथी युक्ति—किसी वस्तु का क्षय न होना

विज्ञान का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि भौतिक-जगत् मे शक्ति का क्षय नही होता, शक्ति रूपान्तरित होती रहती है, नष्ट नही होती। जो नियम भौतिक-जगत् मे घटता है, वही नियम आध्यात्मिक-जगत् मे क्यो नही घटेगा ? भौतिक-जगत् मे न तो भौतिक-तत्वो का ही नाश होता है, न भौतिक-शक्ति का ही नाश होता है। प्रत्येक भौतिक-पदार्थ अपने मूल-तत्व के परमाणुओ के संयोग से बनता है, उन परमाणुओ के वियोग से वह रूपान्तरित होता जाता है, नष्ट नही होता। चेतना भी शरीर मे आकर प्राणी का रूप धारण कर लेती है, इस शरीर को छोड़ कर रूपान्तरित हो जाती है, दूसरा रूप, दूसरा चोला धारण कर लेती है, नष्ट नही होती। विज्ञान का कथन है कि उत्पत्ति तथा नाश निरर्थक शब्द हैं। जो वस्तु आज एकदम उत्पन्न होती हुई दिखलाई देती है उसका 'पूर्व-कारण' मौजूद है, चाहे वह बादलो को बनानेवाले वाष्प की तरह अदृश्य ही क्यों न हो। विज्ञान का यह भी कथन है कि ससार मे 'भौतिक-द्रव्य' (Matter) तथा 'ऊर्जा' (Energy) की मात्रा घटती-बढती नही, उनकी सिर्फ शक्ल बदल जाती है, परिवर्तन हो जाता है, उत्पत्ति अथवा विनाश नही होता। नष्ट होती हुई चीज़ आँखो से ओझल होती है, वास्तव मे वह प्रकृति मे रूपान्तर मे

उपस्थित रहती है। इसे 'ऊर्जा-संरक्षण' (Conservation of Energy) का नियम कहा जाता है। जैसे भौतिक-जगत् का 'कारण-कार्य का नियम' (Law of Causation) आध्यात्मिक-जगत् मे 'कर्म का सिद्धान्त' कहा जा सकता है, वैसे ही भौतिक-जगत् का 'ऊर्जा-सरक्षण' का नियम आध्यात्मिक-जगत् मे 'पुनर्जन्म' का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

विज्ञान की अनेक खोजो मे से यह भी एक बडी खोज है कि जो 'अस्ति' है वह 'नास्ति' नही हो सकता, जो 'नास्ति' है वह 'अस्ति' नही हो सकता, सिर्फ रूप बदल सकता है। कोई समय था जब युरोप में ईसाइयत का बोलबाला था, विज्ञान का श्री-गणेश नही हुआ था। यह समझा जाता था कि परमात्मा ने कहा—'हो जा'—बस, अभाव से भाव हो गया; परमात्मा ने कहा—'नष्ट हो जा'—बस, भाव से अभाव हो गया। विज्ञान ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। विज्ञान का कहना है कि 'भौतिक-द्रव्य' (Matter) तथा 'ऊर्जा' (Energy)—इन दोनो मे से किसी को न तो अभाव से पैदा किया जा सकता है, न इन मे से किसी का नाश हो सकता है, इनका सिर्फ रूप बदल सकता है। उदाहरणार्थ, जब दीया जल रहा है, तब उसका तेल समाप्त होता दीखता है, परन्तु वह नष्ट नही हो रहा होता, धूएँ तथा कालिस मे बदल रहा होता है। जो-जो बदलाहट हो रही होती है उस सब को पकड़ कर तोल लिया जाय, तो तेल-सहित दीये मे और धूएँ तथा कालिस सहित दीये मे मात्रा भर का भी फर्क नही होता। इस सिद्धान्त को सांख्य, वेदान्त तथा उपनिषद् ने 'सत्कार्यवाद' का नाम दिया है, इसी को विज्ञान ने 'ऊर्जा-सरक्षण' (Conservation of Energy) का नाम दिया है। इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर सहस्रो वर्ष पूर्व गीता ने कहा था—

नासतो विद्यते भावः नाभाव विद्यते सतः
उभयोरपि दृष्टोन्त स्त्वनयोः तत्व दर्शिभिः।

गीता, द्वितीय अध्याय, 16

—अर्थात्, असत् का सत् नही होता, सत् का असत् नही होता। विद्वानो ने सत् तथा असत् के ओर-छोर को देख कर यही निर्णय किया है।

इसी सत्कार्यवाद (Conservation of Energy) के सिद्धान्त को आत्मा पर घटाकर गीता ने पुनर्जन्म के विषय मे कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्। द्वितीय अध्याय, 12

—अर्थात्, ऐसा कभी नही था जब मैं नही था, ऐसा भी कभी नही था जब तू नही था, ऐसा भी कभी नही था जब युद्ध के लिये सामने खडे हुए ये राजा-महाराजा नही थे, ऐसा कभी नहा होगा जब तू, मैं या ये नही रहेंगे।

गीता ने कितने उत्तम शब्दों मे आत्मा की जीवन-यात्रा का वर्णन किया है। जीवन तथा मृत्यु एक यात्रा है। इस यात्रा मे पडाव के वाद पडाव, स्टेशन के वाद स्टेशन आते चले जाते है, जिसने जिस पडाव या स्टेशन तक जाना है, वहाँ पहुँच कर वह उतर जाता है, मर नही जाता, अगले पडाव के लिये चल देता है; इस यात्रा मे जो सह-यात्री होते हैं उनके साथ उतने समय का ही नाता रहता है जबतक यात्रा चलती रहती है, उसके वाद यात्री जिस नई यात्रा के लिये निकल पड़ता है उसमे उसे नये सगी-साथी मिल जाते हैं, पुराने भूल जाते है, यही जीवन तथा मृत्यु की कहानी है, अन्त तक जीवन-ही-जीवन है, मृत्यु सिर्फ पुनर्जन्म का नाम है।

8. पक्ष में पाँचवीं युक्ति—जीव-विज्ञान की साक्षी

पुनर्जन्म की स्थापना को पुष्ट करने के लिये यह सिद्ध करना आवश्यक है कि आत्मा इस जन्म से पहले विद्यमान रहता है। इस दिशा मे 'जीव-विज्ञान' (Biology) का कथन महत्वपूर्ण है। जीव-वैज्ञानिको का कथन है कि इस आश्चर्यजनक-शरीर की रचना केवल जड प्रकृति ने नही कर दी। इस अद्भुत-रचना को देखकर मानना पडता है कि शरीर के उत्पन्न होने से पूर्व कोई-न-कोई शक्ति शरीर से पृथक् अवश्य होनी चाहिये, जो किसी निश्चित उद्देश्य से प्राकृतिक-पदार्थों को जोड लेती है। साख्य-कारिका मे लिखा है—**'संघात परार्थत्वात्'**—जो 'सघात' है, जो वस्तु किन्ही प्राकृतिक-पदार्थों के जोड से वनी है, उसे किसी दूसरे ने बनाया है, स्वयं नही वनी, और किसी दूसरे के लिये—उसके उपभोग के लिये वनी है, अपने ही लिये नही वनी। विस्तर को विस्तर नही बनाता, बिस्तर बिस्तर के लिये नही वनता, विस्तर पर विस्तर नही सोता, बिस्तर को बनानेवाला विस्तर से पहले होता है—यह नही होता कि विस्तर पहले बन गया, बिस्तर बनानेवाला पीछे आया। विस्तर की तरह ही यह शरीर है। यह भी 'संघात' है, प्राकृतिक-पदार्थों के मेल से वना है। प्राकृतिक-पदार्थों ने ही प्राकृतिक-पदार्थों का सग्रह करके शरीर की रचना कर दी हो—यह नही माना जा सकता। इस कार्य के लिये शरीर से भिन्न ही नही, अपितु शरीर से पहले किसी शक्ति को मानना पडेगा जो किसी निश्चित उद्देश्य से शरीर की रचना करती है। वया घोसले को वनाता है, उस मे रहता है, अपना उद्देश्य पूरा कर लेता है, फिर उसे छोड कर उड जाता है, इसी तरह कोई चेतन-शक्ति है जो अपने उपभोग के लिये इस शरीर-रूपी घोसले को वनाती है, काम निकल जाने पर उड जाती है। क्योकि इस जन्म मे काम पूरा नही होता, इसलिये फिर दूसरे घोसले वना लेती है, दूसरा शरीर धारण कर लेती है। यह तो वैज्ञानिक मानते है कि शरीर मे जब चोट लगती है, तब शरीर के भीतर

वैठी कोई अज्ञात-शक्ति स्वय उसका इलाज करती रहती है। डॉक्टर भी कहते हैं कि शरीर के भीतर की 'जीवनी-शक्ति' (Vital force) शारीरिक रोगो को दूर करने का प्रयत्न करती रहती है। औषधि का काम उस शक्ति के प्रयत्न मे सहायता पहुँचा देना मात्र है। जड वस्तु के टूट-फूट की मरम्मत जड वस्तु ही नही कर सकती, शरीर के टूट-फूट की मरम्मत शरीर के द्वारा ही नही हो सकती, वह भीतर से किसी चेतन-शक्ति के द्वारा होती है—इस चेतन-शक्ति की सत्ता शरीर से पहले माननी पडती है, शरीर के नष्ट हो जाने पर यह चेतन-शक्ति वनी रहती है—यह भी मानना पडता है, क्योकि विज्ञान ही कहता है कि शक्ति कभी नष्ट नही होती, सिर्फ रूपान्तरित होती है। यही तो पुनर्जन्म है। प्लेटो ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए मानो गीता की भाषा मे कहा है—आत्मा अपना कपडा अपने-आप बुन कर उसकी मरम्मत करता रहता है, उसके फट जाने पर नया कपडा वना लेता है। गीता ने भी तो कहा है—**'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि, तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही'** (2-22)। क्योकि जीव-विज्ञान (Biology) के कथनानुसार शरीर के भीतर, शरीर से भिन्न कोई जीवनी-शक्ति माननी पडती है, जो अपने निश्चित उद्देश्य से, शरीर का निर्माण करती रहती है, उसकी टूट-फूट की मरम्मत भी करती रहती है, और क्योकि उसका उद्देश्य इस एक जन्म मे पूरा नही हो पाता, वह अपना काम अधूरा छोड कर चल पडती है, इसलिये इस शरीर से पहले और इस शरीर के वाद उस की सत्ता का मानना युक्ति-सगत है—यही पुनर्जन्म है।

9 पक्ष में छठी युक्ति—विकासवाद की साक्षी

तितली तथा रेशमी कीडे के दृष्टान्त को देख कर पुनर्जन्म का सिद्धान्त वहुत अच्छी तरह समझ आ जाता है। तितली एक ही जन्म मे भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है, उसका पहला रूप दूसरे रूप से भिन्न होता है। तितली के विकास को देख कर ऐसा मालूम होता है मानो हमारे सामने उसने एक ही जीवन मे कई चोले वदल डाले। उसके दृष्टान्त को देख कर कहा जा सकता है कि मनुष्य का यह जीवन मानो अगले जीवन की पूर्वावस्था है, जो उसे आगे ले जाना है, इसी प्रकार यह जीवन इस जीवन से पूर्व के जीवन की उत्तरावस्था है जिसमे यह जीवन वना है। इतनी विशाल रचना का आधार शून्य नही हो सकता। चेतना की यह विशाल-शक्ति विना किसी पूर्व-शक्ति के धक्के से यहाँ तक नही आ सकती। इमर्सन (1803-1882) ने ठीक कहा है कि हम जाग कर उठते हैं और अपने-आप को सीढी के एक पाये पर पाते हैं। हमारे नीचे भी सीढियाँ हैं जिन पर से चढ कर हम आये हैं, हमारे ऊपर भी सीढियाँ हैं जिनके

ऊपर हमने अभी चढना है। सावधानी न वरतें तो सीढी से फिसल भी सकते हैं।

जो लोग भौतिक-विकास (Physical evolution) को मानते हैं उनका कहना है कि सृष्टि के विकास का नियम नाश का नही, 'परिवर्तन' (Variation) का नियम है। हर-एक प्राणी एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे परिवर्तित हो रहा है। उनका कहना है कि टेडपोल मछली बन जाता है, मछली मेढक की शक्ल मे आ जाती है, और कई मेढक पक्षी वन जाते है, उड़ने लगते हैं। विकासवाद (Theory of Evolution) का कथन है कि प्राणी—मनुष्य भी—उत्पन्न होने से पूर्व गर्भावस्था मे मेढक, मछली, कुत्ता, बन्दर आदि की शक्लो मे से गुज़रते है। विकासवादियो का कथन है कि इन भिन्न-भिन्न जीवनो मे से गुज़रने के बाद ही मनुष्य का विकास हुआ है। गर्भावस्था मे इन-सब शक्लो का दोहराया जाना इसी कारण होता है क्योकि मनुष्य वर्तमान-अवस्था मे इन-सब मज़िलो को पार करके ही पहुँचा है। उनके कथनानुसार प्रकृति ने मनुष्य की रचना सहस्रो वर्षों के प्रयोगो के वाद की है, और उन्ही प्रयोगो की एक झाँकी गर्भावस्था मे होनेवाले परिवर्तनो मे दीख जाती है। हम विकासवाद को मानें या न माने, परन्तु उन्ही के सिद्धान्त के आधार पर हम उनसे पूछते है कि जिस प्रकार विकासवादियो के कथनानुसार मनुष्य-शरीर की वर्तमान-रचना एकदम उत्पन्न नही हुई, प्रकृति के अनेक प्रयासो के वाद वर्तमान-शरीर उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार आत्मा की वर्तमान विकसित अथवा अविकसित अवस्था को पूर्व-प्रयासो का परिणाम क्यो न समझा जाय ? इन्ही पूर्व-प्रयासो का नाम पुनर्जन्म है और क्योकि हम इस जन्म का प्रयास भी अधूरा छोड कर ही आगे चल देते हैं, इसलिये पूर्व-जन्म, यह-जन्म तथा आगामी-जन्म—इन तीनो को एक सूत्र मे पिरोने से ही गुत्थी सुलझती है। विकासवाद का कथन है कि मनुष्य का भौतिक-अंश परिवर्तन की अनेक शृखलाओ का परिणाम है जिनमे से प्रत्येक शृखला कार्य होने के वाद अगली शृखला का कारण बन जाती है। क्या मनुष्य की आध्यात्मिक, चेतन-सत्ता के विषय मे भी यही विचारधारा लागू नही होगी ? अगर होगी, तो उसी का नाम पुनर्जन्म है। अनुभव की पाठशाला मे आत्मा का क्रमिक-विकास हमे यह मानने के लिये बाधित करता है कि आत्मा के विकास के लिये एक शरीर पर्याप्त नही है, उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये क्रमश. अनेक शरीरो की आवश्यकता है। जब एक प्रकार के प्राणी-शरीर को दूसरे प्रकार के शरीर मे वदलने के लिये, विकासवादियो के सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति को सहस्रो वर्ष लग जाते है, तब आत्मा को पूर्ण-विकसित होने के लिये 70-80 वर्ष का एक ही शरीर कैसे वस हो सकता है ? अगर वस नही हो सकता, आत्मा को पूर्ण-विकसित होने के लिये अनेक शरीर धारण करने की आवश्यकता है, तो उसी का नाम पुनर्जन्म है।

10. पक्ष में सातवीं युक्ति—पूर्व-जन्म की स्मृति

उक्त युक्तियो के अलावा पुनर्जन्म को सिद्ध करने मे एक अकाट्य-युक्ति पिछले जन्म की घटनाओ की स्मृति है। इस सम्वन्ध मे अनेक उदाहरण पाये जाते है जिनमे से कुछ का हम यहाँ उल्लेख करेंगे·

(क) **जेन्नीफर तथा गिल्लियन**—वरजीनिया विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ मेडीसिन के साइकिएट्री-विभाग के चेयरमैन डॉ० आएन स्टीवेन्सन (Ian Stevenson) ने 1966 मे एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसका नाम है—Twenty Cases Suggestive of Re-incarnation इस पुस्तक मे इन्होंने पुनर्जन्म के सम्वन्ध मे 20 उदाहरण दिये हैं जिनमे से एक उदाहरण इग्लैण्ड के पोल्लौक-युगल (Pollock Twins) का है। पोल्लौक-परिवार मे दो वहनें थी जिन दोनो की सडक की दुर्घटना मे मृत्यु हो गई थी। उनकी मृत्यु के 17 महीने के वाद पोल्लौक पति-पत्नी के घर मे दो और लडकियाँ पैदा हुई जिनका नाम जेन्नीफर तथा गिल्लियन रखा गया। वे 1966 मे 10 वर्ष की थी। इन दोनो लडकियों ने अपने पूर्व-जन्म की मृत्यु की घटनाओ का इतनी वारीकी से वर्णन किया है जो वही कर सकता है जो उक्त दुर्घटना का शिकार हुआ हो। इन लडकियो के पिता का कहना है कि गिल्लियन ने दुर्घटना के सम्वन्ध मे ऐसी वातें वतलाई हैं जो उसे इस जन्म मे किसी ने नही वतलाई। पोल्लौक-परिवार को पूरा विश्वास है कि उनकी ये दोनो पुत्रियाँ उनकी पहली दो पुत्रियो का पुनर्जन्म है।

(ख) **एक अमरीकन-युगल को पुनर्जन्म की स्मृति**—डॉ० स्टीवेन्सन ने 'जरनल ऑफ दि अमेरिकन सोसाइटी फौर साइकिकल रिसर्च' के अप्रैल 1960 के अक, पृ० 56 मे एक अमरीकन-युगल का वर्णन किया है जिन्हे वम्वई मे आने पर पूर्व-जन्म की एकाएक स्मृति हो आई। वच्चो के विपय मे तो कहा जा सकता है कि वे काल्पनिक वातें भी वना सकते है, परन्तु प्रौढ-व्यक्ति के विपय मे तो ऐसा नही कहा जा सकता। एक अमरीकन-दम्पति दुनिया की सैर को निकले और इस दौरान वम्वई पहुँचे। उनका कहना है कि उन्हे यह शहर इतना परिचित-सा जान पडा कि उन्हे किसी मार्ग-दर्शक की जरूरत नही पडी। अपनी जानकारी की परीक्षा करने के लिये वे ऐसी जगह गये जहाँ उनकी पूर्व-स्मृति के अनुसार एक घर होना चाहिये था, और मकान के वगीचे मे वरगद का एक वृक्ष होना चाहिये था। जव वे वहाँ पहुँचे, तो न वहाँ वह घर था, न वरगद का पेड़ था। उन्होने वहाँ खडे एक पुलिसमैन से पूछा कि उस स्थान पर जो मकान वना था, जो वरगद का पेड था, उसका क्या हुआ? पुलिसमैन ने उन्हें वतलाया कि उसने अपने पिता से सुना था कि वहाँ पहले कभी एक मकान

था, बरगद का पेड़ भी था, वहाँ एक परिवार रहता था जिसका नाम 'भान' था। अब वह सब-कुछ वहाँ नही रहा। यह-सब सुन कर अमरीकन-दम्पति को इस बात का विश्वास हो गया कि वे ही किसी पूर्व-जन्म मे इस स्थान पर रहते थे क्योकि अनजाने उन्होने अपने पुत्र का नाम 'भान' ही रखा था।

(ग) **गोपाल का उदाहरण**—राजस्थान विश्वविद्यालय के डिपार्टमैण्ट ऑफ पैरासाइकौलौजी के डाइरेक्टर एच० एन० बैनर्जी ने भी पुनर्जन्म के उदाहरणो पर विशेष गवेषणा की है। 3 अप्रैल 1965 मे श्री बैनर्जी ने गोपाल नाम के बालक से बातचीत की। वह उस समय 9 वर्ष का था। वह श्री सहदेव प्रसाद गुप्त तथा श्रीमती ओमवती गुप्त का पुत्र है। ये लोग दिल्ली मे रहने वाले हैं। गोपाल अपने को मथुरा का कहता है। इसका कहना है कि वह कुछ वर्ष पहले किसी दुर्घटना मे मथुरा मे मरा था। श्री बैनर्जी ने उसके विषय मे जितनी पूछ-ताछ की है, उसके आधार पर उनका कहना है कि यह पुनर्जन्म का एक सच्चा उदाहरण है। पुनर्जन्म के दृष्टान्त प्राय पिछले जन्म की किसी दुर्घटना से जुड़े होते हैं। दुर्घटना की व्यक्ति पर ऐसी चोट पडी होती है कि वह भूलाये भी नही भूलती, इसीलिये किन्ही-किन्ही को वे याद आ जाते है।

पुनर्जन्म की स्मृति के दृष्टान्तो मे प्राय देखा गया है कि जिन घटनाओ मे मरते समय व्यक्ति को अत्यन्त कष्ट हुआ हो, ऐसे ही व्यक्तियो मे पिछले जन्म की स्मृति बनी रहती है। उदाहरणार्थ, किसी का कत्ल किया गया हो, कोई आग से जल मरा हो, पानी मे डूब गया हो, मृत्यु के समय अत्यन्त कष्ट मे रहा हो—ऐसे दृष्टान्तो मे क्योकि सस्कार अत्यन्त तीव्र होता है इसलिये उसकी स्मृति बनी रह सकती है, और कारणवश उसकी स्मृति उद्‌बुद्ध होने पर उस जीवन से सम्बद्ध अन्य स्मृतियाँ भी जाग जाती हैं। मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से इसे 'प्रत्यय-सम्बन्धवाद' (Association of Ideas) के सिद्धान्त से समझा जा सकता है। एक विचार, उससे साक्षात् अथवा परोक्ष रूप से जुडे दूसरे सस्कार को उद्‌बुद्ध कर देता है। स्वप्न मे भी तो ऐसा ही होता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए महाभारत, अनुशासन पर्व, 227—32-33 मे लिखा है

ये मृताः सहसा मर्त्याः जायन्ते सहसा पुनः
तेषां पौराणिको भाव. कचित् कालं हि तिष्ठति।
तस्मात् जातिस्मराः लोके जायन्ते बोधसंयुताः
तेषां विवर्धतां सज्ञा स्वप्नवत् सा प्रणश्यति।

—अर्थात्, जो व्यक्ति सहसा, अचानक किसी दुर्घटनावश मर जाते है, और एकदम ही उनका पुनर्जन्म हो जाता है, उनका पुनर्जन्म का पुराना सस्कार कुछ समय तक बना रहता है। यही कारण है कि ससार में जो 'जातिस्मर'—अपने

पिछले जन्म का स्मरण रखने वाले—उत्पन्न होते है, वे ज्यो-ज्यो वडे होते जाते हैं, त्यो-त्यो उनकी पिछले जन्म की स्मृति नष्ट होती जाती है।

लगभग इसी प्रकार का विचार गीता (8, 6) मे आया है जहाँ लिखा है कि मरते समय मनुष्य मे जो भाव प्रवल होता है वही भाव दूसरे जन्म मे उभर उठता है। वहाँ लिखा है

यं यं वापि स्मरन् भावम् त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्
त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः।

(घ) **अज्ञात-भाषा का एकदम वोलने लगना** (Xenoglossy)—कई ऐसे दृष्टान्त देखने मे आये हैं जिनमे कोई व्यक्ति अचानक ऐसी भाषा वोलने लगता है जिसे उसने इस जन्म मे नही सीखा, न वह उसकी अपनी भाषा होती है। उदाहरणार्थ, एच० हार्वे-डे अपनी पुस्तक 'Re-incarnation' मे लिखते हैं कि रायल आइरिश राइफल्स मे एक व्यक्ति था जिसका नाम था ज्यार्ज कारटल। अचानक वह ऐसी भाषा वोलने लगा जिसे कोई समझ नही सकता था। सेना के स्थान-से-स्थान की अदला-वदली मे उसकी सेना की टुकडी को वर्मा भेजा गया। वहाँ जाकर पता चला कि जिस भाषा को वह अचानक वोलने लगा था वह वर्मी भाषा थी। इस दृष्टान्त का उल्लेख हार्वे-डे ने 1944 मे किया था, परन्तु स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'Evidence for Survival from Claimed Memories' (पृ० 117) मे जो हाल मे ही प्रकाशित हुई है एक आग्ल-महिला का दृष्टान्त दिया है जो अचानक प्राचीन-काल की नौरविजियन-भाषा वोलने लगी। जव वह मूर्छा मे आ जाती थी तव नार्वे के मध्य-युग के किसी व्यक्ति के रूप मे उस काल की भाषा मे वात करने लगती थी। स्टीवेन्सन का कहना है कि इन दृष्टान्तो से दो ही परिणाम निकल सकते है—या तो इन व्यक्तियों मे कोई दूसरी आत्मा प्रवेश कर जाती थी, या ये पुनर्जन्म के उदाहरण हैं।

(ङ) **पाइथोगोरस को पूर्व-जन्म की स्मृति**—कहा जाता है कि पाइथोगोरस को जो एक ग्रीक-विद्वान् था, अपने समय का महान् गणितज्ञ था, पूर्व-जन्म की स्मृति थी, उसे अपने एक ही जन्म की नही अनेक पूर्व-जन्मो की स्मृति थी। एक वार जव उसने एक ग्रीक मन्दिर में ढाल टगी हुई देखी तो उसने कहा कि ट्राय की लडाई मे पिछले जन्म मे उसने इसी ढाल का उपयोग किया था।

(च) **सर वालटर स्कोट को पूर्व-जन्म की स्मृति**—सर वालटर स्कोट (1771-1832) अपनी डायरी मे 1828 मे लिखते है "मुझ पर अपने पूर्व-जन्म का एक अद्भुत अनुभव छा गया। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरे सामने जो-कुछ हो रहा था वह इसी जन्म मे पहली वार नही हुआ था, मैं जो-कुछ सुन रहा था वह इसी जन्म मे पहली वार ही नही सुन रहा था, मैंने इन्ही विषयो

पर और इन्ही लोगो के साथ न-जाने कब, किसी पिछले जन्म में भी इसी प्रकार की चर्चा की थी।"

(छ) **विलियम होम को पूर्व-जन्म की स्मृति**—विलियम होम पश्चिम के एक प्रसिद्ध लेखक हुए है। वे लिखते है कि वे लंदन के एक प्रतीक्षालय मे प्रविष्ट हुए। वे वहाँ पहले कभी नही आये थे, परन्तु उन्हे ऐसा अनुभव हुआ कि वे इस स्थान की हर बात से परिचित है। वे सोचने लगे कि मैं यहाँ पहले तो कभी आया नही, फिर यहाँ की प्रत्येक वस्तु इतनी जानी-पहचानी क्यो प्रतीत होती है? इस बात को परखने के लिये कि यह जानकारी भ्रम ही तो नहीं है उन्होंने अपने से कहा कि अगर मेरी प्रतीति ठीक है तो सामने के ढक्कन में एक गाँठ होनी चाहिये। ढक्कन को खोला तो सचमुच उसमे गाँठ थी।

(ज) **श्री राजेन्द्र की पुस्तक के दृष्टान्त**—दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र के पिता श्री राजेन्द्र ने आज से 20 वर्ष पहले विक्रमी 2012 मे 'पूर्व-जन्म-स्मृति' नाम से एक पुस्तिका लिखी थी जिसमे भारत मे पायी जाने वाली आप-देखी तथा समाचार-पत्रों मे प्रकाशित सोलह घटनाओ का उल्लेख है। एक घटना इन्होने श्री सूरजस्वरूप के विषय में लिखी है। ये जल-विद्युत्-विभाग, अतरौली (अलीगढ) मे स्टोर-कीपर थे। इनका जन्म 1929 ईस्वी मे हुआ था। इनका कहना था कि जब वे 2-3 वर्ष के थे, तब इन्हे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आयी। उन दिनो इनके पिता श्री गिरिराज किशोर लक्सर स्टेशन पर गुड्स क्लर्क थे। ये गत-जन्म में दिल्ली के मोहल्ला दरीबा कला के सेठ हरिशकर के पुत्र थे। इनका एक और भाई था। ये तो सराफे की दुकान पर बैठते थे, और इनका भाई हलवाई की दुकान पर। दोनों दुकानें दरीबा कला मे ही थी। इनका भाई सराफे की दुकान पर बैठना चाहता था जिसके लिये ये रजामन्द नही थे। इस विवाद में इनके भाई ने एक दिन इनके फरसा मारा जिससे इनकी अस्पताल मे मृत्यु हो गई। इस घटना की जाँच इनके वर्तमान पिता ने की थी, और उसे सत्य पाया। सेठ हरिशकर भी इन्हे देखने लक्सर आये किन्तु उन्हे इनसे मिलने नही दिया गया। सन् 1948 में ये स्वयं अपने एक सहपाठी के साथ दिल्ली गये और सीधे बिना पूर्व-परिचय के अपने मकान पर पहुँच गये, दुकाने भी देखी जो अब किन्ही पजाबी शरणार्थियो के पास है। एक वृद्ध ने बताया कि उनका भाई मकान बेच कर कहीं चला गया और उसका अब कोई पता नहीं है। मृत्यु के समय इनकी अवस्था 23-24 वर्ष की थी। इनका कहना है कि कदाचित् इनको गत तीसरे जन्म का भी कुछ आभास था जिसमे यह एक साधु थे।

11. लेखक के परिचित मित्रो द्वारा एकत्रित पुनर्जन्म के कुछ दृष्टान्त—पूर्व-जन्म की स्मृति

इस ग्रन्थ के लेखक के कुछ ऐसे परिचित मित्र हैं जिन्होंने पुनर्जन्म के प्रामाणिक दृष्टान्त एकत्रित किये हैं। उन पर लेखक को सन्देह नही है। ऐसे तीन मित्रो के एकत्रित तीन दृष्टान्त हम यहाँ दे रहे हैं

(क) प० सन्तराम जी बी० ए० द्वारा जाँच किया गया दृष्टांत—पडित सन्तराम जी बी० ए० हिन्दी-साहित्य के एक प्रसिद्ध लेखक हैं। वे विश्वेश्वरानन्द सस्थान, होशियारपुर से प्रकाशित होने वाले 'विश्व-ज्योति'-पत्र के सम्पादक है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'जन्म-मरण की पहेली' मे पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे अपनी जानकारी की एक घटना दी है। वे लिखते हैं·

लाहौर से आकर मैं आजकल पुरानी बसी नामक एक छोटे-से गाँव मे रहता हूँ। यह गाँव होशियारपुर नगर से अढाई मील ऊना जाने वाली सडक पर स्थित है। पुरानी बसी से कोई डेढ मील परे 'नारा' नाम का एक छोटा-सा पहाडी गाँव है। गत 13 जुलाई 1970 को जालन्धर से 'नारा' ग्राम मे एक सज्जन अपनी चार वर्षीय कन्या लेकर आये। आने का कारण पूछने पर उन्होने बतलाया—मेरी लडकी बहुत दिन से कह रही थी, मुझे अपने घर जाना है। पहले तो इसकी बात हमारी समझ मे नही आती थी। अब जब यह कुछ बडी हुई और हम इसकी बात समझने लगे, तो हमने पूछा—तेरा घर तो यही है, तू कहाँ जाना चाहती है? इस पर यह बोली कि मेरा घर 'नारा' मे है। इसलिए हम इधर आये हैं।

हमने 'नारा' गाँव का नाम नही सुना था। हमने पूछा कि 'नारा' कहाँ है, तो उस लडकी ने बतलाया कि होशियारपुर से सीधी सडक ऊना को जाती है। उस सडक पर ईंटो का एक भट्टा है। उस भट्टे से पुरानी बसी को रास्ता मुडता है। पुरानी बसी के आगे 'नारा' है।

हम उसे लेकर जब भट्टे पर पहुँचे तो उसने झट कहा, आगे न जाकर बाएँ हाथ को मुडिए। आगे दो रास्ते थे। वहाँ लडकी ने झट बता दिया कि 'नारा' को जाने वाला रास्ता यह है। हम उस रास्ते से चल कर जब गाँव के निकट पहुँचे तो गरमी के कारण एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठने लगे। इस पर लडकी ने कहा, यहाँ गन्दगी मे क्यो बैठते हो? तनिक आगे चलो। मेरे गाँव के निकट बड का एक पेड है, उसके नीचे विश्राम करो।

जब हम बट के नीचे पहुँचे तो कुछ दूरी पर एक स्त्री खाट पर लेटी दीख पटी। उसे देख कर लडकी झट बोली—वह देखो, वह माँ 'अक्की' बैठी है। लड़की दौड कर माँ से लिपट गई। इतने मे किशनचन्द तालिब नाम का एक

युवक वहाँ आया। लडकी झट बोल उठी—यह मेरा भाई किशन है। तालिब और गाँव के दूसरे लोगो ने बतलाया कि लडकी जो-कुछ कह रही है, बिल्कुल ठीक है। आज से कोई 28 वर्ष पहले तालिब का 8-10 वर्षीय भाई रामचन्द कपडो मे आग लगने से जल कर मर गया था। लड़की ने भी अपना नाम यही बतलाया था।

तालिब और उसका पिता लडकी को अपने घर चलने को कहने लगे। जब लडकी घर जाने लगी तो उसे जान-बूझ कर अपने घर न ले जाकर किसी दूसरे के घर ले-जाने लगे। वह झट बोल उठी—यह मेरा घर नही, मेरा घर तो वह है; उस ओर उसने अपने पिता मगतराम और ताऊ लक्खूराम को भी पहचान लिया और बोली कि आपने ही मेरा जलता कुर्ता फाड कर मुझे आग की लपटो मे से निकाला था।

तालिब ने भी बतलाया कि मेरा भाई जल कर मरा था और लडकी के पेट पर अब भी जलने का दाग है।

लडकी के भाइयो ने कहा कि अब तुम यहाँ ही रहो। हम चार भाई हैं, पाँचवी तुम हो जाओगी। हम तुम्हे अपनी सम्पत्ति का भाग दे देंगे और तुम्हारा विवाह भी कर देंगे। इस पर वह बोली—नही, मैं तुम्हारे पास नही रहूँगी।

(ख) **पं० सुरेन्द्र शर्मा गौर, काव्य-वेदतीर्थ द्वारा जांच किया गया दृष्टान्त**—प० सुरेन्द्र शर्मा गौर आर्यसमाज के एक प्रतिष्ठित विद्वान है। इस समय उनकी अवस्था 90 से अधिक है, शहादरा मे रहते है। कुछ वर्ष गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय मे भी रह चुके हैं। उन्होने 28 नवम्बर 1935 मे लखनऊ के 'आर्यमित्र' समाचार-पत्र मे शान्तिदेवी के सम्बन्ध मे पुनर्जन्म की घटना प्रकाशित की थी। शान्तिदेवी की चर्चा सारे भारतवर्ष तथा विदेशो मे भी हुई थी। स्वर्गीय देशबन्धु गुप्त उस बालिका को लेकर भारी जन-समूह के साथ रेलगाडी मे मथुरा ले गये थे। शान्तिदेवी का विवरण श्री सुरेन्द्र शर्मा ने इस प्रकार दिया है—

श्री बाबू शिवसहाय जी माथुर कायस्थ के पुत्र श्री बाबू रगबहादुर जी की पत्नी श्रीमती रामप्यारी जी (मकान नं० 565 चीराखाना, देहली) के तीन कन्याएँ और एक पुत्र है। पुत्र से बडी और दो से छोटी तीसरी कन्या शान्तिदेवी ने, जब से वह बोलने लगी है तब ही से, थोडा-थोडा अव्यक्त-सा अपना पूर्वजन्म का हाल बतलाना आरम्भ कर रखा था, किन्तु माता-पिता और विशेष करके उसके चाचा श्री बा० ईश्वरदयाल जी उसे 'तू क्या अण्ड-वण्ड बकती रहती हैं' आदि कह कर धमका दिया करते थे। किन्तु फिर भी इस कन्या की स्मरण-शक्ति दिनोदिन बढ़ती ही गई और श्रावण 1992 वि० मे श्री मदनगोपाल के

छत्ते मे यह गई और वहाँ पर कथा वाँचने वाले पडित जी को देख कर सहसा यह कहने लगी कि—

'ये पडित जी तो हमारे यहाँ भी आया-जाया करते थे और मैं इन्हे सीदा (आटा, दाल आदि खाद्य-पदार्थ) दिया करती थी, ये मथुरा के रहने वाले हैं।'

इस पर उन पडित जी से जव पूछा गया तो उन्होंने कन्या के कहने की पुष्टि की। कन्या ने अपने पूर्व-पति के घर का सारा हाल वतलाया। उसके वतलाये हुए पते पर ही दिल्ली से पत्र डाला गया और उसे पाकर उसके पूर्व-पति देहली आये तथा सव वातो की जाँच करके कन्या की वतलाई हुई वातो को सर्वथा सत्य वतलाया। उसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

कन्या के पिता के रिश्तेदार श्री प्रो० किशनचन्द जी ने इस हाल को सुन कर कन्या से कई प्रश्न किये और उसके वतलाये पते पर ही उन्होने मथुरा मे पत्र भी डाला।

शान्तिदेवी पूर्व-जन्म मे मथुरा-निवासी श्री प० चतुर्भुज जी की पुत्री थी जो मथुरा के श्री पं० केदारनाथ जी चौवे को व्याही गई थी। इसके दो कन्याएँ और एक पुत्र था। अन्तिम पुत्र की उत्पत्ति के समय यह रोग-ग्रस्त हो गई और इस प्रकार रोग-ग्रस्त होने का परिणाम यह हुआ कि पुत्रोत्पत्ति के 10 दिन वाद कार्तिक कृ० 2, सम्वत् 1981 वि० को यह मृत्यु को प्राप्त हो गई। मृत्यु समय के रोग, आभूषण और उस समय मे की हुई पति द्वारा विशेष-सेवा का भी हाल कहती है और वह सव ठीक-ठीक मिल गया है।

चौवो की गली मे मकान और द्वारकाधीश के मन्दिर के सामने अपने पति की कपडे की दुकान, वन्दर, कछुए, मन्दिर की ऊँचाई और चमेली (कमेली), चम्पा तथा फूल (फूलवती) उसकी सहेलियो के नाम भी ठीक-ठीक मिल गये है।

मैंने भी इस कन्या को गोद मे लेकर कई प्रश्न किये, जिनको आज 20-11-35 के प्रात लगभग 9 वजे उसके पूर्व-पति श्री प० केदारनाथ चौवे से (जो आज उसी समय मथुरा से फिर दुवारा आये हैं) पूछ कर सत्य पाया। आज उन्होंने अपने उसी पुत्र के चित्र को भी दिया है जिसे शान्ति ने वडे ही प्यार से लेकर हृदय मे लगा लिया।

गत 13 नवम्वर को प० केदारनाथ जी मथुरा से देहली आये। साथ मे उनका भाई भी था और वह पुत्र भी सग ही था।

भीड वहुत थी, किन्तु भीड मे भी शान्ति ने अपने पति और देवर दोनो को देख कर तत्क्षण पहचान लिया और देवर का नाम तो प्रकट, किन्तु पति का नाम लज्जा से न लेकर चुपके से कान में—'केदारनाथ' कह दिया।

पुत्र को देख कर तो उसके साथ लिपट गई और वहुत देर तक फूट-फूट कर रोने लगी। उस रोने के दृश्य को देख कर उपस्थित जनता एवं माता-पिता

आदि की भी आँखें डबडबा आई। इसके बाद घर मे से खिलौने लाकर अपने पुत्र को देकर बडी प्रसन्न हुई। चौबेजी ने उससे एकान्त मे कुछ निजी प्रश्न भी किये जिन को वे सर्वथा स्वीकार करते है। चौबेजी 15 नवम्बर को मथुरा चले गये और आज प्रात: फिर आए है। 16 नवम्बर को चौबेजी की वहिन भी मेरठ से आई और वह कई प्रश्नो का उत्तर पाकर कह गई कि जो-कुछ भी यह कहती है सब ठीक है। जो ज़ेवर वह पहिने हुए थी और ज़ेवरो को जिस पीले-से सन्दूक मे रखती थी, सब ठीक-ठीक बतलाया है। आज 20 नवम्बर को मैंने उससे पूछा—

प्रश्न—तुम्हारे पति के कितने भाई थे ?

उत्तर—2 या 3 थे।

प्रश्न—क्या तुम्हारे घर मे कोई वुड्ढा भी था ?

उत्तर—हाँ था।

प्रश्न—वह कौन था ?

उत्तर—मेरा ससुर था।

प्रश्न—तुम्हारे घर मे रोटी कौन बनाता था ?

उत्तर—मैं बनाती थी।

प्रश्न—क्या कोई नौकर था ?

उत्तर—हाँ था, और वह दुकान पर भोजन ले जाया करता था।

प्रश्न—रुपये कितने और कहाँ रक्खे है ?

उत्तर—यह नही वताती।

प्रश्न—रुपये थोडे है, या वहुत ?

उत्तर—बहुत-से है।

प्रश्न—क्या हाँडी मे रक्खे है ?

उत्तर—हाँ, पर नही वताऊँगी।

कई प्रश्नो के उत्तर मे कहती है कि 'यह मैं मथुरा चल कर बताऊँगी'। धन भी जहाँ रखा है उसे भी वह मथुरा जाकर ही वताना चाहती है। इस कन्या के दर्शनो के लिए उसके घर पर देहली नगर 13 नवम्बर से उमड़ पड़ा है। हज़ारो नर-नारियो का सूर्योदय से लेकर रात्रि के 10-11 बजे तक जमघटा लगा रहता है, और मथुरा तो उसके दर्शनो के लिए तडप ही रही है। मथुरा के पं० केदारनाथ जी के घर पर भी प्रजा का ठठ लगा हुआ है। आज चौबे केदारनाथ जी इसीलिए देहली आये है कि इसे एक वार मथुरा ले जाया जाय। उन्हे उस धन की भी आशा वेचैन किये हुए होगी ही।

जव इस कन्या से प्रश्न किए जाते है तव यह बहुत ही गम्भीर भाव से सोच कर उत्तर देती है। अपने पूर्व-पति और पुत्र के साथ अत्यन्त प्रेम रखती

है। उनकी पृथक्ता मे वडी दु खी होती है और रोती है। चौवे जी का भी उससे स्नेह है।

जो भाई इस विषय मे कोई भी जांच करना चाहे, वे किसी मान्य प्रतिष्ठित मज्जन की अध्यक्षता मे मथुरा मे—

(1) श्री प० वावूराम केदारनाथ जी चौवे, असकुण्डा वाजार, मथुरा के पते पर, तथा देहली मे—

(2) श्री वावू रगवहादुर ईश्वरदयाल जी माथुर, मकान नं० 562 चीराखाना, देहली के पते पर भली-भाँति पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

केदारनाथ जी चौवे के पिता का नाम श्री पं० महादेव जी चौवे है।

कन्या के कहने के अनुसार ही चौवे केदारनाथ जी के वायें कान के नीचे एक वडा-सा मस्सा भी है, जिसे मैंने ठीक देखा है।

केदारनाथ जी का जन्म श्रावण शु० 6 स० 1952 मे हुआ था। श्री केदारनाथ जी के कथनानुसार उनकी इसी पूर्व-पत्नी का नाम लुगदी देवी था।

यह देवी कार्तिक कृ० 2, स० 1981 वि० मे मरने के वाद कही अन्यत्र जन्म भी ले चुकी है किन्तु कहती है कि मैं धुएँ के रास्ते से जाकर एक अँधेरे-से कमरे मे वन्द कर दी गई थी। उसके वाद क्या हुआ, सो मुझे कुछ याद नही है।

कन्या का वर्तमान जन्म मार्गशीर्ष, शुक्ला सप्तमी, शनिवार, तदनुसार 11 दिसम्वर, सन् 1923 को दोपहर के 1 वज कर 40 मिनट पर देहली मे हुआ था।

(ग) श्री प० चन्द्रमणि विद्यालकार द्वारा जांच किया गया दृष्टान्त— श्री प० चन्द्रमणि गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय के स्नातक तथा प्रोफेसर थे। उनका लिखा 'निरुक्त-भाष्य' अद्वितीय ग्रन्थ है। वे देहरादून मे जा वसे थे। लेखक भी देहरादून का ही समझिये यद्यपि अव वह दिल्ली मे रहने लगा है। देहरादून मे एक प्रसिद्ध सेठ रामकिशोर थे, जिनका लेखक के साथ भी घनिष्ठ परिचय था। उन्ही के सम्वन्ध मे श्री पं० चन्द्रमणि जी ने अपने साप्ताहिक-पत्र 'दून समाचार' मे 26 जुलाई 1952 को निम्न-घटना का उल्लेख किया जिसकी चर्चा देहरादून भर मे देर तक चलती रही। वे लिखते हैं—

हमे 21 तारीख की शाम को खवर मिली कि सेठ रामकिशोर के यहाँ एक पौने तीन साल की कन्या पूर्व-जन्म की वातें वतलाती है। हम अगले ही दिन प्रात काल उनके घर पहुंचे और सेठ तथा सेठानी जी से तरह-तरह की पूछ-ताछ की, और कन्या की गति-विधि को भी लगभग आधे घण्टे तक ध्यान-पूर्वक देखा। उससे हम जिस परिणाम पर पहुँचे उसे पाठको की जानकारी के लिए यहाँ उल्लिखित किया जाता है। कहानी सचमुच वडी मनोरजक तो है ही, परन्तु साथ ही पूर्व-जन्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी विशद रूप से परिपुष्ट करने वाली है।

इस कन्या का जन्म सन् 1942 की अनन्तचौदस को हुआ। अर्थात्, अब इसकी उम्र लगभग 2 वर्ष 10 मास की है। इसकी माता 'महिला-आश्रम' की एक देवी शान्ता है, जो कि पहले कन्या-गुरुकुल मे भी अध्यापिका रह चुकी है। गत नवम्बर-दिसम्बर की बात है कि कन्या ने माता से कोई चीज मांगी। माता ने उत्तर दिया, बेटी यह चीज मेरे पास नही। कन्या ने तुरन्त कहा, मेरी कोठी मे है। यह पूर्व-जन्म की बातो की शुरूआत थी। माता हँस दी और कोई विशेष ध्यान नही दिया।

अब लीची के दिनो मे जब माता ने इसे लीची लाकर दी, तो बोली—'ये लीची खराब हैं। मेरी कोठी की लीची बहुत अच्छी हैं, और बहुत सारी है। वहाँ लीची तो बहुत हैं पर आम थोडे है।' इस पर माता की समझ में नही आया, यह क्या कह रही है, कौन-सी इसकी कोठी है और हँसी मे ही बात टाल दी।

सेठानी सत्यवती जी महिला-आश्रम की प्रबन्धकारिणी-सभा की प्रधाना है। एक दिन वे आश्रम पहुँची, तो लडकी ने कहा—'यह मेरी मां है'। सेठानी ने कोई ध्यान नही दिया। आश्रमवासियो ने चर्चा की कि कही मेघा ने ही तो जन्म नही लिया।

मेघा सेठानी की बडी लडकी थी। धार्मिक-वृत्ति की थी। सामाजिक सेवा-कार्यों मे विशेष लगन थी और महादेवी-कन्या-पाठशाला मे अध्यापिका थी। वह अत्यन्त रुग्ण हो गयी थी। रोग असाध्य-सा बन गया था। चोला ही छोडने की इच्छा जाग उठी। आत्मिक शान्ति के लिए विशेष यज्ञ कराया। पूर्णाहुति अपने सामने कराई। प्रभु से प्रार्थना कराई गई और तीसरे या चौथे दिन वह नश्वर देह को त्याग कर स्वर्ग सिधार गई। वह दिन 31 मार्च सन् 1945 का था।

कहानी मेघा की छोटी वहिन तक पहुँची जो कि सम्प्रति कई बच्चो की माता है। उसने ऐसे सस्कारी आत्मा को लाकर घर दिखाने की इच्छा प्रकट की और महिला-आश्रम पहुँची। वहाँ पहुँचने पर नन्ही कन्या ने कहा—'यह मेरी वहिन है'।

मेघा की वहिन उसे मोटर मे बैठा कर घर ला रही थी कि मार्ग मे सेठ रामकिशोर जी मिल गए। कन्या ने कहा—'ये मेरे पिता हैं'।

घर पहुँची तो मेघा वाले कमरे मे जाकर कहा—'यह मेरा कमरा है'। इसी प्रकार कई दूसरी चीजो के बारे मे भी कहा—'ये मेरी हैं'। नाम पूछने पर कहा—'मैं मन्नू हूँ'। 'मन्नू' मेघा का नाम माता-पिता आदि ने रख छोडा था, और अन्त समय तक इसी नाम से उसे पुकारा जाता रहा था।

आंखो और मुखाकृति को देखने से ऐसी जान पड़ती है जैसे कि कोई समझदार सयानी हो। उसने हमारे सामने ठीक ढंग से पहचानना आरम्भ कर

देर तक लगाए रखा। आँखें मूंद कर ध्यान-मग्न हुई, गुनगुनाते हुए मन्त्रपाठ किया और अन्त मे सही तौर पर हाथ जोड़े, शीश झुका परमात्मा को नमस्कार किया। फिर कुछ उच्च-स्वर से 'वाक्-वाक्', 'हिरण्यगर्भ.', 'य आत्मदा बलदा' आदि कुछ मन्त्र बोले। कही-कही स्खलन जरूर था परन्तु फिर भी मन्त्रपाठ सयानो जैसा और शुद्ध था। फिर उसने 'झडा ऊँचा रहे हमारा'—यह भी बोला। ये सब कर्म मेवा किया करती थी।

घर मे विद्यमान उन पुराने चित्रो को भी पहचाना और बतलाया कौन किसका है, जोकि मेवा के समय मे थे।

जब उससे पूछा, तू कहाँ गई थी—तो उत्तर दिया—'भगवान् के पास'। क्यो गई थी पूछने पर हाथ लगाकर कहा—'यहाँ से यहाँ तक (यानि गले से लेकर छाती तक) दर्द बहुत रहती थी।' वस्तुत. मेवा इसी बीमारी से मरी थी।

यह पुस्तक पुनर्जन्म पर नही लिखी जा रही, इसलिये इतने दृष्टान्त ही बहुत हैं। अगर कोई सग्रह करने लगे, तो अनेक दृष्टान्त सग्रह किये जा सकते हैं। यह नही कहा जा सकता कि ये सब सत्य ही हैं, परन्तु अनेक दृष्टान्त ऐसे अवश्य हैं जिनका पुनर्जन्म के बिना कोई समाधान नही दिया जा सकता।

पुनर्जन्म के पक्ष मे युक्तियो के बाद अब हम पुनर्जन्म के विपक्ष मे दी जाने वाली युक्तियो पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

12 विपक्ष में पहली युक्ति—पूर्व-जन्म की स्मृति का न होना

पुनर्जन्म के पक्ष मे जहाँ पूर्व-जन्म की स्मृति के दृष्टान्त दिये जाते हैं वहाँ यह भी कहा जाता है कि ये दृष्टान्त सब भ्रम-मूलक हैं। श्रीमती रूथ रैना, पी० एच० डी० ने 1973 मे एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसका नाम है : 'Reincarnation and Science'. डॉ० रैना ने डॉ० स्टीवेन्सन तथा श्री एच० एन० बैनर्जी के पुनर्जन्म के दृष्टान्तो को भ्रममूलक कहा है। डॉ० स्टीवेन्सन ने पुनर्जन्म की 100 घटनाएँ एकत्रित की हैं। श्री बैनर्जी ने 1964 मे जयपुर की राजस्थान युनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'Bulletin of the Department of Parapsychology' मे पुनर्जन्म की 200 घटनाएँ एकत्रित की हैं। डॉ० रैना का कथन है कि पूर्व-जन्म की स्मृति के ये सब उदाहरण बिना पूर्व-जन्म को माने भी हल किये जा सकते हैं। इन उदाहरणो मे कही-न-कही कुछ कचाई रहती है। ठीक है, होगी, परन्तु अगर मान लिया जाय कि ये सब उदाहरण पूर्वजन्म की स्मृति को सिद्ध नही करते, अन्य प्रकार से इनका हल दिया जा सकता है, तो भी यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिये पूर्व-जन्म की स्मृति को उदाहरणो से सिद्ध करना आवश्यक भी है या नही ?

हमारा कहना है कि स्मृति तो इस जन्म की घटनाओं की भी नहीं रहती, फिर पूर्व-जन्म की न रहती हो तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है ? दो-तीन वर्ष की आयु मे हम कहाँ थे, हमारे कौन साथी थे, हमने क्या किया था—उस की स्मृति किसे रहती है ? मनुष्य को बचपन के शुरु के दिनो की याद नहीं रहती, वृद्धावस्था मे कभी-कभी स्मृति का इतना लोप हो जाता है कि व्यक्ति को अपना नाम भी याद नही रहता। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन कितने विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता के कारण उन्हे महापण्डित कहा जाता था। जीवन के अन्तिम दिनो मे वे अक्षर लिखना तक भूल गये थे। 1962 मे जब वे कलकत्ता के अस्पताल मे बीमार पडे हुए थे, तब हमे उनका साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ। हमारा उनका 1920 से परिचय था। हमने उनसे कहा—'मैं सत्यव्रत हूँ'। वे कुछ समझ नही पाये। बोले—'सन्', कौन-सा सन्। क्योंकि इतिहास मे उनकी विशेष रुचि थी इसलिये 'सत्यव्रत' का 'स' सुन कर उनकी अन्तश्चेतना मे पडा हुआ इतिहास 'स' को 'सन्' से जोड सका, 'सत्यव्रत'—उस नाम से न जोड सका। इतना बडा पण्डित और जीवन के अन्तिम दिनो मे सब-कुछ भूल गया। जब हम इस जीवन मे ही पिछली बातो को भूल जाते है, तब आगामी-जीवन मे भूल जाये, तो आश्चर्य ही क्या है ? वृद्धावस्था मे भूल जाना अपवाद नही नियम है, बहुत-कुछ भूल जाता है। एक वृद्ध सज्जन थे, जो भर पेट खाना खाकर भूल जाते थे कि उन्होने खाना खाया भी है या नही। हिन्दुस्तान टाइम्स (बुधवार, 13 अगस्त, 1975) मे महात्मा गाधी के विषय मे एक रोचक घटना का उल्लेख है। महात्मा गाधी को 6 मई, 1944 मे पूना के आगा खान पैलेस से ब्रिटिश सरकार ने इसलिये छोड दिया था क्योंकि उन्हे 'स्मृति-लोप' (Amnesia) की शिकायत होने लगी थी। आचार्य कृपलानी ने महात्मा गाधी की जीवनी मे लिखा है कि महात्मा जी को मलेरिया के आक्रमण के कारण रक्तहीनता, निम्न-रक्तचाप तथा स्मृति-लोप की शिकायत हो गई थी। श्री एच० वी० आर० आयगार का जो उस समय बम्बई-प्रान्त की सरकार मे गृह-सचिव थे कथन है कि उन्हे तत्कालीन इन्स्पेक्टर-जनरल-प्रिजन्स मेजर-जनरल भण्डारी ने इस बात की सूचना दी थी कि जब श्री महादेव देसाई को मरे दो साल हो चुके थे तब एक दिन महात्मा जी ने उनसे पूछा कि महादेव देसाई कहाँ हैं ? आजकल दिखलाई नही देते ? महात्मा जी का यह स्मृति-लोप कुछ देर तक बना रहा। जब वे छूट कर बाहर आये तब पहली बार ही उन्होंने श्रीमती विजय लक्ष्मी पडित से उनके पति के स्वर्गवास पर सहानुभूति प्रकट की, परन्तु उसी दिन शाम को जब वे उनकी प्रार्थना-सभा मे पहुँची, तब महात्मा जी ने उनसे पूछा—तुम अकेली क्यो आयी हो, तुम्हारे पति कहाँ गये हैं ? इसमे सन्देह नही कि गाधी जी ने प्राकृतिक-चिकित्सा से अपने को ठीक कर

लिया और उसके बाद उन्हे स्मृति-लोप की अन्त तक शिकायत नही हुई, परन्तु इससे इतना तो पता चलता ही है कि अगले जन्म की क्या, इस जन्म की घटनाएँ भी बडो-बडो को भूल जाती हैं। एक दृष्टि से पिछले जन्म की घटनाओं को भूल जाना प्रकृति की मनुष्य पर कृपा है। हमारी इस जन्म की स्त्री पिछले जन्म की माँ हो सकती है, इस जन्म की माँ पिछले जन्म की स्त्री हो सकती है। अगर सब-कुछ याद रहता, तो जीवन कैसे चलता, सब अस्त-व्यस्त हो जाता। इस जन्म मे भी कुछ लोगो को अपने बचपन की याद बनी रहती है, इसी प्रकार कुछ लोगो को पिछले जन्म की भी याद बनी रहती है, परन्तु याददाश्त के ये सब उदाहरण अपवाद हैं, नियम नही।

यह शंका की जा सकती है कि पिछले जन्म की घटनाएँ याद न रहने का वैज्ञानिक आधार क्या है? तथ्य यह है कि इन घटनाओं की स्मृति का हमारी चेतना के साथ सम्बन्ध टूट जाता है, इसलिये हम समझने लगते हैं कि इन घटनाओं की स्मृति का लोप हो गया है, यद्यपि लोप नही हुआ होता। जिसे हम स्मृति-लोप कहते हैं वह घटनाओं का भूल जाना नही है, परन्तु मानसिक-रचना का ही यह रूप है कि विगत घटनाएँ बेकार हो जाने के कारण मस्तिष्क के किसी कोने मे कूडा-कर्कट की तरह जमा हो जाती हैं, ठीक ऐसे जैसे घर का कूडा-कबाड एक लम्बर-रूम मे डाल दिया जाता है। इन घटनाओं का चेतना से सम्बन्ध टूट जाना, चेतना से परे हट जाना अत्यन्त प्रयोजनपूर्ण है। जिस शक्ति ने मस्तिष्क की रचना की है उसने स्मृति के साथ विस्मृति को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। विस्मृति का अर्थ घटना का लोप नही, घटना को चेतना से परे हटा कर रख देना है। इस मानसिक-व्यवस्था से ही मनुष्य का सारा व्यवहार चल सकता है, इसके बिना नही। जबतक हम पीछे के सिलसिले से मुक्त नही होते, तबतक हम आगे कदम कैसे बढा सकते हैं? पीछे का खिचाव टूटेगा तभी तो आगे कदम उठेगा। जो लोग नया जीवन बिताना चाहते हैं उन्हे पिछला सब-कुछ फूंक देना पडता है, या समेट कर एक कोने मे रख देना होता है। असामान्य नव-जीवन की बात छोड दें, सामान्य-जीवन मे भी ऐसा ही होता है। जो बातें आज हमारे जीवन की बवाल बनी हुई हैं, समय बीत जाने पर हम उन्हे विस्मृति के ताक मे रख देते हैं, कभी याद भी करते है तो उन्हे याद करके सिर पीटने के स्थान मे उनका मजा लिया करते हैं। उनका विषैला डक जाता रहता है, न जाये तो यह जीवन कैसे निभे? जब इस जन्म की घटनाओं का यह हाल है, तब अगले जन्म मे ऐसा क्यो न होता होगा? जैसे यह जन्म कल की घटनाओं के साथ चेतना का सम्बन्ध टूट जाने पर सरस रूप मे चलता है, ठीक इसी तरह अगला जन्म इस जन्म की घटनाओं के चेतना के साथ सम्बन्ध टूटने से ही चल सकता है, यह सम्बन्ध न टूटे, तो मनुष्य पीछे की तरफ ही

देखता रहे, आगे को कदम न रख सके। विगत-घटनाओं के याद न रहने का यही प्रयोजन है। ये घटनाएँ भुला नहीं दी जाती, विस्मृति के गर्त मे फेंक दी जाती है, अन्तश्चेतना के किसी कोने मे पड़ी रहती है, तभी तो पिछले जन्म के अनेक कर्मों का इस जन्म मे तथा इस जन्म के अनेक कर्मों का अगले जन्म मे हमारे अनजाने फल मिलता रहता है।

इस तथा उस जन्म की घटनाएँ अन्तश्चेतना मे मौजूद रहती है इसका प्रमाण 'सम्मोहन' (Hypnotism) के प्रयोग है। अगर 50 साल के व्यक्ति से पूछा जाय कि 6 वर्ष की आयु मे 12 जनवरी को सुबह से शाम तक उसने क्या किया, तो कोई बतला नही सकता, परन्तु उसी व्यक्ति को सम्मोहित कर देने पर जब उसकी चेतना बाहर के जगत् से कट कर अन्दर जाकर पीछे की तरफ दौड़ती है, तब वह अपने 6 वर्ष की आयु मे 12 जनवरी को उसने जो-जो कुछ किया था सब विस्तार से बतलाने लगता है। सम्मोहन से लौट कर फिर वह सब-कुछ भूल जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तश्चेतना मे तो सब-कुछ सिमटा पड़ा है, कुछ लुप्त नही हुआ, परन्तु मन की रचना ही ऐसी है जिससे जीवन की दूरंगत विगत-घटनाओं का चेतना से सम्बन्ध टूटा रहता है। अगर इस जन्म की अनेक घटनाओं से चेतना का सम्बन्ध न टूटे, तो जीना मुश्किल हो जाय, और अगर पिछले जन्म की घटनाएँ भी याद आती रहे तब तो सत्यानाश ही हो जाय।

जो स्थिति विगत-घटनाओं के सम्बन्ध मे इस जन्म मे है, वही स्थिति अगले जन्म मे रहती है—इसीलिये पूर्वजन्म की स्मृति उद्बुद्ध रूप मे प्रकट नहीं होती—यह सब सप्रयोजन है। किसी-किसी को हो भी जाती है जिसके कुछ दृष्टान्तों का हमने ऊपर उल्लेख किया है। सम्मोहित-अवस्था मे कई लोगो मे पिछले जन्म की भी घटनाएँ जाग सकती या जाग जाती हैं।

13. विपक्ष में दूसरी युक्ति—'आत्मा' का ही अस्तित्त्व न होना

पुनर्जन्म के विषय मे दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि 'आत्मा'-नाम की देह से अतिरिक्त कोई सत्ता ही नही है, जब आत्मा ही नहीं है, तब पुनर्जन्म किसका ? देह का ही जन्म होता है, देह की ही मृत्यु होती है। हमने इस अध्याय का प्रारम्भ ही आत्मा के अस्तित्त्व से किया है। क्या आत्मा देह से अलग है, अगर अलग है तभी तो प्रश्न उठता है कि क्या उसका पिछला जन्म भी था, क्या उसका अगला जन्म भी होगा, अन्यथा तो पुनर्जन्म का प्रश्न ही नही उठता। आत्मा का अस्तित्त्व है—इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह एक 'स्वयं-सिद्ध' बात है। 'अहंत्व'—'मैं-पना'—'I-ness'—की अनुभूति हर-किसी को होती है, उसे सिद्ध क्या करना। हम पहले वेदान्त-दर्शन जो भारतीय शास्त्र है, और डेकार्ट जो पाश्चात्य विद्वान् है—इनकी दृष्टि से

आये हैं कि 'मैं की अनुभूति' तथा 'विचार' या 'सन्देह करना' ही इस बात का पुष्ट-प्रमाण है कि 'मैं' कहने वाला या 'विचार' एव 'सन्देह' करने वाला इस शरीर से अलग है। शरीर तो जड है, जड वस्तु मे 'मैं' की ध्वनि नही निकलती, न वह विचार करता है। जड़ मे जड से भिन्न कोई बैठा, अपने को जड से भिन्न समझता हुआ, अपने को 'मैं' कहता है। वैज्ञानिक-जगत् मे ऐसे प्रयोग हुए हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि जब शरीर मर गया-सा हो जाता है, तब भी शरीर मे कोई चेतन-तत्त्व है जो जीवित बना रहता है। अमरीका की ज्योर्जिया स्टेट की एमरी युनिवर्सिटी के मनोवैज्ञानिक वोजिन पौपौविक (Vojin Popovic) ने 12 कुत्तो पर प्रयोग किया जिन्हे 4·4 डिग्री सेन्टीग्रेड तक ठंडा कर दिया गया, इतना ठडा कर दिया कि उनकी जीवन की सब क्रियाएँ बन्द हो गईं—हृदय का सचालन, मस्तिष्क की गति—सब जाती रही। दो घण्टे तक वे इसी तरह मृत पडे रहे। दो घण्टे के बाद उन्हे फिर गर्मी दी गई, उनका कुछ नही बिगडा, वे फिर जीवित हो गये, हृदय भी चलने लगा, मस्तिष्क भी काम करने लगा। अनेक प्राणी जीवन थाम कर 'शीत-निष्क्रियता' (Hibernation) मे जीते रहते है। इन प्रयोगो से सिद्ध होता है कि शरीर के मर जाने पर भी कोई शक्ति बनी रहती है जो उसे फिर जिन्दा कर देती है। उक्त प्रयोगो की रिपोर्ट इण्डियन एक्सप्रेस, 17 फरवरी 1975 के अक मे छपी है। यह शक्ति ही आत्मा है जिसे कोई भी दूसरा नाम दिया जा सकता है।*

देह के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्त्व है—यह इस बात से भी सिद्ध होता है क्योंकि देह की सब कोशिकाएँ (Cells) सात साल मे बदल जाती है, देह पूरा-का-पूरा बदल जाता है, नया हो जाता है, परन्तु इस सम्पूर्ण बदलाहट मे 'मैं' का एक सूत्र पिरोया रहता है, मैं वही हूँ जो बचपन मे था, जो युवावस्था में था, जो वृद्धावस्था मे है। अगर शरीर ही मैं है, तो शरीर तो बदल गया, मस्तिष्क बदल गया, 'तन्त्रिका-तन्त्र' बदल गया, इस जन्म मे ही बदल गया,

---

*'What does it feel like to die Or, to die and come back to life ? Now it is not difficult to find out After a two-hour clinical death 12 dogs have been brought back to life, reports psychologist Vojin Popovic of Emary University, Georgia U S, in the journal "Eryobiology". The dogs were cooled slowly to 4 4 degrees C till all brain and heart activities stopped When they were revived after two hours—a record time—they showed no damage whatsoever. Hibernating animals provided several clues to this experiment. The state of suspended animation, if perfected in man could be useful during prolonged surgical operations and long space travel'—*Indian Express, February 17, 1975.*

इन वदले शरीरो मे वह कौन है जो सवको एक रूप से जानता है ? वही तो आत्मा है जिसका पुनर्जन्म होता है ।

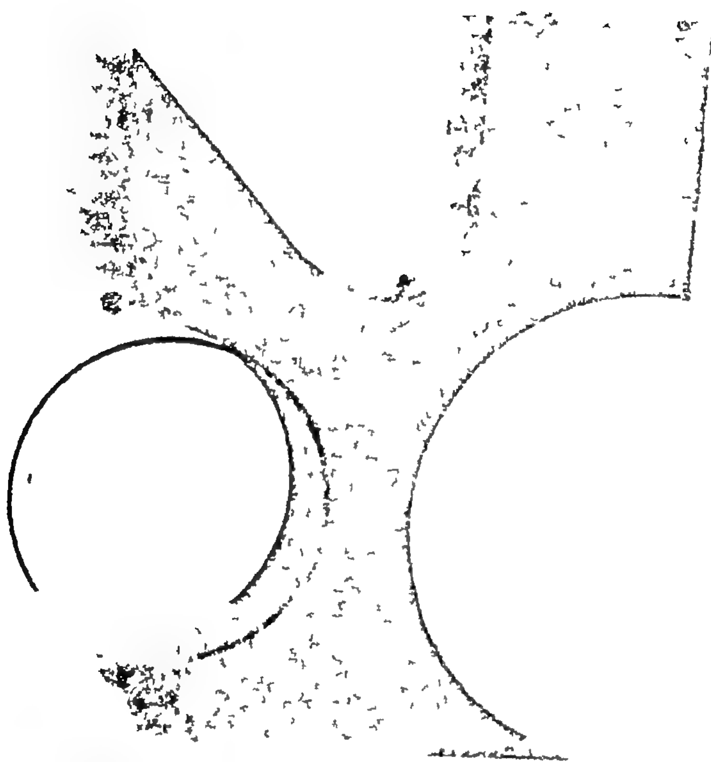
इसलिये विपक्ष का यह कहना युक्ति-सगत नही है कि क्योकि आत्मा का अस्तित्त्व नही है, इसलिये पुनर्जन्म का सिद्धान्त अमान्य है ।

14. विपक्ष की तीसरी युक्ति—आनुवंशिकता तथा पर्यावरण से समस्या का हल हो जाना

जडवादियो का कहना है कि पुनर्जन्म को मानने की तभी तो जरूरत पड़ सकती है अगर जडवाद उन प्रश्नो का हल न कर सके जिन्हे अध्यात्मवादी पुनर्जन्म के सिद्धान्त से हल करने का दावा करते हैं। उनका कहना है कि 'आनुवशिकता' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) के आधार पर जीवन की सब विषमताओ का हल हो जाता है, फिर पुनर्जन्म को मानने की क्या जरूरत है ?

परन्तु क्या यह वात ठीक है ? यह कहना कि सव विपमताएँ 'आनुवशिकता' (Heredity) द्वारा हल हो जाती है, ठीक नही है । हम ऊपर अनेक ऐसे दृष्टान्त दे आये हैं जिनमे बच्चो मे ऐसे मानसिक-गुण जन्म से ही पाये जाते है जिनका माता-पिता तथा उनके पूर्वजो मे नामोनिशान तक नही होता । इसके अतिरिक्त, अगर यह कहा जाय कि अधिकाश वच्चे ऐसे होते हैं जिनके शारीरिक तथा मानसिक गुण माता-पिता के समान होते है, तो भी कोई आपत्ति नही बनती । पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि आत्मा पुनर्जन्म लेने के लिये उन माता-पिताओ की तरफ खिचता है जो उसकी प्रवृत्तियो तथा स्वभाव के अनुकूल होते है, जहाँ जाकर उसका उचित विकास हो सकता है । पुनर्जन्म के सिद्धान्त का मतलव सिर्फ दूसरा जन्म ले लेना ही नही है, इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा जहाँ-कही भी जन्म ले ले, इसका यह अर्थ भी है कि आत्मा जन्म लेते हुए उसी तरफ खिचता है जहाँ उसकी प्रवृत्तियो, उसके स्वभाव को विकसित होने मे सहायता मिल सकती है । यह काम भौतिक-दृष्टि से आनुवशिकता द्वारा ही होता है, परन्तु इसीलिये होता है] क्योकि आत्मा ने उस क्षेत्र को अपने विकास के लिये पुनर्जन्म द्वारा चुना है । अनेक विपमताएँ मानसिक न होकर सामाजिक होती हैं । उदाहरणार्थ, कोई वालक धनी घराने मे पैदा होता है, कोई निर्धन घराने मे । विपक्षी कह सकता है कि धनी-निर्धन होना सामाजिक-विषमता का परिणाम है, इसका पुनर्जन्म से कोई सम्बन्ध नही । सामाजिक-विषमता पर्यावरण (Environment) का परिणाम है, पिछले जन्म के कर्मों का फल नही । पुनर्जन्म को माननेवाले इस बात से भी इन्कार नहीं करते । उनका कहना है कि धनी-निर्धन शब्दो का प्रयोग आर्थिक-दृष्टिकोण से किया

जाता है। जब वे कहते हैं कि जन्म से ही धनी-निर्धन का भेद क्यों पाया जाता है, तव उनका अभिप्राय रुपये-पैसे की विषमता से नही होता, मानसिक-प्रवृत्ति से होता है। एक भिखारी मानसिक-दृष्टि से राजा की प्रवृत्ति को लेकर पैदा हो सकता है, एक राजा सब-कुछ होते हुए भी दिल का भिखारी हो सकता है। आर्थिक-विषमता को सामाजिक-सुधार तथा कानून से बदला जा सकता है। आर्थिक-क्षेत्र मे एक ऐसा समाज बनाया जा सकता है जिसमे रुपये-पैसे की दृष्टि से सब एक-समान हों, समाजवादी या साम्यवादी समाज, परन्तु ऐसे समाज मे भी मन के धनी, मन के निर्धन, गुणो के धनी तथा गुणो के निर्धन बने रहेगे। भौतिकवाद के पास, इस गुण-जन्य-विषमता का जो जन्म से ही आ जाती है क्या हल है ? यह बात ध्यान रखने की है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त 'आनुवंशिकता' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) को मान कर चलता है, भौतिकवाद का सिद्धान्त अपने को इन दो मे ही सीमित रखता है, इसीलिये भौतिकवाद अनेक जन्मजात-विषमताओं को हल नही कर सकता।



न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

(कठोपनिषद्, 2 य वल्ली, 18)

'मृत्यु' का भय सर्वव्यापक है। हम मृत्यु को एकान्त-सत्य मान [illegible] अपना [illegible] व्यवहार करते है, मृत्यु को सत्य मान कर ही सब सामाजिक-[illegible] बनाते है। श्मशान को भी शहर से दूर बनाया जाता है ताकि [illegible] वाली मृत्यु कुछ देर तो भूली रहे। परन्तु वैदिक विचारधारा की [illegible] यह है कि मृत्यु का अस्तित्व ही नहीं, मृत्यु से डरना भूत से डरने के समान है। कठोपनिषद् मे यमाचार्य ने नचिकेता को एक विलक्षण शिक्षा दी, और कहा— आत्मा न पैदा होता है, न मरता है, आत्मा तो नित्य है, [illegible] शरीर मरता है, आत्मा अमर है, शरीर आत्मा नहीं है।

मृत्यु आत्मा की नहीं होती, केवल शरीर की होती है—[illegible] की बात नहीं है। संसार मे ऐसे व्यक्ति हुए है जिन्होंने [illegible] आत्मा को अमर देखा। गुरुराज की [illegible]

इग्लैण्ड मे लैटीमर नाम के एक पादरी को रोमन कैथोलिक चर्च ने पकड कर उसके हाथो मे रुई लपेट कर उसकी मशाल बना कर उसे आग लगा दी, ब्रूनो को जो कहता था कि सूर्य पृथ्वी के गिर्द नही परन्तु पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूम रही है तख्ते से बाँध कर जला दिया गया, ऋषि दयानन्द को विष दिया गया, भगतसिंह तथा रामप्रसाद बिस्मिल हँसते-हँसते फाँसी की रस्सी पर झूल गये—ऐसे दृष्टान्तो की सख्या भले ही थोडी हो, परन्तु क्या ये सिद्ध नही करते कि इन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया था कि मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा अमर है, तभी तो मृत्यु का आलिगन करते हुए इनके मुख से उफ तक न निकली, हँसते-हँसते इन्होंने मृत्यु को स्वीकार किया।

विज्ञान का सिद्धान्त यह है कि ससार मे किसी वस्तु का नाश नही होता, सिर्फ उसका रूप बदल जाता है। नाश तो शरीर का भी नही होता। शरीर पञ्च महाभूतो से बना है। शरीर की मृत्यु हो जाने पर ये भौतिक-तत्त्व अपने-अपने मूल-तत्त्व मे चले जाते है। जैसे शरीर का रूपान्तरण होता है, वैसे ही आत्मा का रूपान्तरण होता है, वह इस शरीर को छोड कर दूसरे शरीर मे चला जाता है। शरीर के रूपान्तरण को 'मृत्यु' कहते है, आत्मा के रूपान्तरण को 'पुनर्जन्म' कहते है।

कठोपनिषद् मे नचिकेता ने साक्षात् मृत्यु से पूछा—तू क्या है ? मृत्यु ने उत्तर दिया कि ससार मे दो मार्ग है—'प्रेय' तथा 'श्रेय'। ससार के विषय-भोगो मे डूब जाना मृत्यु है, इन विषयो मे न डूबना, विषयो का उपभोग करते हुए अपने को न खो देना जीवन है। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कहा—आत्मा को न शस्त्र छिन्न कर सकते हैं, न आग जला सकती है, वह अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है, नित्य है, शरीर आत्मा का चोला है, जैसे कपडा पुराना हो जाने पर बदल दिया जाता है, वैसे ही शरीर जीर्ण-शीर्ण होने पर आत्मा नया चोला धारण कर लेता है।

वैदिक ऋषियो ने कितने बडे सत्य की खोज कर ली थी जब उन्होंने कहा था—**'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'**—हे भगवन् ! मै कितने भ्रमजाल मे उलझा पडा हूँ— मुझे असत् से सत् की तरफ, अधेरे से उजाले की तरफ और मृत्यु से अमरता की तरफ जाने की प्रेरणा दीजिये।

द्वादश अध्याय

मृत्यु

(DEATH)

1. प्रश्न का स्वरूप

जो जीता है वह मरता है, परन्तु प्रश्न यह है कि मरना क्या है ? हम जीवन को जानते हैं क्योकि हम पैदा हो चुके है। हम मृत्यु को नही जानते क्योकि हम अभी मरे नही हैं, और जब हम मे से कोई मर जाता है तब वह बतलाने नही आता कि मरण क्या है। परन्तु मृत्यु को जानना सभी चाहते हैं—यह मृत्यु जो हर-किसी को आनी है, आज जो जन्मा है वह कभी-न-कभी मरेगा अवश्य—इस तथ्य को सभी जानते है, परन्तु यह किसी को नही पता कि मृत्यु क्या है।

हमारा सम्पूर्ण-जीवन मृत्यु को सत्य मान कर बना हुआ है। मृत्यु का भय हमारे हर कार्य मे सन्निहित है। हम खाते हैं, पीते हैं, सिर्फ इसलिये ताकि अगर खाना छोड़ दें, पानी पीना छोड दें, तो मृत्यु सामने आ खडी हो। हम परिवार बनाते हैं, बच्चे पैदा करते है क्योकि हमे यह भय लगा रहता है कि अगर परिवार नही बनेगा, बीबी-बच्चे नही होगे तो बुढापे मे क्या होगा, कौन देख-भाल करेगा, देख-भाल नही करेगा तो मौत का सामना करना होगा। हम धन कमाते हैं, बड़े-बड़े व्यापार करते है, अगर कहा जाय कि हम काम-धधा करते ही इसलिये हैं क्योकि हम अपने को असुरक्षित पाते हैं, यह-सब मृत्यु से लडाई नही तो और क्या है ? समाज ने चारो तरफ पुलिस, फौज तैनात की हुई है—किसलिये ? सब को मृत्यु का भय सता रहा है, व्यक्तियो को, समाज को, देश को, विदेश को—सभी जगह छोटी-छोटी सुरक्षा-परिषदें बनी हुई हैं, व्यक्ति अपने को मृत्यु से बचाने मे लगा है, समाज अपने को, देश अपने को, विदेश अपने को मृत्यु से बचाने के प्रयत्न मे रत है। संसार के सब देश एक विशाल सुरक्षा-परिषद् को बना कर बैठे है ताकि कोई एक देश दूसरे देश को हडप न कर जाय। विश्व भर मे मृत्यु की काली घटा को चारो तरफ फैला हुआ देख कर डार्विन (1809-1882) ने कहा था कि जीवन एक सग्राम है, इस मे बलवान्

दूसरे निर्बल को खा जाना चाहता है, व्यक्ति हो, समाज हो, देश हो—घमासान लडाई मच रही है, विश्व भर मे मृत्यु का ताण्डव नृत्य हो रहा है, मृत्यु से बचने के लिये ही हमारा एक-एक श्वास चल रहा है। गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है: **'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'** (गीता, 11-32)—मैं काल बन कर ससार का सहार करने के लिये आया हूँ। मनुष्य के चारो तरफ से काल उसे ग्रसित करने के लिये मुँह फाडे उस की तरफ भागा चला आ रहा है। किसी ने सत्य कहा है कि यह आश्चर्य की बात नही है कि मनुष्य जिन्दा है, आश्चर्य तो इस बात का है कि पग-पग पर मृत्यु का शिकजा पडा होने पर भी मनुष्य जी कैसे रहा है ? हम कहते हैं बालक ने जन्म लिया, परन्तु यह हम भूल जाते हैं कि जन्म लेते ही वह मृत्यु की तरफ कदम बढाने लगता है। उस की जन्म की एक-एक घडी उसे मृत्यु के निकट ला रही है। इस बीहड मार्ग को पार कर जब वह अन्त मे ठिकाने पर पहुँचेगा, तब उसे मृत्यु के सिवाय कुछ नही दीखेगा। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि टैनिसन (1850-1892) ने प्रकृति को 'Nature red in tooth and claw' कहा है—प्रकृति कैसी ? ऐसी, जिस के दाँत और पजे खून से लतपत है।

2 मृत्यु से जूझने के प्रयत्न

मरना तो है। क्योकि मरना अवश्य है, इसलिये हमारे सब प्रयत्न उसी से लडने के लिये हैं। बच्चा भी जन्मते ही चिल्लाने लगता है, वह चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है कि मुझे खाने को दो, नही तो मैं मर जाऊँगा। वह मरना नही चाहता, जीना चाहता है, इसीलिये चिल्लाता है। हम मृत्यु को परे धकेलने के दो प्रकार के प्रयत्न करते हैं। पहला प्रयत्न तो हमारी क्रियाशीलता है। हम मर न जायें, इसलिये बाह्य-सावन जुटाते हैं। धन-दौलत, मकान, वस्तुओ का सग्रह करते है ताकि जरूरत पडने पर काम आयें—जीवन बनाये रखने के इन बाह्य-साधनो को जुटाते हैं। बाह्य-साधनो के अलावा आन्तरिक-सावनो का प्रयोग भी करते हैं। हम पढते-लिखते हैं, अपने को योग्य बनाते हैं, जीविका के साधन प्राप्त कर सकें—इस दिशा मे प्रयत्नशील रहते है। यह-सब भी इसलिये ताकि किसी-न-किसी तरह जिन्दा रहे। जीवन को बनाये रखने के बाह्य तथा आन्तरिक साधनो के साथ-साथ सामाजिक-सावनो का भी उपयोग होता है। शादी-ब्याह, मित्रता, बीमा कराई, संगठन आदि सामाजिक-सावन भी मृत्यु से जूझने के ही प्रयत्न है। मृत्यु से जूझने का दूसरा प्रयत्न मृत्यु की तरफ से आँखें बन्द कर लेने का है, मृत्यु को भुला देने का है। उदाहरणार्थ, श्मशान को शहर से दूर बनाया जाता है ताकि रोज-रोज होनेवाली मृत्यु आँखो के सामने न आये, हम उसे भूले रहे। जब किसी का कोई निकटतम सम्बन्धी मर जाता

है, तब हम उसे सात्वना देते है और समझाते हैं कि मरना तो हर-किसी को है, भूल जाओ इस मौत को। महात्मा बुद्ध (563-483 ई० पू०) के पास एक माता आई जिस का लडका मर गया था। बेचैन थी, अशान्त थी, अपनी बेचैनी, अशान्ति का महात्मा बुद्ध से हल चाहती थी। बुद्ध ने उसे कहा कि मैं तेरी बेचैनी को दूर कर सकता हू, अगर तू मुझे ऐसे घर से दूध ला दे जिस में कोई मरा न हो। वह बेचारी जिस घर मे जाती उसी मे कोई-न-कोई मरा था। बिना दूध लिये लौट आयी क्योंकि उसे कोई ऐसा घर न मिला जिस मे एक-न-एक मृत्यु न हुई हो। महात्मा बुद्ध ने उसे कहा—मृत्यु तो होती हैं, सब-किसी की होती है, इस से छूटने का तरीका सिर्फ इसे भूल जाना है।

प्रकृति ने भी जहाँ मनुष्य को याद करने की शक्ति दी है, वहाँ भूलने की भी शक्ति दी है। मनुष्य पर कठोर-से-कठोर विपत्ति पड़ती है, भयंकर रोगो का वह शिकार होता है, कुछ देर बाद वह उस सब को भूल जाता है। पत्नी का देहान्त हो गया, जीवन शून्य-सम दीखने लगा, मनुष्य कहता है—उसके विना वह जी न सकेगा, परन्तु समय निकल जाता है, पिछले दिन भूल जाते है, नये बहार के दिन आने लगते हैं।

परन्तु क्या दिन-रात अपनी सुरक्षा की धुन मे पड़े रहना, या मृत्यु को भुलाने के लिये उस की तरफ से पीठ फेर लेना, या प्रकृति की भुलाने की शक्ति पर निर्भर रहना ही मृत्यु के भय से बचने का उपाय है? घटनाएँ भूल भी जाती है, नही भी भूलती—नही भूले तो क्या उपाय है?

3. मृत्यु का स्वरूप क्या है?—मृत्यु है ही नहीं, यह मिथ्या धारणा है

वैदिक-विचारधारा का कहना है कि मृत्यु का अस्तित्व ही नही है, यह एक मिथ्या-विचार है; भूल जाने से यह नही मिटती, इसके वास्तविक-स्वरूप को समझ लेने से मृत्यु स्वयं मिट जाती है। तो फिर, मृत्यु का स्वरूप क्या है? मृत्यु के स्वरूप को समझने के लिये यह समझना ज़रूरी है कि मृत्यु किस की होती है—शरीर की, या आत्मा की?

(क) **मृत्यु शरीर की होती है**—हम इस पुस्तक में जगह-जगह दर्शा आये हैं कि शरीर तथा आत्मा—ये दो अलग-अलग सत्ताएँ हैं। शरीर आत्मा नही, आत्मा शरीर नही। आत्मा की शरीर से भिन्न स्वतन्त्र-सत्ता है। जन्म शरीर का होता है, मृत्यु भी शरीर की होती है। जो जन्मा है वही तो मरेगा। आत्मा शरीर को सिर्फ धारण करता है। शरीर का वचपन होता है, शरीर की जवानी होती है, शरीर में वुढापा आता है। शरीर की इन-सव भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे जो एक-रूप वना रहता है, वही तो आत्मा है, वही,—जो कहता है मेरा वचपन, मेरी जवानी, मेरा वुढापा। जव व्यक्ति वूढा हो जाता है, चेहरे पर

झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, चला नहीं जाता, खाट पर पड़े-पड़े परेशान हो जाता है, तब जो कहता है कि यह शरीर छूट जाय तो अच्छा, वह कौन है ? जीवन मे रोग आते हैं, अन्त मे बुढ़ापा आ जाता है। ये सब तो आते ही इसलिये हैं ताकि इस जीव को दीखने लगे कि यह रोगी-शरीर, यह बूढ़ा शरीर, यह शरीर जो किसी समय शेर की चाल से चलता था, अब बेकार हो गया, अब मैं इसे छोड़ देना चाहता हूं। कौन इस निकम्मे शरीर को छोड़ देना चाहता है ? क्या शरीर ही शरीर को छोड़ देने के लिये अकुला रहा है ? जो इसे छोड़ देना चाहता है वह इस शरीर से जुदा है। मृत्यु उसकी नही होती, इसकी होती है। शरीर की मृत्यु जन्म लेते ही शुरु हो जाती है। किसी ने ठीक कहा—**'गाफिल तुझे घड़ियाल यह देता है मुनादी गर्दूं ने घड़ी उम्र की इक और घटा दी'**। हमारे भीतर हर समय हमारे शरीर की कोशिकाएँ (Cells) मरती रहती हैं, उन की जगह नयी बनती रहती हैं। शरीर का मरण जन्म से ही शुरु हो जाता है, परन्तु शरीर के मरण के पीछे कोई एक सत्ता बनी रहती है, जो इन मरती हुई कोशिकाओं मे एक-सूत्रता बनाये रखती है, यह मरता है वह नही मरता, यह बूढ़ा होता है वह नही बुढ़ाता, यह रोगी होता है वह रोगी नही होता।

परन्तु अगर ऐसा है तो इस के रोगी होने पर वह क्यो कहता है कि मैं रोगी हो गया, इस के बूढ़ा होने पर वह क्यो कहता है कि मैं बूढ़ा हो गया, उसके मर जाने पर सब क्यो कहते हैं कि वह मर गया ? इस का कारण है। एक कच्चे नारियल के फल को लेकर अगर उसके खोल को तोड़ने का प्रयत्न किया जाय, तो भीतर की गिरी भी टूट जायगी, इसलिये टूट जायगी क्योंकि अभी नारियल कच्चा है। नारियल के पक जाने पर गिरी खोल से अलग हो जाती है, तब खोल को तोड़ने से गिरी अलग-से साफ निकल आती है। क्या गिरी और खोल एक ही हैं ? नादान आदमी भी जानता है कि वे अलग-अलग हैं, परन्तु जबतक नारियल कच्चा है, तबतक वे एक-दूसरे के साथ तन्मयता मे बँधे हुए हैं, जब नारियल पक जाता है तब वे अपने स्वरूप मे आ जाते हैं—खोल अलग, गिरी अलग। यही सम्बन्ध शरीर तथा आत्मा का है। यह तो हम बार-बार सिद्ध कर चुके हैं कि शरीर तथा आत्मा दोनो की स्वतन्त्र-सत्ता है, परन्तु जबतक हम इस बात को अपने प्रयत्न से जान नही लेते, पका नहीं लेते कि वे अलग-अलग हैं, तबतक हम कच्चे नारियल की तरह व्यवहार करते हैं। वैदिक-विचारधारा का कथन है कि यथार्थ-सत्य यही है कि शरीर खोल है, आत्मा इस खोल के भीतर की गिरी है, टूटता खोल है, मरता शरीर है, गिरी नहीं टूटती, आत्मा नहीं मरता, नारियल को पकने मे समय लगता है, शरीर की वृद्धावस्था नारियल का पक जाना है क्योंकि तब हमे जीवन के अनुभवो से मालूम होने लगता है कि शरीर अलग है आत्मा अलग है।

(ख) **मृत्यु आत्मा की नहीं होती**—मृत्यु आत्मा की नही होती, केवल शरीर की होती है—यह सिर्फ कह देने की बात नही है। ससार मे ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होने शरीर को मरते देखा है, आत्मा को अमर देखा है। उन्होने अनुभव किया है कि शरीर मर गया, वे नही मरे। भगतसिह (1907-1931) को जब सूली पर चढाने के लिये ले चले, तो उसका चेहरा उज्वल हो उठा, उसका वजन बढ़ गया। उसके भीतर कोई हस्ती थी जो कहती थी—यह शरीर सूली पर चढेगा, आत्मा अमर रहेगा। रामप्रसाद बिस्मिल (1897-1927) को जब फाँसी दी गई तब वह हँसते-हँसते गले मे रस्सी का फन्दा डाल कर झूल गया। खिलजी वंश का बादशाह अलाउद्दीन (1296) चित्तौड के राजा रत्न-सेन की रानी पद्मिनी को अपनाना चाहता था, रत्नसेन मर गया, परन्तु पद्मिनी अपने पति के शव को गोद मे लेकर चिता मे भस्म हो गई। मुगल वश के बादशाह अकबर (1542-1605) की सेनाओ ने 1567 मे चित्तौड पर हमला किया। उस समय राणा प्रताप के पिता उदयसिह वहाँ के राजा थे। वे घबरा कर चित्तौड़ की रक्षा का काम जैमल और फत्ता के हाथ मे सौपकर भाग गये। जैमल-फत्ता ने जान तोड कर चित्तौडगढ की रक्षा की, परन्तु मुगल सेना बहुत अधिक थी। ऐसे संकट के समय मे चित्तौड़ के वीर सैनिक केसरिया बाना पहन कर अपनी भूमि की रक्षा करते-करते जान पर खेल गये, और किले की सभी देवियाँ जौहर करके जीती-जागती आग की लपटो मे सती हो गई। ऋषि दयानन्द (1824-1883) को विष दिया गया, विष से रोम-रोम मे आग लगी थी, परन्तु मरते हुए चेहरे पर वह उजेला था जिसे देखकर नास्तिक गुरुदत्त (1864-1890) आस्तिक बन गया। सुकरात (469-399 ई० पू०) को जहर का प्याला पीने को दिया गया। उसने प्याला पी लिया। धीरे-धीरे उस के शरीर मे विष चढने लगा। शिष्यो को अपने पास बुला कर उसने कहा—देखो, मेरे पैर मर गये हैं, पर मैं नही मरा, अब मेरा धड मर गया है, मैं नही मरा, मेरे हाथ मर गये, मै नही मरा। मेरा सारा शरीर मर जायगा परन्तु मैं नही मरूँगा। ईसा मसीह को जीते-जी सूली पर चढा दिया गया। मरते हुए उसने क्या कहा ? बायबल मे लिखा है—उसने कहा, ऐ मेरे भगवान् ! इन्हे क्षमा करना, ये नही जानते कि क्या कर कहे है। मसीह को फाँसी देने वाले समझते थे कि वे उसे मृत्यु-दण्ड दे रहे है, परन्तु ईसा मसीह का शरीर चला गया, वह नही मरा—उसकी आत्मा पूर्व तथा पश्चिम के विशाल-जगत् मे छा गई। इगलैण्ड मे लैटीमर (1485-1555) नाम का एक पादरी था। वह प्रोटेस्टेंट था। रोमन कैथोलिक चर्च ने उसे पकड कर उस के हाथो मे रूई लपेट कर, उन की मशाल बना कर, उसे आग लगा दी। वह यह कहता हुआ मरा कि उनकी मृत्यु की मशाल सारी दुनियाँ मे अज्ञानान्धकार को दूर करेगी। ब्रूनो (1548-

1600) कहता था कि सूर्य पृथिवी के गिर्द नहीं घूम रहा, पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूम रही है। उसे मतवादियों ने तख्त से बाँध कर आग की लपटों की भेंट कर दिया। वह चाहता तो अपने सिद्धान्त को छोड़ कर अपनी जान को बचा सकता था, परन्तु उसने सत्य के लिये देह को छोड़ देना उचित समझा। क्यों उसने देह को छोड़ देना उचित समझा ? वह समझता था कि शरीर नश्वर है, इस के भीतर बैठनेवाला नश्वर नहीं अमर है, शरीर के भस्म हो जाने पर भी भीतर जो बैठा है वह मर नहीं सकता।

4 शरीर की मृत्यु प्रतिक्षण होती है—तो क्या मृत्यु ही सत्य है ?

हमारा शरीर कोशिकाओं (Cells) से बना हुआ है, ये हर समय टूटती रहती हैं, नई बनती रहती हैं। जो टूटती रहती हैं उन्हें हम काट डाला करते हैं। बाल हैं, नख हैं—ये सब शरीर के मृत-भाग ही तो हैं। शरीर के परमाणु बदलते-बदलते सात साल में सारा शरीर बदल जाता है। जिसे हम ज़िन्दगी कहते हैं उसमें हमारा सम्पूर्ण-शरीर 9-10 बार बदल चुका होता है, या कहें तो मर चुका होता है। मृत्यु के अन्तिम-क्षण में, और जीवन में लगातार हो रही मृत्यु में, इतना ही भेद है कि जीवन में जो मृत्यु की प्रक्रिया हो रही है उसके साथ-साथ जीवन की प्रक्रिया भी जारी रहती है—अगर पुरानी कोशिकाएँ टूटती हैं तो नयी बनती भी रहती हैं, परन्तु मृत्यु के अन्तिम-क्षण में नयी कोशिकाएँ बनना सर्वथा बन्द हो जाता है, पुरानी सब टूट जाती हैं, नई बनती नहीं। इसी को हम मृत्यु कहते हैं। प्रश्न यह है कि शरीर की मृत्यु तो प्रतिक्षण हो रही है, जो शक्ति शरीर को इस मृत्यु के बीच जीवित बनाये हुए थी, जो कोशिकाओं के मरने के साथ नवीन कोशिकाओं का निर्माण करती जाती थी, वह कौन थी ? वह भी क्या शरीर के मरने के साथ मर जाती है या वह इस शरीर के निकम्मा हो जाने के कारण इसको छोड़ कर अपने किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये दूसरे किसी शरीर का निर्माण करने के लिये शरीर से बाहर चली जाती है ?

जो लोग कहते हैं कि इस शरीर के नष्ट होने के साथ वह चेतन-शक्ति भी नष्ट हो जाती है, वे एक अनहोनी बात कहते हैं। मनुष्य इस जीवन में क्यों आया ? क्या यूँ ही टपक पड़ा ? संसार में यूँ ही नाम की कोई चीज़ नहीं। हर वस्तु किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये पैदा हुई है, उस लक्ष्य की पूर्ति के लिये क्रियाशील है। कुम्हार घड़ा बनाता है, घड़ीसाज घड़ी का निर्माण करता है। घड़े के टूट जाने के साथ कुम्हार भी खत्म नहीं हो जाता, घड़ी के सब पुर्ज़ों के निकम्मा पड़ जाने के साथ घड़ीसाज़ भी मर नहीं जाता। कोई घड़ा ऐसा नहीं जो अपने-आप बनता जाता हो, अपनी मरम्मत अपने-आप करता जाता हो, कोई घड़ी ऐसी नहीं जो बिगड़ती हो और अपने-आप सुधर भी जाती हो।

प्राणी का शरीर ही एक ऐसी वस्तु है जो टूटती भी रहती है और उसके भीतर बैठी कोई शक्ति इसकी मरम्मत भी करती रहती है, समय आता है जब शरीर मरम्मत करने लायक भी नही रहता। घडे के टूटने पर कुम्हार नही मर जाता, घडी के बेकार हो जाने पर घडीसाज़ नही मर जाता, शरीर-जैसे यन्त्र के मर जाने पर, वह जो क्षण-क्षण इसकी मरम्मत करता रहता था, वह कैसे मर जायगा ? घडा टूट जाय तो कुम्हार दूसरा घडा बनाने लगता है, एक घडी बेकार हो जाय तो घडीसाज़ दूसरी घडी को ठीक करने लगता है, शरीर छूट जाय तो आत्मा दूसरे शरीर का निर्माण कर लेता है—मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा की नही होती, रूपान्तरण होता है—यही युक्तिसगत प्रतीत होता है।

5. रूपान्तरण का ही दूसरा नाम 'मृत्यु' है

संसार मे किसी वस्तु का नाश नही होता, सिर्फ उसका रूप बदल जाता है। विज्ञान का अटल नियम है कि कोई वस्तु नष्ट नही होती, रूपान्तरित हो जाती है। आसमान से पानी बरसता है, वह बह कर नदी मे परिवर्तित हो जाता है, नदी समुद्र मे जा मिलती है, सूर्य के ताप द्वारा समुद्र से भाप उठ कर बादल बन जाते है, वे फिर बरस जाते है, इस सारी प्रक्रिया मे एक बूँद भी नष्ट नही होती। जब बूँद बरस कर नदी बन जाता है, तब भ्रमवश हम उसे बूँद का नाश होना कह देते है, जब नदी बह कर समुद्र मे जा मिलती है, तब हम नदी का समाप्त होना कह देते हैं, नदी मे बूँद मौजूद है, समुद्र मे नदी मौजूद है, नाश किसी का नही होता, सब बने रहते है, रूप मात्र बदल जाता है। ठीक इसी तरह जिसे हम शरीर का नष्ट होना, उसकी मृत्यु कहते हैं, वह भी शरीर के तत्वो का रूपान्तरित हो जाना है। शरीर पाँच तत्वो से बना है। समय आता है जब ये पाँचो तत्व—पार्थिव-तत्त्व पृथ्वी मे, जलीय-तत्त्व जल मे, आग्नेय-तत्त्व अग्नि मे, वायवीय-तत्त्व वायु मे चला जाता है। शरीर तो परमाणुओ के संयोग से बना है, इसलिये मृत्यु के समय परमाणुओ का सयोग जाता रहता है, वियोग हो जाता है, परमाणु नष्ट नही होते। चेतना तो परमाणुओ के सयोग से नही बनी। मृत्यु के समय चेतना का—आत्मा का—क्या होता है ? जब भौतिक-शरीर ही नष्ट नही होता, वह भी परमाणुओ के रूप मे बना रहता है, इस दृष्टि मे परमाणु-रूप मे शरीर भी नित्य है, अमर है, फिर चेतना की तो बात ही दूसरी है। जैसे शरीर का रूपान्तरण होता है, वैसे आत्मा का भी रूपान्तरण होता है, एक शरीर को छोड कर वह दूसरा शरीर धारण कर लेता है। शरीर के रूपान्तरण को 'मृत्यु' कहा जाता है, आत्मा के रूपान्तरण को 'पुनर्जन्म' कहा जाता है। यह चेतन-सत्ता पाँच-भौतिक शरीर की तरह विलीन नही हो सकती। विलीन वही वस्तु होती है जो भौतिक हो। विलीन का अर्थ है—खण्ड-खण्ड

हो जाना। पार्थिव-वस्तु विलीन होती है, खण्ड-खण्ड हो जाती है, टुकडो मे विभक्त हो जाती है। जो भौतिक-पदार्थ हो वही खण्डित हो सकता है, चेतन-सत्ता तभी खण्डित हो सकती है, अगर वह भौतिक हो। अगर चेतन-सत्ता—आत्मा—भौतिक हो, तो वह चेतन-सत्ता नही रहती, वह शरीर हो जाती है। उसका रूपान्तरण तो यही हो सकता है कि जैसे अब इस शरीर मे मौजूद है, वैसे इस शरीर बिखर जाने पर, शुद्ध अर्थों मे, खण्ड-खण्ड होकर परमाणुओं मे रूपान्तरित हो जाने पर, वह इसी प्रकार के या किसी भी अन्य प्रकार के शरीर का आश्रय ले, उस मे चली जाय। दो शब्दो मे कहा जाय, तो कहना होगा कि आत्मा का नाश नही होता, आत्मा सिर्फ शरीर बदलता है, मानो पुराने चोले को फेंक कर नया चोला धारण कर लेता है। इस प्रकार आत्मा के नया चोला धारण कर लेने को ही भ्रमवश हम मृत्यु कह देते हैं—यथार्थ मे आत्मा के लिये मृत्यु की कोई सत्ता नही, आत्मा के लिये मृत्यु अयथार्थ है।

6. वास्तविक-सत्ता 'जीवन' की है—'मृत्यु' अयथार्थ है

मृत्यु एक भ्रम है। कभी-कभी जो होता नही वह प्रचलित हो जाता है। भूत से सब डरते हैं, बडे-बडे लोग भूत से डरते देखे गये हैं, परन्तु भूत क्या है? अगर भूत से डरने वाला जान जाय कि भूत एक भ्रम है, तो क्या वह भूत से डरेगा? भूत की कोई सत्ता नही, परन्तु हम उसकी कल्पना कर लेते हैं कि वह है—तभी उससे डरने लगते हैं। मृत्यु का स्वरूप भी ऐसा ही है। आत्मा के लिये मृत्यु है ही नही, उसकी कोई सत्ता नही, जिसकी सत्ता न हो उससे डरने का अर्थ भूत से डरने जैसा है। मृत्यु छाया के समान है। जैसे भूत का अस्तित्व नही, वैसे छाया का भी अस्तित्व नही। प्रकाश का प्रवाह बह रहा है, उसमे रुकावट पड जाने का नाम छाया है। छाया की स्वतन्त्र-सत्ता नही, प्रकाश के रुक जाने का नाम छाया है। छाया प्राणी का पीछा करती है, मृत्यु से भय खाना अपनी छाया से डर जाने के समान है। मृत्यु अन्धेरा है, अन्धेरे की स्वतन्त्र-सत्ता नही, स्वतन्त्र-सत्ता प्रकाश की है। मृत्यु एक निद्रा है, हम हर रोज सोते हैं, रोज-रोज सोना छोटी-छोटी मृत्यु है, परन्तु सोने के वाद फिर तरोताजा होकर उठ खडे होते हैं, निद्रा न हो तो जागरण न हो, निद्रा ही जागरण का आधार है। शरीर जब थक जाता है, तब आत्मा इसे सुला देता है ताकि इसमे शक्ति का संचार हो जाय, बैटरी री-चार्ज हो जाय। शरीर जब बिल्कुल काम लायक नही रहता तब आत्मा इसे छोड देता है क्योंकि यह बैटरी निकम्मी हो जाती है, वह अपने कारखाने के लिये नई बैटरी ले लेता है। कारीगर का काम नही रुकता, उसका कारखाना बदस्तूर जारी रहता है। कारखाने का मालिक पुरानी बैटरी छोड देने के वाद जिस नई बैटरी मे काम

लेने लगता है वह भरपूर काम देती है। आत्मा इस पुराने शरीर को छोड कर जब नये शरीर मे आता है तब वह बच्चे का शरीर ग्रहण करता है जो नई बैटरी की तरह शक्ति से भरपूर और तरोताज़ा होता है।

हम समझते हैं कि जीवन और मृत्यु दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं—एक तरफ जीवन खडा है, दूसरी तरफ मृत्यु खडी है, परन्तु ऐसा नही है। यथार्थ-सत्ता जीवन की है, मृत्यु आगामी जीवन मे प्रवेश करने का द्वार है। अगर जीवन की स्वतन्त्र-सत्ता हो और मृत्यु की स्वतन्त्र-सत्ता हो, तो दोनो दो समानान्तर रेखाओ की तरह चलती चली जायेंगी, इन दोनो का कही मेल नही होगा। परन्तु ऐसा नही है। जीवन मे मृत्यु और मृत्यु मे जीवन घुला-मिला है। जहाँ हम जीवन देखते हैं वही मृत्यु भी छिपी बैठी है। जीवन और मृत्यु भिन्न-भिन्न दृष्टियों से एक ही वस्तु के दो नाम हैं। प्रकाश और अन्धेरा, जागना और सोना, जीना और मरना—ये जोडे है, परन्तु सदा साथ-साथ है, यथार्थ-सत्ता प्रकाश की है, यथार्थ-सत्ता जागने की है, यथार्थ-सत्ता जीवन की है। जब प्रकाश रुक जाता है तब हम उसे अन्धेरा कह देते हैं, अन्धेरा हो गया तो क्या हम कह सकते है कि प्रकाश की सत्ता ही न रही, प्रकाश की ही यथार्थ-सत्ता है, तभी अन्धेरे की प्रतीति होती है; हम सो गये तो क्या हम कह सकते है कि जागरण की सत्ता ही न रही, जागरण की ही यथार्थ-सत्ता है, तभी सोने की प्रतीति होती है; हम मर गये तो क्या हम कह सकते है कि जीवन की सत्ता न रही, जीवन की ही यथार्थ-सत्ता है, तभी हमे मृत्यु की प्रतीति होती है। अन्धेरा अयथार्थ है, स्वप्न अयथार्थ है, मृत्यु अयथार्थ है क्योकि अन्धेरा प्रकाश के बिना नही रह सकता, स्वप्न जागरण के बिना नही रह सकता, मृत्यु जीवन के बिना नही रह सकती। अन्धेरे का अभाव प्रकाश नही है—प्रकाश विना अन्धेरे के रह सकता है; स्वप्न का अभाव जागरण नही है क्योकि स्वप्न के विना जागरण रह सकता है; मृत्यु के अभाव का नाम जीवन नही है क्योकि मृत्यु के बिना जीवन रह सकता है।

7. नचिकेता का मृत्यु से साक्षात्कार

मृत्यु का भय तभी तक रहता है जब तक मृत्यु का साक्षात्कार नहीं हो जाता। जब मनुष्य मृत्यु के रहस्य को समझ जाता है तब मृत्यु का भय जाता रहता है। इतना ही नही कि तब मृत्यु का भय जाता रहता है, तब जीवन का काँटा, उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। इसी बात को कठोपनिषद् मे एक रूपक मे बडे सुन्दर शब्दो मे कहा है। वहाँ लिखा है—

(क) नचिकेता का प्रश्न—मृत्यु क्या है?—वाजश्रवम् नामक ब्राह्मण बडी धूम-धाम से यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ मे दान भी दिया जाता है। दान के

वहाने वे लँगडी-लूली, वूढी गायो का दान करने लगे। उनके पुत्र नचिकेता को यह अच्छा न लगा। उसने देखा कि पिता कजूस है, सिर्फ नाम कमाने के लिये यज्ञ कर रहा है—निकम्मी वस्तुओ को दान मे दे रहा है। उसने झुँझला कर पिता से पूछा—वडे दाता वने हो, मेरा दान कर दो न! पिता ने उससे भी अधिक झुँझला कर कहा—जा, तुझे मौत की भेंट करता हूँ। नचिकेता मृत्यु—यम—के यहाँ चला गया, वहाँ नचिकेता तथा मृत्यु—यम—का सवाद शुरू हुआ। मृत्यु ने कहा—वालक, तुम वडे प्रतिभाशाली प्रतीत होते हो, कहो, कुछ पूछना है तो पूछो। नचिकेता ने कहा—पूछना तो मुझे वहुत-कुछ है, परन्तु सव वातो-की-वात एक वात पूछूँ—हे मृत्यु, यह वतलाओ कि तुम हो क्या? जव आदमी मर जाता है तव कई कहते हैं—यह मर गया, कई कहते हैं—यह नही मरा। तुम तो साक्षात् मृत्यु के रूप मे मेरे सामने खडे हो, यह वतलाओ कि तुम हो क्या? इस आशय के नचिकेता ने जो शब्द कहे, वे निम्न हैं—

येयं प्रेते विचिकित्सा अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके
एतत् विद्याम् अनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः (कठ, 1, 20)

मृत्यु ने इसका क्या उत्तर दिया? मृत्यु ने कहा—हे नचिकेतस्! तूने वडा विकट प्रश्न किया। इस प्रश्न का उत्तर सुनेगा, तो तेरा धीरज छूट जायगा, तुझे दुनिया कुछ-की-कुछ दीखने लगेगी। नचिकेता भी वडा हठी था, वह अपने प्रश्न पर डटा रहा। मृत्यु ने कहना शुरू किया—

(ख) **मृत्यु का उत्तर—'प्रेय' मृत्यु है, 'श्रेय' जीवन है**—ससार मे दो तरह के मनुष्य हैं—एक वे जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा को भी नष्ट हुआ मानते हैं, दूसरे वे हैं जो शरीर को आत्मा नही मानते, आत्मा को शरीर से स्वतन्त्र मानते हैं, उनकी समझ मे शरीर नष्ट हो जाता है, आत्मा नष्ट नही होता, आत्मा अमर है। इन दोनो प्रकार के व्यक्तियो के जीवन के मार्ग अलग-अलग हैं। जो शरीर को ही सव-कुछ मानते हैं उनका मार्ग 'प्रेय-मार्ग' कहलाता है, जो आत्मा को अमर मानते हैं उनका मार्ग 'श्रेय-मार्ग' कहलाता है। मृत्यु ने जो शब्द कहे वे निम्न हैं—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सपरीत्य विविनक्ति धीरः
श्रेयोहि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग क्षेमात् वृणीते। (कठ,2-2)

'प्रेय-मार्ग' इसलिये 'प्रेय' कहलाता है क्योकि सवको यही मार्ग प्यारा है, परन्तु इस मार्ग पर चल कर मृत्यु का सामना करना पडता है, 'श्रेय-मार्ग' इसलिये 'श्रेय' कहलाता है क्योकि यही श्रेष्ठ है, यही सत्य है, यही सही रास्ता है, इसी से प्राणी का भला होता है। प्रेय-मार्ग पर चलने वाले शतायु पुत्र-पौत्रो से घिरे रहते हैं, उनके तबेलो मे गाय-भैंस वँधे रहते हैं, हाथी-घोडे उनकी सवारी

के लिये तैनात रहते हैं, उनकी स्त्रियाँ सोने के आभूषणो से लदी रहती हैं, भोग-विलास मे उनके दिन कटते है—परन्तु यह-सब इस भौतिक-लीला के समाप्त होने पर समाप्त हो जाता है, मिट जाता है—यह देह गिरता है, तो उसके साथ यह सभी-कुछ गिर जाता है, शरीर के मरने के साथ यह भी मर जाता है। श्रेय-मार्ग पर चलने वाले संसार की चकाचौध पर नही मरते, दुनिया की धूम-धाम से उनकी तृप्ति नही होती—**'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**—भौतिक-पदार्थों से उनका जी नही भरता, अनित्यों को नित्य मान कर वे अपने जी को नही बहलाते, वे अनित्य के स्थान मे नित्य की तलाश करते हैं क्योकि नित्य को पाकर ही इस नित्य आत्मा की जीवन-यात्रा सफल होती है।

नचिकेता ने मृत्यु का साक्षात्कार किया, उसके सामने खडा हो गया तो उसके जीवन का काटा ही बदल गया। जो नचिकेता की तरह मृत्यु को देख लेता है वह ससार के विषय-भोगो को जीवन का लक्ष्य नही मानता, उसके लिये जीवन का नया आयाम खुल जाता है, जो मृत्यु को नही देखता, मृत्यु के सामने नही खडा होता, इस देह के साथ ही अपने को नष्ट हुआ समझता है, वह अन्त तक संसार के गोरखधन्धे मे उलझा रहता है, उसी के लिये मृत्यु है।

8. अर्जुन का मृत्यु से साक्षात्कार

(क) **शरीर मरता है, आत्मा अमर है**—जैसे यम ने नचिकेता की आँखें खोल दी, नचिकेता ने देखा कि शरीर को आदि और अन्त मानने की दृष्टि मनुष्य को भोग-विलास मे लिप्त रखती है, भोग-विलास से सुख मिलता है परन्तु आत्मा को तृप्ति नही मिलती—**'अमृतत्त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'**—विषयी-जीवन मृत्यु की तरफ ले जाता है अमृत की तरफ नही, वह जीवन को व्यर्थ बना देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन की आँखें खोल दी, अर्जुन को भी श्रीकृष्ण ने मृत्यु का रहस्य समझा दिया। श्रीकृष्ण ने तो साफ शब्दो मे कहा—शरीर के नाश से जीवन का नाश नही हो जाता, यथार्थ तथा अन्तिम सत्ता जीवन की है, मृत्यु की नही, जीवन का स्रोत आत्मा है, शरीर नही, शरीर मरता है, आत्मा अमर है। श्रीकृष्ण ने गीता मे आत्मा की अमरता के विषय मे जिन उदात्त शब्दो मे घोषणा की वैसे शब्द न अब तक कहे गये, न कहे जायेंगे। श्रीकृष्ण की घोषणा थी—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥
अच्छेद्योयं अदाह्योयं अक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोयम् सनातनः॥

(2 य अध्याय, 23-24)

—हम आत्मा को शरीर समझे बैठे हैं, परन्तु यह भ्रान्ति है। शरीर शस्त्र से छिदता है, अग्नि से भस्म होता है, पानी से भीजता है, वायु से सूकता है—आत्मा को कोई शस्त्र छेद नही सकता, कोई आग जला नही सकती ; जल से यह भीज नही सकता, वायु से यह सूक नही सकता; यह नित्य है, सनातन है। आत्मा के लिये मृत्यु अयथार्थ है, आत्मा मे तो जीवन-ही-जीवन है।

(ख) शरीर रथ है, आत्मा रथी है, जीवन पडाव है—जब आत्मा के लिये मृत्यु है ही नही तब शरीर के साथ आत्मा भी मर जाता क्यो प्रतीत होता है ? कठोपनिषद् (तृतीया वल्ली, 3, 4) मे इसका उत्तर देते हुए कहा है .

आत्मानं रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु,
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयान् तेषु गोचरान्,
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

—यह शरीर रथ के समान है, आत्मा इस रथ का मालिक है, रथी है, इस रथ पर बैठा जीवन-यात्रा पर निकला है। रथ को चलाने वाला साईस होता है—तांगे वाला। यह काम बुद्धि का है जिसके हाथ मे मन-रूपी लगाम है। रथ मे इन्द्रिय-रूपी घोडे जुते हुए हैं, ससार के विषय वे मार्ग हैं जिन पर इन्द्रिय-रूपी घोडे भागते चले जा रहे हैं। मनीषी लोग कहते है कि जब आत्मा के आदेश के अधीन मन तथा इन्द्रियाँ चलती हैं, तभी आत्मा को 'भोक्ता'—इस रथ का इस्तेमाल करने वाला, उपभोग करने वाला कहा जाता है।

यह जीवन क्या है ? रथ पर सवार आत्मा के लिये यह जीवन एक पड़ाव है। जब रथ पर चढ कर कोई किसी मंज़िल पर जाता है तब रास्ते मे पडाव पड़ते हैं। अगर लम्बी यात्रा है, तो पडाव पर थके घोडे छोड़ दिये जाते हैं, नये घोडे जोत दिये जाते हैं। नये घोड़े जोतने का यह मतलब नही कि पुराने घोडे मर गये। इसी प्रकार जीवन की यात्रा मे आत्मा शरीर-मन-इन्द्रियो के रथ पर सवार होकर निकला है। जब ये वाहन बेकार हो जाते हैं, तब वह इन्हे छोड़ कर नये वाहन जुटा लेता है। इन वाहनो को छोड देना यात्री की मृत्यु नही है, सिर्फ नये पड़ाव पर नये साधन जुटा लेना है। रथ से यात्रा करते हुए घोडो को बदल लेने को कोई मृत्यु नही कहता, आश्चर्य इसी बात का है कि जीवन की यात्रा मे शरीर-रूपी रथ को बदल लेने को हम मृत्यु कह देते है, जो भारी भूल है। जैसा पहले कहा, मृत्यु नाश नही आगामी जीवन मे प्रवेश करने का द्वार है, और यह जीवन आत्मा की अपने लक्ष्य तक पहुंचने की निरन्तर यात्रा का एक पड़ाव है।

(ग) शरीर आत्मा का वस्त्र है—सांप के विषय मे सभी जानते हैं कि जब उसकी केंचुली पुरानी हो जाती है, तब सांप उस पुरानी, निकम्मी केंचुली को

बदल डालता है, उसे फेंक देता है, नई केंचुली आ जाती है। शरीर भी आत्मा की केंचुली ही है। जब शरीर पुराना हो जाता है, आत्मा के काम का नही रहता, तब आत्मा उसे बदल डालता है। इसी बदल डालने को साधारण लोग मृत्यु कहते हैं। चोला बदलते हुए चोले वाला नष्ट नही होता, सिर्फ़ पुराने चोले की जगह नया चोला ओढ लेता है। गीता (2 अध्याय, 22-25) ने कितने सुन्दर शब्दो मे इस भाव को प्रकट किया है। वहाँ कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही।

—जैसे कपडे पुराने हो जाने पर मनुष्य उन्हे उतार फेंकता है, उन्हे उतार कर नये वस्त्र पहन लेता है, इसी प्रकार जब शरीर पुराना हो जाता है, जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, तब देह को धारण करने वाला यह आत्मा नये शरीर को धारण कर लेता है। जीर्ण-शीर्ण शरीर होता है, आत्मा न जीर्ण होता है, न शीर्ण होता है।

(घ) **मृत्यु के सम्बन्ध में अर्जुन तथा श्रीकृष्ण का संवाद**—मृत्यु के सम्बन्ध मे अर्जुन तथा कृष्ण का संवाद मनन करने योग्य है। कुरुक्षेत्र के मैदान मे एक-दूसरे को मारने के लिये एक ही घराने के लोग आमने-सामने खड़े हैं। पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, मामा, भानजा, भतीजा, आचार्य—सब एक-दूसरे के खून के प्यासे हो उठे है। इस बीभत्स-दृश्य मे ताडव-नृत्य करती हुई मृत्यु सामने दीखने लगती है। क्षण मे धडाधड़ सिर कटने वाले है। अर्जुन मृत्यु के इस भयकर रूप की कल्पना कर काँप उठता है। उस समय श्रीकृष्ण मृत्यु के रहस्य को खोलते हुए 2 य अध्याय मे कहते है :

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्
विनाशं अव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति। 17।
अन्तवन्त इमे देहाः नित्यस्योक्ताः शरीरिणः
अनाशिनः अप्रमेयस्य तस्मात् युध्यस्व भारत। 18।
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतः नायं हन्ति न हन्यते। 19।

—जिस आत्मा से हमारा शरीर व्याप्त है, वह अविनाशी है। इस अव्यय आत्म-सत्ता का कोई भी विनाश नही कर सकता। यह जो दीख रहा है—'शरीर' है, वह न दीखने वाला आत्मा इस शरीर का स्वामी 'अशरीरी' है। उस 'अशरीरी' के साधन का अन्त होता है, उसका अन्त नही होता। आत्मा के विषय मे जो यह समझता है कि यह मरता है, या जो यह समझता है कि यह मारता है, वे दोनो सचाई को नही समझते, आत्मा न मरता है न मारता है। कृष्ण अर्जुन को कहते है कि भूल जा मृत्यु को, मृत्यु की तो कोई सत्ता ही

नही ; जिसको लोग मृत्यु कहते हैं वह तेरी नही, मेरी नही, किसी की नही। कृष्ण एक अनहोनी वात कहते हैं, दुनिया भर से उल्टी वात, परन्तु वही वात सत्य है ; ससार मे जो वात चल रही है वह असत्य है। जिसने इस सत्य को पा लिया कि जव मेरी आँखें देखती हैं तव आँखें नही देखती, आँखो के पीछे वैठा मैं देखता हूँ—**'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति'**—(केन, 1-6), जव कान सुनते हैं तव कान नही सुनते, कानो के पीछे वैठा मैं सुनता हूँ—**'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्'**—(केन, 1-7), वह जान जाता है कि आँखें गिर जाती हैं, देखने वाला नही गिरता, कान गिर जाते हैं, सुनने वाला नही गिरता, अंग-अंग गिर जाते हैं, सारा देह गिर जाता है, अगो वाला, देह वाला वना रहता है।

जीवन तो रेलगाडी का सफर है। स्टेशन के वाद स्टेशन आते चले जाते हैं, जिस स्टेशन पर यात्री ने उतरना होता है वह वहाँ उतर जाता है, गाड़ी आगे चल देती है। जो यात्री उतर जाता है वह मर नही जाता, सिर्फ उसकी वह यात्रा वहाँ समाप्त हो जाती है, अगली यात्रा शुरू हो जाती है।

हम भूल से समझते हैं कि हमने मृत्यु को देखा, परन्तु आज तक मृत्यु को किसी ने नही देखा, मृत्यु का अनुमान किया है, उसकी कल्पना की है। जव हम देखते हैं कि यह व्यक्ति अभी देखता था, सुनता था, वात करता था, चलता था, फिरता था, इसने देखना-सुनना, वोलना-चालना सव-कुछ वन्द कर दिया, तव हम कहने लगते है कि वह मर गया, परन्तु क्या सोते हुए ऐसा नही हो जाता, वेहोशी मे ऐसा नही हो जाता, क्लोरोफौर्म सुघा देने पर ऐसा नही हो जाता। हम कह सकते हैं कि उस समय हृदय तो चलता रहता है, परन्तु ऐसे दृष्टान्तो की भी कमी नही है जिनमे व्यक्ति हृदय की गति को भी रोक लेता है फिर भी जीवित वना रहता है। तीस वर्ष हुए गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के स्नातक श्री विवेकानन्द विद्यालकार ने अहमदावाद मे अनेक डॉक्टरो के वोर्ड के सम्मुख हृदय की गति को रोक लिया था और फिर भी यह कोई नही कह सकता था कि वे जीवित नही रहे। उस समय वम्बई के इलस्ट्रेटेड वीकली मे उनके इस अद्भुत प्रदर्शन की तस्वीरें भी छपी थी।

मृत्यु क्या है? मृत्यु एक प्रकार की निद्रा है। निद्रा के दो रूप हैं—एक वह जिसमे स्वप्न आते रहते हैं, दूसरा वह जिसमे स्वप्न भी नही आते, प्रगाढ-निद्रा, सुषुप्ति की अवस्था आ जाती है। यह प्रगाढ-निद्रा मृत्यु का ही एक रूप है। हम कह सकते है कि निद्रा मृत्यु है या मृत्यु निद्रा है। हम थक कर सो जाते हैं, सोने के वाद तरोताजा होकर जाग उठते हैं—सोना-जागना रोज़-रोज़ का धन्धा है। रोज़-रोज़ सो जाना, रोज़-रोज़ की छोटी मृत्यु है, सो-सोकर जाग उठना रोज़-रोज़ का पुनर्जन्म है। प्रचलित किंवदन्ती है कि जो पिंड मे है

वही ब्रह्माड मे है, जो ब्रह्माण्ड मे है वही पिंड मे है—**'यत्पिंडे तत् ब्रह्माण्डे यत् ब्रह्माण्डे तत्पिंडे'**। सोना मर जाना नही है, जीवन का ही एक प्रकार है, जीवन की बैटरी का री-चार्जिग है, मृत्यु भी सोने की तरह मर जाना नही है, जीवन का ही वह छोर है जहाँ जीवन की बैटरी री-चार्ज होने के लिये भगवान् के कारखाने मे चली जाती है।

जैसे सोना एक छोटी मृत्यु है, वैसे ही पक्षाघात हो जाना भी एक छोटी मृत्यु है, शरीर के एक अग की मृत्यु। शरीर का एक अग काम नही कर रहा, परन्तु चेतना सम्पूर्ण शरीर की बनी रहती है। अर्धांग मे यह तो अनुभव होता है कि शरीर का आधा हिस्सा निकम्मा हो गया, परन्तु रोगी को चेतना के विषय मे यह अनुभव नही होता कि चेतना भी आधी रह गई, चेतना वैसी-की-वैसी सम्पूर्ण बनी रहती है; ठीक इसी तरह जब सारा शरीर बेकार हो जाता है, फेंकने लायक हो जाता है, तब चेतना नष्ट नही होती, शरीर की मृत्यु हो जाती है, चेतना की मृत्यु नही होती, चेतना कर्मों की गठडी को सूक्ष्म-शरीर के सहारे लेकर अपने नये रास्ते पर चल देती है। चेतना—आत्मा—की दृष्टि से मृत्यु एक निरर्थक शब्द है।

9. कुछ पाश्चात्य मनीषियों के मृत्यु-सम्बन्धी विचार

मृत्यु के सम्बन्ध मे भारतीय-विचारको ने जैसा सोचा है, अनेक पाश्चात्य-विचारको ने भी इस दिशा मे वैसा ही सोचा है। भारत की तरह वहाँ भी चार्वाक-पन्थी हैं, भारत की अपेक्षा अधिक ही है, परन्तु वहाँ भी अनेक उच्च-कोटि के चिन्तक हुए है, जो देह के साथ ही आत्मा के नष्ट हो जाने को मिथ्या-कल्पना मानते है। उदाहरणार्थ, जोएक्विन मिलर (1841-1913) ने अपनी पुस्तक 'Song of Creation' मे लिखा है :

Death is but a name, a date,
A milestone by the stormy road,
Where you may lay aside your load,
And bow your face and rest and wait,
Defying fear, defying fate.

इस कविता का भावार्थ है—मृत्य क्या है ? सिर्फ एक नाम ही तो है। गणना के लिये एक तिथि है, जीवन के झंझावातमय-पथ मे मीलो का एक पड़ाव है—ऐसा पडाव जहाँ यात्री अपनी कमर पर लदे बोझ को उठा कर एक तरफ रख देता है, सिर झुका लेता है, आराम करता है, इन्तिजार करता है, जहाँ बैठ कर वह मृत्यु-भय और तकदीर का तिरस्कार करता हुआ बैठ जाता है।

कवि व्यूमौन्ट एण्ड फ़्लेचनर ने मृत्यु के सम्बन्ध मे लिखा है—

To die
Is to begin to live. It is to end
An old, stale, weary work and to commence
A newer and a better

—अर्थात्, मरना तो नवीन-जीवन का प्रारम्भ है। मरना क्या है? पुराने, नीरस, थका देनेवाले काम को एक तरफ रख कर नये और वेहतर काम को शुरू कर देने का नाम मृत्यु है।

सैम्युअल वटलर (1612-1680) की कविता के निम्न पद वडे मार्के के हैं:

To himself every one is immortal,
He may know that he is going to die,
But he can never know that he is dead.

—अर्थात्, जहाँ तक व्यक्ति का अपने तईं सम्बन्ध है, हर-एक अपने को अमर मानता है। यह हो सकता है कि मनुष्य को अनुभव हो कि वह मरने-वाला है, परन्तु यह कभी सम्भव नही कि कोई कह सके या जान सके कि वह मर गया है।

सिसरो (106-43 ई० पू०) ने लिखा है.

The last day does not bring extinction,
But a change of place.

—अर्थात्, जीवन का अन्तिम-दिन मनुष्य का नाश नही कर देता, सिर्फ उसका स्थान वदल देता है।

मृत्यु के भय को ललकार देने के लिये शेक्सपीयर (1564-1616) ने जूलियस सीज़र के मुख से जिन पंक्तियो को कहलवाया है वे स्मृति-पटल मे अंकित हुए विना नही रहती। मृत्यु के भय का नाम सुनते ही सीज़र कहता है:

Cowards die many times before their deaths;
The valient never taste of death but once.
Of all the wonders that I yet have heard,
It seems to me most strange that men should fear;
Seeing that death, a necessary end,
Will come when it will come

—जूलियस सीज़र (101-44 ई० पू०) के मुख से शेक्सपीयर ने कहा कि भीरु लोग मरने से पहले ही अनेक वार मर चुकते हैं, धीर तथा शूरवीर सिर्फ एक वार मृत्यु का रसास्वाद करते हैं। संसार मे सव से वडे अचम्भे की वात

तो यह है कि मनुष्य यह जानता हुआ कि एक-न-एक दिन कूच कर जाना है मृत्यु से भय खाये, उस दिन ने तो आना-ही-आना है।

10. विक्टर सौलो का तथा-कथित मृत्यु के बाद का अनुभव

श्री विक्टर सौलो नामक एक सज्जन ने 'लिटररी डाइजेस्ट' के अप्रैल 1975 के अंक मे एक लेख लिखा है जिसका शीर्षक है—'I died at 10.52'—'मैं 10.52' पर मर गया। वे लिखते है कि न्यूयार्क मे शनिवार, 23 मार्च 1974 को वे अपनी कार मे अपनी पत्नी के साथ जा रहे थे कि वत्तियो के क्रौसिग पर उन्हे अपनी गाडी खड़ी करनी पड़ी। समय 10.52 का था। इस समय गाड़ी मे बैठे-बैठे उनके हृदय की गति बन्द हो गई, श्वास चलना भी स्थगित हो गया, शरीर नीला पड गया। उन्हे अस्पताल मे लाया गया जहाँ डॉक्टरो ने निर्णय दे दिया कि उनकी मृत्यु हो गई है। फिर भी उन्हे जीवित करने के लिए विजली के झटके दिये जाते रहे ताकि सम्भव हो तो उनका जीवन लौट आये। ठीक 23 मिनट वाद उनके हृदय मे हरकत महसूस होने लगी, श्वास धीरे-धीरे चलने लगा, और कुछ देर बाद वे उठ बैठे। डॉक्टरो का कहना है कि हृदय 3 मिनट गति न करे, तो आदमी मर जाता है, यहाँ मरने के 23 मिनट वाद विक्टर सौलो जी उठे।

विक्टर सौलो से पूछा गया कि उन 23 मिनटो मे जव उनका हृदय तथा श्वास गति नही कर रहे थे, उन्हे क्या अनुभव हुआ? वे लिखते हैं कि उस समय शरीर को छोड़ते हुए—"मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपनी सभी इन्द्रियो को जिन से उपकरण के रूप मे मैं अवतक काम लेता रहा हूँ, और जिनकी वजह से मैं इस संसार को सत्य मानता रहा हू मैंने पीछे छोड दिया है, और अव मुझे अपना यथार्थ-रूप (Reality) दीखने लगा है। मुझे मृत्यु का वह क्षण जिसमे मनुष्य मृत्यु के द्वार से इस शरीर को छोड़ कर वाहर निकलता है अत्यन्त सरल प्रतीत हुआ—न कोई भय था, न कोई पीड़ा थी, न किसी प्रकार का अन्य विचार था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अत्यन्त तीव्र-गति से किसी अत्युज्वल-प्रकाश-पुज की तरफ खिचा चला जा रहा हू। उस तक पहुंच कर वह प्रकाश-पुज इतना उद्दीप्त दीखने लगा कि उसमे मेरा प्रवेश अवरुद्ध हो गया। उसके बाद मैं इतना ही कह सकता हूँ कि जव मेरा हृदय तथा श्वास गति करने लगे, तब मैंने अपने को ऑपरेशन की टेवल पर पाया।" श्री विक्टर सौलो लिखते हैं कि—"सम्भव हो सकता है कि मेरा यह अनुभव मस्तिष्क की किसी विकृति का परिणाम हो, परन्तु इस मे सन्देह नही कि जव से मुझे यह अनुभव हुआ है तव से इस संसार के विषय मे मेरा सारा दृष्टि-कोण वदल गया है, और दिनों-दिन वदलता जा रहा है। मैंने तथा-कथित मृत्यु के समय जो-कुछ अनुभव किया

उसके प्रति मेरा खिचाव बढता जा रहा है। मैं इस समय 57 वर्ष का हू, बाल-बच्चो से घिरा हूँ, ससार के सुख-दु ख चारो तरफ है, परन्तु अब मेरा किसी वस्तु से लगाव नही रहा, मेरे भीतर से यह अनुभूति जाती ही नही कि यह जीवन किमी अन्य जीवन की यात्रा का एक हिस्सा है।"

वैदिक ऋषियो ने कितने बडे सत्य की खोज कर ली थी जब उन्होंने कहा था—**'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'**—हे भगवन्! मैं कितने भ्रम के जाल मे फँसा पडा हूँ, मैं असत् मे उलझा हुआ हूँ, मुझे सत् की तरफ पग बढाने की प्रेरणा दो, मैं अन्धकार मे भटक रहा हूँ, मेरा मुख प्रकाश की तरफ फेर दो, मैं मृत्यु को अपना अन्त समझ रहा हूँ, मेरी आँखें खोल दो ताकि मैं देख सकूं कि मैं अमर हूँ, अविनश्वर हूँ, मरण-रहित हूँ।



संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	संशोधन
✓61	3	Consciousness Mind, (कौमा Mind से पहले लगा लें)
✓143	3	स्वागृह की जगह स्वाग्रह् कर लें
·164	8	श्यक्षा की जगह श्यक्षर कर लें
✓166	9	चौदहवें की जगह तेरहवें कर लें
✓166	11	१४ की जगह १२ कर ले
✓166	14	यहाँ की जगह यजुर्वेद मे कर लें
✓166	16	तदस्य की जगह तवस्य तथा १२ की जगह यजु०, 31—11 कर लें

इस ग्रन्थ में केन्द्रीय-हिन्दी-निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह' से लिये गए शब्दों की हिन्दी-अंग्रेजी शब्द-सूची

अचिरस्थायी
Transient

अचेतन-क्रिया
Unconscious action

अजीवनात् जनन
Abiogenesis

अधिवृक्क ग्रन्थि
Adrenal gland

अधीनता
Submission

अध्यात्मवादी
Spiritualist

अननुकूलित अनुक्रिया
Unconditioned Response

अनिरन्तर
Discontinuous

अनिवार्यता
Inevitability

अनिश्चितता
Uncertainty

अनुकूलन
Adaptation

अनुकूलित-अनुक्रिया
Conditioned Response

अनुकूलित-प्रतिवर्त
Conditioned reflex

अन्तर्निरीक्षण
Introspection

अन्तराल
Space

अन्तिम कारण
Final cause

अपसामान्य मनोविज्ञान
Abnormal psychology

अपील (समवेदना, सहानुभूति)
Appeal

अपेक्षा
Expectation

अभिप्रेरणा
Motion

अभिव्यक्ति
Expression; Manifestation

अर्थ-क्रियावाद
Pragmatism

अवचेतन
Sub-conscious

अवयव (इन्द्रिय; अंग)
Organ; Part

अवयवी (अंगी)
Whole

अवरोधक
Censor

अवश्यम्भाविता
Determinism

अविद्यमान
Non-existent

असातत्य
Discontinuous

अस्तित्व
Existence

आकारिक कारण
Formal cause

आगमन पद्धति
Inductive method

आत्म-चेतना
Self consciousness

आध्यात्मिक
Spiritual

आनुवंशिकता
Heredity

आवृत्ति
Frequency

आवेग
Impulse

आनन्नता
Recency

अंग (इन्द्रिय, अवयव)
Organ; Part

अंगी (अवयवी)
Whole

अण्डाणु
Ovum

इच्छा-शक्ति
Will

इड (इदम्)
Id

इन्द्रिय (अंग, अवयव)
Organ

उत्परिवर्तन
Mutation

उत्प्रेरक
Catalytic agent

उदात्तीकरण
Sublimation

उद्दीपक
Stimulus

उद्दीपक-अनुक्रिया
Stimulus-response

उद्देश्यवाद (प्रयोजनवाद)
Teleology

उपचारात्मक मनोविज्ञान
Therapeutic Psychology

उपलब्धि (प्राप्ति)
Realization

उपादान कारण
Material Cause

ऊर्जा (शक्ति)
Energy

ऊर्जा तरंग
Wave of energy

ऊर्जा-संरक्षण
Conservation of energy

ऋणात्मक (निषेधात्मक; नकारात्मक)
Negative

एषणा
Desire

ऐच्छिक-कर्म
Voluntary action

कर्म का आवेग
Impulse to action

काम-लिप्सा
Libido

कारण-कार्य का सिद्धान्त
Law of causation

कारण-शरीर
Causal body

केशिका
Capillary

कोशिका
Cell
कंपन
Vibration
क्रम (नियम)
Order
क्वान्टम
Quantum
खाद्यान्वेषण
Food seeking
खाँचा मशीन
Stot machine
घटना
Phenomenon
चेतना
Consciousness
जनन-द्रव्य
Germplasm
जडवाद (भौतिकवाद)
Materialism
जडवादी (भौतिकवादी)
Materialist
जर्म
Germ
जीन
Gene
जीव-द्रव्य
Protoplasm
जीव-विज्ञान
Biology
जीवनात् जनन
Biogenesis
जैविक
Biological
तनाव
Tension

तन्त्रिका
Nerve
तन्त्रिका तन्त्र
Nervous system
तन्त्रिका भंग (न्यूरेसथेनिया)
Nervous breakdown
दमन करना
Suppress
दृश्य
Visual
द्वैत (द्वैतवाद)
Dualism
धनात्मक
Positive
नकारात्मक (ऋणात्मक; निषेधात्मक)
Negative
निगमन पद्धति
Deductive Method
निमित्त कारण
Efficient cause
नियति (भाग्य)
Fate
नियतिवाद (भाग्यवाद)
Fatalism
निरन्तर
Continuous
निरन्तरता
Continuity
निरपेक्ष
Absolute
निषेधात्मक (नकारात्मक; ऋणात्मक)
Negative
नैसर्गिक
Instinctive
न्यूनतम प्रतिरोध
Least resistence

परखनली
Test tube

परमाणु
Atom

परामनोविज्ञान
Parapsychology

पराहम्
Super Ego

परिकलन मशीन
Calculating machine

परिवर्तन
Variation

पर्यावरण
Environment

परिग्रहण
Acquisition

पलायनवाद
Escapism

पूर्व-दृष्टि
Foresight

पूंजीवाद
Capitalism

पैत्रिक-भावना
Paternal feeling

प्रक्रिया
Process

प्रतिक्रिया
Reaction

प्रतिभावान् (मेधावी)
Genius

प्रत्यावर्त-क्रिया
Reflex action

प्रत्यय
Idea

प्रत्ययवाद
Idealism

प्रत्ययो का साहचर्य
Association of Ideas

प्रयोजनवाद (उद्देश्यवाद)
Teleology

प्रयोग
Experiment

प्रयोगशाला
Laboratory

प्राग्भाव (प्रागस्तित्व)
Pre-existence

प्राप्ति (उपलब्धि)
Realization

प्रायियकता
Probability

प्रेरक-तन्त्रिका
Motor nerve

प्रेक्षण
Observation

बहु-तत्त्ववाद (बहुत्ववाद)
Pluralism

बुद्धि-लब्धि
I Q.

बुनियादी (मूल)
Basic

बोध
Comprehension

भाग्यवाद (नियतिवाद)
Fatalism

भू-विज्ञान
Geology

भौतिक
Material

भौतिक-द्रव्य
Matter

भौतिकवाद (जड़वाद)
Materialism

भौतिकवादी (जड़वादी)
Materialist
भौतिकी
Physics
मनोग्रन्थि
Complex
मनोरोग-विज्ञानी
Psychiatrist
मनोविज्ञान
Psychology
मनोविश्लेषणवाद
Psycho-analysis
मानव-कर्म
Human action
मानवत्त्वारोपण-संकल्पना
Anthropomorphic conception
मानसिक घटना
Mental phenomenon
मात्रा
Quality
मूल (बुनियादी)
Basic
मूल-तत्त्व
Elements
मूल-प्रवृत्ति
Instinct
मेधावी (प्रतिभावान्)
Genius
यथार्थवादी
Realist
यान्त्रिक नियम
Machanical law
यूथ चारिता
Gregariousness
यन्त्र
Machine
रचनात्मकता
Constructiveness
लाघव-न्याय
Law of parsimony
लिंग
Sex
लोप
Disappear
विकास
Evolution
विकिरण
Radiation
विजातीयता
Heterogeneity
विभेदन (विभेदीकरण)
Differentiation
विरुचि
Disgust
विश्व-चेतना
Cosmic consciousness
वैयक्तिक-सत्ता
Individual existence
वैयक्तिकता
Individuality
व्यवहारवाद
Behaviourism
व्यष्टित्व
Individuality
व्यष्टि मनोविज्ञान
Individual Psychology
शक्ति (ऊर्जा)
Faculty; Energy
शरीर-क्रिया-विज्ञान
Physiology
शरीर-क्रियात्मक
Physiological

शारीरिक विकास
Physical evolution
शीत-निष्क्रियता
Hibernation
शुक्राणु
Sperm
श्रव्य
Auditory
सचेतन-क्रिया
Conscious action
सजातीयता
Homogeneity
सजीवता
Vividness
सदनुभूति
Empathy
समवेदना (सहानुभूति)
Appeal
समाजवाद
Socialism
सर्जनात्मक आवेग
Creative impulse
साम्यवाद
Communism
सूक्ष्म-देह (सूक्ष्म-शरीर)
Astral body
सेक्स (लिंग)
Sex
सोद्देश्यता
Purposefulness
संकल्पना (संप्रत्यय)
Concept
संकल्प-स्वातन्त्र्य
Free Will
सन्तुष्टि
Satisfaction

सम्पर्क अधिकारी
Liaison officer
संप्रत्यय (सकल्पना)
Concept
सभवता
Possibility
सवेग
Emotion
सवेगात्मक-जीवन
Emotional life
संवेदन
Sensation
सवेदन तन्त्रिका
Sensory nerve
सश्लेषण शक्ति
Synthetic power
सस्काराकन
Engram
सर्वेश्वरवाद
Pantheism
सापेक्ष
Relative
सामान्य मनोविज्ञान
Normal Psychology
स्व-चालित
Automatic
स्वयसिद्ध
Axiomatic
स्वाग्रह
Self assertion
हीनता मनोग्रन्थि
Inferiority complex
ज्ञान
Knowledge
त्रित्व (त्रैत)
Trinity